# प्राचीन भारतीय समाज एवम् संस्कृति

# Ancient Indian Society & Culture

**Group - B**

**प्रश्न पत्र - IX**

**Paper - IX**

**एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)**

**M.A. History (Final)**

**दूरस्थ शिक्षा निदेशालय**

**महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय**

**रोहतक-124 001**

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

# विषय सूची

## UNIT - I


| | | |
|---|---|---|
| अध्याय 1: | हड़प्पाकालीन लोगों की सामाजिक सांस्कृतिक जीवन का सर्वेक्षण | 5 |
| अध्याय 2: | वैदिक समाज | 19 |
| अध्याय 3: | बुद्धकालीन समाज | 36 |
| अध्याय 4: | मौर्यकालीन समाज | 66 |
| अध्याय 5: | गुप्तकालीन समाज | 99 |
| अध्याय 6: | पूर्व मध्यकालीन समाज | 123 |


## UNIT - II


| | | |
|---|---|---|
| अध्याय 7: | पारिवारिक जीवन | 138 |
| अध्याय 8: | वर्ण व्यवस्था | 150 |
| अध्याय 9: | प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था | 169 |
| अध्याय 10: | संस्कार | 182 |
| अध्याय 11: | पुरुषार्थ | 192 |
| अध्याय 12: | विवाह संस्था | 200 |
| अध्याय 13: | जाति व्यवस्था | 217 |
| अध्याय 14: | प्राचीन भारत में दास प्रथा | 238 |
| अध्याय 15: | अस्पश्यता | 246 |
| अध्याय 16: | श्रम तथा श्रमिक | 254 |


## UNIT - III


| | | |
|---|---|---|
| अध्याय 17: | शिक्षा पद्धति एवम् शिक्षण संस्थान | 262 |
| अध्याय 18: | महिलाओं की स्थिति : व्यावहारिक एवं सवैधानिक | 283 |
| अध्याय 19: | कुषाणकालीन समाज एवम् संस्कृति | 312 |
| अध्याय 20: | सातवाहन कालीन समाज एवं संस्कृति | 346 |
| अध्याय 21: | भारतीय समाज में सम्मिश्रित तत्व | 353 |
| अध्याय 22: | संगम काल : समाज एवम् संस्क ति | 366 |
| अध्याय 23: | प्राचीन काल में संचार व्यवस्था एवं सामाजिक संबद्धता | 377 |

# M.A. History (Final)
## Group - B
## Paper – IX
## Ancient Indian Society & Culture

**Max. Marks: 100**
**Time: 3 Hours**

***Note:*** *10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All questions shall carry equal marks.*

### UNIT – I

1. Enquiries into Socio-Cultural life of harap an people.
2. Vedic society
3. Buddhist Society.
4. Mauryan Society
5. Gupta Society
6. Early Medieval Society

### UNIT – II

7. Family Organisation
8. Varna
9. Asramas
10. Sanskaras
11. Purusarthas
12. Marriage
13. Caste
14. Slavery
15. Untouchability
16. Labour

### UNIT – III

**Social institutions & socio cultural developments**

17. Education and Educational Institutions.
18. Status of Women (Customary and Legal) :
    a) Family b) Marriage
    c) Eduation d) Property Rights
19. Kusanas
20. Satvahanas
21. Syncresic elements of Indian Society
22. Sangam Age : Society and Culture
23. Communication and Social Cohesion

# UNIT - I

# अध्याय - 1

# हड़प्पाकालीन लोगों की सामाजिक सांस्कृतिक जीवन का सर्वेक्षण

# (Inquiries into Socio-Cultural life of Harppan People)

सिन्धु घाटी की सभ्यता, जिसे आज हम हड़प्पा सभ्यता का नाम देना अधिक तर्क संगत समझते हैं, क्योंकि सिंधु घाटी की सभ्यता नाम इस सभ्यता के फैलाव का सही चित्रण करने में असमर्थ है, की खोज ने वी. ए. स्मिथ जैसे इतिहासकारों के इस मत को कि बुद्धकाल से पूर्व का भारत का इतिहास, इतिहास न होकर, केवल अनुश्रुति है अर्थात यों कहिए कि भारत का इतिहास बुद्ध काल से आरम्भ होता है। गलत सिद्ध कर दिया है तथा भारत के इतिहास को आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पिछे धकेल दिया है। यद्यपि लिखित साक्ष्यों के अभाव में हड़प्पा सभ्यता की तिथि के बारे में भिन्न-*2* इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं परन्तु अभी तक रेडियो कार्बन चौदह द्वारा निर्धारित तिथि *2300-1750* ही सर्वमान्य है। अभी तक के सर्वेक्षण तथा उत्खननों से इस सभ्यता के हजार स्थलों से अधिक स्थल प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें से लगभग *700* भारत में तथा शेष पाकिस्तान में है। हड़प्पा कालीन समाज के संगठन के बारे में हमारी जानकारी लगभग ना के बराबर है। कारण आमतौर से समझा जाता है कि पूर्व ऐतिहासिक काल के समुदायों के सामाजिक संगठन तथा संरचना को उत्खनित नहीं किया जा सकता। हाक्स (*Hawkes*) पूर्वोत्तर ऐतिहासिक काल की संस्कृतियों के उन पक्षों की सूची देता है जिनके बारे में हम कभी नहीं जान सकते और उनमें एक है सामाजिक संगठन परन्तु जैसा कि धावेलकर कहते हैं कि यदि हम 'पुरातत्त्व' को नये आयामों के नजरिए से देखें तो यह संभव है। भले ही हम उनमें सामाजिक दर्शन को उत्खनित न कर पाए परन्तु भौतिक अवशेष उत्खनित होते हैं उनके आध ाार पर हम सामाजिक संगठन और जीवन की संरचना अवश्य कर सकते हैं। क्योंकि सिद्धान्त एवम् व्यवहारिकता एक दूसरे के संदर्भ में ही काम (*Function*) करते हैं। हाँ यह भी सत्य है कि लिखित प्रमाणों के अभाव में हमें हड़प्पा काल के लोगों की सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक सोच एवम् दर्शन की जानकारी उपलब्ध ना हो परन्तु उनके रहन सहन, खानपान, सामाजिक स्तरीकरण आदि का पुनःनिर्माण का प्रयत्न अवश्य किया जा सकता है।

### हड़प्पा सभ्यता के निर्माता/निवासी

हड़प्पा निवासी कौन थे। देखने में कैसे लगते थे। इस प्रश्न का उत्तर इस काल से प्राप्त म णमूर्तियों और पाषाण मूर्तियों के अध्ययन तथा इन बस्तियों की खुदाई में प्राप्त नर कंकालों कें अध्ययन से काफी हद तक किया जा सकता है इनके अध्ययन से पता चलता है कि मुख्य रूप से चार जातियों के लोग रहते थे

*(i)* प्रोटो-आस्ट्रेलायड अथवा कामेशियन

*(ii)* मंगोलियन

*(iii)* भूमध्यसागरिय

*(iv)* अल्पाईन

इससे स्पष्ट है कि हड़प्पा सभ्यता के निवासियों का मिश्रित चरित्र (*Cosmopolitan Character*) था जिनमें यूरोप, मध्यएशिया तथा मंगोल प्रजाति के लोग निवास करते थे। कंकालों के अध ययन से स्पष्ट हो जाता है कि हड़प्पा में लोग वर्तमान भारत के निवासियों जैसे ही दिखते थे। उनके रंगरूप, चेहरे, कदकाठी आदि इन क्षेत्रों के वर्तमान निवासियों से काफी कुछ समानता दिखती है। हाल ही के शोध कार्यो से पता चलता है कि मोहनजोदडो में आजकल की सिंधी जाति के लोग निवास करते थे जबकि हड़प्पा में आज के पंजाब के लोग, गुजरात में आज के गुजराती लोगों के समान ही लोग हड़प्पा सभ्यता के समय निवास करते थे।

## सामाजिक ढांचा तथा वर्गीकरण

स्वतन्त्रता से पूर्व तथा स्वतन्त्रता के पश्चात की हड़प्पा सभ्यता के अनेकों स्थलों को उत्खनित किया गया परन्तु किसी भी पुरातत्वेता ने इसकी सामाजिक संरचना को जानने के लिए कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किया तथा मलिक केनोयर (*Kenoyer*) तथा लाल जैसे विद्वानों ने इतनी भर टिप्पणी करके छोड़ दिया कि हड़प्पाकालीन समाज वर्ग विभाजित समाज था तथा इन वर्गो का किसी न किसी रूप में सामाजिक स्तरीकरण हो चुका था यहाँ तक कि कुछ रत्नागर (*1991*) तथा केनोयर (*Kenoyer*) जैसे इतिहासकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि हड़प्पन समाज में जाति प्रथा भी प्रचलित थी। ये मत प्राप्त दोहरी निवास प्रथा पर आधारित निवासिय व्यवस्था पर रहा होगा। इससे स्पष्ट कि शासक वर्ग किलेबन्दी किए गए ऊँचे टीले पर निवास करते थे तथा आम आदमी इस टिले से हटकर नीचे जो नगर बसा था, उसमें निवास करते थे। वीह्यलर तथा गार्डन चाइल्ड के अनुसार भी हड़प्पन समाज स्तरीकरण पर आधारित समाज था।

मोहनजोदाड़ो में ऊँचे टीले (*Citadel*) पर स्नानागर के पूर्व में एक बड़ी भव्य ईमारत के अवशेष उपलब्ध हुए हैं जिसमें एक खुला आंगन है जिसके चारों ओर बड़े-*2* कमरे हैं तथा कोरीडोर है। इसकी मुख्य प्रजाति के निवास के रूप में पहचान की गई है। लाल के अनुसार ये सिटेडल (किला) दो भागों में विभाजित है। इसके उत्तरी हिस्से में कोई निवास स्थान के अवशेष उपलब्ध नहीं है परन्तु इसमें उत्तरपश्चिमी भाग में बहुत से ऊँचे और बड़े-बड़े फर्श उपलब्ध हैं जिनमें से एक पर यज्ञवेदि है और उनमें साथ ही ईटों के कुएँ तथा ईट बिछा हुआ फर्श है और एक अन्य पर ईटों के फर्श वाला बलि (*Sacrificial*) का स्थान है और इसके उत्तरी भाग में इस किले (*Citedal*) पर रहने वाले उच्च वर्ग के निवास हैं।

आमतौर पर यह समझा जाता है कि हड़प्पन नगर केवल दो भागों में ही विभक्त थे। लाल के अनुसार कालीबंगा के अनुसार निवास स्थान तीन स्पष्ट क्षेत्रों में बंटा हुआ था। इनमें से दो क्षेत्र सिटेडल तथा निचला शहर के चारों ओर चारदीवारी के अवशेष मिले हैं। अतः लाल के अनुसार हड़प्पन समाज तीन वर्गो में बंटा हुआ था *(1)* पुजारी वर्ग जो किले में रहता था *(2)* कृषक तथा व्यापारी वर्ग जो निचले कस्बे में रहते थे *(3)* मजदूर वर्ग जो इन दोनों निवास स्थानों की चार दिवारी के बाहर रहते थे। हाल ही के शोध कार्यो से प्रमाणित होता है कि हड़प्पा शहर तीन नहीं वरन् स्पष्ट रूप से चार हिस्सों में बंटा हुआ था। धौलावोरा के उत्खनन से भी इस बात की संपुष्टि होती है शहर स्पष्टतः चार भागों में बंटा हुआ था।

*(1)* किले (*Citadel*) पर शासक

*(2)* विद्वान तथा उच्चाधिकारी वर्ग के निवास

*(3)* मध्य कस्बे (*Middle town*) में कृषक, व्यापारी, शिल्पी और दुकानदार

*(4)* निचले कस्बे (*Lower town*) में श्रमकर्ता तथा भूमिहीन मजदूर वर्ग रहता था

हड़प्पा समाज का चार भागों में विभाजन हमें चुर्तवर्ण प्रथा की याद दिलाता है। हड़प्पा समाज के चार वर्गो में विभाजन से सम्बन्धित काफी प्रमाण उपलब्ध हैं। यहां तक जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं कि हड़प्पा समाज का विभाजन चार वर्गो में ही नहीं अपितु जातियों में भी शिरोन रत्नागर के अनुसार हड़प्पा सभ्यता को स्थाईत्व तथा भौतिक सम्पदा में निरन्तरता (*Stability and continuity of calture*) को देखकर ऐसा लगता है कि हड़प्पन समाज जातियों में विभाजित था। उसके अनुसार *'Stability and continuity of material culture as caste organisation was conducive to Social stability : to the handing down of technology within hereditary occupational groups and the spread of technique through massages within endogamous caste groups (Ratnagar)'* हॉलाकि साक्ष्यों के अभाव में रत्नागर के इस मत से सहमत हो पाना मुश्किल है परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस समय शिल्पों में पैत कता तथा वंशानुगतता आ गई जिससे ये व्यवसायिक समूह धीरे-*2* समय के साथ ऐतिहासिक काल में *endogamous groups* बन गए जो बाद में तब्दील हो गए।

## पारिवारिक जीवन और स्त्रियां

प्राप्त प्रमाणों से ऐसा लगता है कि हड़प्पा काल में मात सतात्मक परिवार प्रणाली प्रचलित थी। अतः हड़प्पा काल के लोग मात देवी का बड़ा आदर करते थे विभिन्न क्षेत्रों से मिट्टी की बनी अनेक मात देवी की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। धरती की उर्वरता से मात देवी का संम्बन्ध था लोग उसकी पूजा करते थे। स्त्रियों का मुख्य काम घर के कार्यो के अतिरिक्त शिशुपालन तथा सूत कातना था। इन मात देवी के अतिरिक्त एक कांस्य मीनर्त की मूर्ति मिली है जो हमें आश्चर्य चकित कर देती है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन देवियों की मूर्तियां वास्तव में नर्तकी, देवदासी एवम् वैश्याओं की प्रतिनिधि थी, मुश्किल है। इतना तो निश्चित है कि हड़प्पा समाज में देवी पूजा काफी प्रचलित थी।

## वेश भूषा

हम उनकी वेश भूषा आदि की जानकारी शिल्पकला तथा पक्की मिट्टी की बनी मूर्तियों के अध यन से लगा सकते हैं पुरूषों को अक्सर ऐसे पहनावे में दिखाया गया है जिससे उनके शरीर का निचला भाग लिपटा रहता था तथा वस्त्र का एक सिरा बाऐं कन्धे से लेकर दाएं हाथ के नीचे से जाता था। ये शाल या चादर इस ढ़ंग से इसलिए पहनी जाती थी ताकि सीधा हाथ काम करने के लिए खाली रहे और चादर से कोई बाधा ना पड़े। आज भी गाँव में अक्सर इसी ढ़ंग से चादर पहनी जाती है। ये चादरनुमा वस्त्र रंगीन ओर उस पर कढ़ाई या प्रिंट किया होता था। पुरूष अपने बाल विभिन्न तरीकों से बनाते थे और कभी-कभी जूड़ा बनाकर माथे पर पट्टी बांधते थे। महिलाएं के नीचे पहनने का वस्त्र भी लहंगा या लम्बा स्कर्ट जैसा होता था और इसी प्रकार ऊपर भी एक ढीला सा वस्त्र पहनती थी। महिलाएं सिर पर भी विशेष प्रकार का कपड़ा (*Head dress*) पहनती थी जो पीछे पंखे की भांति उठा रहता था। स्त्री और पुरूष दोनों ही ऊनी तथा सूती वस्त्रों का प्रयोग करते थे जैसा कि उत्खनन में बहुत सी तसलियाँ मिली हैं यही नहीं अपितु

एक जाट के ढक्कन के साथ एक लिपटे हुए सूती वस्त्र का टुकड़ा भी मिला है जो इस बात को ओर संपुष्ट कर देता है कि हड़प्पन लोग कताई बुनाई उद्योग से परीचित थे।

स्त्री और पुरूष दोनों ही आभूषण पहनते थे जिनमें बाजूबंद, कंगन और अंगूठियों का प्रयोग दोनों ही समान रूप से करते थे। करघनी, नथुणी, बाली तथा पायल केवल स्त्रियाँ ही पहनती थी। अमीर स्त्री पुरूष सोने चाँदी, मोती-मनके, मणियों हीरे जवाहरात जड़ाऊ अर्थात् बहुमूल्य प्रस्तर के गहने पहनते थे जबकि गरीब हड्डियों, तांबे और यहाँ तक कि पकी हुई मिट्टी (*terracottas*) के बने आभूषण पहनते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हड़प्पन लोग आभूषण प्रिय थे यहाँ तक कि कांस्य की एक मूर्ति का तो पूरा हाथ लगभग कंधे तक चूड़ियों से भरा हुआ है। सर जॉन मार्शल ने इन सोने चाँदी के आभूषणों की चमक और बनावट देखकर कहा कि ऐसा लगता है कि ये आभूषण आज से *5000* वर्ष पूर्व किसी प्रागोतिहासिक घर से नहीं निकाले गए हैं अपितु आधुनिक *Bond Street* में किसी जौहरी की दुकान से लाए गए हैं।

### श्रंगार प्रसाधन

उत्खनन में श्रं गार प्रसाधन की वस्तुएं भी मिली हैं। स्त्रियां काफी श्रं गार प्रिय थी। स्त्रियां लम्बे बाल रखती थी तथा विभिन्न प्रकार के जुड़े बनाकर बालों को संवारती थी। काजल, फीता, अंजन, दपर्ण, कंघी और सिन्दूर आदि उन के श्रं गार प्रसाधन को स्त्रियां अपने बालों में पिन का प्रयोग भी संभवतः करती थी तथा *varity Box* की तरह के संदूक का प्रयोग करती थी। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा से श्रं गारदान प्राप्त हुए हैं। पुरूष दाढ़ी और मूछें रखते थे। उस्तरों का मिलना इस बात की पुष्टि करते हैं कि ये दाढ़ी मूछें कटवाते भी थे। कुछ पुरूष सिर के लम्बे बाल रखते थे और कुछ छोटे। इससे स्पष्ट है कि हड़प्पा काल भी आधुनिक काल की भाँति साज सज्जा का शौक रखती थी।

### मनोरंजन के साधन

उत्खनन में प्राप्त सामग्री से ज्ञात होता है कि लोगों के मनोरंजन के विविध साधन होते थे लोग शिकार करके, शतरंज खेलकर, मुर्गे व चिड़ियां लड़ाकर, न त्य तथा गाने के द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। हमें कुछ ऐसी मुद्राऐं मिली हैं जिन पर धनुष बाण से जंगली जानवरों का आखेट करते हुए दिखाया है जो इस बात की पुष्टि कर देती है कि हड़प्पन लोग आखेट पर जाते थे। बिन्दूदार पट्टिका तथा पासा (*games man*) का मिलना इस बात की पुष्टि कर देते हैं कि लोग शतरंज नुमा खेल खेलते थे इसी तरह कुछ सील पर तुरही तथा वीण के चित्र प्राप्त होना तथा कांस्य की मूर्ति का डांस की मुद्रा में मिलना इस बात ही पुष्टि कर देते हैं कि लोग संगीत व न त्य का आनंद भी उठाते थे।

उत्खनन में विभिन्न प्रकार के खिलौनों जैसे झुनझुने, सीटियाँ, गाड़ियाँ जिनमें बैल जुते रहते थे मनुष्य और पशु-पक्षियों के मॉडल जिनमें बाकायदा पहिए लगे रहते थे तथा रस्सी बांधने के लिए छेद बने होते थे, का मिलना स्पष्ट कर देता है कि बच्चों के मनोरंजन का भी पूरा ध्यान रखा जाता था। ये सारे खिलौने प्रायः मिट्टी के बनते थे।

### खान-पान

हड़प्पा के लोग क्या खाते थे और किस रूप (*form*) में उसे खाते थे इस बारे में बहुत कम जानकारी है परन्तु प्राप्त अवशेषों के आधार पर उनके खानपान सम्बन्धी खाका तैयार किया जा सकता है। सिन्धु और पंजाब में हड़प्पा निवासी गेहूँ और जौ खाते थे। राजस्थान में रहने वाले

लोगों को संभवतः जौ से ही संतुष्ट होना पड़ता था (कम से कम आम आदमी को) गुजरात के सुरकोटला तथा रंगपुर आदि स्थानों में हड़प्पा निवासी चावल और बाजरा अधिक खाते थे। इसके अतिरिक्त वे विभिन्न प्रकार की दालें, तिल, खजूर, तरबूज, अनार आदि से भी परिचित थे। जैसे मोहनजोदाड़ों में गेहूँ, जौ, राई, मटर की उपज के प्रमाण मिले हैं। अन्न के अतिरिक्त हड़प्पा के लोग मांस मछली, दूध, सब्जी, फल आदि का सेवन भी करते थे। घरों में मछलियों की हड्डियां तथा मछली पकड़ने के विभिन्न प्रकार के हुकों का मिलना इस बात में कोई संशय नहीं छोड़ता कि हड़प्पा के लोग मछली का सेवन करते थे। इसी प्रकार विभिन्न जानवरों का मांस तो खाने में प्रयोग किया ही जाता था जैसे हिरन, भालू, भेड़, बकरी जैसा कि इनकी हड्डियां हड़प्पा की बस्तियों के अवशेषों में मिलती हैं। प्रोटीन और चर्बी की आवश्यकता की पूर्ति तेल, चर्बी, तिल, सरसों तथा संभवतः घी से करते थे। गन्ने की खेती करते थे या नहीं इसकी जानकारी नहीं है। संभवतः वे चीनी की पूर्ति शहद का उपयोग कर करते रहे होंगे। वे भेड़, बकरी तथा गाय भैंस के दूध का भी विभिन्न तरीके से सेवन करते रहे होंगे।

## भाषा एवं लिपि

वे कौन सी भाषा बोलते थे और क्या लिखते पढ़ते थे। इसकी भी हमें स्पष्ट जानकारी नहीं है। हम केवल हड़प्पा निवासियों की लिपि को खोज सके हैं परन्तु हम अभी तक इस लिपि को पढ़ने में असमर्थ रहे हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वहां लिखी जाने वाली भाषा द्रविड़ भाषा समूहों (जैसे तमिल) की जननी थी। अन्य विद्वान इसे किसी आर्य भाषा (जैसे संस्कृत) की जननी मानते हैं।

अभी तक किसी भी विद्वान ने सर्वमान्य तर्क प्रस्तुत नहीं किया है। हड़प्पा की लिपि के संदर्भ में एक बात स्पष्ट नजर आती है कि पूरी हड़प्पा सभ्यता के काल में इस लिपि में कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं जबकि अन्य सभी प्राचीन लिपियों में समय के साथ-साथ परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हड़प्पा की लिपि का उपयोग विस्त त नहीं था। संभवतः एक वर्ग विशेष लिखित शब्दों पर आधिपत्य जमाये बैठा था। वे क्या सीखते थे और कैसे सीखते थे इसका हमारे पास उत्तर नहीं है। समकालीन मेसापोटामिया की भांति हड़प्पा में भी स्कूल थे अथवा नहीं इसकी भी जानकारी हमारे पास नहीं है।

## जनसंख्या

यद्यपि जनसंख्या हड़प्पा काल में कुल जनसंख्या कितनी रही होगी कहना कठिन है परन्तु कुछ शहरों की अलग-*2* जनसंख्या की जानकारी के प्रयत्न किए गए हैं जैसे एच टी लाम्ब्रिक ने प्राप्त घरों के आकार तथा संख्या के आधार पर मोहनजोदड़ो शहर की जनसंख्या का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है, उसके अनुसार मोहनजोदड़ो में लगभग *39* हजार (*39000*) लोग रह रहे होंगे। एक अन्य विद्वान डब्लू.ए. फेयर सर्विस के अनुसार इस स्थान की आबादी लगभग *31290* रही होगी और हड़प्पा शहर की आबादी लगभग *23500* रही होगी।

## औषधियाँ

रोगों से मुक्ति के लिए समकालीन अन्य कांस्य युगीन संस्कृतियों जैसे मिश्र की भाँति औषधियों का प्रयोग भी करते होंगे। मोहनजोदड़ो की खुदाई में शिलाजीत मिला है। इसका प्रयोग आज भी कई बीमारियों में करते हैं। कर्नल स्यूयल के अनुसार हिरण तथा बारहसिंगों के सींग औषध ी बनाने के लिए प्रयोग किया जाता था। नीम की पत्तियां आज भी औषधी बनाने के काम में ली जाती है। इस प्रकार स्पष्ट भारत में आयुर्वेद चिकित्सा का प्रारम्भ हड़प्पा काल से ही माना जा सकता है।

## म तकों का अंतिम संस्कार

मानव जाति अपने सगे सम्बन्धियों के म त ृशरीरों के अंतिम संस्कार को महत्वपूर्ण धार्मिक गतिविधि के रूप में मानती रही है। इसका कारण म तकों के प्रति द ष्टिकोण तथा इस जीवन तथा म त्यापरांत जीवन के सम्बंध में मानव जाति के विश्वास से परस्पर जुड़ाव है, हड़प्पा सभ्यता से म तकों को कोई ऐसा स्मारक नहीं प्राप्त हो सका है जो मिश्र के पिरामिड अथवा मेसोपोटामियां के उप नगर के राजकीय कब्रिस्तान के वैभव की बराबरी कर सकें। तथापि हमें हड़प्पा के लोगों में प्रचलित अंतिम संस्कार पद्धपि के विषय कुछ प्रमाण मिले हैं। हड़प्पा में कई कब्रें मिली हैं। शव साधारणतया उत्तर-दक्षिण दिशा में रख कर दफनाए जाते थे। उन्हें सीधा लिटाया जाता था। कब्र में बड़ी संख्या में मिट्टी के बर्तन रख दिए जाते थे कुछ स्थानों पर शवों को गहनों जैसे सीप की चूड़ियों, हार तथा कान की बालियों के साथ दफनाया जाता था कुछ कब्रों में तांबे के दपर्ण, सीप और सुरमें ही सलाइयां भी रखी जाती थी। कई कब्रें ईटों की बनी हुई मिली हैं। हड़प्पा में एक कब्र में ताबूत भी प्राप्त हुआ है। कालीबंगन में अंतिम संस्कार की भिन्न रीतियां देखने को मिली हैं। यहां पर छोटे-छोटे व ताकार गड्ढे देखे गए हैं। जिनमें बड़ी राखदानियां तथा मिट्टी के बर्तन मिले हैं। लेकिन यहां कंकालों के अवशेष नहीं मिले हैं। कुछ ऐसे भी गड्ढे मिले हैं जिनमें हड्डियां एकत्रित मिली हैं। लोथल में साथ-साथ दफनाए गए महिला एवं पुरूष के मुर्दो के कंकालों के जोड़े मिले हैं।,

इन रीतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हड़प्पा के लोगों में मुर्दो के अंतिम संस्कार की रीतियां भारत में बाद में आने वाले समय की रीतियों से भिन्न थी। भारत के ऐतिहासिक चरणों में अंतिम संस्कार की मुख्य पद्धति दाह संस्कार प्रतीत होती है। साथ ही मुर्दो का सावधानीपूर्वक रखकर अंतिम संस्कार करना तथा आभूषण एवं श्रंगार की वस्तुएं उनके साथ रखना इस तथ्य का द्योतक है कि वे लोगे मरणोपरांत जीवन में विश्वास रखते थे।

खुदाई से प्राप्त विभिन्न वस्तुओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा सभ्यता के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की धार्मिक रीतियां प्रचलित थीं। कालीबंगन तथा लोथल में अग्नि पूजा प्रचलित थी किन्तु हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में ऐसा प्रचलन नहीं था मोहनजोदड़ो में प्रचलित पवित्र स्नान की रीति संभवतः हड़प्पा में नहीं थी। अंतिम संस्कार में विस्त त विभिन्नता देखने को मिलती है। एक साथ कई मुर्दे दफनाने से लेकर जोड़े दफनायें तथा मुर्दे के साथ कुछ वस्तुए रखने तक की रीतियां पायी गयी हैं। कालीबंगन से प्राप्त जानकारी के आधार पर ऐसे तथ्य भी प्राप्त हुए हैं जो यह बताते हैं कि एक ही स्थान पर भी अंतिम संस्कार की भिन्न रीतियां प्रचलित थी। धार्मिक विश्वास एवं रीतियों की इस विभिन्नता से मुख्य नगरों के जटिल स्वरूप की ओर संकेत मिलता है जनजाति समाजों के विपरीत से जहां जनजाति का प्रत्येक सदस्य समान धार्मिक रीति का पालन करता है। मुख्य नगरों में यह विशेषता दिखाई देती है कि वहां के निवासी विभिन्न धार्मिक रीतियों का पालन करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है मुख्य नगरों का गठन विभिन्न सामाजिक समूहों के राजनैतिक एवं आर्थिक एकीकरण से हुआ होगा। इसके अतिरिक्त मुख्य नगरों में भिन्न धार्मिक रीतियों के अनुयायी विभिन्न क्षेत्रों के व्यापारी निवास करते होंगे। वे लोग अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक विशिष्टता तो बनाये न रख पाये होंगे। लेकिन अपनी सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों का पालन करते रहे होंगे।

संक्षेप में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में शव विसर्जन की तीन विधियाँ प्रचलित थी। पहली पूरे शव को चित लिटाकर दफना दिया जाता था। दूसरे शव को खुले स्थान पर छोड़ दिया जाता था ताकि वह पशु पक्षियों का आहार बने और उसके बाद अस्थि पिंजर को दफना दिया जाता था।

तीसरे शव को जला दिया जाता था और भस्म को कलश में रखकर दफना दिया जाता था। इससे उनमें म त्युपरान्त जीवन का दर्शन झलकता है।

## धर्म एवं धार्मिक रीतियाँ

हडप्पा के लोग किसकी पूजा करते थे? यह प्रश्न विद्वानों के बीच काफी चर्चा का विषय रहा है। हड़प्पा के अतीत के अवशेष इस संदर्भ में कोई सूत्र नहीं देते हैं। अतः उनकी धार्मिक मान्यताओं को समझने के लिए हमें केवल अपने तर्क पर निर्भर होना पड़ेगा। मुख्य समस्या यह है कि लिखित स्त्रोतों के अभाव में उनकी लौकिक और अलौकिक गतिविधियों के बीच अन्तर करना कठिन है, इसलिए हड़प्पा से प्राप्त होने वाली प्रत्येक जानकारी पर अलौकिक गतिविधि होने का शक पैदा होता है। अतः हड़प्पा के लोगों की धार्मिक मान्यताओं को आधुनिक मान्यताओं के परिपेक्ष में रखकर ही समझा जा सकता है।

## पूजा-स्थल

मोहनजादड़ो के किले बंद नगर तथा निचले नगर की कई इमारते मन्दिरेां के रूप में देखी गयी हैं। इस द ष्टिकोण से इस तथ्य को और भी बल मिलता है कि अधिकतर पत्थर की मूर्तियां इन्हीं इमारतों में मिली हैं।

मोहनजोदड़ो के निचले नगर में एक व हत इमारत मिली है। इस इमारत में संस्मारकीय द्वार तथा एक मंच की ओर ले जाने वाली दोहरी सीढ़ियों का रास्ता है। इस मंच पर *16-½* इंच ऊँची एक पाषाण शिल्प कृति प्राप्त हुई है। इस कृति में अपने घुटनों पर हाथ रखे हुए एक पुरूष बैठा है। पुरूष के चेहरे पर दाढ़ी है तथा माथे पर पट्टी बंधी हुई है जिसके दोनों सिरे पीठ की ओर लटके हुए हैं। इसी इमारत में एक और पत्थर की मूर्ति प्राप्त हुई है यही कारण है कि विद्वानों ने इस इमारत को मन्दिर माना है।

मोहनजोदड़ो में किले के खंडहरों पर कई ऐसी इमारतों के अवशेष प्राप्त हुये हैं जिन्हें देखकर प्रतीत होता है कि वे हड़प्पा के पवित्र स्थल रहे होंगे, इनमें विशाल स्नानग ह सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भारत के बाद के ऐतिहासिक युगों में इस प्रकार के विस्त त स्नानग हों का निर्माण पवित्र संस्कार स्थलों में होता था। अतः संभव है कि विशाल स्नानग ह कोई साधारण तरण ताल न रहा हो अपितु इसका पवित्र संस्कार स्थल के रूप में महत्व हो।

विशाल स्नानग ह के निकट ही एक अन्य विशाल इमारत (*230×78* फुट) पाई गयी है जिसे किसी मुख्य पुरोहित का निवास स्थल अथवा पुरोहितों का मठ माना जाता है। इसी प्रकार किले बंद क्षेत्र में एक सभागार पाया गया है। इसके पश्चिम की ओर एक साथ कई कमरे बने हुए हैं जिनमें से एक में एक बैठे हुए पुरूष की मूर्ति भी मिली है। इसे भी एक धार्मिक इमारत के रूप में देखा गया है। इन पवित्र धार्मिक इमारतों से मोहनजोदड़ो की धार्मिक रीतियों ही ओर संकेत मिलता है। हम यह मान सकते हैं कि कुछ धार्मिक गतिविधियां इस विशाल मंदिर जैसी इमारत में की जाती रही होंगी।

## आराध्य

आराध्य अथवा पूज्य वस्तुओं के विषय में प्रमाण हड़प्पा की मुहरों एवं पकी मिट्टी की मूर्तियों से प्राप्त होते हैं, मूहरों से मिलने वाले प्रमाणों में सबसे प्रसिद्ध देवता की पहचान आदि-शिव के रूप में की गयी है, कई मुहरों में एक देवता जिसके सिर पर भैंस के सींग का मुकुट है, योगी की मुद्रा में बैठा हुआ है, देवता बकरी, हाथी, शेर तथा म ग से घिरा हुआ है मार्शल ने इस देवता

को पशुपति माना है, कई स्थानों पर देवता के सींग के बीच से एक पौधा उगता दिखाया गया है, एक अन्य मुहर पर एक देवता जिसके सिर पर सींग और लम्बे बाल हैं, नंगे बदन पीपल की शाखाओं के बीच खड़ा है। एक उपासक उसके समक्ष झुका हुआ है उपासक के पीछे जिसका सिर आदमियों जैसा है, तथा अन्य सात मानवीय आकृतियां हैं, इन मानवीय आकृतियों के लम्बी चोटियां है एवं सिर पर लम्बे वस्त्र बंधे हैं। यह मुहर में योगी के साथ एक सर्प की आकृति है। सींग वाली सभी आकृतियों को उत्तर भारतीय इतिहास के शिव के रूप में माना गया है। कुछ हड़प्पा बस्तियों से शिव लिंग भी प्राप्त हुए हैं। इन प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने शिव को हड़प्पा का सबसे महत्वपूर्ण देवता माना है। संभवतः सारे मंदिरों में शिव की पूजा होती थी।

### मात देवी

हड़प्पा बस्तियों में भारी संख्या में पक्की मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं, इनमें महिलाओं की भी मूर्तियां हैं जो कि बड़ी सी मेखला सिंह वस्त्र तथा गले में हार पहने हुए दिखाई गयी हैं वे सिरों पर पंखे के रूप के मुकट धारण किए हैं। कभी-कभी उनके साथ शिशु भी दिखाये गये हैं। अभिजनन पंथ के आम तौर से गर्भ धारण के विभिन्न रूपों द्वारा चित्रित किया गया है। इन प्रमाणों से हड़प्पा सभ्यता में अभिजनन पंथ के प्रति विश्वास तथा देवियों की आराधना की ओर संकेत मिलते हैं।

### व क्ष आत्माएं

संभवतः हड़प्पा के लोग व क्ष आत्माओं की पूजा करते थे, कई स्थानों पर व क्षों की शाखाओं के बीच से झांकती हुई आकृतियां दिखाई गयी हैं विद्वानों का मत है कि यह आकृतियां व क्ष आत्माओं को बिंबित करती हैं। कई चित्रों में आराधक पेड़ के सामने खड़े दिखाये गये हैं। कई अन्य स्थानों पर शेर अथवा किसी अन्य जानवर को व क्ष के सामने बिंबित किया गया है। एक स्थान पर व क्ष के सामने सात मानवीय आकृतियां खड़ी दिखाई गयी हैं और व क्ष के अन्दर एक आकृति जिसके सिर पर सींग हैं, दिखाई गयी है जैसी कि पीछे चर्चा की गयी है सींग वाली आकृति संभवतः शिव की है। भारत में पीपल के पेड़ की पूजा युगों से होती रही है और कहीं-कहीं पीपल के पेड़ और शिव की पूजा साथ-साथ होती दिखाई गयी है। सात आकृतियां बहुधा सात ऋषियों अथवा मिथक की सात जननी मानी गयी हैं।

### कुछ पौराणिक नायक

कुछ अन्य माननीय आकृतियां जिनका धार्मिक महत्व हो सकता है मुहरों और गण्डों पर पायी गयी हैं मुहरों के सिर पर सींग तथा लम्बी दुम वाली आकृतियां बड़ी मात्रा में पायी गयी हैं यदा कदा इन आकृतियों के खुर तथा पिछली टांगे जानवारों जैसी दिखाई गयी हैं। कुछ अन्य मुहरें मेसोपोटामिया के मिथकों से मिलती-जुलती हैं। उदाहरण के लिए दो शेरों से लड़ता हुआ एक पुरूष हमारा ध्यान तुरन्त उस प्रसिद्ध योद्धा गिलगणेश की ओर ले जाता है जिसके विषय में दो शेरों को मारने की कथा प्रचलित है।

### जानवरों की पूजा

ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा के लोग कई प्रकार के जानवरों की पूजा करते थे, इस सन्दर्भ में भी हमारी जानकारी का स्त्रोत मुहरें एवं पक्की मिट्टी की मूर्तियां हैं, चन्हुदाड़ो में एक मुहर मिली है जिसमें लिंग बाहर किए हुए सांड एक झुकी हुई मानव आकृति के साथ संभोग कर रहा है। यह निशिचित रूप से अभिजनन के प्रति विश्वास का सूचक है। मुहरों पर बहुथा एक ब्राह्मणी बैल चित्रित मिलता है जिसके गले के नीचे झालरदार खाल लटकती दिखाई देती है। संभवतः वर्तमान सभ्यता के बैलों एवं गायों के प्रति आदर भाव के बीज हड़प्पा सभ्यता में रहें हों।

## मिथकीय जानवर

मुहरों पर विभिन्न समष्टि आकृति वाले जानवर चित्रित हैं, मुहरों पर ऐसा जानवर रूपी जीव मिलते हैं जिनका अगला हिस्सा मनुष्य जैसा है तथा पिछला शेर जैसा दिखाया गया है। इस प्रकार भेड़ों, बैलों तथा हाथियों की मिली-जुली आकृतियों वाले समष्टि काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। वे निश्चित रूप से पूज्य आकृतियां रही होंगी। हड़प्पा के बाद के भारतीय पंरम्परा के मिथकों में समष्टि आकृति वाले जीवों जैसे ''नर सिंह'' का विशेष स्थान रहा है। हड़प्पा की मुहरों पर एक अन्य महत्वपूर्ण जानवर एक श्र ङ्ग (*Unicorn*) चित्रित मिलता है। यह एक घोड़े जैसा जानवर है जिसके सिर के बीच एक सींग निकली हुई है। इस जानवर के सामने एक विचित्र वस्तु दिखाई देती है जो कि किसी अन्य जानवर से मिलती जुलती नहीं है। इस चित्र में एक पिंजरे जैसी वस्तु एक दंड से लटक रही है। दंड के बीच में एक कटोरे जैसी वस्तु है। हमें इस वस्तु का प्रयोजन ज्ञात नहीं है। इसकी पहचान पवित्र हौदे अथवा धूपदान के रूप में ही गयी है। एक अन्य मुहर में एक श्र ङ्ग एक मिथकीय पशु था क्योंकि इस प्रकार का कोई पशु कहीं नहीं पाया जाता। संभवतः इसकी उपासना की जाती रही होगी।

ऐसा प्रतीत होता है का मालीबंगन एवं लोथल के हड़प्पावासी भिन्न धार्मिक रीतियों के अनुयायी थे कालीबंगन में किले में उभरी ईटों के मंच मिले हैं जिनके ऊपर ''अग्नि वेदियां'' हैं जिनमें पशुओं की हड्डियां एवं राख है, इस स्थान पर भी कुआं और स्नानग ह हैं। यह स्थान पूजा क्रिया का केन्द्र रहा होगा जहां पशुओं की बलि धार्मिक पवित्रीकरण तथा अग्नि की पूजा की जाती रही होगी निचले नगर के कई मकानों में भी ''अग्नि वेदी'' वाले कमरे हैं। कई अन्य ''अग्निवेदियां'' होने की भी जानकारी मिली है, लोथल में भी ''अग्निवेदियां'' पायी गयी हैं यह प्रमाण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि।

अ) इनमें यह संकेत मिलता हैं कि विभिन्न क्षेत्रों के हड़प्पावासी विभिन्न रीतियों के अनुयायी थे, तथा

ब) वैदिक युग के धर्म में अग्नि पूजा का केन्द्रीय महत्व था।

वेद युग के आर्यजन भिन्न प्रकार के लोग थे, कालीबंगन से मिले प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आर्यो ने हड़प्पा क्षेत्र में आकर बसने के बाद हड़प्पा के लोगों की ही धार्मिक रीतियों को अपनाया।

अतः ऊपर विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हड़प्पा काल में भिन्न भिन्न प्रकार के धर्मो का आचरण होता था किसी एक विशेष धर्म या धार्मिक अनुष्ठान या प्रक्रिया अपनाने के लिए लोगों को बाध य नहीं किया जाता था।

## कला कौशल

हड़प्पा काल के खण्डहरों से कला के अनेक प्रमाण उत्खनित हुए हैं। ये कलावशेष हड़प्पा कालीन लोगों के कला प्रेम के नमुने तो हैं ही साथ ही समकालीन सामाजिक आर्थिक और धार्मिक विश्वासों एवम् दशा के पुनः निर्माण के महत्वपूर्ण स्त्रोत भी।

## संगीत एवम् न त्यकला

जैसा कि मनोरंजन के साधनों की भी चर्चा की जा चुकी है। हड़प्पा निवासी संगीत और कला के बहुत प्रेमी थे। धातु की बनी मूर्तियां न त्यकला पर विशेष रूप से प्रकाश डालती है। हमें सील पर तबले ढोल आदि वाद्य यन्त्रों के चित्र मिले हैं।

### चित्रकला

हड़प्पा के विभिन्न स्थानों से प्राप्त सील तथा म दभांडों पर चित्रित विभिन्न आकृतियाँ पेड़ पौध ो विभिन्न हण्य हड़प्पावासियों की चित्रकारिता के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों से ढेरों मुहरे मिली हैं इन पर दो प्रकार के पशुओं के चित्र पाए गए हैं। पहले प्रकार के पशु कूबड़ वाले हैं, दूसरे प्रकार के पशुओं की पीठ सम्राट है। एक मुहर पर पशुओं से घिरे हुए एक व्यक्ति जिसे पशुपति का चित्र माना जाता है, का चित्र मिला है। चप्पू व पतवार सहित जहाज का चित्र भी मुहरों पर मिला है। दो ऐसी मुहरे हैं जिनमें बाघ का गला दबाते हुए एक वीर पुरूष को चित्रित किया गया है इन मुहरों पर विभिन्न प्रकार की आकृतियों एवम् विचारें का सजीव एवम् सहज चित्रण किया है। चित्रण की विषयवस्तु भी बहुत ही विशाल एवम् विस्त त रही है। इन मुहरों पर चित्रित बह्मी सांड हड़प्पाकालीन चित्रकार की दक्षता, उसकी पैनी द ष्टि तथा सजीव चित्रण का उत्तम नमूना है।

### मूर्तिकला

यहाँ के लोग मूर्तिकला के महत्व को भी समझते थे। अवशेष के रूप में पायी गई मूर्तियों के द्वारा यहाँ के जीवन, सोचने-विचारने का ढ़ंग और धार्मिक विश्वास की जानकारी होती है। पत्थर की मूर्तियाँ यहाँ बहुत कम पायी गई हैं। अधिकतर मूर्तियों का धार्मिक महत्व ही ज्यादा झलकता है। इन मूर्तियों के रूप में बैठे हुए आदमी, जानवरों एवं न त्य की मुद्राएँ चित्रित की गयी हैं। इनमें से कुछ मूर्तियाँ उत्तम कोटि की हैं। छोटी-छोटी कुछ मूर्तियाँ पीतल को ढालकर बनायी जाती थीं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण उत्तम मूर्ति कला के नमूने हैं जैसे नाचती हुई लड़की, रथ एवं बैलगाड़ियाँ तथा कुछ जानवर भी हैं। लेकिन इस सभ्यता की लोकप्रिय कला अर्थात भ णमूर्तियां हाल में पकाई गयी मिट्टी की मूर्तियां जान पड़ती हैं। इनमें से अधिकांश खड़ी हुई स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं जिन्हें आभूषण पहने हुए दिखाया गया है। इनमें से कुछ मूर्तियाँ खड़े पुरूषों की हैं जिनमें से कुछ को दाढी और सींग के साथ दिखाया गया है। इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि ये मूर्तियाँ उनमें देवी और देवताओं की हैं। इनमें से जो स्त्रियाँ बच्चों के साथ दिखायी गयी हैं वे खिलौने सी लगती हैं। आग में पकाये गये (टेराकोटा) अनेक जानवर, गाड़ियाँ एवं खिलौने मिले हैं। एक बन्दर को एक डंडेनुमा चीज पर चढ़ता हुआ दिखाया गया है। एक बैल को सिर हिलाते हुए भी दिखाया गया है।

उनकी मूर्तिकला भी चित्रकला की भांति काफी विकसित अवस्था में थी। हड़प्पा कालीन मूर्तिकार ने मुखमंडल की अभिव्यक्ति पर विशेष जोर दिया। पशुपक्षियों तथा मनुष्य की मूर्तियां बनाने में सभी प्रकार के माल (*Material*) अर्थात् मिट्टी, पत्थर एवम् धातु का प्रयोग किया गया यहाँ तक कि वहाँ का कलाकार धातु में मूर्ति बनाने की बहुत ही विकसित तकनीक सिरे परहय (*Cire-Perdue*) से भी परिचित था।

## नगर योजना एवम् भवन निर्माण कला

### (अ) जागरूक नागरिक चेतना

सिन्ध खण्डहर निःसन्देह, अति सुन्दर एवं सम द्ध नगर के अवशेष हैं। नागरिक चेतना उस समय पूर्णतः जाग त हो चुकी थी, नहीं तो इतना भव्य नगर कभी नहीं बन पाता। शहरी सभ्यता का करीब करीब प्रत्येक चिह्न यहाँ उपलब्ध हुआ है। उस सुदूर अतीत में भी नगर-निर्माण-योजना का महत्व लोगों कोके ज्ञात था। नगर-व्यवस्था सुनियोजित थी। काशीनाथ नारायण दीक्षित के

मतानुसार ऐसी उत्तम नगर-निर्माण-प्रणाली किसी अन्य प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती। उस काल के नगर किसी भी द ष्टि से आधुनिक शहरों से हीन नहीं थे।

*(i)* सड़कों एवं गलियों की व्यवस्था

नगर सड़कों द्वारा बराबर भागों में विभक्त था। सबसे बड़ी सड़क *33* फुट चौड़ी पाई गयी है। यह राजमार्ग रहा होगा। सभी अन्य सड़कें इसी से मिलती थीं। इसी मार्ग पर तिराहों एवं चौराहों के चिह्न पाये गये हैं। सड़कों की दिशाएँ उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम की ओर होती थीं। ह्वीलर ने वहाँ एक चौराहे के अवशेष की तुलना 'आक्सफोर्ड सरकस' से की है। यह नगर का प्रमुख चौराहा था। इसी के कोण से शहर चतुर्भुजाकार में विभक्त था। राजपंथों का अस्तित्व मोहनजोदड़ों के अवशेषों से परिज्ञात होता है। सड़कों पर यथास्थान कूड़ेदानों की व्यवस्था थी। कूड़ेदानों की व्यवस्था सार्वजनिक स्वच्छता की द्योतक है। ऐसी सार्वजनिक चेतना तत्कालीन व्यक्तियों की विकसित नागरिक चेतना की परिचायक है। मोहनजोदड़ो की दो सड़कों के सन्धि-स्थल पर एक भोजनालय होने का संकेत उपलब्ध होता है। सड़कों द्वारा नगर अनेक खण्डों में विभक्त था और इन खण्डों में मोहल्ले बने हुए थे। यहाँ भवन क्रमानुसार कतार में निर्मित पाये गये हैं। यहाँ प्रत्येक सड़क से गली निकली हुई पाई गई है। गलियाँ कई कई भवनों के मध्य से गुजरती थीं। ये तीन फीट से सात फीट तक चौड़ी होती थीं। सड़कों एवं गलियों की पूर्ण स्वच्छता का ध्यान रखा जाता था। निश्चय ही उस युग में नगराापालिका (म्यूनिसिपैलिटी) जैसी कोई संस्था सड़कों एवं गलियों का निर्माण तथा सफाई कार्य करती होगी।

गार्डन चाइल्ड के अनुसार "गलियों की सुन्दर पंक्तियों..... से इस बात का संकेत मिलता है कि यहाँ कोई नियमित नगर-शासन था। इसका अधिकार इतना सुद ढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार-बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय, निर्माण एवं सड़कों की सुनिश्चित पंक्तियों को बनाये रखने के नियमों का पालन होता था।" कृष्ण राय चौधरी के मत में सड़कों एवं नालियों की ऐसी सुव्यवस्था *18*वीं शताब्दी तक पेरिस और लन्दन में भी नहीं हो पाई थी। जब सड़कों की इतनी अच्छी व्यवस्था थी, तब उस काल में निश्चय ही नागरिक बोध इतना विकसित रहा होगा कि राजपथ संबंधी नियमों का पालन अवश्य होता होगा।

**(ii) आवास-भवन**

ध्वंसावशेषों में भवन-निर्माण के दो आधार उपलब्ध हुए हैं। प्रथमतः तो सड़क द्वारा विभक्त चतुर्भुज क्षेत्रों में क्रम से निर्मित भवनों के ध्वंसावशेष पाये गये हैं। वे नगर-निर्माण की सुनियोजना के सूचक हैं। भवन-निर्माण का दूसरा आधार वर्गभेद था। विभिन्न वर्गो के आधार पर निर्मित आवास-ग ह तत्कालीन वर्ग-व्यवस्था की ओर इंगित करते हैं।

उपलब्ध भग्नावेशेषों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि मकान पूर्वनिश्चित नमूने के आधार पर ही बनाये जाते थे। मुख्यतः तीन प्रकार के भवनों एवं आवास-ग हों के अवशेष पाये गये हैं - विशाल भवन, साधारण बड़े आवास ग ह एवं सामान्य लघु ग ह।

**(1) विशाल भवन(Palace)**

एक अति विशाल भवन ध्वंसावशेष किला है, जिसकी चौड़ाई *85* फीट एवं लम्बाई *97* फीट है। इसमें *32* वर्ग फीट का आंगन है। इस प्रासाद में भीमकाय द्वार, बरामदा, हाल, बैठक का बड़ा कमरा एवं द्वारपाल की कोठरी पाई गई है। इनके अतिरिक्त भवन के भूमितल तथा ऊपरी तल पर भी बड़े-बड़े कमरों के ध्वंसावशेष पाये गये हैं। पूरे भवन का फर्श पक्की ईटों द्वारा निर्मित

है। इस भवन के दक्षिण में *20* विशाल स्तम्भों पर *90* वर्ग फीट का चौकोर कमरा पाया गया है। यह प्रासाद मोहनजोदड़ो सभ्यता के मध्ययुगीन स्तर का प्रतीक है। यह प्रासाद कदाचित् राजमहल की अवशेष स्म ति का परिचायक हैं।

### (2) विशाल स्नानागार

ध्वंसावशेष में उपलब्ध एक विशाल स्नानागार निश्चय ही सार्वजनिक रहा होगा। यह पक्की ईटों द्वारा निर्मित है। यह जलकुण्ड *30* फीट लम्बा, *23* फीट चौड़ा और *8* फीट गहरा है। कुण्ड के दो तरफ जल-स्तर तक पक्की सीढ़ियाँ हैं। इसके चारों ओर बरामदे हैं। उनके पीछे गैलरियाँ एवं चारो ओर कमरे हैं। निकट ही कूपों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। कदाचित् इन्हीं से कुण्ड में जल भरा जाता होगा। महान् स्नानागार की कुल लम्बाई *180* फीट और चौड़ाई भी *180* फीट है। बाहरी दीवार आठ फीट मोटी है। इसमें से जल भरने एवं निकालने के निमित *6* फीट ऊँची नालियाँ बनाई गई थीं। दीवार इस प्रकार बनी थी कि उसमें से जल किसी भी प्रकार रिस नहीं सकता था। पहले चार फीट चौड़ी ईटों का स्तर, फिर छिली ईटों की गच चूने से जोड़ी हुई मिली है, जो उसकी परिपुष्टता एवं स्वास्थ्य रक्षा का सूचक है। स्वास्थ्य की द ष्टि का ध्यान तो इतना रखा गया है कि डामल का लेप सील टाँकने के लिए प्रयुक्त किया गया है। फिर पक्की ईटों की सतह और तब झावाँ ईटों के भराव का प्रावधान उस सभ्यता की स्वास्थ्य-द ष्टि का अवबोधक है। निकट ही एक हम्माम (उष्ण-वायुकृत मज्जन ग ह) के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। *1950* की पूरी खुदाई एवं सफाई के उपरान्त इतिहासविद् इस हम्माम को अन्नागार प्रतिपादित करने लगे हैं। स्नानागार के कमरों के ऊपरी तल पर भी कमरे होते थे। उनमें सम्भवतः पुरोहितों का आवास रहा होगा। ये शुभ मुहुर्त पर पूजार्थ इसमें नहाते होंगें। वैसे यह सार्वजनिक स्नानागार रहा होगा। यह स्नानागार तत्कालीन वास्तुकला की उत्कृष्टता का नमूना है। कार्लटन ने इसकी तुलना आध ुनिक समुद्रतटीय होटल से की है। स्नानागार के उत्तर-पूर्व में एक अन्य भवन का स्नानागार मिला है। यह *230* फीट लम्बा एवं *78* फीट चौड़ा है। यह संभवतः उच्च राज्याधिकारियों का आवास रहा होगा। ये सार्वजनिक सामूहिक इमारतें थीं। ये विशाल भवन उच्च वर्ग के आवास-ग ह थे। इन भवनों के ध्वंसावशेषों से तत्कालीन शासक, राज्याधिकारी एवं पुरोहित आदि सम्मानित वर्ग के लोगों की जीवन-पद्धति की एक क्षीण झाँकी उपलब्ध होती है।

### (3) साधारण (मँझोले) भवन

मोहनजोदड़ो के उत्खनन में एक ही प्रकार के क्रमशः *16* मकानों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। दो समानांतर पंक्तियों में आठ-आठ मकान निर्मित हैं। इन समस्त मकानों के निर्माण का ढ़ंग एक सा ही है। ये ग ह निश्चय ही मध्यम वर्गीय आवास के प्रतीक हैं। इन भवनों के प्रमुख अंग थे - आँगन, पाकशाला, चूल्हे, दरवाजा, खिड़की, स्नानागार, शौचग ह, नाली, कूड़ादान, पानी रखने की जगह, एवं कुआँ आदि तथा दुमंजिले घरों में सीढ़ियाँ। इन घरों की दीवारें पाँच फीट तक मोटी होती थीं। दुमंजिले मकान में नीचे के तल की दीवारें अधिक मोटी होती थीं। इन मकानों के प्लास्टर के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। ये समस्त मकान चौकोर आकार के हैं। इनमें कमरे आँगन के चारों तरफ होते थे। संभवतः इनमें संयुक्त परिवार के लोग रहते थे, इसीलिए ये मकान काफी बड़े होते थे।

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के भवनों के दरवाजे एवं खिड़कियाँ राजमार्ग की ओर नहीं पाई गई है। संभवतः, इसके मूल में पर्दा प्रथा की उपजीव्यता रही हो या फिर राजमार्ग की स्वच्छता के विचार से ऐसी अवधानता बरती गई हो। ह्वीलर महोदय ने सैंधव युगीन भवनों में खिड़कियों के अभाव का समर्थन किया है। परिणामतः ऐसे भवनों में स्त्रियों का जीवन धूप और हवा से वंचित,

मात्र आँगन तक ही सीमित रहा होगा, ऐसा वे प्रतिपादित करते हैं। उनकी उपर्युक्त मान्यता पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं है। ध्वंसावशेषों के न्यासों से यह सिद्ध है कि भवनों में खिड़कियाँ होती थीं। ह्वीलर महोदय जब भण्डारग हों में वातायनों का होना स्वीकार करते हैं तो घरों में वातायनों के अभाव की बात स्वतः ही असिद्ध हो जाती है। तद्युगीन भवनों में हवा एवं रोशनी की पूर्ण व्यवस्था थी, यह उपलब्ध ध्वंसावशेषों से निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के भवन पूर्णतः सादे थे। इन भवनों में कलात्मकता एवं अलंकरण का अभाव पाया गया है। इन भवनों में अधिक सजावट नहीं पाई गई है। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सैन्धव सभ्यता में कला के ज्ञान का अभाव था और यह समयुगीन अन्य सभ्यताओं से पिछड़ी हुई थी। यह तो सैन्धव वासियों की सादगी का परिचायक है। इसके साथ की सादे भवनों से यह भी प्रकट होता है कि सैन्धव वासी 'कला उपयोगिता के लिए' सिद्धांत का पालन करने वाले थे। त्रिपाठी के मतानुसार यह भी संभव है कि भवनों में अतीव भव्यता-प्रदर्शन में कमी लाकर सिंधु घाटी धनाभाव का प्रदर्शन करना चाहता हों ताकि उन्हें कम कर देना पड़े। ध वंसावशेषों से यह तो स्वतः सिद्ध है कि सिंधु सभ्यता के निवासी भवन-निर्माण-कला में पारंगत थे।

### (4) छोटे घर

हड़प्पा में उत्तर की ओर नीचे, साथ साथ छोटे मकानों की दो पंक्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। ह्वीलर महोदय इन कतार बद्ध ग हों को ऐसे मजदूरों का मोहल्ला मानते हैं, जो दास के रूप में कार्य करते थे। संभवतः ये मजदूर छोटे कारीगर रहे होंगे। यह आवास-व्यवस्था समाज के त तीय वर्ग के निमित्त थी। समाज के तीनों वर्ग अलग अलग मोहल्लों में रहते थे। विभिन्न वर्गों के हेतु प थक् प थक् व्यवस्था, तद्युगीन आवास-सुव्यवस्थापन का द्योतक है।

### (ii) नालिका-प्रणाली

तद्युगीन व्यवस्थित नालिका-प्रणाली से हमें सैंधव सभ्यता की उत्कृष्टता, नागरिकता जागरूकता एवं स्वच्छता प्रियता का परिचय मिलता है। प्रत्येक घर में नालिका की उचित व्यवस्था थी। दुमंजिले घरों में ऊपर से ढकी नालियों से नीचे आँगन की ढकी हुई नालियों में गन्दा पानी गिरता था। फिर ये घर की नालिकाएँ क्रमशः गली एवं सड़क की सार्वजनिक नालिकाओं से मिल जाती थीं। अन्त में इन नालिकाओं का गन्दा जल परनालों के द्वारा नगर के बाहर चला जाता था। नालिकाओं के बीच बीच में पानी रूकने के लिए, आधुनिक व्यवस्था के अनुरूप, छोटे छोटे गढ़ों के चिह्न पाये गये हैं। इन नालियों से गन्दगी की सफाई नियमित रूप से होती रहती थी। नालियाँ दो इंच से अठारह इंच तक गहरी होती थीं। इतनी अधिक सार्वजनिक स्वच्छता, तद्युगीन समाज में स्वास्थ्य के प्रति सजगता का प्रतीक है। फलतः समाज में गन्दगी से उत्पन्न बीमारियाँ भी कम ही होती होंगी। रायचौधरी के अनुसार - ''क्रीट की राजधानी मौसस को छोड़कर पानी निकालने का ऐसा प्रबन्ध शायद और कहीं नहीं था। संभवतः वर्षा के जल के निकास हेतु यह उत्तम व्यवस्था थी। सारा नगर नालिकाओं से आव त था।'' सैन्धव सभ्यता की जल-निकास-योजना की उत्कृष्टता पर प्रकाश डालते हुए ए० एल० वासम लिखते हैं :

*"The unique sewerage system....is one of their most impressive achievemens. No other ancient civilization untill that of the Romans had so efficient system of drains."*

निश्चय ही तद्युगीन नालिका-व्यवस्था किसी सुसंगठित संस्था की देखभाल का ही परिणाम होगी।

### (iv) ईंट

सैंधव भवनों में ईंटों का प्रयोग नगर सभ्यता का सशक्त प्रमाण है। इस युग में पत्थर के प्रयोग का कहीं भी संकेत उपलब्ध नहीं होता। ध्वंसावशेषों में *20''×10''×3½''* की ईंटे उपलब्ध हुई हैं। इस युग में ईंटे आग में पकाने के उपरांत भवन-निमार्ण में प्रयुक्त होती थीं। सूर्य की धूप से पकाई गई ईंटों की नींव भवनों में डाली जाती थी तथा इन्हीं ईंटों से छत भी बनाई जाती थी। घर बनाने में मिट्टी, चूना एवं जिप्सम का गारा प्रयोग में लाया जाता था। सैंधव युगीन ईंटों की सुद ढ़ता का परिचय हमें इसी तथ्य से मिल जाता है कि ये ईंटें इतने कालान्तराल के पश्चात् भी यथावत् वर्तमान हैं। उस युग में ईंटों को रँगने का प्रचलन भी था।

ध्वंसावशेषों से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण नगर के चारों तरफ सुरक्षा की द ष्टि से एक दीवार का निर्माण किया गया था। यह दीवार कच्ची ईंटों से बनाई गई थी। सैंधव-सभ्यता-युग की नगर-योजना एवं उत्कृष्ट भवन, एक ओर जहाँ तद्युगीन शहरी सभ्यता के परिचायक हैं, वहीं ये सम द्ध, स्वस्थ, शान्त एवं सन्तुष्ट जीवन के भी बोधक हैं। सुविस्त त सामाजिक भावना ही इस महती नगर-योजना को कार्यान्वित कराने में सफल हेा सकी थी। नगर-योजना का यह महत् कार्य परस्पर सहयोग एवं संगठन के अभाव में असम्भव था। इससे यह सिद्ध होता है कि सैन्ध ाव समाज सामाजिक एवं नागरिकता की चैतन्य भावनाओं से पूर्णतः अनुप्राणित था। निश्चय ही सैन्धव सभ्यता का संपन्न और चैतन्य जन-समाज सशक्त एवं सप्राण सामाजिक जीवन का बोधक है।

अतः ऊपर वर्णित नगर योजना से स्पष्ट हो जाता है कि नगर की योजना पहले तैयार की जाती थी उसके पश्चात् नगर का निर्माण किया जाता था। मोहनजोदड़ो, चान्हुदाड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, बनावली आदि सभी शहर इसके उदाहरण हैं। इतने सुनियोजित ढ़ंग से नगर तभी बसाया जा सकता है जबकि सबसे पहले प्रारम्भ में इसका नक्शा तैयार कर लिया जाए इसलिए जैसा कि शीर्तन रत्नागर का मत है, हड़प्पन शहर प्रारम्भ से नए सिरे से स्थान (*Settlemental relocation*) पर बसाए गए क्योंकि कोई भी बस्ती जो गाँव के रूप में, या पुराने शहर के रूप में प्रारम्भ होती है, कभी भी योजनाबद्ध शहर में तबदील नहीं हो सकता। नए शहरों के बसने से हड़प्पाकालीन जनसंख्या का भी स्थानान्तरण हुआ।

हड़प्पा के शहरों की एक विशेषता रही है भौतिक सम्पदा जैसे ईंटों का नाप (*Size*) व आकार (*Shape*), म दभांड, चर्टब्लेड, तथा धातु औजार, में एकसापन (*Uniformity*)। इस एकसेपन (*Uniformity*) का कारण जैसा कि रतनागर कहती है, व्यापारिक सम्बन्ध सामाजिक समुदायों का आपसी वार्तालाप (*Interaction*) ना होकर काफी हद तक इसका कारण मजदूरों, कार्यकारों का स्थानान्तरण (*Movement*) रहा है। उसके अनुसार यह व्यापार इसका कारण इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि म दभांड और ईंटों के एक स्थान से दूसरे पर ले जाने में यातायात पर भारी खर्चा आता है इसलिए इनका व्यापार अधिक लाभप्रद अर्थात लुभावना नहीं हो सका। इसी प्रकार इसका कारण विभिन्न कबीलाई ग्रुपों का आपसी सम्बन्ध (*Interaction*) इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो ये समानता और अधिक जैसे हाथी दाँत तथा सोने की वस्तुओं, उपहार की वस्तुओं, व्यापक रही होती।

# अध्याय - 2
# वैदिक समाज
# (Vedic Society)

## वैदिक समाज

वैदिक समाज को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आधार पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। ऋगवैदिक अथवा प्रारम्भिक वैदिक काल एवम् उत्तर वैदिक काल। प्रारम्भिक वैदिक काल को जानने का एकमात्र स्त्रोत ऋग्वेद है और उत्तर वैदिक काल की जानकारी उत्तर साहित्य, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, संहिताओं आदि से होती है।

आर्य भारत में सर्वप्रथम सरस्वती नदी और उसके आस पास के क्षेत्र तक सीमित थे उन्हें पूर्वी भारत के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी क्योंकि ऋग्वेद में सरयू गंगा नदियों का उल्लेख एक दो बार ही आया है। ये विभिन्न कबीलों जैसे प्रम तुर्वसू में बँटे हुए थे तथा पशु इनकी अर्थ व्यवस्था का आधार था लेकिन उत्तर वैदिक काल में आर्यो ने गंगा युमुना दो आव के क्षेत्र में पटना तक ही अजोत भूमि को जोतने योग्य बना कृषि का प्रसार किया और आगे चलकर शहरीकरण का मार्ग प्रशस्त किया।

## ऋग्वैदिक समाज

### कबीलाई तथा घुमक्कड़ संगठन (Tribal and Nomad Society)

चूँकि ऋग्वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था एक निर्वाह अर्थ व्यवस्था थी अतः ऐसी अर्थव्यवस्था की जैसा डी. एन झा कहते हैं तार्किक परिणिति काबायली सामाजिक संगठन ही था। एक कबीले में *100* से *200* परिवार थे। कबीले का एक मुखिया (*Tribal Chief*) होता था जिसकी आज्ञा का पालन कबीले के सभी लोगों को करना पड़ता था। इसमें वर्ण विभाजित समाज की भांति जैसा विभाजन नहीं होता था कि एक विशेष वर्ग उत्पादक हेा और दूसरा उत्पादन का नियन्त्रणकर्ता और अधिशेष का संग्रहकर्ता अपितु कबिलाई समाज में भोजन के उत्पादक ही उसके संग्रहकर्ता, नियन्त्रणकर्ता एवम् भोक्ता भी होते हैं। इन समाजों में बिचौलिए का कोई स्थान नहीं होता। ऋग्वेद में जन, विश्, गण व्रात आदि जिन इकाईयों का वर्णन मिलता है वे सभी भाईचारे के सिद्धान्त पर आधारित कबायली संगठन को दर्शाती हैं। कबिला एक बड़ी सामाजिक इकाई के रूप में कार्य करता था जो कबीले एक निश्चित भूभाग पर स्थाई रूप से बसे हुए न होने के कारण चल सम्पति ही रखते थे और अपनी चल सम्पति अर्थव्यवस्था को बढ़ाने के लिए दूसरे कबिलों पद आक्रमण करते रहते थे। इन जनों अर्थात कबीलों में पारस्परिक संघर्ष सामान्य बात थी जैसे ऋग्वेद में देशराज्ञ युद्ध का वर्णन मिलता है जिसमें भरत, प्रस, यद्र, अनू और तुखाजु आदि कबीले शामिल थे। ये युद्ध जैसा कि पहले भी कहा गया है, पशुओं के अपरहण तथा पशुओं की चोरी को लेकर होते थे। कबीले का मुखिया राजा या गोपति होता था। उसका पद अन्य

व्यावसायिक समूहों की भाँति पैत क नहीं था बल्कि उसका जन अर्थात कबीले के सदस्यों में से चुनाव होता था। योद्धा को राजन्य कहा जाता था। ऋगवेद के लोग एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते थे और इस प्रवासी प्रक्रिया में अपनी पशु सम्पदा को भी साथ लेकर चलते थे। इनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवेश, पुनः प्रवेश, संस्थापन आदि का उल्लेख ऋग्वेद में अक्सर मिलता है। परवर्तीकालीन वर्णव्यवस्था के कोई भी चिन्ह इस समाज में नजर नहीं आते। कोई भी विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग नहीं था यहां तक कि राजन भी सम्पूर्ण कबीले के अन्य लोगों के समान ही था।

परन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वह समाज पूर्णतः समतावादी समान था। ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि युद्ध में लूट का बड़ा भाग कबीले के मुखिया और पूरोहित को मिलता था। हाँ परवर्तीकालीन वर्ण विभाजित समाज की तुलना में मुख्य अंतर यह था कि अधिशेष उत्पादन के अभाव में कबायली समाज में वर्गभेद की परिस्थिति उभर नहीं पाई।

### पशुचारी अर्थव्यवस्था एवम् सामाजिक व्यवस्था अर्न्तसम्बन्ध

ऋग्वेद काल में पशु गाय सबसे महत्वपूर्ण पशु था। गाय जन जीवन में इतनी समा चुकी थी कि ऋग्वैदिक समाज के हर पहलू पर इसकी छाप स्पष्ट नजर आती है यहाँ तक कि रिश्ते नातों का सम्बोधन् एवम् नाम भी गायों के संदर्भ से जुड़ा हुआ था जैसे पुत्री को दुहित्री, श्याम को गोध ूली। गोत्र अर्थात् ऋगवैदिक कालीन शताब्दी भी पशुओं के संदर्भ में तय की जाती थी।

### समाज का वर्गीकरण

ऋगवैदिक समाज वर्ण विभाजित था या नहीं यह एक बहस का विषय है और इस बहस का आधार है ऋगवेद का दसवां मण्डल यानि कि पुरूषसुक्त। इस सुक्त के अनुसार आदि पुरूष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य एवम् चरणों से शुद्रों की उत्पत्ति हुई। पी. वी. काणे, जिमर एवम् मैक्समूलर आदि का मानना है कि ऋगवेद में वर्ण व्यवस्था स्थापित नहीं हुई थी और प्रथम मण्डल की भांति दसवां मण्डल भी बाद में जोड़ा गया है जो बाद के वर्ण आध ारित समाज का चित्रण है। अतः ऋग्वैदिक समाज वर्णविहिन समाज था परन्तु विभिन्न कार्यों के आधार पर व्यवसायिक समूह थे जैसे पशुओं को पालने वाले गवाले, गडरिए, कारीगर, मुखिया। ये व्यवसायिक समूह कबिले के अन्दर होते थे और समाज में व्यवसाय का चुनाव व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर था। ऋगवेद में उद्‌ त इस विवरण से इसकी संपुष्टि हो जाती है। ऋग्वेद के एक सुक्त में स्पष्ट लिखा है

'मैं एक कवि हूँ, मेरे पिता एक वैद्य हैं और मरी माँ एक चक्की पीसने वाली है'। परन्तु एन. के. दत्त तथा जी. एस. घुर्ये इस पुरूष सुक्त को आधार मानकर ऋग्वेद काल में वर्णव्यवस्था के विद्यमान होने का दावा करते हैं और अपने पक्ष में ऋग्वेद में उल्लखित अन्य शब्दों का सहारा भी लेते हैं जैसे बह्मपुत्र, विप्रनाम तथा बह्मदेवनाम का प्रयोग ब्राह्मण के लिए तथा राजन्य, राजा के लिए जो क्षत्रिय वर्ण की पुष्टि करता है आवेस्ता में भी चार वर्णो - पुरोहित, योद्धा, कृषक तथा शिल्पी का जिक्र मिलता है और उसी के आधार पर यहाँ भी चार वर्ण स्थापित किए थे।

परन्तु चूंकि यह सर्वमान्य है कि पुरूष सुक्त बाद में जोड़ा गया है अतः जैसा कि पी. वी. काणे तथा मैक्समूलर कहते हैं  कि इसमें वर्णित वर्णों का उल्लेख उत्तर वैदिक काल के वर्णो का ही विवरण देता है। यदि इस विवरण को उत्तर वैदिक काल से पूर्व का माने तो ज्यादा से ज्यादा हम इसे ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण तक ले जा सकते हैं।

हाँ ऋग्वेद के रचनाकारों ने अपने को अन्य समुदायों जिन्हें उन्होंने दास एवम् दस्यु कहा है अलग

रखा। ऋग्वेद में इनके साथ आर्यो के संघर्ष के पर्याप्त वर्णन है। प्रश्न है कि आखिर ये लोग कौन थे। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ये अनार्य जातियाँ इस देश के आदिम निवासी थे। परन्तु आर. एस. शर्मा व डी. एन. झा के अनुसार हो सकता है कि ये लोग आर्यो के ही दूसरे समुदाय (*Stock*) के लोग थे जो सैद्धान्तिक सांस्कृतिक मतभेद के कारण दास करार दिए हो क्योंकि ऋग्वेद में ही ऐसे शब्दों का उल्लेख आया है कि दास यज्ञों में आहूतियां नही डालते थे और इन्द्र का विरोध करते थे वरन् यदु एवं तुर्वश जातियाँ निसंदेह आर्य पंचमानुषों में गिनी जाती परन्तु उन्हें भी एक जगह दास कहा गया है। इसी प्रकार कुछ दास नेताओं के नाम जैसे शम्बर, तुग्र, शुष्ण भी अनार्य नहीं लगते। दस्यु को अदेवयु (देवताओं में श्रद्धा न रखना) अब्रह्मन (वेदों को न मानने वाले) आदि कहा गया है। एक स्थल पर तो इन्हे अमानुष भी कह दिया गया है। दासों की अपेक्षा दस्यु को आर्यो का बड़ा दुश्मन बताया गया है। दस्यु हत्या का उल्लेख कहीं अधिक हुआ है। सांराशतः दास एवम् दस्यु भारत की आदिम अनार्य जाति ही नहीं वरन् आर्यो के ही जैसा डी. एन. झा कहते हैं हो सकता है। जो विभिन्न समयों में भारत आए और सांस्कृतिक भिन्नता रखते थे। ऋगवेद में दान के लिए पुरूषदास का उल्लेख बहुत कम मिलता है जबकि नारी दासों का दान की वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। जिससे ऐसा लगता है कि धनीवर्ग संभवतः घरेलुदास ऐश्वर्य के एक साधन विद्यमान थे। आर्थिक उत्पादन में इनका प्रयोग प्रचलित नहीं था।

## परिवार प्रणाली

कुल या परिवार समाज की प्राथमिक ईकाई थी और 'कुलप' अर्थात परिवार का सबसे बड़ा पुरूष परिवार का मुखिया था। पशुचारण की प्रधानता ने डी. एन. झा के अनुसार पित सत्तात्मक सामाजिक संरचना के निर्माण में सहायता दी। परिवार के मुखिया को ग हपति कहते थे। परिवार के सभी सदस्य उसकी प्रधानता मानते थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। परिवार का अनुशासन कठोर था तथा उसको तोड़ने वाले को सजा का अधिकार पिता अर्थात परिवार के मुखिया को था। ऋगवेद में उल्लेख है कि एक जुआरी पुत्र को उसके पिता व भाईयों ने दण्डस्वरूप बेच दिया था। एक अन्य द ष्टान्त में बाप ने दण्ड देने के उद्देश्य से बेटे को अन्धा कर दिया था। इसी प्रकार शुनः रोप ऋज्राश्च एवम् दिवालिए जुआरी के द ष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार में पुरूष मुखिया का पूर्ण नियन्त्रण था। इस संदर्भ से यह तात्पर्य नहीं है कि पिता और पुत्र के इसी प्रकार के सम्बन्ध थे अपितु पिता को अच्छा और दयालु हृदय बताया गया है।

एक ही परिवार में कई पीढ़ियों के इक्कठा रहने के प्रमाण उपलब्ध है। माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री परिवार का हिस्सा थे। इनके लिए ऋग्वेद में अलग अलग स्वतन्त्र शब्द मिले हैं लेकिन भतीजे, चचेरे भाई बहन, प्रपोत्र आदि सभी के लिए एक ही शब्द नप्त का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक परिवार में एक पति पत्नी विवाह पर आधारित औलाद ही शामिल नहीं थी अपितु परिवार में कई पीढ़ियाँ और कई समपारिर्वक शाखाएँ शामिल थी जैसे नाना-नानी, दादा-दादी, पोते-पोतियां, नाती सभी एक साथ रहते थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल में एक जुआरी यह शिकायत करता है कि घर में उसकी सास उससे नफरत करती है। उस समय पुत्रों की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी। ऋगवेद में इससे सम्बन्धित अनेकों स्तुतियाँ मिलती हैं। परन्तु कन्या का पैदा होना भी बुरा नहीं माना जाता था।

## विवाह प्रथा एवम् महिलाओं की स्थिति

इस समय विवाह एक सामाजिक, धार्मिक एवम् आर्थिक आवश्यकता थी। यद्यपि समाज में आमतौर से एक विवाह की प्रथा थी परन्तु शाही परिवारों में बहुविवाह अर्थात् बहुपत्नी प्रथा भी

प्रचलित थी परन्तु बहुपति प्रथा के उदाहरण नहीं मिलते। सामान्यतः यौवन अवस्था प्राप्त कर लेन पर ही लड़की का विवाह किया जाता था। हालांकि हमें अविवाहित रही लड़कियों के वर्णन भी मिलते हैं जैसे धोषा। लड़किया अपना वर ढूढने के लिए स्वतन्त्र थी। ऋगवेद में एक वर्णन से स्पष्ट है कि किस प्रकार अपने प्रेमियों को लुभाने के लिए लड़कियाँ उत्सवों पर साज श्रं गार करती थी। विवाह स्वयंवर द्वारा किए जाने का प्रचलन भी था। परन्तु दासों, सपिण्ड और सगोत्र विवाहों पर प्रतिबन्ध था परन्तु व्यवहार में इस प्रकार के विवाहों के उदाहरण भी मिल जाते हैं। शादी के समय दहेज की प्रथा नहीं थी परन्तु यदि कन्या में कोई शारिरिक विकार होता था तो ऐसी परिस्थिति में दहेज देने की प्रथा भी थी।

पित सत्तात्मक परिवार होने के बावजूद महिलाओं की स्थिति उत्तरवैदिक काल की महिलाओं से बहुत अच्छी थी। ऋगवेद के अनुसार पत्नी को यज्ञ में शामिल होना और उसमें आहुति डालना आवश्यक था वे विदय, सभा आदि सभाओं में भाग लेती थी। कन्याओं को शिक्षा का अधिकार था। ऋग्वेद में ऐसी *22* विदुषी महिलाओं का वर्णन है। जिनमें अपाला, विश्ववरा तथा मुदगलानी जैसी तत्कालीन प्रसिद्ध नारियों के नाम भी शामिल हैं जिन्होंने ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ लिखी थी। समाज में पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं थी। विधवा को पुनः विवाह की अनुमति थी। सती प्रथा कर्मकांडीय (*Symbolic*) तौर पर भले ही प्रचलित हो परन्तु व्यवहार में नहीं। स्त्री को देवर माया कहा गया है एक उदाहरण मिलता है कि जिस प्रकार एक विधवा ने अपने पति की चित्ता पर लेटकर वापिस आकर देवर को धारण किया। नियोग प्रथा प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त प्रजापति की कहानी में यम-यमी (भाई बहन) के शारीरिक सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। जिसे कुछ विद्वान मिथ्या मानते हैं। वधु को अपने घर में संभवतः सम्मान का दर्जा प्राप्त था। ऐसे वर्णन मिलते हैं कि वह (वधु) अपने पति, पिता, भाई, बहनों पर राज करती थी। उसकी यह स्थिति संभवतः उसके बुजुर्ग होने तथा पति के न रहने की दशा में रही होगी। स्त्रियों को विवाह होने तक पिता, विवाहोपरान्त पति और बुढापे में बेटे की सुरक्षा में रहना पड़ता था परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसे स्वेच्छा से घुमने तथा उत्सवों आदि में भाग लेने की स्वतन्त्रता न हो। जहाँ तक उसके सम्पति सम्बन्धी अधिकार है तो कहीं भी कोई अैसा संदर्भ हमें ऋगवेद में नहीं मिलता जिससे कहा जा सके कि पति की सम्पति की वह अधिकारी हो। सारांशतः स्त्रियों की दशा इस काल में संतोषजनक रही है।

### वेशभूषा एवम् मनोरंजन के साधन

ऋग्वैदिक आर्यन मुख्यतः तीन वस्त्र धारण करते थे। नीवी जो शरीर के नीचले हिस्से में पहना जाता था, वास बीच के हिस्से पर तथा अधिवास जिसे अत्क या द्रापि भी कहते थे, उपरी हिस्से पर पहनने वाला वस्त्र था। ये ऊनी, सूती दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। मासत को म ग छाल पहने दिखाया है जिससे अैसा प्रतीत होता है कि चर्म वस्त्र भी धारण किए जाते थे परन्तु ये संभवतः साधू सन्यासी ही धारण करते रहे होंगे। धनी लोगों के वस्त्रों पर काम भी किया रहता था जैसे एक नत की का कढाई किए गए वस्त्र (पेशस) धारण किए हुए उल्लेख है। विवाह के अवसर पर एक विशेष वस्त्र जिसे वाधूय कहा जाता था, संभवतः धारण किया जाता था। अच्छे वस्त्रों के लिए सुवसन, सुवासस शब्दों को उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद में स्त्री पुरूष दोनों ही आभूषण धारण करने के शौकिन थे। कंगन, नुपुर कान की बाली आदि दोनों ही पहनने के लिए ही था। हिरण्यकर्ण सोने का आभूषण था जो देवताओं को पहने दिखाया गया है। कुरीट वधु के सिर पर पहनने वाला गहना या हार के रूप में सोने का आभूषण संभवतः निष्क था। मोती और हीरे के आभूषण भी बनते थे। स्त्रियां बाजूबन्द, पाजेब, कंठे, गजरे आदि भी पहनती थी। स्त्रियां केश विन्यास की कला में भी काफी निपुण थी तथा तरह-*2* से

केश विन्यास करती थी। पुरूष दाढ़ी मूछ रखने के शौकीन थे। सुगंधित तेल तथा श्रं गार प्रसाध नों का प्रयोग किया जाता था।

मनोरंजन के अनेक साधन थे जैसे रथदौड़, घुड़दौड़, चौपड़, जुआ खेलना अर्थत द्यूतक्रीड़ा। ऋग्वेद में एक वर्णन मिलता है कि किस प्रकार एक जुआरी अपना सब कुछ जुए में हारकर विलाप कर रहा है। न त्य, गाना, वाद्य बजाना मनोरंजन के साधनों थे। म दंग, दुदुंभि आठम्बर, ढोल आदि चर्मवाद्य थे। लोग वंशी (तूणव, नाडी) भी बजाते थे। आखेट भी मनोरंजन का साधन था। कीथ के अनुसार इस काल में धार्मिक नाटकों का भी प्रचलन था।

### भोजन

पशुचारण अर्थव्यवस्था होने के कारण भोजन में दूध और इससे बनी वस्तुओं की विशेष दही, खीर (क्षीर, पकम ओद्कम) ध त - का विशेष स्थान रहा होगा। वे शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन करते थे। रोटी, चावल, साग-सब्जी मुख्य शाकाहारी खाद्यान्न थे। मांसाहारी भोजन में बैल, भेड़, बकरी का मांस मुख्य भोजन था इसके अतिरिक्त बलि में मारे गए पशुओं का मांस खाया जाता था जैसे अश्वमेध सम्पन्न होने पर घोड़े का मांस खाया जाता था। गाय की उपयोगिता देखते हुए यद्यपि उसे अघन्या (अबाध्या) घोषित कर दिया था परन्तु दूध न देने वाली गायों (बन्धया) की बलि अभी प्रचलन में थी जिसके मांस का बलि के पश्चात सेवन किया जाता था।

इसके अतिरिक्त आर्यो में दो मुख्य पेय थे *(i)* सुरा *(ii)* सोमरस (देवताओं का पेय) का प्रयोग यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। सुरा एक मादक पदार्थ था जो अन्न से बनाया जाता था।

### चिकित्सा

इस काल में चिकित्सा पद्धति के प्रमाण भी मिलते हैं अश्विनी चिकित्सा शास्त्र के देवता माने जाते थे। उनमें रोग दूर करने की अदम्य शक्ति मानी जाती थी रोगों में यक्षमा का प्रायः वर्णन मिलता है। विभिन्न जड़ी बुटियों से दवा बनती थी। संभवतः शल्य चिकित्सा भी होती थी।

### शिक्षा

ऋग्वेद के दसवें मंडल में शिक्षा प्रणाली पर विशेष जोर दिया गया है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपनी शारीरिक, बौद्धिक एवम् मानसिक शक्ति का विकास और प्रखर करता है। ऋग्वेद में यद्यपि उपनयन संस्कार के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है परन्तु ऋगवेद में मण्डूक सुक्त से पता चलता है कि विद्यार्थी अपने गुरू से मौखिक शिक्षा प्राप्त करते थे। आचार्य वेद की शाखाओं को कण्ठस्थ कर छात्रों को शिक्षा देते थे जिसे विद्यार्थी सामूहिक रूप से दोहराते थे, मेढ़क की तरह टर्रारते थे। इस काल में विद्यार्थियों के लिए ब्रह्मचारी शब्द प्रयुक्त किया गया है इस काल में महिला शिक्षिकाओं का भी उल्लेख है। मैत्रयी, गार्गी इस काल की विदुषियां थी।

## धार्मिक जीवन एवम् विश्वास

वैदिक लोगों के धार्मिक विचार ऋगवेद के श्लाकों से स्पष्ट दिखाई देते हैं। ऋग्वेद में आर्यो को प्रकृति के प्रकोप का सदा भय बना रहता था अतः सदा उन्हें मूर्तरूप दे प्रसन्न करने में लगे रहते थे। वे चतुर्दिक प्राकृतिक शक्तियों (जैसे वायु, जल, वर्षा, बादल, आग आदि) जिन पर वे नियन्त्रण नहीं कर सकते थे और उन पर दैवी शक्ति का आरोपण करके, मानव के रूपों में, जिनमें अधिकतर पुलिंग थे, उपासना करते थे। बहुत कम देवियों की आराधना होती थी। इस तरह से धर्म पैत सत्तात्मक समाज को दर्शाता है और वह प्रारम्भिक जीववाद था।

इंद्र शक्ति का देवता था और उसकी उपासना शत्रुओं का नाश करने के लिए होती थी। वह बादलों का देवता था और वर्षा करने वाला था तथा उससे समय-समय पर वर्षा के लिये कहा जाता था। उसको पराजित नहीं किया जा सकता था। बादल एवं वर्षा (प्राकृतिक नियति) शक्ति से सम्बंधित थे जिसको पुरूष के रूप में मानवीयकरण किया गया तथा जिसका प्रतिनिधित्व इंद्र देवता करता था। गण का मुखिया जो युद्ध में सबसे आगे रहता था उसका प्रतिनिधित्व भी इंद्र के चरित्र में मिलता है। अग्नि आग का देवता था और इंद्र के बाद उसका महत्व था। उसको प थ्वी एवं स्वर्ग के बीच मध्यस्थ माना जाता था अर्थात् देवताओं और मनुष्यों के बीच। वह परिवार के चूल्हे का अधिकारी था, और उसकी उपस्थिति में ही विवाह सम्पन्न होते थे। आग गंदगी एवं जीवाणुओं को नष्ट करती है इसलिए अग्नि को पवित्र माना जाता है। प्रारम्भिक समाज में अग्नि के महत्व को यज्ञ या बलि से भी संबंधित किया जा सकता है जो आहूतियां अग्नि को समर्पित की जाती थी उनसे ऐसा माना गया है कि वे धुएं के रूप में देवताओं तक पहुंचायी जाती थी।

वरूण को जल का देवता माना जाता था और वह विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था का रक्षक था।

यम म त्यु का देवता था और उसका प्रारम्भिक वैदिक समाज में विशेष महत्व था।

दूसरे अन्य बहुत से देवता जैसे सूर्य, सोम (जो एक पेय भी था), सावित्री, रूद्र आदि और अनेक प्रकार के दिव्य देहधारी देवता थे जैसे गंधर्व, अप्सरा, मरुत तथा जिनको सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद में प्रार्थना एवं श्लोक लिखे गये हैं।

वैदिक धर्म बलि देय था। बलि या यज्ञों को निम्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिये किया जाता था :

देवताओं की उपासना करने,

- मनोरथ पूरा करने के लिए, युद्ध में विजय,
- पशुओं, पुत्रों आदि की प्राप्ति के लिए।

हमें कुछ ऐसे श्लोक मिले हैं जिनको बलि के औजारों में शक्ति संचयन के लिए समर्पित किया गया जैसे कि बलि वेदी सोम के पौधे को पीसने वाले पत्थरों, ओखली, युद्ध के हथियारों एवं नगाड़ों आदि। श्लोकों एवं प्रार्थनाओं को इन बलि यज्ञों के अवसरों पर गाया जाता था और सामान्यतः पुरोहित ही इन यज्ञों को सम्पन्न करते थे। प्रारम्भिक वैदिक काल में बलि यज्ञों का बहुत महत्व हो गया जिसके परिणामस्वरूप, पुरोहितों का महत्व भी बढ़ने लगा। बलिदान अनुष्ठानों के कारण गणित एवं पशु शरीर संरचना ज्ञान के विकास में भी व द्धि हुई। बलिदान वाले क्षेत्र में बहुत सी वस्तुओं को उचित स्थिति में स्थापित करने के लिये प्रारम्भिक गणित की आवश्यकता गणना करने के लिए पड़ती थी। बलिदान बारबार होने के कारण पशुओं के शरीर का ज्ञान भी बढ़ा। वैदिक लोगों का विश्वास था कि जगत का उद्भव एक विशाल ब्रह्मांडी यज्ञ से हुआ और यज्ञों के समुचित सम्पादन से ही उसका प्रतिपालन हो रहा है। धर्म काल्पनिक-अनुष्ठान पर आधारित नहीं था बल्कि इसके द्वारा बलिदान व श्लोकों के माध्यम से देवताओं से सीधे सम्पर्क स्थापित करने पर बल दिया गया था। आत्मिक उत्थान करने के लिये देवताओं की उपासना नहीं की जाती थी और न ही निराकार दार्शनिक अवधारणा के लिये। अपितु इनकी उपासना भौतिक उपलब्धियों के हेतु की जाती थी।

बलि पर आधारित धर्म पशु-पालक (चरवाहें) लोगों का धर्म है। इस समाज में पशु की बलि सामान्य बात है। जब पशु बूढ़ा हो जाए, जब वह न दूध दे सकता है और न मांस, न प्रजनन के लिये ही उपयुक्त रह जाता है, अर्थात जो पशु आर्थिक लाभ के नहीं होते उनको मारकर उनके मालिकों का बोझ हल्का कर दिया जाता है। इस तरह से पशुबलि (बड़े) बुढ़े जानवरों को नष्ट

करने का एक तरीका है और इसका समाज में एक महत्वपूर्ण योगदान है। लेकिन कृषि प्रधान समाज में, पुराने पशुओं का उपयोग खेती-बाड़ी में किया जाता है और वे हल आदि खींचने के काम आते हैं तथा इसीलिये खेती-बाड़ी वाले समुदाय जानवरों के नष्ट होने के काम को घ णा की द ष्टि से देखते हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म पैत सत्तात्मक पशुपालक समाज को उजागर करता है और वह द ष्टिकोण में भौतिकतावादी था।

सारांशतः ऋग्वेद में कुल *33* देवता माने जाते थे इनमें इन्द्र और अग्नि तथा सोम सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। इन्द्र के लिए *250*, अग्नि के लिए *200* और सोम के लिए *100* से अधिक मंत्र ऋग्वेद में मिलते हैं। यज्ञ और स्तुति देवताओं को प्रसन्न करने का माध्यम था।

## (ख) उत्तर वैदिक समाज

उत्तरवैदिक समाज एवम् संस्कृति की जानकारी हमें सामवेद यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अतिरिक्त वाजसनेयी संहिता, तैत्रीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, जैमनीय ब्राह्मण, अरणायक एवम् उपनिषद (उपनिषदों को सामान्यता वेदान्त (वेदों का अन्त कहा जाता है) से मिलती है। इन सभी रचनाओं में वर्णित संस्कृति उत्तर वैदिक संस्कृति के नाम से जानी जाती है। यह काल वह काल था जबकि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जीवन के सभी पहलुओं को निश्चित स्वरूप मिल रहा था और इस समय जिस सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक ढाँचे का आविर्भाव हुआ वह छोटे मोटे परिवर्तनों के साथ, जैसा डी. एन. झा कहते हैं, सदियों तक चला। इस समय कबीलाई व्यवस्था टूट रही थी और क्षेत्रगत राज्य उदय हो रहे थे, अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान हो चुकी थी तथा वर्णव्यवस्था का आविर्भाव हो चुका था। ऋग्वैदिक कालीन अनेक छोटे छोटे कबीले एक दूसरे में विलिन होकर क्षेत्रगत जनपदों को जन्म दे रहे थे जैसे पुरू + भरत = कुरू और तुर्वशु + क्रिवी = पांचाल कहलाए अनेकों ब्राह्मणों में तो कुरू-पांचाल के एक साथ अनेक उल्लेख हैं। पहले युद्ध पशुओं के लिए लड़े जाते थे अब भू अर्थात राज्य विस्तार के लिए लड़े जाने लगे। उत्तर वैदिक काल की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन उनके जीवन में स्थाईत्व आने के कारण हुआ।

### वर्ण व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। ऋग्वेद काल के अंतिम चरण में समाज चार वर्णो - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्र में बँट गया था लेकिन इस काल में वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर आधारित हो चुकी थी। समाज में चारों वर्णो के कार्यक्षेत्र का विभाजन हो चुका था तथा समाज में स्तरीकरण भी।

### ब्राह्मण

ब्राह्मणों के प्रयास से उत्तरवैदिक काल का समाज बहुत ही ठोस ढंग से चार भागों में बंट गया था। नीचे के दो भाग अर्थात् वैश्य एवं शूद्र तो जबरदस्त ढंग से उत्पादन के कार्य में लगे हुए थे लेकिन उत्पादन के लिए बिना किसी तरह का परिश्रम किये हुए ब्राह्मण वर्ग सुविधा प्राप्त वर्ग में था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों का ही उत्पादित वस्तुओं पर नियंत्रण था। वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा उत्पादित सामानों का ठोस हिस्सा बिना विशेष परिश्रम के ये लोग पूजा-पाठ एवं सुरक्षा के नाम पर ले लेते थे। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग में थे तो जरूर लेकिन दोनों वर्ग आपसी तनाव भी रखते थे। उत्तरवैदिक ग्रन्थ में एक ऐसे द श्य का वर्णन है जिसमें ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के बीच लड़ाई दिखाई गयी है। इसी तरह मित्र एवं वरूण के बीच भी लड़ाई की बात बतायी गयी है। इन उल्लेखों के आधार पर विद्वानों का कहना है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के बीच स्वार्थवश आपसी तनाव रहता ही था। आपसी तनाव का कारण तो अपना-अपना स्वार्थ था ही,

वैश्यों एवं शूद्रों का शोषण करने के लिए दानों वर्ग आपस में मिलकर एक भी हो जाते थे। लेकिन इनके द्वन्द्व का मुख्य कारण तो जैसा कि डी. एन. झा कहते हैं, वैश्यों एवं शूद्रों द्वारा किये गये उत्पादन में से अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करना था।

### क्षत्रिय

अनेक स्त्रोतों के अनुसार ब्राह्मणों को बहुत ज्यादा धन की प्राप्ति होती थी। ये लोग वैश्यों एवं शूद्रों से लेने के अलावें क्षत्रियों से भी कुछ न कुछ प्राप्त कर लेते थे। दूसरी ओर हम क्षत्रियों को देखते हैं जो केवल वैश्यों और शूद्रों से ही धन वसूल पाते थे। ब्राह्मणों से वसूलना तो दूर रहा, उन्हें उल्टे किसी न किसी धार्मिक अनुष्ठान के बहाने देना ही पड़ता था। इस तरह क्षत्रियों को अपना खर्च चलाने के अलावे ब्राह्मणों को दान भी देना पड़ता था। अतः क्षत्रियों को अधिक धन की आवश्यकता थी। चुँकि क्षत्रियों का मुख्य काम युद्ध करना था अतः ब्राह्मणों को उनसे परास्त होना ही पड़ता था। अन्त में हम पाते हैं कि उत्पादन पर मुख्य रूप से क्षत्रियों का ही आधिपत्य हो गया। आवश्यकता से अधिक समान या अतिरेक पर अब क्षत्रियों का नियंत्रण हो गया, ब्राह्मणों को समझौता करना पड़ा क्योंकि इसके अलावे उनके पास कोई दूसरा चारा नहीं था, वैसे ब्राह्मण प्रथम श्रेणी में अपना स्थान बनाये रखे हुए था, लेकिन यह श्रेणी मुख्य रूप से आदर पाने की द ष्टि से ही उपयोगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र तीनों को क्षत्रिय से सम्पर्क रखना आवश्यक था। इस तरह क्षत्रियों की श्रेष्ठता सबने स्वीकारी। इतना ही नहीं क्षत्रियों की प्रमुखता ब्राह्मणों की तुलना में इस बात से भी प्रमाणित होती है कि जब राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण स्वयं क्षत्रिय राजा को परम्श्रेष्ठ ब्राह्मण की पदवी से विभूषित करता है। बाद में चलकर तो हमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण धर्मों को क्षत्रियों द्वारा कई बार चुनौती दी गयी। क्षत्रिय राजा अपने उद्देश्य की सफलता के लिए समाज के सभी वर्गों को आतंकित करता था।

### वैश्य

वैश्य वर्ग का स्थान तीसरा था। वनजारा एवं पशुचारण की अवस्था को पार करने के पश्चात् आर्यो ने व्यवस्थित ढंग से कृषि के काम को अपना लिया। आर्य समाज की यह एक नई विशेषता हो गयी। इस व्यवस्था में खेती, पशुपालन एवं व्यापार करने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से वैश्य वर्ग के कन्धे पर आयी। वैश्यों ने अनेकों बस्तियों के बीच आर्थिक सम्बन्ध कायम किये। धीरे-धीरे वैश्यों का एक वर्ग किसानें का हो गया। इनका मुख्य काम खेती करना हो गया। दूसरा वर्ग व्यापारियों का हो गया। ये व्यापारी वर्ग शुरू-शुरू में अधिक सम्पन्न किसानों के बीच से आये क्योंकि वे ही व्यापार में हुए आर्थिक नुकसान को बर्दाश्त करने की स्थिति में थे।

काफी धनवान होने बावजूद समाज में वैश्यों का स्थान ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की तुलना में निम्न था। वैश्य वर्ग का मुख्य काम ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के खर्च को चलाना था। इनके द्वारा बलि, शुल्क, भाग आदि राजा को दिये जाते थे। वैश्यों का राजा अपनी सुविधा के लिए इतना शोषण करता था कि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा को उत्पादक वर्ग अर्थात् वैश्यों एवं शूद्रों का भक्षक कहा गया है। किसानों को भी अपनी इच्छा के अनुसार चलने के लिए क्षत्रिय राजा हमेशा दबाव डाले रहता था। राजा की इस प्रव ति का धार्मिक ग्रन्थों ने विरोध नहीं बल्कि समर्थन किया है। राजा के आदेश नहीं मानने वाले वैश्य को बहुत ही बुरा आदमी कहा गया है। किसानों का आर्थिक शोषण हो इसका प्रयास न केवल राजा ने बल्कि ब्राह्मणों ने भी किया। पक्षी, किड़े-मकोड़ों आदि से फसल की काफी बर्बादी होती थी जो कृषकों के लिए बहुत बड़ी समस्या थी। इस समस्या का समाधान तो राजा के लिए करना दूर रहा उल्टे कर नहीं देने के कारण राजा किसी भी किसान की सम्पत्ति एवं भूमि छीन सकता था।

संकट की स्थिति में राजा सफलता के लिए राज्य के सभी लोगों के साथ बैठकर खाना खाता था लेकिन इसका यह अर्थ कभी नहीं लगाना चाहिए कि राजा और प्रजा में अच्छा सम्बन्ध ा था। युद्ध के समय वैश्यों से सैनिक सेवाएँ भी राजा के द्वारा ली जाती थी। बाद के वैदिक ग्रन्थों में राजा एवं ब्राह्मणों के ऐसे कठोर व्यवहारों के विरोध में वैश्यों द्वारा विद्रोह करने की चर्चा हमें नहीं मिलती। लेकिन एक बात की महत्वपूर्ण जानकारी होती है कि ब्राह्मणों ने पुनर्जन्म पर बड़ा जोर दिया है। (अच्छा कर्म करने से अगले जन्म में लाभ होगा) ब्राह्मणों के द्वारा इस कथन से ऐसा लगता है कि वैश्यों का शोषण करने के लिये ही प्रचार किया गया ताकि वैश्य राजा से विद्रोह न कर सके। वैदिक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख हमें मिलता है कि राजा द्वारा लगाये भारी कर के बोझ को नहीं ढो सकने के कारण दक्षिण पंचाल के लोग उत्तर चले गये।

वैश्यों के बीच अनेक भेदों की चर्चा मिलती है। ये टुकड़ों में बंटने लगे थे। इनके बीच कृषि और व्यापार को लेकर आपसी तनाव बढ़ता जा रहा था। कुछ वैश्य कृषि का काम करने लगे थे और कुछ अलग अलग काम करने के कारण सोनार, लोहार, बढई, रथकार, कुम्हार आदि कहलाने लगे।

## शूद्र

शूद्रों की हालत और बुरी थी। इनका वर्ग चौथा था। तीनों ऊँचे वर्गो की सेवा करना ही उनका कर्त्तव्य था। राजा अपनी इच्छा के अनुकूल उसे मार सकता और आतंकित कर सकता था। शूद्रों की श्रेणी में वैसे मूल कबीले के लोग थे जिन्हें आर्यो ने युद्ध में हरा दिया था। आर्यो एवं अनार्यो के आपसी मेल से जो बचा उसे भी शूद्र की श्रेणी में रख दिया गया। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार वैसे आर्य भी शूद्र की श्रेणी में रख दिये गये जो आर्यो द्वारा ही समतल भूमि पर अधिकार करने के दौरान परास्त कर दिये गये थे। मुख्यतः तीन रास्तों से शूद्रों का आगमन हुआ। वैदिक ग्रन्थों में शूद्रों को हरेक प्रकार की सेवा करने वाला सेवक माना गया है। इनका वध भी कर दिया जाय तो वह अपराध नहीं कहा जाता था।

समाज के उपर्युक्त विभाजन के आधार पर सबसे ज्यादा लाभ ब्राह्मणों का था। समय बीतने के साथ-साथ ब्राह्मण इस बात को समझ चुके थे। इस विभाजन में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो इसके लिए धर्म का सहारा लेना आवश्यक था। अतः उन्होंने देवताओं के मुँह से लेकर पैर तक के बीच के चारों वर्णो को उत्पन्न करा दिया।

## उपवर्ण अथवा उपजातियाँ

इस वर्ण-व्यवस्था को मूर्तरूप देने के लिए वर्ण को कर्म या पेशा अनुसार नहीं बल्कि वंश या जन्म के अनुसार मान लिया गया। अब चारों वर्णो के एक साथ खाने पर रोक लगा दी गयी। इसी समय विवाह के नियम एक निश्चित दायरे में बना दिये गये। इन वर्णो से सम्बन्धि जो नियम बने उससे केवल चार वर्णो के लोग ही प्रभावित नहीं हुए बल्कि अलग अलग वर्णो में भी जो अनेक उपवर्ण या अनेक पेशे के लोग जैसे- किसान, शिल्पकार, कर्मकार, सैनिक, राजा आदि बने वे भी प्रभावित हुए। अलग-अलग व्यवसाय के आधार पर अलग-अलग जातियाँ बन गयीं। जाति शब्द जन्म से बना है। जाति वाली स्थिति में वर्ण का अब विशेष महत्व नहीं रह गया था। ब्राह्मण वर्ण में कुछ तो पूजा-पाठ का काम करने लगे, कुछ अध्ययन-अध्यापन का कार्य और कुछ ब्राह्मण अपने मवेशियों के साथ बहुत छोटे-छोटे समूहों में पूर्व के घने जंगलों में चले गये। ये लोग विना अस्त्र-शस्त्र के जंगल में चले जाते थे और जंगली जातियों से मैत्री कर लेते थे। दरिद्रता एवं अहानिकर स्वभाव के कारण ब्राह्मण आदिवासियों या निष्पादों के साथ रहने लगे। क्षत्रियों के समाज में भी कुछ क्षत्रिय राजा बन गये और कुछ क्षत्रिय उनके दरबार में सैनिकों का काम करने

लगे। कुछ ऐसे क्षत्रिय भी थे जिनको व्यापारी अपनी सुरक्षा के लिए साथ में लेकर जंगलों से होकर एक जगह से दूसरी जगह जाया करते थे। धीरे-धीरे बदले में व्यापारी उन्हें एक निश्चित रकम देने लगे। ये क्षत्रिय धीरे-धीरे व तिभोगी समूह बन गये और भाड़ा मिलने पर किसी के लिए भी लड़ने के लिए तैयार रहते थे। धीरे-धीरे ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों का अलग-अलग पेशा भी वंशानुगत होता गया। इस तरह पेशा एवं जाति में घनिष्ठ सम्बन्ध होता गया। परिणामस्वरूप एक वर्ण से निकल कर दूसरे वर्ण में जाने पर स्वतः रोक लग गयी।

इस प्रकार इस काल में जब विभिन्न व्यवसायों में वंशानुगतता, जन्म तथा प्रतिबन्धता (*Heridity rigidity & birth*) आ गई तेा ये व्यवसायिक ग्रुप विभिन्न जातियों में बदल गए। और प्रत्येक जाति के काम, उनकी प्राथमिकताएँ एवम् सामाजिक स्तर तय कर दिए गए। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में और शतपथ ब्राह्मण में तो चारों जातियों के वर्णानुसार अलग-अलग आकार में श्मशानों का भी उल्लेख है।

इस काल में शूद्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए। जैसे शूद्र उपर के तीनों वर्णो की स्त्री से विवाह नहीं कर सकते थे परन्तु उन्हें शुद्र या दस्यु वर्ण की स्त्री से विवाह का अधिकार था उदाहरणस्वरूप पाराशर खयाक स्त्री से, व्यास धीवर कन्या से, वशिष्ठ गणिका से जन्मे थे।

### गोत्र

इस समय में गोत्र संस्था का भी उदय हुआ कबिलाई संगोत्र (कबीले के अन्दर) विवाह से बाहर असंगोत्रीय विवाह (कबीले से बाहर) के लिए नियम बने। गोत्र के एक समान पूर्वज के वंशुक्रम को महत्व दिया और इस कारण एक ही गोत्र के लड़के लड़कियों का आपस में विवाह नहीं होता था।

### दास प्रथा एवम् अस्प श्यता

जिन दास व दासियों को खेती करने लिए नियुक्त किया जाता था उनके लिए दास शब्द आया है इस प्रकार दास प्रथा का विकास हुआ। दास प्रथा एक व्यवस्था के साथ उत्पन्न हुई। आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में जब खेती का विकास हो रहा था तब चूँकि वैश्य पूरी खेती को नहीं सम्भाल सकते थे। इसलिए क्षत्रियों द्वारा जीते कबीलों के लोग जिन्हें दास बनाया जाता था, उन्हें खेती के कार्य में लगा दिया जाता था  और इस प्रकार दास प्रथा का बीजारोपण उत्तरवैदिक काल के कम से कम उत्तरार्ध में अवश्य हो गया था।

### अस्प श्यता

यद्यपि इस काल में अस्प श्यता एक संस्था के रूप में स्थापित नहीं हेा पायी थी परन्तु इसका कुछ आभास अवश्य ही इस काल में हो गया था। उपनिषदों और संहिताओं में चांडाल, पौल्कस, निषाद, उग्र आदि जातियों/कबीलों का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद में चाँडाल तथा पौल्कस कबीलों का वर्णन मिलता है। इस उपनिषद के अनुसार ये दोनों कबीले बहुत ही पिछड़े हुए थे इनकी बस्तियाँ गंदी हैं इनकी बस्तियों में कुत्ते बहुत मिलते हैं। चाण्डाल की तुलना सुअर से की गई है जो कि नफरत से ओतप्रोत है। सुअर भी दो प्रकार के होते हैं पहला जिनकी यज्ञों में पूजा की जाती है दूसरा जो गंदगी पर पलता है। चाण्डाल को दूसरे किस्म का माना है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस समय छुआछात थी पर छुआछुत की परिभाषा में पूरी फिट नहीं बैठती। अतः इसमें संदेह नहीं कि किसी व्यक्ति या समुदाय को हेय या घ णित द ष्टि से देखना ही छुआछात की शुरूआत है।

## परिवार

इस काल में पित सत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रथा पूरी तरह से स्थापित हो चुकी थी तथा ग हपति को विशेष स्थान परिवार में प्राप्त था। घरेलु अर्थव्यवस्था के विशिष्टता प्राप्त कर लेने से ग हपति की स्थिति महत्वपूर्ण हो गई थी। ग हपति धनी थे और अनुष्ठान में उनका मुख्य कार्य यजमान का था उन्होंने धन उपहारों से नहीं वरन् अपने विशेष प्रयासों से अर्पित किया था। हमें एक परिवार में तीन पीढ़ियों तक इक्कठे रहने के प्रमाण मिलते हैं। परिवार की सम्पति मुखिया के नियन्त्रण में होती थी इस काल में संयुक्त परिवारों में विगठन देखने को मिलता है। मुखिया की व द्धावस्था में सम्पत्ति के बंटवारे की मांग बढती जा रही थी। ब्राह्मणों में जैसे शतपथ ब्राह्मण तथा तैतिरीय ब्राह्मण में पुत्रों को अपने पिता से सम्पत्ति के बँटवारे को लेकर लड़ते हुए उल्लखित किया है।

## स्त्रियों की दशा

उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेद काल की तुलना में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें असत्य भाषी और अन त कहा गया है। मैत्रयी संहिता में तो स्त्री की तुलना पासा और सुरा (शराब) से की गई। इसी तरह के संदर्भ तैतिरीय तथा काठक संहिताओं में भी मिलते हैं। इस काल में पुत्रों की कामना काफी बढ़ गई थी क्योंकि उसका जन्म सामाजिक-धार्मिक आवश्यकता थी। पिता की म त्यु पर शरीर को मुखाग्नि देने का अधिकार उसी को था और वही वंश को बढाने वाला था। परन्तु दुख की बात यह है कि लड़की का जन्म परिवार के लिए दुख का कारण माना जाता था ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पुत्र को स्वर्गतुल्य तथा कन्या को कृपणम् अर्थात् विपत्ति कहा गया है। वैदिक ग्रन्थों में पुत्री को बेचना अच्छा नहीं माना गया है इससे पता चलता है कि लड़कियों को बेचा भी जाता था। इस काल में अच्छी स्त्री वही मानी जाती थी जो पतिव्रता हो और पतिव्रता प्रमाणित करने के लिए पति की म त्यु पर उसे अपने पति के साथ प्रतीकात्मक बलिदान करना पड़ता था। यह बात दूसरी है कि आर्थिक सामाजिक दबावों (*Socio-economic utility*) के कारण उसका वास्तव में सती होना समुदाय वहन नहीं कर सकता था इसलिए प्रतीकात्मक आत्मदाह पुरूष प्रधान समाज के सम्मान (*ego*) को संतुष्ट कर देता था। यहीं से बाद के कालों में सती प्रथा प्रारम्भ हुई। ब हदारण्यकोपनिष्द में औरतों के अधिक बोलने पर भी रोक लगाने का उल्लेख पाते हैं।

इस काल में स्त्रियों के राजनीतिक कार्य में भाग लेने पर भी रोक लगा दी गई। अब वह सभा समीति और वाद विवाद प्रतियोगिताओं में भाग नहीं ले सकती थी। बहुपत्नी विवाह ने इसकी स्थिति को और भी दयनीय बना दिया जैसे मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नी का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा हरिशचन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है।

परन्तु कुछ ऐसे संदर्भ भी मिलते हैं जिनमें नारी की स्थिति का दूसरा पहलू भी नजर आता है। गार्गी और मेत्रयी जैसी विदुषी स्त्रियों का भी उल्लेख आता है। ऐतरेय ब्राह्मण में गंधर्वग हिता का उल्लेख है जो परम विदुषी और मुखर थी। राजा जनक की राजसभा में बह्यवादिनी (अविवाहिता) का एक दल था जिसमें गार्गी का मुख्य स्थान था। कुछ वीरांगनाओं के भी उदाहरण मिलते हैं जो पतियों के साथ सामाजिक कार्य में हाथ बंटाती थी। पत्नी शब्द का अर्थ ब्राह्मणों में पति के साथ सामाजिक एवम् धार्मिक कार्यो में समान अधिकार रखने वाली स्त्री से किया है। शतपथ ब्राह्मण में उसे अर्धागिनि भी कहा गया है। अभी भी विधवा विवाह प्रचलित था, पर्दा प्रथा नहीं थी। अथर्ववेद में असंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख है। यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्रवधु का अपने श्वसुर के समक्ष न आने का उल्लेख मिलता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हैं कि उस

समय पर्दा प्रथा प्रचलित थी। इस काल में भी सामान्यतः व्यस्क होने पर ही विवाह किया जाता था। यद्यपि आमतौर से लड़कियों को अविवाहिता नहीं रहने दिया जाता था परन्तु अथर्ववेद में अविवाहिता कन्याओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु इनके बावजूद भी इसमें संदेह नही कि स्त्रियों की स्थिति में तेजी से गिरावट आ रही थी।

**विवाह प्रथा**

यह एक अनिवार्य संस्कार था जिसके माध्यम से वह अपने कई उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यों का निर्वाह करता था। ग हस्थ जीवन में ही वह तीनों ऋण- पित ऋण, ऋषिऋण तथा देवऋण से मुक्ति पा सकती था। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का निर्वाह भी विवाह संस्कार के पश्चात ही कर सकता था। तैतरीय संहिता के अनुसार धर्म के अनुपालन, याज्ञिक कर्म, सन्तानोंत्पत्ति, वंशोंत्थान, ग हस्थ और पितरों के लिए पिंडदान आदि में निर्मित विवाह आवश्यक माना गया है। इस काल में भी विवाह वर वधु के व्यस्क होने पर ही किया जाता था। बाल विवाह प्रचलित नहीं था। ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् ही अर्थात् *20* वर्ष की आयु में लड़के का विवाह किया जाता था। संगोत्रिय विवाह निषेद था। पिता की सातवीं पीढी और माता की पांचवी पीढी तक के बीच विवाह नहीं होता था। इसे सपिण्ड कहा जाता है। शतपथ बाह्मण में माता पिता की तीन चार पीढीयों तक के विवाह पर रोक लगाई गई है।

सामान्यतः एक पत्नी विवाह ही प्रचलित था। परन्तु बहुविवाह तथा विधवा भी समाज में प्रचलित था। ऐतरेय बाह्मण के अनुसार एक पुरूष की कई पत्नियाँ हो सकती थी परन्तु एक स्त्री के कई पति नहीं। बहुपत्नी विवाह संभवतः राजाओं तथा धार्मिक वर्ग तक ही सीमित था।

विवाह संभवतः अपने ही वर्ण में होते थे परन्तु अर्न्तवर्ण विवाह के अनेक उदाहरण हैं जैसे बाह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया। अन्तर्जातिय विवाह में अनुलोम विवाह को तो समाज में स्वीकार कर लिया जाता था परन्तु प्रतिलोम को नहीं।

**शिक्षा**

कुछ विद्वानों के अनुसार इस युग में लेखन कला का प्रारम्भ हुआ। उनके अनुसार लगभग *800* ईसवी पूर्व में मेसोपोटामिया के प्रभाव से भारत में लिपि का प्रारम्भ हुआ परन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस काल में भी साहित्य श्रुति के रूप में ही था। शिष्य अपने गुरू से मौखिक रूप में शिक्षा ग्रहण करते थे। बड़े-बड़े आचार्य अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। गुरू के घर में रहने वाले विद्यार्थी को अन्तेवासी कहा जाता था। अथर्ववेद में बह्याचारिन् शब्द उस वैदिक विद्यार्थी के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अग्निपूजा के लिए लकड़ियाँ और गुरू के लिए मांगकर भोजन लाता था। सभी विद्यार्थियों को भिक्षाव ति पर निर्वाह करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा सभ्यता एवम् विनम्रता को अपनाना पड़ता था। सभी विद्यार्थियों को कठोर परिश्रम द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं द्वारा विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। छन्दोग्य उपनिषद के अनुसार देवविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या, नक्षत्र विद्या, श्राद्ध, तर्कशास्त्र आदि की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी इसी प्रकार ब हदारण्यक उपनिषद से इतिहास, उपनिषद, अनुव्याख्यान आदि विषयों की जानकारी मिलती है। इस काल में उपनयन संस्कार पद्धति के बाद शिक्षा शुरू की जाती थी। तीनों उच्च वर्णो को उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त था लेकिन शुद्र को यह अधिकार नहीं था। लड़कों की भाँति लड़कियाँ भी ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करती थी। संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्रियों द्वारा संगीत और न त्य की शिक्षा ग्रहण करने के प्रमाण मिलते हैं। तांडय बाह्मण के अनुसार गणित, व्याकरण और काव्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी और भाषा के ज्ञान पर जोर दिया जाता था। इस काल में अनेक विदुषियां

भी हुई हैं जो वाद विवाद में प्रतियोगिताओं में भाग लेती थी जैसे जनक की सभा में गार्गी ने याज्ञवाल्क्य से वाद विवाद किया याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रयी एक विदुषी थी। शिक्षा का अधिकार एक विशेष वर्ग की लड़कियाँ को ही दिया गया था या सभी को कहना कठिन है।

## वेशभूषा तथा आभूषण

उत्तरवैदिक युग में अनेक प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग होने लगा। ऊनी वस्त्रों के लिए 'ऊर्णा' शब्द रेशमी वस्त्रों के लिए कोशेय, अलसी से बने वस्त्र के लिए 'औम' शब्दों का प्रयोग मिलता है। करघे के लिए 'वेमन' शब्द का उल्लेख हुआ है। सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियां ही करती थी। यही नहीं अपितु वस्त्र बुनने, रंगने तथा कढाई (पेशस्कारी) का काम भी स्त्रियां करती थी वस्त्र रंगने का काम करने वाली स्त्रियों को 'रजयित्री' कहा जाता था ऋग्वेद की भांति इस काल में भी मुख्यतः तीन वस्त्र - नीवि, अधिवास तथा वास ही इस काल में लोग धारण करते थे। इस काल में उरूषणी (पगड़ी) पहनने का वर्णन भी आता है। यज्ञ के समय रेशमी वस्त्र धारण किए जाते थे। उत्तर वैदिक साहित्य में पण्य तथा प्रवार (अच्छी किस्म) दो प्रकार के कंबलों तथा पैर के जूते (उपनाह) का भी उल्लेख मिलता है। स्त्री और पुरूष दोनों अपने केशों को बहुत ही सुन्दर ढंग से संवारते और सजाते थे। केशों में विभिन्न प्रकार के जुड़े और वेणियां बनाई जाती थी। स्त्री पुरूष अपने शरीर को सुन्दर और आकर्षक विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सजाते थे। आभूषणों में प्रायः सोने (हिरणय) और चाँदी का उपयोग किया जाता था। आभूषणों में कृश्न (मोती) का भी प्रयोग होता था। नूपुर, भूजबन्ध, कंकण, मोंद्रिका के युकहार आदि आभूषणों का प्रयोग किया जाता था।

## मनोरंजन

आखेट, घुड़दौड़, रथदौड़ उत्तर वैदिक काल के मनोरंजन के मुख्य साधन थे। अथर्ववेद से पता चलता है कि घुड़दौड़ के विजेता को पुरस्कार दिया जाता था। रथधावन वाजपेयी यज्ञ का एक आवश्यक अंग था। घरेलु खेलों में पासा तथा चौपड़ लोकप्रिय था। न त्य, संगीत, वाद्यवादन भी मनोरंजन के लोकप्रिय साधन थे। स्टेज और ड्रामों का भी इस काल में प्रचलन था। यजुर्वेद में नटों का उल्लेख मिलता है। जुआ खेलना भी मनोरंजन में आता था।

## भोजन

इस काल में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन का सेवन किया जाता था। अपूप (चावल, जौ की घी मिश्रित रोटी) ओदन (खिचड़ी या दलिया जिसका दूध के साथ सेवन किया जाता था) यावुग (जौ), करम्य (एक प्रकार का अनाज या दलिया) उनके शाकाहारी भोजन का हिस्सा थे। इसके अतिरिक्त दूध की बनी अनेकों वस्तुओं जैसे अभिक्षा (पनीर) दधि(दही) मक्खन (नवनीत) का भी उपयोग करते थे। इस काल में मांसाहारी भोजन भी काफी प्रिय था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अतिथि केा बैल या बकरी का मांस खिलाना चाहिए। सुरा एक प्रकार का नशीला पेय था जिसे समारोहों में पिया जाता था। अथर्ववेद में इसे झगड़े की जड़ बताया है। विशेष अवसरों के लिए विशेष प्रकार की सुरा होती थी जिसे सौत्रामणी के नाम से जाना जाता था। यजुर्वेद में मासर नामक एक पेय का वर्णन है जो चावल तथा भुने हुए जौ (सत्तु) से बनता था। इस काल में शहद का भी सेवन किया जाता था।

## आश्रम व्यवस्था

प्राचीन भारतीय साहित्यकारों ने जीवन को चार भागों में बाँटा है ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी-जीवन); ग हस्थाश्रम (घरेलु जीवन); वानप्रस्थ आश्रम (घरेलु जीवन त्याग कर वन में निवास करना);

सन्यासश्रम (सांसारिक जीवन को छोड़ देना) उत्तर वैदिक काल के प्रारम्भ में केवल प्रथम तीन आश्रमों की ही जानकारी थी। चौथे आश्रम की उपनिषद लिखे जाने के समय तक कोई जानकारी नहीं मिलती। इस काल में इसलिए सन्यासी व्यक्तिगत स्तर पर स्वयं की इच्छा से होते थे। आश्रम व्यवस्था में हिस्से के तौर पर नहीं। इन चारों आश्रमों के माध्यम से मनुष्य अपने जीवन को व्यवस्थित करता था तथा अपने सभी कार्य अर्थात् सांसारिक कार्यो से लेकर पारलौकिक तक पूर्ण कर मोक्ष का रास्ता प्रशस्त करता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति किसी गुरू आचार्य कें चरणों में बैठकर ज्ञान अर्जन करता था। पच्चीस वर्ष की आयु तक वह किसी आश्रम या गुरूकुल में रहता था तथा अनुशासित और साधारण जीवन व्यतीत करता था। इसके पश्चात वह दूसरे आश्रम अर्थात् ग हस्थाश्रम में प्रवेश करता था और इसकी अवधि भी *25* वर्ष ही थी। इस आश्रम में वह अपने तीन ऋण- पित ऋण, ऋषिऋण तथा देवऋण से मुक्त होने के लिए कार्य करता था। इस आश्रम में वह धन अर्जित कर अपने सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य पूर्ण करता था। यह आश्रम प्राचीन काल में बहुत ही महत्वपूर्ण आश्रम समझा जाता था। वशिष्ठसूत्र के अनुसार जिस तरह सब छोटी बड़ी नदियाँ अन्त में समुन्द्र में जाकर मिल जाती हैं उसी प्रकार सभी आश्रमों के मनुष्य ग हस्थाश्रम पर ही निर्भर रहते हैं।

*50* वर्ष की आयु प्राप्ति पर मनुष्य तीसरे आश्रम में प्रवेश करता था। इसकी अवधि भी *25* वर्ष की ही थी इसमें वह संसार त्याग कर त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करता था। अन्तिम पड़ाव सन्यास का था जो कि *75* वर्ष की आयु ग्रहण करने पर प्रारम्भ होता है। मनुष्य इसमें पर्दापण कर संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता था। अब वह एक स्थान पर बहुत दिनों तक नहीं रूकता था और दूर-*2* तक भ्रमण किया करता था। इस आदर्श का पालन व्यवहारिकता में कितना था कहना कठिन है परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे लोगों की कमी नही रही होगी।

आश्रम व्यवस्था जैसा कि आर. सी. मजूमदार ने कहा है, भारतीय समाज की एक अनोखी विशेषता है।

### पुरूषार्थ

पुरूषार्थ भी चार थे- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमें धर्म, काम और अर्थ को त्रिवर्ग कहा गया है क्योंकि प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार जब मनुष्य इन तीनों को प्राप्त कर लेता है तो वह मोक्ष को स्वयं प्राप्त कर लेता है। धर्म 'ध ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है धर्म परायण व्यक्ति जो अपने सभी धर्म अर्थात् पति धर्म, पुत्र धर्म, पित धर्म आदि के कर्त्तव्यों तथा अनुष्ठानों और ध ार्मिक कार्य कलापों को पूर्ण करता है वह व्यक्ति अपने धर्म पुरूषार्थ का निर्वाह कर रहा है। 'अर्थ' का अर्थ है धन अर्जित करना; काम का अर्थ है मर्यादा में रहकर वंश को बढाना। जब व्यक्ति धर्मानुसार ये सब कर लेता है तो वह मोक्ष प्राप्त करता है।

### संस्कार

आमतौर पर सोलह संस्कार माने गए हैं। जन्म से लेकर म त्यु तक ये संस्कार चलते थे। गर्भाध ान संस्कार के साथ इन संस्कारों की शुरूआत हो जाती थी अर्थात् ये संस्कार गर्भ में तीसरे और चौथे महिने में किया जाता था और म त्यु तक चलते रहते थे अर्थात् दाहसंस्कार और पिण्डदान पर जाकर समाप्त होते थे।

अन्त में कहा जा सकता है कि 'बाह्मणीकल समाज संरचना' (*Classical Social Order*) उत्तर वैदिक काल में निश्चित स्वरूप (*Definite Form*) धारण कर चुकी थी। बाद के कालों में तो इसी ढाँचे (*Broad Frame work*) में कुछ जमा घटा चलता रहा।

## धर्म एवम् धार्मिक विश्वास

ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन की भाँति उत्तरवैदिक काल के लोगों के धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान व गतिविधियाँ भी भौतिक प ष्ठभूमि से प्रभावित रही हैं। इस काल में दो विरोधी ताकतें देखने को मिलती हैं। एक ताकत तो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित और पोषित यज्ञ अनुष्ठान कर्मकांड को मजबूती दे रही थी तो दूसरी ताकत जैसे उपनिषदों में इनका विरोध। इस काल में यज्ञ एक व्यवस्था बन चुकी थी कारण चूंकि ब्राह्मण एक अनुत्पादी वर्ग था अतः अपना सिक्का जमाए रखने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि लोगों के समक्ष अपनी धार्मिक श्रेष्ठता बनाए रखे। इसके लिए तथा अधिशेष का बड़ा हिस्सा हड़पने के लिए बड़े-*2* यज्ञ अनुष्ठानों को प्रतिस्थापित करना निहायत जरूरी था।

इस प्रकार की प ष्ठभूमि में उत्तरवैदिक कालीन धर्म, धार्मिक विश्वास और धार्मिक गतिविधियों का विकास हुआ। अतः इस समय के ग्रंथ दो विभिन्न धार्मिक परम्पराओं की ओर इशारा करते हैं:

- वैदिक जिसका वर्णन साम और यजुर्वेद संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों में हुआ है, और
- गैर वैदिक या शायद लोक परम्परा जिसको विस्त त रूप से अथर्ववेद में संकलित किया गया।

वास्तव में, अथर्ववेद में वर्णित धार्मिक परम्परा से साफ पता लगता है कि यह विभिन्न संस्कृतियों और वैदिक धार्मिक व्यवस्था में प्रचलित मान्यताओं का मिला जुला रूप है। यजुर्वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में इस काल के बलिदान विषयक धर्म का संकलन है। इस युग में बलियों का बड़ा महत्व हो गया था तथा उन्होंने सार्वजनिक व व्यक्तिगत विशेषता प्राप्त भी कर ली। सार्वजनिक बलि अर्थात् राजसूय, वाजपेय व अश्वमेध यज्ञों का आयोजन विशाल स्तर पर होने लगा जिसमें पूरा समुदाय भाग लेता है। इन आहुति (बलि) यज्ञों के कुछ अनुष्ठानों में फलादत पूजा के तत्व भी दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ, अश्वमेध यज्ञ में इस बात की आवश्यकता होती थी कि पटरानी बलि के घोड़े के पास रहती थी। यहाँ पर रानी प थ्वी का प्रतीक मानी जाती थी और इस अनुष्ठान के विषय में ऐसा सोचा जाता था कि इससे राजा की सम्पन्नता बढती थी। राजसूय एवं वाजपेय यज्ञों के समय अनेक कृषि अनुष्ठान किये जाते थे। प थ्वी के नियमित रूप से तरूण व उर्वरक होने जैसे विषयों के लिये भी यज्ञों का आयोजन किया जाता था।

## पुरोहितवाद

उत्तर वैदिक ग्रंथ अनुष्ठानों के सुसम्पादन को स्पष्ट करते हैं तथा जो जटिल थे उनको सम्पन्न करने के लिये ऐसे व्यवसायिक लोगों की आवश्यकता थी जो उनके आयोजनों की कला में निपुण हों। बलि यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए विधि या नियमों को रचा गया। वैदिक बलि यज्ञों का यह तात्पर्य नहीं था कि खाद्य सामग्री को अग्नि की भेंट चढ़ाकर साधारण तरीके से उनको सम्पन्न किया जा सके। भेंट चढ़ाने एवं बलि आदि देने के तरीकों में संरक्षक या यजमान की आवश्यकता के अनुसार अन्तर किया जाता। अब बलि यज्ञों को अद श्य प्रतीक से सम्पन्न किया जाता और प्रत्येक अनुष्ठान को किसी अद श्य शक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाने लगा। पुरोहितवाद की एक नयी पद्धति का उदय हुआ क्योंकि इन यज्ञों के सम्पादन में बहुत सी व्यक्तिगत। इस प्रकार यज्ञोपासना करने के लिये पुजारियों का एक वर्ग विशेषज्ञ हो गया। यहाँ तक कि एक ही यज्ञ के दौरान उसके विभिन्न चरण पूरे करने के लिए अलग-अलग पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

## उत्तर वैदिक काल के देवता

प्रारम्भिक वैदिक काल के दो महत्वपूर्ण देवता इन्द्र तथा अग्नि का महत्व कम हो गया। प्रजापति या स्त्रष्टा अधिक महत्वपूर्ण हो गया। यह इस तथ्य का भी प्रतीक है कि कृषक समाज में स्त्रष्टा की काल्पनिक रचनाओं का कितना महत्व है। रूद्र जो ऋग्वेद में एक छोटा देवता था, अब एक महत्वपूर्ण देवता हो गया तथा विष्णु को भी स ष्टि का रचयिता तथा रक्षक समझा जाने लगा। पूषण जो पहले पालतू पशुओं की रक्षा करता था अब शूद्रों का देवता हो गया। देवताओं की स्थिति में होन वाले परिवर्तन इस तथ्य के प्रतीक हैं कि घुमक्कड़ कबीलों के स्थायी रूप से बसने पर उनके चरित्र में भी किस प्रकार परिवर्तन हुआ। प्रारम्भिक वैदिक देवता जो प्राकृतिक विशेषताओं के प्रतीक थे इनके गुणों को धीरे-धीरे त्याग दिया गया और प्राकृतिक तत्वों को देवता के रूप में देखना जटिल हो गया। उत्तर वैदिक काल के श्लोकों में वर्णित होने वाले विशेष देवता में प्राकृतिक तत्व को ढूंढ पाना कोई सरल कार्य न था।

## लोक परम्परा

अथर्ववेद लोक परम्पराओं से सम्बन्धित सूचनाओं का विशाल भण्डार है इनका सार तत्व वैदिक बलि विषयक धर्म से अधिक उग्र है और यह मायावी धर्म से सम्बन्धित है। इस वेद की विषय वस्तु मानव जीवन के प्रत्येक हिस्से का वर्णन करती है। इसके सुक्त निम्न बातों का वर्णन करते हैं:

- रोग का प्रतिकार
- स्वास्थ्य के लिये प्रार्थना
- घर तथा सन्तान की सम्पन्नता के लिये मन्त्र
- पालतू पशु और खेत
- सौहादर्यता बनाने के लिये मन्त्र
- प्रेम और विवाह या बातचीत तक सीमित विरोध तथा ईर्ष्या आदि से सम्बन्धित मन्त्र।

इस प्रकार इसमें उस समय में व्याप्त अन्धविश्वास तथा विश्वासों का संकलन है। अथर्व शब्द एक मायावी सूत्र की ओर इशारा करता है और अथर्व पुरोहित इस धर्म की औपचारिकता पूरी करते थे। वैदिक देवताओं की स्तुति की जाती थी लेकिन जिस कारण से उनकी स्तुति की जाती थी वे कारण बहुत छोटे तथा व्यक्तिगत होते थे। बहुत सारे देवता, राक्षस तथा पिशाच (कुछ अपकारी और परोपकारी) सब की स्तुति की जाती थी इसका उद्देश्य सौभाग्य प्राप्त करने एवं मित्रों का लाभ अथवा दुश्मनों का सर्वनाश करने के लिये होता था। बहुत से मन्त्र और स्तुतियां परिवार से सम्बंधित थी और आम आदमी के दैनिक जीवन के नजदीक थी। उदाहरण के लिये, इन्द्र को, घर को लूटने वाला, नागों तथा असुरों को मारने वाला कहा गया है। ऐसा विश्वास किया गया कि अस्विन कृषि रक्षा करते तथा चूहों को मारते। सावित्री को उस जगह पर रखा जाता था जहां पर नया घर बन सके। पूषण की पूजा सौहार्द प्राप्त करने के तथा बच्चों के सुरक्षित जन्म के लिये की जाती थी जबकि सूर्य भूत-प्रेत को भगाता था।

इस युग के अंत में ब्राह्मणों के विरूद्ध एक कड़ी प्रतिक्रिया हुई। यज्ञों में जटिलता आने का परिणाम यह हुआ कि दर्शन में नये सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ जिसका मूर्तरूप उपनिषदों में दिखायी दिया। इन्होंने अनुष्ठानिक कार्यक्रमों व बलि के रूप में किये जाने वाले निरर्थक खर्च का विरोध किया तथा आत्मिक ज्ञान पर बल दिया। इस प्रकार धर्म के भौतिक आधार का बहिष्कार कर दिया गया और धर्म को दर्शन विषय तक उठाया गया। उपनिषदों ने आत्मा की परिवर्तन विहीनता एवं अमरत्व पर जोर दिया। इस प्रकार से वे राजनीतिक स्थिरता तथा एकता

पर जोर देते दिखाई पड़ते हैं क्योंकि यह वह समय है जबकि जनपदों एवं महाजनपदों अर्थात् गणतन्त्र व राजशाही का उदय हो रहा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक वैदिक काल के बीच धार्मिक मतों तथा कार्यक्रमों में एक महान् परिवर्तन हो चुका था। यह परिवर्तन अंशतः पशुपालन से कृषि की ओर बदलाव से संबधि ात था। ये धार्मिक परिस्थितियां उस काल की उन बदलती हुई सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रतीक थे जो पूर्व वैदिक से उत्तर काल में आये।

# अध्याय - 3
# बुद्धकालीन समाज
# (Budhist Society)

### परिचय

बुद्धकालीन समाज अर्थात छठी शताब्दी ई. पू. का समाज अति महत्वपूर्ण परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। इस काल मे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवम् धार्मिक सभी क्षेत्रों में प्रभावकारी परिवर्तन हुए। धार्मिक क्षेत्र में जहाँ महावीर तथा बुद्ध ने वैदिक धर्म की कुरीतियों, जीर्ण परम्पराओं, कर्मकाण्ड व यज्ञ अनुष्ठानों पर प्रहार किया वहीं सामाजिक क्षेत्र में जन्म तथा पवित्रता और अपवित्रता के सिद्धान्त पर आधारित जाति-व्यवस्था का भी विरोध किया और पशुवध तथा बलि का निषेध कर अर्थव्यवस्था को भी मजबूत करने में सहयोग दिया। यह वह काल था जबकि ऐतिहासिक भारत में प्रथम बार शहर अस्तित्व में आए। इस समय समाज में नई नई श्रेणियों और समूह ग हपति, प्रचारक, राजकुमार, व्यापारी आदि-उदय हुए। यह वह समय भी था जब पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्थित परम्परा प्रारम्भ हुई और इस काल में अन्त तक लेखन कला की भी उत्पत्ति हुई और यह लिपि ब्रह्मलिपि कहलाई। लेखन कला को ज्ञान में बड़े स्तर पर विस्तार किया। इससे पहले ज्ञान को कंठस्थ करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप से हस्तान्तरित कर सुरक्षित रखा जाता था। लिखाई की कला की जानकारी से अब ज्ञान को बिना तोड़े मरोड़े संग्रहित किया जा सकता था। जब एक बार चीजो को लेखबद्ध कर दिया जाता है तो बाद के कालों में हुए परिवर्तन स्पष्ट हो जाते हैं और इससे परिवर्तन कब और क्यों हुए पता चल जाता है।

### वर्णव्यवस्था

यद्यपि बौद्ध ग्रंथों में जन्म पर आधारित जाति प्रथा का विरोध किया गया है परन्तु **क्षत्रिय** बौद्ध धर्म की सामाजिक परिकल्पना वर्णव्यवस्था के प्रभाव से मुक्त नहीं थी। बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक उच्च दिखाने का प्रयत्न किया गया है। तत्कालीन साहित्य में क्षत्रिय लोगों को समाज के सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवम् शक्तिशाली वर्ण के रूप में दर्शाया है। ब्राह्मणी कुल साहित्य के अनुसार वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण को सर्वोच्चतम स्थान प्राप्त हैं क्षत्रिय को दूसरे स्तर की जाति के रूप में द्वितीय स्थान दिया गया है उनको समाज का शासक वर्ग माना जाता था। किन्तु बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत किया है। अंतर्गत क्षत्रियों का दूसरे स्तर की जाति के रूप में स्थान है। उनको समाज का शासक वर्ग माना जाता था। किन्तु, बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों का दूसरा ही चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके विवाह के नियम द ढ़ एवं कठोर नहीं थे, जो किसी जाति की एक विशेषता होती है। उनको वैशाली एवं कपिलवस्तु जैसे गण संघों के शासक वर्गो का पूर्वज बताया गया है। उनको शाक्य, लिच्छवी,

मल्ल आदि कहा गया। ये ऐसे सामाजिक समूह थे जो संयुक्त रूप से भूमि के स्वामी थे। उनकी भूमि पर खेती का कार्य गुलामों एवं मजदूरों द्वारा किया जाता था जिनको दास तथा कर्मकार कहा जाता था। ऐसा लगता है कि ये ब्राह्मणिक अनुष्ठानों को भी नहीं करते थे। बौद्ध साहित्य में गण संघ के केवल दो सामाजिक समूहों के विषय में ही लिखा गया है और वे उच्च जाति एवं छोटी जाति हैं। इन गण संघों के क्षेत्र में समाज का विभाजन ब्राह्मणिक जातीय व्यवस्था के अनुसार चार भागों में होने के स्थान पर, केवल दोहरा था। ब्राह्मण और शूद्र इस विभाजन में नहीं थे। विवाह किसके साथ करें या किसके साथ न करें, इसके लिए वे बड़े सजग थे। ऐसा समझा जाता है कि शाक्य लोग इसी कारण समाप्त हो गए। एक कहानी के अनुसार प्रसनजित नामक कौशल के राजा ने किसी शाक्य लड़की से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। शाक्य लोग इस प्रस्ताव की अवहेलना न कर सके। इसलिए उन्होंने एक शाक्य दास लड़की को कौशल नरेश के पास भेज दिया और जिसके साथ राजा ने विवाह कर लिया। इस कन्या से उत्पन्न होने वाली सन्तान राजसिंहासन की उत्तराधिकारी होती। जिस समय राजा को शाक्यों की इस चालाकी का पता लगा तो उसने क्रोध में उनको नष्ट कर दिया। यद्यपि कौशल का राजा और शाक्य दोनों क्षत्रिय थे, परन्तु उनके बीच वैवाहिक संबंधों की प्रथा नहीं थी। इससे संकेत मिलता है कि जिस रूप में हम जाति व्यवस्था को समझते हैं क्षत्रिय उस रूप में जाति नहीं थे। क्षत्रिय लोग अपने स्तर एवं वंशावली के लिए बड़ा अभिमान करते थे। शाक्य, लिच्छवी, मल्ल और इसी प्रकार के अन्य गण अपनी सभाओं में भाग लेने के अधिकार को पूर्ण सजगता के साथ सुरक्षित रखते थे परन्तु इन स्थानों पर अन्य लोगों को भाग लेने की आज्ञा नहीं देते थे। ये सभाएं उनके समाज की अधिकतर सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के विषय में निर्णय करती थीं। वे न तो भूमि कर देते थे और न ही उनके पास संगठित सेना होती थी। युद्ध के समय पूरा समाज हथियार लेकर युद्ध करता था।

कौशल, काशी आदि के राजाओं का कई स्त्रोंतों में क्षत्रिय के रूप में विवरण आता है। ब्राह्मणिक ग्रंथों से भिन्न बौद्ध साहित्यिक ग्रंथ चार वर्णीय जातीय संरचना में क्षत्रियों को प्रथम स्तर पर रखते हैं। एक प्रवचन में महात्मा बुद्ध कहते हैं- ''अगर क्षत्रिय सबसे निम्न स्तर तक पतित हो जाता है, वह तब भी सबसे अच्छा है और उसकी तुलना में ब्राह्मण निम्न हैं।'' चुल्लवग में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम स्थान पर क्षत्रियों को रखा गया। सुक्तनिकाय में मानवमात्र में क्षत्रियों को श्रेष्ठ कहा गया है। रक्त शुद्धता के कारण क्षत्रिय अपने को सर्वोच्च एवम् श्रेष्ठ समझने लगे थे। रक्त शुद्धता के लिए क्षत्रियों में विशेष वर्ण का वर्णन दीधनिकाय के अम्बट्ठसुत तथा अन्य बौद्ध पालि ग्रंथों एवम् जातकों से होता है। महात्मा बुद्ध को पुनर्जन्म में भी क्षत्रिय होना पसंद था ब्राह्मण नहीं कुछ क्षत्रियों ने सांस्कृतिक गतिविधियों में रूचि लेना भी प्रारम्भ कर दिया था जातकों से पता चलता है कि वेदों तथा अन्य विषयों का अध्ययन भी कुछ क्षत्रिय करते थे। राजकुमार 16 वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा के लिए तक्षिला गए थे अैसे उल्लेख भी मिलते हैं। कुछ क्षत्रिय विद्वानों को अध्यापकों एवम् विचारकों की श्रेणी में रखा गया है जैसे राजा जनक अश्वपति कैकेय अध्यात्मिक क्षेत्र में भी क्षत्रिय ब्राह्मणों से कम नहीं थे। महात्मा और महावीर इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों में क्षत्रियों की योद्धा जाति की अवधारणा को केवल ऊपरी व मध्य गंगा घाटी के कुछ राजतन्त्र परिवारों के विषय में लागू किया जा सकता है। वे विभिन्न प्रकार के अन्य कार्यों जैस व्यापार अन्य प्रकार के शिल्प तथा खेती आदि में भी लगे हुए थे। विशेषकर पूर्वी भारत में क्षत्रिय का अस्तित्व जाति के रूप में नहीं था बल्कि वहाँ पर विभिन्न सामाजिक समूह स्वयं को क्षत्रिय कहते थे।

**ब्राह्मण**

ब्राह्मणिक्ल साहित्य के अनुसार ब्राह्मण वर्णधर्म से सबसे सर्वोच्च अर्थात प्रथम स्थान पर था। समकालीन साहित्य में ब्राह्मणों के विषय में जो संदर्भ मिलते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक जाति समूह के रूप में थे। जो कोई ब्राह्मण परिवार में जन्म लेता, वह सदैव ब्राह्मण ही रहता। वह अपना व्यापार परिवर्तित कर सकता है, परन्तु वह सदैव ब्राह्मण ही रहता। ब्राह्मणिक ग्रंथों में उनको विशेषाधिकार दिया गया है कि वे ईश्वर व आदमी के बीच मध्यस्थता का काम करते हैं। बलि, यज्ञों को सम्पूर्ण करने के लिए पूर्ण अधिकार उनके पास थे। यह गुट इस चेतना से ग्रस्त था कि वे ही सर्वश्रेष्ठ जाति के थे। वे ऐसे नियमों का पालन करते थे, जिससे कि अपवित्र भोजन एवं निवास स्थान से बचा जा सके। तत्कालीन ब्राह्मण ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों के चार लक्षणों का उल्लेख है। ब्राह्मण कुल, उचित आचरण और व्यवहार, प्रसिद्धि की प्राप्ति और मनुष्य को शिक्षित करना। ऐसा होने के कारण वे कुछ विशेषाधिकारों का उपभोग करते थे। उनका सम्मान किया जाता था, उनको भेंट दी जाती थी और उन्हें म त्युदंड नहीं दिया जा सकता था। बहुत से ब्राह्मणों ने सन्यासी एवम् शिक्षक का जीवन व्यतीत किया परन्तु बौद्ध ग्रंथ सामान्यतः बाह्मण वर्ण के आलोचक हैं। जातकों तथा अन्य बौद्ध ग्रंथों में व्यक्तिगत विरोध ना होकर उनके आडम्बरपूर्ण अनुष्ठानों के प्रति विरोध था उनके लचीलेपन, उनके धार्मिक नैतिक जीवन से विमुखता का विरोध एवम् आलोचना थी। उनके अनुसार सच्चा ब्राह्मण जन्म से न होकर कर्म से होता है इसलिए अैसा पाया गया है कि बुद्ध के प्रारंभिक अनुयायियों सबसे अधिक संख्या में ब्राह्मण थे।

पालि साहित्य के विवरण से पता चलता है कि ब्राह्मणों ने अन्य व्यवसायों को भी अपना लिया था। दीधनिकाय में ब्राह्मणों केा दो वर्गो में बांटा गया था। पहले वर्ण में सन्यासी ब्राह्मण, वैदिक अध्यापक और पुजारी आदि आते थे और दूसरे में वे ब्राह्मण जिन्होंने अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसाय अपनाए। ब्राह्मणों के छः कार्य बताए गए हैं। यज्ञ करना करवाना, दान लेना और दिलवाना, वेदों का अध्ययन करना करवाना और यदि वे इससे भटकते हैं तो निम्न स्तर के माने जाएगें इसकी पुष्ठि ब्राह्मणीकल ग्रंथों से भी होती है। आपस्तम्भ और गौतम धमसूत्र में आपतकाल के समय में ब्राह्मणों को व्यापार तथा कृषि कर्म अपनाने की अनुमति दी गई थी है कि ब्राह्मणों ने भी अन्य व्यापारों को अपनाया। दस ब्राह्मण जातक में एक कहानी का विवरण है जो हमें ब्राह्मणों के प्रति बौद्ध लोगों का द ष्किोण बताती है। कहानी इस प्रकार है, ''प्राचीन काल में कुरू राज्य की राजधानी इन्द्रपट्ट थी और कुरू परिवार का राजा युधिटथिल था। उसको सांसारिक एवं आध्यात्मिक मामलों पर सलाह देने के लिए उसका एक मंत्री विधुर था''। उसको बैठने के लिए स्थान देते हुए राजा ने कहा, ''विधुर एक ऐसा ब्राह्मण खोजो जो सदाचारी एवं विद्वान हो, वह इन्द्रीय सुख का परित्याग कर चुका हो, उसको मैं उपहार भेंट करूंगा, उपहार, ओ मित्र, वह जहां भी हो उसकी खोज करो, उसको जो भी दिया जाएगा, उससे अति आनन्द की प्राप्ति होगी।''

''ऐ राजन्, ऐसे ब्राह्मणों को खोज पाना अति कठिन है, जो सदाचारी एवं विद्वान हो, जो इन्द्रीय सुखों का परित्याग कर, आपके द्वारा दिए गए उपहारों से आनन्द ले सकें''।

''ऐ राजन्, ब्राह्मणों के दस वर्ग हैं, वे विभिन्न प्रकार के हैं। उनकों गुणों एवं वर्गीकरण के आध ाार पर इस प्रकार पाया जाता है, वे जड़ी-बुटियों को एकत्रित करते हैं, स्नान करते और श्लाकों का उच्चारण करते रहते हैं। ऐ राजन्, ये स्वयं को ब्राह्मण कहते हुए भी एक चिकित्सक की भांति कार्य करते हैं, आप उनको जाते हैं। ऐ महान राजा! आप जिस प्रकार के ब्राह्मण चाहते हैं, उनको कैसे खोजा जाए।''

''कुरू कुल के राजा ने उत्तर दिया, वे विचरण करते रहते हैं'' ''वे छोटी घंटियां लिए आपके समक्ष

आते हैं, जिससे वे अपना सन्देश देते हैं, और वे नौकरों की भांति चार पहियों की गाड़ियों को भी खींचना जानते हैं.....''

''वे एक जल का बर्तन और घुमावदार भेंत लेकर चलते हैं, राजाओं की पीठ पीछे वे विलक्षण लोगों की भांति गांव और देश के नगरों में विचरण करते हुए कहते हैं, अगर हमकों कुछ न दिया गया तो हम गांव या जंगल को नहीं छोडेंगें। ये टैक्स इक्ट्ठा करने वालों के अनुरूप हैं...।''

''शरीर पर लंबे बालों व लंबे नाथुनों के साथ, गंदे दांत, गंदे बाल, धूल और गंदगी से लथपथ, वे भिखारिओं की भांति घूमते हैं। वे लकड़ी काटने वालों के अनुरूप हैं....।''

''वे आंवला, आम और कटहल आदि फलों, मिस्त्री, सुगंधित वस्तुएं, शहद, उघटन और विभिन्न प्रकार की विक्रय-सामग्रियों को बेचते हैं। ऐ महाराज, वे व्यापारी के अनुरूप हैं.....।''

''वे खेती व व्यापार, दोनों करते हैं, वे बकरियों एवं भेड़ों को पालते हैं, उनके बच्चों को धन के लिए बेचते हैं, वे बेटी और बेटों के विवाहों का आयोजन करते हैं। वे अम्बाथ और वेम्स के अनुरूप हैं...।''

''कुछ पुरोहित बाहर से लाये हुए भोजन का सेवन करते हैं, बहुत से लोग उनसे पूछते हैं (शकून के लिए), वे पशुओं को बधिया करते हैं और शकुन के चिन्हों को तैयार करते हैं। यहां पर भेड़ों को काटा जाता हैं (पुरोहितों के घरों में), वे भैंस, सूअर एवं बकरी काटने वालों के अनुरूप हैं .....।''

''तलवार को हथियार के रूप में धारण किए और चमकती कुल्हाड़ी को हाथ में लिए, वे वेम्स की सड़क (व्यापार वाली सड़क) पर खड़े रहते हैं, वे काफिलों का नेत त्व करते चलते हैं (उबड़-खाबड़ सड़क पर से)। वे गायों के झुंड एवं निपादों के अनुरूप हैं.... ।''

''ये जंगल में झोपड़ियों के घर बनाते हैं, वे ऐसे जालों को निर्मित करते हैं जिनसे हिरणों, बिल्लियां, छिपकलियां, मछलियों और कछुओं का वे वध करते हैं वे शिकारी हैं.....।''

''राजा के पलंग के नीचे ही वे धन के लिए झूठ बोलते हैं, सोमरस की प्रस्तुति तैयार के बाद ही वे स्नान करते हैं। स्नान कराने वालों के अनुरूप ही हैं....।''

(व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम और उच्चारण मूल स्त्रोत पर आधारित हैं।)

यह कहानी ब्राह्मणों के द्वारा किए जाने वाले विभिन्न कार्यकलापों का चित्रण प्रस्तुत करती हैं। यह हमें समकालीन समाज में होने वाले विभिन्न व्यवसायों की भी एक झलक प्रदान करती हैं। वे अपने व्यवसायों में परिवर्तन करने के बावजूद भी ब्राह्मण समझे जाते थे। वे अपनी जातीय पहचान को नहीं खोते थे। ऐसे विवरण मिलते हैं जिनके अनुसार विद्वान ब्राह्मण अद्वितीय थे। ऐसे भी विवरण हैं, जिनके अनुसार ब्राह्मण कृषक थे, जो अपनी खेती स्वयं करते थे या गुलामों तथा नौकरों की मदद से कराते थे। किन्तु, उनकी मुख्य पहचान एक दिव्य जाति के रूप में पहले ही स्थापित हो चुकी थी। किम ने भी वास्तविक ब्राह्मण तथा सांस्कृतिक ब्राह्मणों में अन्तर पर बल दिया है किन्तु तत्कालीन परिवर्तनशील समाज में दोनों अपने वैदिक परम्परागत व्यवसायों पर ही नहीं टिके हुए थे वरन् हर प्रकार के पेशे अपना रहे थे।

### वैश्य और ग हपति

ब्राह्मणिक वर्ण व्यवस्था में वैश्य अनुष्ठानिक क्रम में तीसरे स्थान की जाति थे। उनका मुख्य कार्य पशुओं को पालना, कृषि करना तथा व्यापार करना था। दूसरी और, बौद्ध साहित्य में ग हपति शब्द का प्रयोग प्रचुरता के साथ किया गया है। ग हपति का शाब्दिक अर्थ है कि घर का स्वामी।

यह समुदाय भूमि का स्वामी था और ये परिवार श्रम, दासों और नौकरों के श्रम से अपनी भूमि पर खेती करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी उत्पत्ति वैदिक साहित्य में वर्णित राजनय और विश गुटों से हुई थी। उनकी उत्पत्ति सम्पत्ति पर परिवार एवं व्यक्तिगत स्वामित्व के उद्‌भव की ओर संकेत करती है। इससे पहले के काल में सम्पत्ति पर सम्पूर्ण कबीले का संयुक्त स्वामित्व था। बौद्ध साहित्य में ग हपति शब्द के अतिरिक्त अनेकों प्रकार के व्यवसायों और व्यापारियों का विवरण मिलता हैं, जिनका वर्गीकरण ब्राह्मणिक ग्रंथों में वैश्यों के रूप में किया गया। उनमें से प्रत्येक अपने कुटुम्बीय समूह से निकटता से संबंधित था और अंतर्जातीय विवाह नहीं करते थे। उनकी पहचान को उनके द्वारा किए जाने वाले व्यवसायों एवं उनकी स्थानीय भौगोलिकता के आधार पर ही निर्धारित किया जाता था। परन्तु ब्राह्मणिक ग्रंथों में जिस प्रकार से वैश्य जाति का चित्रण किया गया है, उस रूप में यह जाति कभी भी विद्यमान नहीं थी। इसकी अपेक्षा बहुत से समूह जातियों के रूप में बन गए।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि ग हपति भू-स्वामियों के एक मुख्य वर्ग के रूप में थे, विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि यह गण संघों में बहुत कम मिलते हैं क्योंकि यहां पर भूमि का स्वामित्व क्षत्रिय वंशावलियों के पास था। इनका विवरण प्रचुरता के साथ मध्य गंगा घाटी के राजतंत्रों में मिलता है। वे कृषि संसाधनों का मुख्य उपभोग करने वाले थे और राजाओं के लिए लगान के स्त्रोत थे। ग हपतियों में वे धनी लोग भी सम्मिलित थे जो बढ़ईगिरी, दवाई आदि व्यवसायों से जुड़े थे। पाली ग्रंथों में एक दूसरे शब्द कुटुम्बिका का प्रयोग परिवार (कुटुम्ब) के स्वामी के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया है। उनको धनी भू-स्वामी, साहूकार या अनाज का व्यापार करते हुए दिखाया गया है।

यह धनी भू-स्वामियों का ही वर्ग था जिससे कि कुछ धनी व्यापारियों का विकास हुआ। ग हपतियों का विवरण व्यापारिक नगरों में भी किया गया है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और ब्राह्मणवाद के कमजोर प्रभाव के कारण ग हपतियों ने अपनी सम्पत्ति का उपभोग व्यापार में किया। पश्चिमी गंगा घाटी में इस सम्पत्ति का उपभोग बलि यज्ञों के लिए किया जाता होगा। भू-स्वामी और व्यापार की इस तरह की दो शाखाएं हो जाने से सेठी वर्ग की उत्पत्ति हुई। सेठी का शाब्दिक अर्थ है ''वह व्यक्ति जिसके पास सर्वश्रेष्ठ है'' सेठी-ग हपति का अर्थ था बहुत धनी व्यापारी या साहूकार जिसके राजा से निकट के संबंध थे।

अनाथपिण्डिका, जिसने श्रावस्ती में बुद्ध को जेतावन दिया ऐसा ही अमीर सेठी था। बनारस के एक सेठी का विवरण मिलता है जो व्यापार करता था और उसके पास 500 गाड़ियों का काफिला था। सिक्कों के प्रचलन के साथ उनका साहूकारी का पेशा जोर-शोर से चला। समकालीन साहित्य में शातामना, कर्षपण आदि नाम के सिक्कों का विवरण मिलता है। पुरातात्विक खुदाई से भी पता चलता है कि उस समय सिक्के प्रचलन में आ चुके थे। दूर-दराज के क्षेत्रों के साथ व्यापार के भी विवरण मिलते हैं।

बड़े व्यापारियों और भू-स्वामियों के अतिरिक्त छोटे व्यापारियों का भी विवरण मिलता है। इनमें फुटकर दुकानदार, व्यापारी, फेरी करके बर्तन बेचने वाले, बढ़ई, हाथी दांत की वस्तुएं बनाने वाले, माला बनाने वाले और धातु का काम करने वाले आदि शामिल हैं। इन लोगों ने अपने व्यावसायिक संघ बना लिए थे। परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त कोई और वह व्यवसाय नहीं कर सकता था। कार्यो का यह स्थानीय विभाजन और व्यासायों की निश्चित परिवार में सीमित रहने की परम्परा ने इन्हें व्यवसायिक श्रेणियों या शिल्पी संघों का रूप दिया। इन संघों का एक मुखिया होता था जो उनके हितों की देखभाल करता था। राजा का यह कर्तव्य समझा जाता था कि

वह श्रेणी संघों के नियमों को स्वीकार करे और उनकी रक्षा करे। श्रेणी संघों का संगठित रूप यह बताता है कि व्यापार और उद्योग काफी विकसित थे। इससे यह भी पता चलता है कि व्यवसायों पर आधारित कुछ समूह अस्तित्व में आ गए थे और अपने व्यवसायों से ही पहचाने जाते थे। यह समूह एक जाति की ही भांति थे। समूहों के अंदर ही विवाह संबंध किए जाते थे। समूह के नियम भी नहीं बदले जा सकते थे।

## शूद्र

ब्राह्मणिक व्यवस्था में शूद्र सबसे निम्न स्तर पर समझे जाते थे। अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना ही उनका कर्तव्य था। ब्राह्मणिक ग्रंथों के अलावा अन्य ग्रंथ बहुत से ऐसे गरीब और दलित समूहों की चर्चा करते हैं जो शूद्र कहे जाते थे। पाली साहित्य में बहुधा दास और कामगार (मजदूरी पाने वाले) लोगों का विवरण आता है। दलित शब्द का प्रयोग ऐसे लोगों के लिए होता है जो बहुत गरीब थे और जिनके पास खाने के लिए या तन ढंकने के लिए कुछ नहीं होता था। इस तरह पहली बार हमें विलासिता में रहने वाले धनी और अत्यंत गरीब, दोनों के बारे में विवरण मिलता है। समाज के कुछ समूहों का अत्यंत गरीब होना तथा शूद्र वर्ण के अस्तित्व में आने का कारण शायद यह था कि समाज के धनी और शक्तिशाली वर्ग ने भूमि और अन्य संसाधनों पर अधिकार कर लिया था। सभी तरह के संसाधनों के अभाव में शूद्र वर्ग के लोग दूसरों की सेवा और धनी लोगों की भूमि पर काम करने के लिए मजबूर थे। सामान्यतः कारीगर और दस्तकार भी शूद्रों की श्रेणी में मान लिए जाते थे। अधिकतर धर्मसूत्र शूद्रों के विभिन्न समूहों के उदय संकीर्ण जाति की परिकल्पना को उत्तरदायी मानते हैं। इस संकल्पना के अनुसार कोई अंतर्जातीय विवाह करेगा तो उसके वंशज निम्न जाति के होंगे। कर्मकाण्डों के लिये यह लोग सामाजिक व आर्थिक स्तर में किसानों, दासों और कारीगरों की तरह थे। वैदिक समाज के कुटुम्बीय संबंधों के अंत से यह वर्ण सबसे अधिक हानि में रहा।

समकालीन साहित्य में दासुद्धा का काफी विवरण मिलता है। यह ऐसे दास थे, जिनकी कोई वेघता नहीं थी। शूद्र मजदूर अधिकांशतया युद्धबंदी होते थे अथवा ऐसे लोग थे जो ऋण वापस नहीं कर पाते थे। धनी लोगों की भूमि पर उनसे जबरदस्ती काम कराया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों में दास, कर्मकार तथा कसक (कृषक) मजदूरों के प्रमुख स्त्रोत थे। नगरों के अस्तित्व में आने से अमीर और गरीब के बीच की खाई और बढ़ गई।

उपरोक्त समूहों के अतिरिक्त बुद्ध के काल की सामाजिक श्रेणियों की सूची बहुत लम्बी है। घुमक्कड़ नाचने और गाने वाले, जो एक गांव से दूसरे गांव घूमते फिरते थे, अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इनके अतिरिक्त करतब और हाथ की सफाई दिखाने वाले, मसखरे, हाथी के करतब दिखाने वाले, सूत्रधार, सैनिक, लेखक, धनुर्धारी, शिकारी और नाई आदि कुछ ऐसे सामाजिक समूह हैं जिनके विषय में हमें जानकारी मिलती है। इनको समकालीन जातीय श्रेणियों में रख पाना कठिन है। शायद यह वर्ण व्यवस्था के बाहर थे। इनमें से अधिकतर कृषि पर आध ाारित नये समाज के प्रभाव क्षेत्र से बाहर थे। सामान्यतः उन्हें घ णा की द ष्टि से देखा जाता था। कभी-कभी यह समूह विद्रोह भी करते थे। जातक कथाओं में युद्धों के विवरण भरे पड़े हैं।

गरीब शूद्रों के शहर के बाहर निवास करने का विवरण मिलता है। इसका सीधा प्रभाव यह पड़ा कि छुआछात अस्तित्व मे आया। चाण्डाल अलग गांवों में रहते थे। उन्हें अत्यधिक अछूत माना जाता था। यहां तक कि एक सेठी की लड़की को चाण्डाल देखने पर अपनी आंखें धोनी पड़ी। इसी प्रकार एक ब्राह्मण इस बात से चिन्तित था कि चाण्डाल के शरीर को छूने वाली हवा अगर उसे छू गई तो वह (ब्राह्मण) अपवित्र हो जाएगा। चाण्डाल लोग केवल मरे हुए आदमी के शरीर

से उतारे वस्त्र पहन सकते थे और टूटे हुए बर्तनों में खाना खा सकते थे। पुक्कुस, निषाद और वेन इसी प्रकार के अन्य घ णित समूहों में आते थे। राजा के शासक के रूप रहने का समर्थन यह कहकर किया जाता था कि वह लूटमार करने वालों कबीलाईयों से जन-मानस की रक्षा करता था। यह वह पिछड़े हुए कबीले थे जो जंगलों में रहते थे और वहां से खदेड़े जाते थे। वे या तो दास बन जाते थे या डाकू। समकालीन साहित्य में डाकुओं के गांवों का भी वर्णन आता है।

### नए समहों का उदय

### 1. घुमक्कड़ सन्यासी

इस काल का एक प्रमुख समूह परिव्राजक और श्रमण का था। यह वह लोग थे जिन्होंने अपने घर त्याग दिए थे। यह लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे और जीवन के अर्थ, समाज और आध्यात्मिकता पर चर्चा करते थे। महावीर और बुद्ध इसी प्रकार के लोगों में थे।

इस प्रकार जहां एक तरफ समाज के विभिन्न वर्णो विशेष रूप से क्षत्रिय एवम् ब्राह्मणों के पारम्परिक कार्यो में ढ़िलाई दिखाई दे रही थी ये अन्य जातियों के व्यवसायों को भी अपना रहे थे उधर दूसरी ओर कुछ नए नए समूह भी उदय हो रहे थे जैसे ग हपतियों का वर्ण। कहा जाता है कि एक ब्राह्मण ग हपति के पास इतनी जमीन थी कि इस जमीन की जुताई के लिए पांच सौ हलों की जरूरत होती थी। यह अपने खेत पर खेती का काम दास, कर्मकार और शूद्रों द्वारा करवाते थे युद्ध के दौरान बंदी बनाए गए लोग दास बना लिए जाते थे। जनजातियों के गरीब सदस्य भी मजदूर बन जाते थे।

### व्यापारी

भू-स्वामी, ग हपति के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण व्यापारी वर्ग का उदय भी इस काल में हुआ। व्यापारी वर्ग भी संभवतः ग हपति वर्ग से ही उत्पन्न हुआ। उत्पादनों को बेचकर उसने कुछ धन इक्ट्ठा कर लिया ओर उसे व्यापार के लिए प्रयोग कर लिया। बौद्धस्त्रोतों में व्यपारियों के लिए 'सेठी' शब्द बार बार प्रयोग किया गया है जिससे लगता है कि धन का लेन देन करने वाले व्यक्तियों को समाज में काफी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी जबकि ब्राह्मण ग्रंथों में आमतौर से व्यापारियों एवम् वैश्यों को उपेक्षा की द ष्टि से देखा जाता था।

### अस्प श्यता

बौद्ध काल में अस्प श्यता अब एक संस्था का रूप धारण करती जा रही थी। चंडांलों व पौलम्स के शहरों में आगमन पर रोक लगा दी गई थी उनके लिए विशेष शब्दों को उल्लेख किया जाता था। बौद्ध काल में रक्त शुद्धि के सिद्धान्त की स्थापना हो गई थी इसलिए अर्न्तजातिय विवाह तथा प्रतिलोम विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाए गए थे। समाज में आठ प्रकार के विवाहों का प्रचलन था जिनमें चार अन्य प्रकार के विवाह थे और चार अमान्य। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान को अस्प श्य जाति में रखा जाता था। जिसने उच्च वर्ण की लड़की होगी और जिसने निम्नवर्ण का लड़का होगा (ब्राह्मण लड़की व शूद्र लड़का) उतनी ही निक्रिष्ठ कोटि में उनसे उत्पन्न संतान को रखा जाता था।

धर्म सूत्रों में अस्प श्यता की भावना अपने विकसित रूप में मिलती है। गौतम एवम् आपस्तम्भ ध र्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण के लिए शूद्र को अपने हाथ से भोजन करना निषिद्ध था उसे यह कार्य अपने दास से करवाना चाहिए। आपस्तम्भ में स्पष्ट लिखा है कि यदि किसी ब्राह्मण को भोजन करते समय कोई शूद्र छू ले तो उसे तुरन्त भोजन छोड़कर उठ जाना चाहिए क्योंकि शूद्रों के छूने

से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। धर्मसूत्रकारों के अनुसार किसी ब्राह्मण को किसी शूद्र का भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि शूद्र का भोजन अपवित्र होता है। सूत्रकारों के अनुसार जो व्यक्ति यज्ञ के लिए अभिषिक्त हो उसे शूद्रों से बात नहीं करनी चाहिए।

पाणिनी ने इस काल के शूद्रों को दो भागों में बांटा है (1) निरवासित (2) अनिसवासित। पाणिनी ने चंडालों की गणना निरवासितों में की है जिनको अस्प श्य माना जाता था। गौतम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को चांडाल या जाति से बहिस्कृत व्यक्ति का स्पर्श होने पर स्नान करना चाहिए जातकों में भी इस बात की पुष्टि होती है कि चांडालों को अस्प श्य समझा जाता था। एक बार अैसी किमवंदति प्रचलित है, सोलह हजार ब्राह्मणों को जाति से इसलिए बाहर कर दिया था चूंकि उन्होंने चाण्डालों का भोजन ले लिया था। यहाँ तक कि चाण्डाल को स्पर्श करके आने वाली वायु भी अपवित्र मानी जाती थी इसीलिए चाण्डाल, निषाद आदि जातियों को नगर एवम् ग्रामों से बाहर रहना पड़ता था।

चाण्ठालों के साथ पोलकस, निषाद आदि अस्प श्य जातियों का उल्लेख भी जातकों में मिलता है जो शिकार तथा उद्यान में फूल तोड़ने का काम करते थे। महलों तथा अन्य भवनों की सफाई का कार्य भी यही करते थे।

अन्य हीन जातियों में बढ़ई, बुनकार और नाई का उल्लेख भी बौद्ध ग्रंथ मिलता है। शूद्रों की दशा सुधारने के लिए महावीर एवं बुद्ध ने कर्मों के आधार पर मनुष्य के उच्च या अस्प श्य एवं हीन होने की बात पर जोर दिया है।

**दासः-** बौद्ध काल में जमीन का बँटवारा व्यक्तिगत तौर पर असमान रूप से किया गया तथा ये बँटवारा भेदभाव पर आधारित था जिस कारण साफ-साफ दो वर्ग उभरकर सामने आए एक तरफ भूपति और दूसरी तरफ भूमिहीन वर्ग। भूपतियों के पास अब इतने बड़े फार्म (एक हजार क्रषस) उत्पन्न हो गए कि जिन पर भूपतियों को अपने परिवार के श्रम से खेती करना मुशकिल ही नहीं अपितु अंसभव हो गया और इसलिए अब अपने फार्मों पर काम कराने के लिए उन्हे दासों की आवश्यकता पड़ी। इसलिए दासों को तथा भाड़े के मजदूरों को कृषिफार्म में लगाया गया। कृषि के अतिरिक्त उन्हें घरेलु कार्य, सेना तथा विभिन्न प्रकार की मजदूरी के कार्यों में भी लगाया जाता था। दासियां घरेलु कार्य के रूप में कार्य करती थी। दास एवं दासियों को बेचे जाने तथा उपहारस्वरूप देने के संदर्भ बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं। दासों की कीमत आँकते समय पुरूष दास के स्वस्थ शरीर (Physically Strong) और महिला दास की सुन्दरता को देखा जाता था।

जातकों से ज्ञात होता है कि साधारण किसान भी कभी-कभी कृषि कार्यों में दासों की सहायता लेते थे। धर्मसूत्रों में जिन दास-दासियों का उल्लेख है, वे घर के नौकर थे वे भोजन बनाना, चावल कुटना, पानी भरना, खेत में पानी पहुँचाना, अतिथियों के पैर धोना आदि कार्य करते थे। जातकों से ज्ञात होता है कि जब मालिक के घर काम नही होता था तो वे दासों को दूसरों के घर काम करने के लिए भेज देते थे तथा वहाँ से प्राप्त आय को अपने पास रखते थे। दासों की खरीद-फरोक्त भी होती थी। एक आदमी ने एक दास खरीदने के लिए 700 कार्षापण एकत्रित किए थे।

विनयपिटक तथा जैन एवं ब्राह्मणीकल साहित्य में विभिन्न कारणों से बने दासों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है जैसे

**ध्वजाकृतः-** इस श्रेणी में युद्धबन्दी आते हैं।

**दान दिए गए दासः-** बुद्ध काल में दास दान की प्रथा बड़ी व्यापक थी। जुह्हजातक के अनुसार

एक राजा ने एक ब्राह्मण को 100 दासियाँ दान में दी थी। हॉलांकि गौतम बुद्ध ने इस कुप्रथा का विरोध किया।

**पैत क दासः-** ये दास वंश परम्परागत होते थे। दास पिता का पुत्र भी दास होता था।

**दण्ड दासः-** किसी दण्ड के अपराधस्वरूप बनाया गया दास दण्ड दास कहलाता था।

इस प्रकार बनेक प्रकार के दास होते थे जो अपने स्वामी की व्यक्तिगत सम्पति होते थे तथा स्वामी इनके साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र था। उनके साथ कैसा व्यवहार हो पूर्णतः स्वामी के स्वभाव पर निर्भर था। एक जातक में वर्णन आता है कि एक ब्राह्मण का दास चावल एवं गोश्त पाता था परन्तु साधारणतः यद्यपि भोजन तो पेटभर मिलता था परन्तु उनका भोजन घटिया किस्म का होता था। पालि साहित्य में दासों के भोजन के लिए 'दास भोग' शब्द का प्रयोग मिलता है परन्तु इसके बावजूद भी इस काल में दास मुक्ति भी संभव थी पालि साहित्य से संकेत मिलता है कि यदि दास अपना मूल्य चुका दे या सन्यास ग्रहण कर ले तो दासत्व से मुक्त हो जाता था। मज्झिम निकाय के अनुसार दास अपने स्वामी को सुखद व खुशी का समाचार सुनाकर कभी भी मुक्त हो सकता है।

समकालीन साहित्य से स्पष्ट है कि इन दासों की स्थिति, अपवादों को छोड़कर इतनी बुरी नही थी जितनी कि समकालीन अन्य देशों में थी।

बुद्ध ने भेदभाव भरे समाज में चाण्डालादि जातियों के प्रति समानता का व्यवहार करने का उपदेश किया था तद्युगीन कर्म प्रधान वर्णव्यवस्था के कारण ही मातंग नामक चण्डाल तप से महात्मा बन गया था। चाण्डाल गुरू के अनेक शिष्यों का पालि साहित्य में वर्णन समकालीन अस्प श्यता विरोधी विचारधारा को इंगित करता है।

### विवाह एवं स्त्रियों की दशा

बुद्ध काल में बड़ी विचित्र सी स्थिति देखने को मिलती है। एक तरफ महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों के लिए संघ के दरवाजे खोल दिए, उन्हे भी मोक्ष प्राप्ति के योग्य समझा, उच्च शिक्षा प्राप्त बहुत सी भिक्षुणियों के संदर्भ पालि साहित्य में उपलब्ध हैं जैसे सुमेधा, अनुपमा, सुभद्रा, खेमा आदि और दूसरी तरफ उसे दुश्चरित्रा और अकृक्षा के रूप में प्रस्तुत किया है। बुद्ध द्वारा स्त्री की इस प्रकार की प्रस्तुति भी स्त्री की स्थिति में गिरावट के लिए उतरदायी है। बुद्ध काल में यद्यपि पुत्री का समाज में पुत्र जैसा ही स्थान था। वसन्तर जातक के अनुसार बाल्यावस्था में पुत्री पुत्र के समान ही प्यार पाती थी परन्तु स्त्री की दशा दयनीय हो गई थी।

### विवाह

तद्युगीन समाज में स्त्री का विवाह करना परिहार्य समझा जाता था। अंगुतरनिकाय के अनुसार पुरूष नारी का आच्छादन है, आश्रय एवं अलंकार है। एक जातक के अनुसार पति रूपी आभूषण के अभाव में अविवाहिता कन्या के समस्त आभूषण व्यर्थ है। उन वस्त्रों में भी वह निर्वस्त्र है।

### विवाह की आयु

पालि साहित्य में बाल-विवाह का द ष्टांत कहीं भी उपलब्ध नही होता है। विवाह के हेतु 16 वर्ष की अवस्था ही उपयुक्त मानी जाती थी। कभी-कभी 20 वर्ष तक भी कन्याएँ अविवाहिता रहती थीं और कभी-कभी तो वे आजीवन कुवाँरी भी रह जाया करती थी। सोलह वर्ष की आयु में कन्या अति सुन्दर, बहुगुणी एवं परिपक्व मानी जाती थी। कन्या के षोडसी होने पर कन्या के पित गण चिन्तित होने लगते थे। पालि साहित्य में वर्णित प्रेम-प्रसंग एवं पलायन-गाथाएँ कन्याओं

के षोडसी आयु तक अविवाहित रहने के परिचायक हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कन्या के रजस्वला होने के कुछ वर्ष बाद ही विवाह अनिवार्य माना जाता था। जातकों में कहीं-कहीं वर की उम्र 16 वर्ष वर्णित है।

तत्कालीन समाज में बाल-विवाह के साथ ही व द्ध-विवाह भी वर्जित था। अपवाद यदा-कदा होते ही थे। यदि किसी कन्या का विवाह व द्ध से हो जाता था, तो अन्य कन्याएँ माता-पिता को दोष देती थीं। साथ ही, व द्ध पति को यह चिन्ता रहती थी कि उसकी पत्नी उसके म त्युपरान्त पुर्नविवाह करके उसकी समस्त सम्पति भोगेगी।

## विवाह में जाति, कुल, गोत्र एवं वर-वधू के गुण-दोष का विचार

विवाह सम्बन्ध निश्चित करने में दोनों पक्षों के माता-पिता, वर-वधू के जाति, कुल का पुरा ध्यान रखते थे। इसका कारण था कुल की पवित्रता बनाये रखना।

**सजातिय विवाह** को ही प्रमुखता दी जाती थी। पालि साहित्य से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि तत्कालीन प्रत्येक वर्ण के लोग अपनी ही जाति एवं कुल में विवाह करते थे। स्वजातिय विवाह प्रतिष्ठित एवं श्रेयस्कर माना जाता था। कन्या एवं वर के चयन के हेतु भेजे गये दूत को समान जाति का ध्यान रखने की विशेष हिदायत दी जाती थी। कन्या पक्ष के कुल का भी पूरा ध्यान रखा जाता था। निष्कलंक कुल ही श्रेयस्कर माना जाता था। कभी-कभी उत्कृष्ट कन्या के निमित्त निम्न कुल की शर्त हटा भी दी जाती थी।

## अन्तर्जातिय विवाह

अन्तर्जातिय विवाह में भी अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह का पूरा ध्यान रखा जाता था। प्रतिलोम विवाह को मान्यता प्राप्त नही थी। आपद् स्थिति में ही अनुलोम विवाह को समाज स्वीकृति देता था। ब्राह्मण-कन्या का विवाह सभी वर्णों से हो सकता था। वैश्य एवं शूद्र कन्या स्वजातिय विवाह कर सकती थी। क्षत्रिय, वैश्य कन्या से तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकते थे, परन्तु वैश्य एवं शूद्र कन्या से उनका विवाह वर्जित था। अपवाद यद्यपि यत्र-तत्र मिलते हैं। एक राजा ने प्रेमवश वैश्य-कन्या से विवाह कर लिया था।

**असगोत्र विवाह** का चलन था। एक ही गोत्र में विवाह वर्जित माना जाता था। गोत्र वंश का परिचायक माना जाता था। आपद् स्थिति में भगिनी से विवाह मान्य था परन्तु यह प्रथा रूप में प्रचलित नही था। बौद्ध साहित्य में मातुल-भागिनी (ममेरी बहन) से विवाह की मान्यता मिलती है। चचेरी बहन से विवाह के द ष्टांत भी पालि साहित्य में मिलते हैं। विवाह के समय सुन्दर कन्या एवं शील-सम्पन्न वर को प्रधानता दी जाती थी। उच्च-कुलीन, चरित्रवान् एवं सदाचारी वर ही कन्या के लिए खोजा जाता था।

## विवाह के प्रकार

तद्युगीन समाज में विवाह के मुख्यतः तीन स्वरूप प्रचलित थे-ब्राह्म, गान्धर्व एवं स्वयंवर।

(i) **ब्राह्म विवाह :-** इस पद्धति में पिता द्वारा उपयुक्त वर-वधू खोजकर, कुल-जाति-गोत्र का ध्यान रखकर विधिपूर्वक विवाह किया जाता था। विवाह में कन्या का दान दिया जाता था।

(ii) **गान्धर्व विवाह :-** जातक युग में इस पद्धति का बहुत चलन था। इस पद्धति के अनुगामी वर-वधू पहले प्रेम-पाश में बँधते, तदन्तर स्वयं ही परिणय-सूत्र में भी बँध जाते थे। विवाह की परम्परागत पद्धति का इस विधि में नगण्य स्थान रहता था। इसमें पिता की आज्ञा निरर्थक मानी जाती थी। कट्ठहारि जातक में एक राजा के एक स्त्री पर आसक्त होने की कथा मिलती है जिसके

फलस्वरूप वह स्त्री गर्भवती हो गयी। राजा ने उस स्त्री को मुद्रिका दी और कहा कि यदि तुम्हारे कन्या उत्पन्न हो तो इस मुद्रिका से उसका लालन-पालन करना और यदि लड़का हो तो मेरे पास ले आना। पुत्रवती होने पर उस कन्या ने महारानी पद पाया एवं पुत्र को युवराजपद सुलभ हुआ। वीणाधूप जातक में भी गान्धर्व विवाह का उल्लेख मिलता है। महाउम्मग जातक में भी प्रेम-पूर्ण परिणय-सम्बन्ध वर्णित है। गान्धर्व विवाह का प्रचलन अभिजात वर्ग में अधिक था। बुद्ध के समकालीन राजा वत्सराज उदयन की प्रेम-कथा एवं विवाह प्रसिद्ध है। एक जातक कथा के अनुसार वाराणसी के एक दिशा-प्रमुख आचार्य के एक शिष्य का एक कन्या से प्रेम हो गया, परन्तु उसने अध्ययन जारी रखा। अतः यह प्रकट होता है कि प्रेम सम्बन्धों से जीवन के अन्य कर्तव्यों के प्रति कन्या एवं युवक उपेक्षा नही बरतते थे।

**(iii) स्वयंवर प्रथा :-** तत्कालीन समाज में स्वयंवर प्रथा का विशेष चलन था। षोडसी कन्या भरे समाज में अपने वर का चयन स्वयं करती थी। कुणाल जातक में एक राजकुमारी के स्वयंवर का वर्णन है। स्वयंवर में उस 'कण्हा' नामक राजकुमारी से परिणय के इच्छुक अनेक राजा एवं राजकुमार उपस्थित हुए थे। उस राजकुमारी ने पाण्डु-पुत्रों के गले में हार डाला एवं माता-पिता से विवाह की अनुमति प्राप्त की। यह कथा द्रौपदी-विवाह (महाभारत में वर्णित) की याद दिलाती है। कुलावक जातक से यह ज्ञात होता है कि असुर राजा वेपथित्तिय की पुत्री सुजाता ने अपना वर अपने हृदय से चुना था।

**(iv) राक्षस एवं क्षात्र विवाह :-** जातक कथाओं में राक्षस विवाह के संकेत भी यदा-कदा मिलते हैं। राक्षस विवाह क्षात्र विवाह का प्रतीक माना जाता था, क्योंकि इसमें कन्या बलपूर्वक ले जायी जाती थी। एक राजा ने अपने शत्रु राजा की हत्या करके उसकी रानी को अपनी रानी बनाया था। एक चोर सरदार ने भी कन्या का बलपूर्वक अपहरण करके विवाह किया था। इस प्रथा का चलन मात्र योद्धा वर्ग में ही था।

**एक-पत्नीत्व एवं बहुपत्नीत्व :-** पालि साहित्य में बहु-विवाह के अनेक उल्लेख मिलते हैं। थेरी गाथा एवं अंगुतरनिकाय में बहुपत्नीवाले परिवारों का वर्णन आता है। राजघरानों एवं धनाढ्य परिवारों में बहु-विवाह का प्रचलन अधिक था। जातकों में वर्णित मात्र एक ही राजा एक-पत्नी-ध ारी था। शेष अन्य समस्त राजा बहु-पत्नीव्रता थे। पालि साहित्य में यत्र-तत्र सौत अभिशाप रूप में वर्णित मिलती है।

**पुर्नविवाह :-** बौद्ध युग में पुर्नविवाह का चलन (स्त्री-पक्ष में) या तो उच्चतम कुलों में था या फिर निम्न कुलों में था। मध्यमवर्गीय समाज में इस प्रथा के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। व द्ध पति भी अपने म त्युपरान्त पत्नी द्वारा पुर्नविवाह करने के विचार से भयभीत रहते थे। कुछ पत्नियाँ मरणासन्न पतियों को पुर्नविवाह न कर बच्चों के पालन-पोषण का वचन देती हुई भी पालि साहित्य में वर्णित है। पुर्नविवाह का संकेत हमें उच्छंग जातक में वर्णित कथा से भी प्राप्त होता है। एक बार एक स्त्री के पति, पुत्र एवं भाई को राजकर्मचारी दस्यु समझकर पकड़ ले गये। उस स्त्री ने राजा से न्याय एवं दया की याचना की। राजा ने कहा कि उसे तीनों में से एक का चयन करना होगा। उस स्त्री ने कहा कि वह पुत्र एवं पति को पुनः पा सकती है, परन्तु माता एवं पिता के म त्युपरान्त वह पुनः भाई को नही पा सकती है, अतः उसे भाई दे दिया जावे। यह विधवा-विवाह एवं स्त्री के पुर्नविवाह का परिचायक है। एक रानी ने भी राजा के स्वर्ग सिधारने पर एक राजपुरोहित से ब्याह कर लिया था।

स्त्री के पुर्नविवाह का अन्य कारण था पति का सन्यासी होना अथवा प्रव्रज्या धारण करना। पति के प्रव्रज्या लेने पर पत्नियाँ या तो स्वयं प्रव्रजित होती थी या पुनः विवाह करती थी। प्रव्रज्या

लेते समय पति भी पुर्नविवाह को प्रोत्साहन देते थे

### विवाह विच्छेद

पालि साहित्य में विवाह विच्छेद के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मज्झिम निकाय में वर्णित एक प्रसंगानुसार एक स्त्री अपने पति को पसन्द नही करती थी, अतः उसके सम्बन्धी अन्य पुरूष से उसका विवाह कराने को तैयार थे। कुस जातक के अनुसार एक रानी अपने कुरूप राजा-पति को छोड़कर अन्य राजा से विवाह की इच्छा रखती थी। सम्बन्ध-विच्छेद का चलन निम्न वर्गों में अधिक था। मध्यमवर्गीय एवं उच्चवर्गीय समाज में स्त्री-पुरूष कुल-परम्परा के लाज में दाम्पत्य जीवन में कटुता आने पर भी एक दूसरे का परित्याग नही करते थे। यदा-कदा अपवाद अवश्य होते थे। एक जातक कथा में सम्बन्धविच्छेद के सम्बन्ध में निम्नाकिंत विचार वर्णित मिलते हैं &&&&&&''इस कुल की परम्परा में पति-परित्याग का स्थान नही है। अतः अनिच्छापूर्वक ही सही, मैं अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वाह कर रही हूँ।'' पति भी दूराचारिणी पत्नी के साथ जीवन निभाते रहते थे।

### विवाह-मुहूर्त

विवाह शुभ घड़ी का विचार कर किया जाता था। रीति के अनुसार वर ही निश्चित तिथि पर वधू के घर ब्याह करने जाता था। कन्या एवं वर के अनुकूल मुहूर्त का विचार किया जाता था। किंतु विवाह-संस्कार के आयोजन में जो स्थान ब्राह्मण को पूर्व युग में प्राप्त था, वह अब धीरे-ध ीरे घट रहा था।

### दहेज प्रथा

जातकों में दहेज प्रथा का बहुत वर्णन मिलता है। साधारण समाज में दहेज का चलन कम था। राजकीय घरानों में पिता द्वारा पुत्री को 'नहान मूल' देने का वर्णन मिलता है। परन्तु यह क्या था, इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं नही मिलता। दहेज में व हद् मात्रा में धन-सम्पत्ति देने का वर्णन मिलता है। धनंजय सेठ ने अपनी कन्या के विवाह में जो दहेज दिया था, वह मात्रा में अपरिमित था। 9 करोड़ मूल्य के आभूषण, 5400 गाड़ियों पर लदा हुआ धन, 500 दासियां एवं 100 सुन्दर रथ सेठ ने दहेज में दिये थे। उस युग में पिता अपनी शक्ति भर धनादि दहेज में देता था। दहेज को दान माना जाता था। प्रसेनजित राजा के पिता महाकोशल ने बिम्बिसार राजा को दहेज में एक लाख की आय के गांव अपनी कन्या के ब्याह में दिये थे। पालि साहित्य में कहीं कहीं उल्लेख मिलता है कि कन्या के पिता को वर का पिता धन देता था। 'कीतो धनेन बहुना', 'भरिया धनक्कीता' तथा 'भरिया-यापि-धनेन-कीता-होति- आदि जातक-वाक्य पुत्री विक्रय के सांकेतिक शब्द हैं। परन्तु पुत्री-विक्रय का चलन अपवाद-स्वरूप ही रहा होगा।

### दाम्पत्य जीवन

जैसा पालि साहित्य से विदित होता है, तद्युगीन समाज में दाम्पत्य जीवन अधिक सुखी नहीं था। इसका कारण स्त्री-वर्ग का दुःश्चरित्र होना माना जाता था। पालि साहित्य में स्त्री का व्यभिचार विशद रूप में वर्णित है।

### दुष्चरित्रा पत्नी

गौतम बुद्ध के समय नारी की स्थिति अति हेय एवं दयनीय हो उठी थी। बुद्ध के उपदेशों में स्त्रियों पर प्रचुर रूप से आक्रोश की वर्षा हुई है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों की दशा उतनी हीन नहीं थी, जितनी तत्कालीन साहित्य में वर्णित है। गौतम बुद्ध ने युवा-वर्ग को भिक्षु जीवन

की ओर आकर्षित करने की द ष्टि से विरत करने का संभवतः यही उपाय निकाला था कि नारी का अति नारकीय स्वरूप ही समाज के सम्मुख रखा जाए, ताकि पुरूष वर्ग स्वयं ही नारी से घ णा करने लगे और प्रव्रज्या ग्रहण करने लगे।

पालि साहित्य में स्त्री का मात्र कुलटा रूप ही प्रतिबिम्बित होता है। जातक में ऐसी स्त्रियों के 25 लक्षण बताए गए हैं - जैसे स्वामी के प्रवास में रहने पर उसका स्मरण न करे, आने पर स्वागत न करे, सदैव दोष-गान करे, हानिकारक, कष्टकारक वचन बोले, पति को लाभ न पहुंचाये, चंचल हो, परपुरूष की ध्वनि को ध्यान से सुने आदि। जातकों में स्त्री-हृदय को वानर जैसा चंचल कहा गया है। एक जातक के अनुसार एक रानी ने 64 नौकरों से अनुचित सम्बन्ध रखे थे। पति की अनुपस्थिति में पर-पुरूष के साथ स्त्रियों द्वारा रंगरेलियां मनाने और प्रेमी के साथ भाग जाने के अनेक द ष्टान्त पालि साहित्य में मिलते हैं। गर्भ-धारण एवं गर्भ-पात के संकेत भी प्राप्त होते हैं।

जेतवन में एक भिक्षु को नारी के प्रति आसक्त देखकर बुद्धदेव ने कहा था - ''स्त्री असभ्य होती है, अक तज्ञ होती है। पूर्व समय में दानव राक्षस द्वारा निगलकर अपनी कोख में छिपाने पर भी स्त्री पर निगरानी नहीं रखी जा सकी।'' स्त्री के सम्बन्ध में जातक-युगीन समाज की साधारण धारणा थी - सभी नदियां टेढ़ी हैं, सभी वनों में लकड़ी है तथा मौका मिल जाने पर सभी स्त्रियां पाप करती है। इसी कारण इस युग की स्त्रियों पर कड़ा पहरा रखा जाता था एवं उनके चरित्र पर सदैव शंका की जाती थी। समाज नारियों की स्वतन्त्रता पर पूर्ण बन्धन के पक्ष में था।

साधारणतः समाज में स्त्रियों के प्रति अनादर एवं अविश्वास की भावना व्याप्त थी। स्त्रियों को हीन जीवन जीना पड़ता था। अब नारी की गरिमा तेजी से गिर रही थी।

### पति-अनुरक्ता पत्नी

पालि साहित्य ने नारी का कलुषित पक्ष उजागर अवश्य किया था, परन्तु ऐसी बात नहीं थी कि आदर्श पत्नियों का पूर्णतः अभाव ही था। तद्युगीन साहित्य में पति-अनुरक्ता पत्नियों के भी द ष्टान्त मिलते हैं। 'दूरदन्ती' का पति के प्रति प्रेम एवं सुजाता की पति-भक्ति इस तथ्य के प्रमाण हैं। संबहुला ने कुष्ट रोगी पति का आजीवन साथ दिया था। पति को देवता मानकर पूजती हुई नारियां भी पालि साहित्य में यदा-कदा वर्णित हैं। नारी पति की सम्पत्ति समझी जाती थी। पति का पत्नी पर पूर्णाधिकार होता था। पति पत्नी का अधिकारवश दान भी कर सकता था।

एक ओर स्त्रियों को अविश्वासी मानकर उनपर बन्धन ही बन्धन लगाये गये परन्तु अविश्वास एवं बन्धन बुद्ध के उपदेश तक ही सीमित थे। वास्तव में स्त्रियां स्वतंत्र जीवन जीती थीं। पर्दे का चलन था। राजमहल की स्त्रियों को अपेक्षाक त अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। पति एवं पत्नी साथ साथ घूमते थे। सामाजिक उत्सवों में दम्पत्ति भाग लेते थे। परन्तु पत्नी को साधारणतः अकेले घूमने की स्वच्छन्दता नहीं थी।

साध्वी पत्नी का परित्याग बुरा माना जाता था। पालि साहित्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां पत्नी को पति की सर्वाधिक 'प्रिया' बताया गया है, यहां तक कि चरित्रहीन पत्नी को भी पति नहीं छोड़ते थे। पति के प्रति अनुरक्ता पत्नी अन्य लोक में भी इसी पति की कामना करती है। व द्ध पुरूष एवं गुरूजन दम्पति को सदैव प्रेममय एवं सुखद दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते का आशीष देते वर्णित मिलते हैं।

**(5) दुश्चरित्र पति** - पालि साहित्य में दुश्चरित्रा पत्नी के साथ दुश्चरित्र पति का वर्णन भी मिलता है। कुछ पति अनुरक्ता पत्नी पाकर भी पर स्त्री-गामी होते थे। कुछ पति स्वार्थवश भी

पत्नी को व्यभिचार करने के लिए प्रेरित करते थे, जैसे एक सेनापति ने राजा को अपनी पत्नी की ओर आक ष्ट हुआ जान, पत्नी को पूरी छूट दे रखी थी। कभी कभी दुश्चरित्र पति एवं दुःखी दाम्पत्य जीवन से तंग आकर स्त्रियां भिक्षुणी भी बन जाती थी।

### (3) मात त्व

बौद्ध-युगीन समाज में नारी का स्थान माता के रूप में उत्क ष्ट था। केवल माता के रूप में ही नारी की स्थिति समाज में आदरणीय थी। वह माता के रूप में घर की सहायक एवं मित्र मानी जाती थी। माता बनने के प्रयास में रत नारियों का जातक अधिकाधिक उल्लेख करता है। पुत्रहीन स्त्री सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित होती थी। इसी कारण बन्ध्या नारियां पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा करती थी। कभी-कभी नारियां सम्मान प्राप्त करने के लिए गर्भवती होने का स्वांग भी करती थीं।

### (4) विधवापन

सदैव की भांति वैधव्य भी इस युग में नारी-जीवन के लिए दुष्कर शाप माना जाता था। विधवा होते ही सती का वर्णन बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता।

यद्यपि सती - प्रथा का इस युग में अभाव था, परन्तु वैधव्य जीवन अति दारुण होता था। एक जातक में वैधव्य के मार्मिक पहलू का चित्रण मिलता है। यद्यपि विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध नहीं था, फिर भी विधवा-विवाह का अधिक प्रचलन भी नहीं था। विधवा स्त्री को म तक पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पूर्णाधिकार मिलता था। विधवा स्त्री अपने पिता की एक दुहिता (भ्रात हीन) होने पर पित -सम्पति की भी अधिकारणी होती थी।

### ( 5 ) भिक्षुणी

नारियों में प्रव्रजित होने के अनेक द ष्टान्त मिलते हैं। इससे पूर्व इतनी अधिक संख्या में स्त्रियां संन्यासिनी नहीं हुआ करती थी। इसका कारण था, पुरूषों का अधिक संख्या में सन्यास ग्रहण करना एवं नारी की हेय दशा। कुछ भिक्षुणियां विदुषी भी होती थी। विदुषी भिक्षुणियां सदैव अध्ययन मे रत रहती थी एवं तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करती थी। कभी-कभी पति एवं पत्नी दोनों पर्णशाला में अलग रहकर साधुत्व जीवन व्यतीत करते थे। भिक्षुणी नारियों को बौद्धयुगीन समाज में अति आदरणीय द ष्टि से देखा जाता था, फिर भी स्त्रियों के हेतु गार्हस्थ जीवन ही उपयुक्त माना जाता था। कुछ भिक्षुणियां तो कभी-कभी पुनः ग हस्थ जीवन अपना लेती थी।

### (6) गणिकाएं

उस युग में नारियों का जो एक और रूप समाज में प्रतिष्ठित था, वह था गणिका रूप। गणिका नगर की शोभा मानी जाती थी। वह नगरवधू कहलाती थी। गणिका का स्थान साधारण वेश्या से कहीं अधिक ऊंचा था। वह समाज में प्रतिष्ठा, सम्मान एवं प्रशंसाप्राप्त नारी होती थी। उसे हेय द ष्टि से नहीं, वरन् प्रशंसित द ष्टि से देखा जाता था। गणिका पद पानेवाली स्त्री स्वयं को भाग्यशाली मानती थी एवं गौरवान्वित महसूस करती थी। परम सुन्दरी, नयनाभिरासा, गायन-वादन एवं न त्य में पारंगत नारी को ही नगरबन्धु अथवा मुख्य गणिका का पद प्रदान किया जाता था। गणिकाएं भी कई प्रकार की होती थी जैसे राजकीय गणिका साधारण गणिका समाज प्रतिष्ठित गणिकाएं। गणिका की प्रतिष्ठा का अन्दाज इस बात से लगा सकते है कि गौतम बुद्ध ने आम्रपाली का दान स्वीकार किया था। आम्रपाली के हाथ का भोजन भी बुद्ध ने ग्रहण किया था। अन्ततः गणिका को भिक्षुणी बनाने के लिए भी बुद्ध ने स्वीक ति दे दी थी। गणिका-पुत्र को समाज में वेश्या का पुत्र होने के कारण हीनभावना का शिकार नहीं बनना पड़ता था। ऐसे बच्चे समाज में उपेक्षित

नहीं समझे जाते थे। गणिका-पुत्र को योग्यातानुसार पद भी दिए जाते थे। राजग ह की नगरवधू सालवती का पुत्र जीवन राजग ह का राजवैद्य बना। जन-साधारण में इन्हें पतित एवं घ णित द ष्टि से नहीं देखा जाता था। गणिका तत्कालीन समाज की आवश्यकता मानी जाती थी।

**गणिका का आचरण -** एक ओर बौद्ध साहित्य चरित्रहीनता गणिकाओं का उल्लेख करता है तथा दूसरी ओर आदर्श एवं एकनिष्ठ गणिकाओं के भी वर्णन प्रस्तुत करता है। अधिकांशतः गणिकाएं कोमलहृदयता, आत्म-सम्मानवाली एवं भावनामयी होती थी। इस प्रकार गणिकाओं की दो कोटियां थी :

**चरित्रवती गणिकाएं -** काली नामक गणिका सामाजिक रीतियों एवं मान्यताओं को निबाहने में अति कुशल एवं आत्मसम्मानवाली थी। काली ने मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने जुआरी एवं शराबी भाई का परित्याग कर दिया था। एक गणिका ने अनुरागवश एक आगन्तुक की तीन वर्ष बाट जोही एवं किसी अन्य पुरूष से प्रेम-सम्बन्ध नहीं स्थापित किया। इसी प्रकार एक गणिका ने एक दस्यु से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर उसे निष्ठापूर्वक जीवन पर्यन्त निभाया। उसने अन्य पुरूष का स्पर्श भी स्वीकार नहीं किया। किन्तु दस्यु के द्वारा धोखा दिए जाने पर वह उसकी हत्या करने से भी नहीं चूकी।

आचरणहीन गणिकाएं - कुछ गणिकाएं अपने ग्राहकों से प्रेम का नाटक भी करती थी। गणिकाएं अधिकतर धनवानों से ही सम्बन्ध स्थापित करती थी। स्वार्थी गणिका का एक प्रेमी बिना कार्षापण के गणिका के पास आ गया। गणिका ने उस प्रेमी को यह कहकर भगा दिया कि, ''आर्य, मैं गणिका हूं, बिना सहस्त्र कार्षापण लिये मैं किसी की भी अंकशायिनी नहीं बना सकती। अतः जब आपके पास एक सहस्त्र कार्षापण हो तो मेरे आवें।'' गणिका के इस अभद्र व्यवहार से विक्षुब्ध होकर वह प्रेमी प्रव्रजित हो गया। कुछ गणिकाएं विश्वासघातिनी भी होती थी।

राज-गणिकाएं अवश्य सम्मान पाती थी। साधारणतः समाज में वेश्याव ति अच्छी नही मानी जाती थी। वेश्याव ति को बौद्ध साहित्य में अधम एंव निम्न-स्तरीय कहा गया है। गणिका के घर को नीच घर कहा जाता था। इस प्रकार का प्रसंग यह सिद्ध करता है कि वेश्याव त्ति समाज में हेय द ष्टि से देखी जाती थी। केवल राज-गणिकाओं को ही समाज में सम्मान प्राप्त था।

### ग हस्थाश्रम

बौद्ध ग्रन्थों में यद्यपि भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्याश्रम एवं संन्यासाश्रम का मिश्रित रूप) को सर्वोच्चता प्रदान की गयी है, फिर भी ग हस्थाश्रम को भी भरपूर महत्त्व दिया गया है। ग हस्थाश्रम को महत्ता देने का कारण यही था कि इस आश्रम में ही सन्तान या धन का उत्पादन होता था। जातक-युगीन ग हस्था को कर्मठ होने की प्रेरणा दी जाती थी। बुद्ध के उपदेशानुसार संसार के कठोर मोर्चो के कठोर मोर्चो का सामना ग हस्थ को करना होता था। पालि पुस्तिका 'ग हीविनय' में ग हस्थ-धर्म-सम्बंधी उपदेश दिए गऐ हैं। यह पुस्तिका 'सिंङग्ालसुत्त' भी कहलाती थी। इस ग्रन्थ में बुद्ध ने ग हस्थों के लिए चार प्रकार के कर्म-क्लेश बतलाये हैं :

(1) प्राणी को मारना।

(2) चोरी करना।

(3) व्यभिचार करना।

(4) झूठ बोलना।

इन कर्म-कलेशों से बचने की शिक्षा बुद्ध ने हमेशा ग हस्थों को दी थी। इनके साथ ही बुद्ध ने

छह प्रकार के भोगों से बचने के लिए भी ग हस्थों को उपदेश दिया। ये भोग ग हस्थों के विनाश के कारण माने गये हैं :

(1) शराब या नशीली वस्तुओं का सेवन।

(2) असमय में चौक बाजार को सैर-सपाटा

(3) नाच-तमाशे मे रूचि।

(4) जुआ या प्रमोद-कारक वस्तुओं का सेवन।

(5) बुरे लोगों की दोस्ती।

(6) आलस्य।

ग हस्थ धर्म में चार प्रकार के व्यक्तियों से बचकर रहने की हिदायत दी गई है।

अर्थात जो व्यक्ति बुरे काम की अनुमति भी दे और भले काम की आज्ञा भी दे। जो व्यक्ति मुंह पर तारीफ करे एवं पीठ पीछे बुराई करे, ऐसा व्यक्ति ग हस्थ का शत्रु माना गया था।

तद्युगीन ग हस्थाश्रम में दान एवं अतिथि-सत्कार को विशेष महत्व दिया गया था। जातक-युगीन परिवार में वैदिक युग जैसे परिवारिक सुख का अभाव था। कभी कभी परिवार से माता को बाहर निकाल देने का संकेत भी मिलता है। पिता एवं माता को पीटे जाने का वर्णन भी मिलता है।

बुद्ध ने प्रत्येक ग हस्थ को सुखी, सम्पन्न एवं आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए दस बातों पर ध्यान देने का उपदेश दिया था :

(1) आवश्यकता संग्रह करे।

(2) अवसर एवं सामर्थ्य रहते हुए शिल्प सीखे।

(3) नम्रस्वभाव एवं ममतामय बने।

(4) दान दें।

(5) व द्ध माता पिता की सेवा करें।

(6) पराई पत्नी का स्पर्श न करें।

(7) श्रमणों एवम् ब्राह्मणों की सेवा करें।

(8) आचार्य एवम् पिता का आदर करें।

(9) संयमित, त्यागमय एवम् सेवामय जीवन व्यतीत करें।

(10) इन सब बातों का अनुसरण करते हुए आचरण करें।

## भोजन

तद्युगीन खान-पान सम्बन्धी उद्धरणों से ज्ञात होता है कि समकालीन समाज समुन्नत एवं खुशहाल था। खान-पान की द ष्टि से तद्युगीन समाज को हम दो वर्गो में विभक्त कर सकते हैं - एक शाकाहारी वर्ग और दूसरा मांसाहारी वर्ग।

## शाकाहारी वर्ग

पालि-युगीन भारतीयों का मुख्य खाद्यान्न गेहूं, जौ (पश्चिमोत्तर भारत) एवं चावल (मध्य भारत) था। जो अन्न जिस क्षेत्र में अधिक उपजता था, वह उस क्षेत्र का प्रमुख खाद्यान्न एवं भोज्य पदार्थ

माना जाता था। पालिपिटक चूंकि मध्य देश का ही इतिहास प्रस्तुत करता है अतः पालि साहित्य में मध्य देश का मुख्य खाद्यान्न चावल ही उल्लिखित है। चावल के मुख्य तीन प्रकारों सालि (शालि), वीहि (व्रीहि) एवं तण्डुल का संकेत हमें बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। परन्तु समकालीन ग हसूत्रों में मात्र व्रीहि का ही उल्लेख मिलता है। पाणिनी के अनुसार शालि के अतिरिक्त व्रीहि एवं महाव्रीहि भी प्रचलित थे। महाव्रीहि संभवतः उच्च वर्ग का एवं व्रीहि आदि साधारण वर्ग का भोज्य पदार्थ होता था। दालों मे मुख्यतः कलाय, मुग्ग (मूंग) माश, मसूर एवं कोलत्थि (कुलथी) का चलन था। बुद्धयुगीन समाज में गोधूभ (गेहूं) अन्न का भी उपयोग किया जाता था। उच्च वर्गो मे महीन एवं पुराने चावल का चलन था। तीन वर्ष पुराना चावल उस समय अधिक पसन्द किया जाता था। परन्तु निर्धन एवं मध्यम वर्ग में मोटे एवं नये चावल का ही चलन था, क्योंकि यह अपेक्षाक त सस्ता होता था।

तद्युगीन समाज के चावल या भात अकेले नहीं, वरन् दाल या सब्जी या घी आदि के साथ खाया जाता था। साधारण एवं निर्धन वर्गीय व्यक्ति कभी-कभी गुड़ के साथ ही भात खा लेते थे। भात की 'खीर' भी बनाई जाती थी। 'खीर' तद्युगीन शाकाहारी समाज का लोकप्रिय आहार था। 'खीर' चावल, दूध एवं शहद के सम्मिश्रण से तैयार की जाती थी। यवागु भी प्रिय भोजन था। यवागु बनाने के लिये चावल को रात्रि में पानी में भिगोकर रख दिया जाता था, तत्पश्चात् इसे सरसों का तेल, नमक, मिर्च एवं इमली से खाया जाता था। 'सत्तू' भी जन-साधारण का स्वादिष्ट भोजन होता था।

तद्युगीन समाज में दुग्ध का प्रयोग बहुल रूप से होता था। दूध, दही, मक्खन एवं घी आदि लाभकारी तथा पौष्टिक पदार्थ माने जाते थे। कद्दू, कुम्हड़ा, ककड़ी, आम, जामुन आदि लोकप्रिय सब्जी एवं फल थे। इन वस्तुओं का प्रयोग सिद्ध करता है कि उन दिनों समाज में स्वास्थ्य के प्रति लोग कितने अधिक सजग थे।

**(2) मिष्ठान** - बौद्ध युगीन व्यक्ति न केवल स्वास्थ्यप्रद भोजन के प्रति ही सजग थे, वरन् भोजन को सुस्वादु बनाने के निमित्त भी प्रयासरत थे। समाज में विशिष्ट पकवानों का प्रयोग प्रचलित था। उस युग के प्रमुख मिष्ठानों में पूआ, पलल खाजा एवं पिष्टक प्रसिद्ध थे। जातकों में 'पुआ' का बहुल वर्णन आया है। पूआ बनाने के लिये चावल, घी, चीनी दूध एवं शहद आदि पदार्थो की आवश्यकता होती थी (इल्लीस जातक)। तद्युगीन समाज में प्रचलित 'पलल' नामक मिष्ठान आज के प्रसिद्ध तिलकुट का ही पर्याय था। आज भी मगध में यह मिष्ठान विशिष्ट एवं लोकप्रिय बना हुआ है। पालि साहित्य में मगध के प्रसिद्ध मिष्ठान 'खाजा' का भी उल्लेख मिलता है। आज भी राजग ह के 'सिलाव' स्थान का खाजा विशेष प्रसिद्ध है। बौद्ध युग में खाजा को पिट्ठ या खज्जक कहा जाता था। ब्रह्मादूदत्त जातक से ज्ञात होता है कि उस युग में अतिथि के स्वागत में 'खाजा' ही खाने के लिए दिया जाता था। तत्कालीन मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय समाज में 'पिट्ठखादनीय' नामक मिष्ठान भी बहुत प्रचलित था। यह मिठाई चावल की लप्सी से तैयार की जाती थी। समस्त मिष्ठानों में खाजा ही सर्वश्रेष्ठ एवं उत्क ष्ट माना जाता था। यह मुख्यतः उच्चवर्गीय समाज का प्रचलित मिष्ठान था।

**(3) मांसाहारी वर्ग** - मांस-भोजन का प्रचलन इस युग में भी काफी रहा है। यद्यपि यह बौद्ध युग था और बौद्ध धर्म में अहिंसा अथवा पशुवध के निषेध का उद्घोष किया गया था, परन्तु बौद्ध भिक्षु भी मांस एवं मत्स्य का प्रयोग करते थे। आतिथ्य में ग हस्थ द्वारा प्रस्तुत मांस-भोजन भिक्षु लोग सहर्ष स्वीकार करते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध ने चुंद कर्मार-पुत्र के यहां शूकर-मांस खाया था। बौद्ध धर्मानुसार जो मांस काटते समय न देखा गया हो, न सुना गया हो और जो मांस विशेष

तौर पर भिक्षु के निमित्त ही न काटा गया हो, उस आमिप भोजन को भिक्षु ग्रहण कर सकते थे। तद्युगीन मांसाहारी समाज मे निम्नांकित पशुओं का मांस खाया जाता था - गाय, मेष, अज, शूकर एवं म गादि। म ग-मांस सर्वाधिक जनप्रिय था। शूकर-मांस भी पसन्द किया जाता था। विवाह भोजादि में शूकर का ही मांस खिलाया जाता था। यह मांस ऊंच नीच दोनों वर्गो में ही समान रूप से प्रिय और प्रचलित था। वन्य शूकर का मांस खाना ही शास्त्र सम्मत था। जातकों एवं अट्ठ-कथाओं मे 'शूकर मार्दव' का अर्थ सुअर का मांस नहीं, अपितु शकरकन्द का पाक लगाते हैं। फल की गुद्दी भी मेदा कहलाती थी, अतः यही मार्दव का पर्याय वन गयी। फिर भी सुअर का मांस का सर्वाधिक प्रचलन तो था ही। गाय का मांस भी खाया जाता था, परन्तु गाय एवं बैल उपयोगी पशु होने के कारण कम मारे जाते थे। केवल आपातकाल, जैसे दुर्भिक्ष आदि के समय गाय एवं बैल मारकर खाने के द ष्टांत मिलते हैं। मारकर खाने के द ष्टांत मिलते हैं। पालि साहित्य में 'गाघातक', गो-घातक-सूनम (गोहत्यास्थल), एवं मारने के हेतु छूरे का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि गौमांस खाया जाता था। श्राद्ध एवं मधुपर्क के अवसर पर गौमांस खाने की आज्ञा ब्राह्मण धर्मशास्त्रकार भी देते हैं। इसके अतिरिक्त पक्षियों का मांस भी काफी चलन में था। मछली तो जनप्रिय भोजन मानी जाती थी। राजकीय पाकशालाओं में नित्य विभिन्न प्रकार की मछली पकाई जाती थी।

**(4) राजकीय रसोई का खर्च** - सुदेच राजकीय रसोइया होता था। राजमहल में भोजन पर प्रतिदिन 1,00,000 कार्षापण का व्यय होता था। खाना बनाने का कार्य दास भी करते थे। दासों के ऊपर 'सुदेच' का पद मुख्य रसोइये के रूप में होता था। साधारणतः स्त्रियां घर में स्वयं भोजन बनाती थी। राजघरानों के अतिरिक्त अमीर व्यक्ति भी रसोईदार रखते थे। कुछ दुकानें भी ऐसी होती थीं जहां तैयार भोजन एवं मिष्ठान मिलते थे।

**(5) सुरापान** - सुरापान समाज में निन्दनीय नहीं समझा जाता था। उस युग में प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रम के लोग सुरापान किया करते थे। सुरापान न केवल घरों में ही किया जाता था, वरन् समाज-सुराग हों की भी व्यवस्था थी। इन ग हों में सुरा घड़ों में भरकर बेची जाती थी। सुराग हों के संचालन के हेतु एक स्वामी एवं अन्तेवासी की भी व्यवस्था होती थी। सुरापान का चलन स्त्रियों में भी था। मधुशालाओं में दम्पत्ति निःसंकोच भाव से आते थे एवं साथ-साथ मदिरा-पान करते थे। सुरापान का प्रचलन अमीर, मध्यम एवं गरीब सभी स्तर के वर्गों में था।

मादक पेय पदार्थों में सुरा एवं मैरेय प्रमुख थे। शराब चावल एवं फल के रस बनायी जाती थी। इसके अतिरिक्त सोमरस एवं गन्ने के रस से भी मदिरा तैयार की जाती थी।

बौद्ध-युग में कुछ ऐसे उत्सव मनाये जाते थे, जिनमें बेशुमार सुरापान एवं न त्यादि का आयोजन किया जाता था। ऐसे पर्वो मे सुरानक्षत्र-पर्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किसी भी उत्सव में राजा जन-साधारण के साथ सुरापान करता था।

समाज में सुरापान का प्रचलन अवश्य था, परन्तु इसका व्यसन बुरा माना था। भिक्षुओं एवं श्रामणेर के हेतु इसका वर्जन था। उनके हेतु यह औषधि के रूप में ही स्वीक त थी। सूत्रकारों ने भी ब्राह्मण के लिए सुरापान का निषेध कर रखा था। समाज शराब की बुराई से परिचित था। समाज में सुरापान के व्यसन को रोकने के प्रयास भी होते थे। फिर भी व्यवहार में खुले रूप से शराब बिकती थी।

**(6) खान-पान में वर्णगत भेदभाव** - बुद्ध-युगीन समाज में खान-पान संबंधी छूत-छात का भाव विद्यमान था। ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के मध्य व्याप्त रोष ने खान-पान में भी दूरी पैदा कर दी थी। सहभोज का चलन तो म तप्राय ही हो गया। कहीं कहीं ब्राह्मण एवं क्षत्रिय को एक पंक्ति

में भोजन करते हुए हम विव त पाते हैं। एक ऐसे क्षत्रिय का उल्लेख पालि वाङ्मय में मिलता है जो अपनी क्षत्रिय दासी से उत्पन्न कन्या के साथ स्वयं भोजन करने से हिचकता है। वाद-विवाद के पश्चात् पिता की जाति से कन्या की जाति निर्धारित होने पर उसके यहां क्षत्रियों ने भी सहभोज स्वीकारा।

## वस्त्राभूषण

तत्कालीन वस्त्र-व्यवसाय उत्क ष्टता के चरम शिखर पर था। सर्वप्रथम इसी युग में वस्त्र का व्यवसाय एवं व्यापार यह सिद्ध करता है कि भारतीय जब अपने 'आवरण' के सम्बन्ध में कितने सजग थे। बुनकर चरखा एवं करघा की सहायता से वस्त्र बुनते थे।

**(1) भारतीय वस्त्रों के स्वरूप -** बौद्ध-युगीन वस्त्रों में सूती, रेशमी, एवं ऊनी, तीनों प्रकार के वस्त्र शिल्पगत उत्क ष्टता के अद्भुत प्रतिमान थे। निम्न तीनों प्रकार के भारतीय वस्त्रों का विदेशों में भी निर्यात किया जाता था।

(i) **रेशमी वस्त्र -** पालि साहित्य में सर्वत्र 'काशिका' वस्त्र का उल्लेख मिलता है। काशी का रेशम ही 'काशिका', 'काशीकुत्तम', 'कासिय', 'कौषेय', 'काशिकांशु' कहलाता था। बुद्ध का म त शरीर काशी के बने रेशमी कपड़े में ही लपेटा गया था। वह इतना महीन और गाढ़ा था कि उसमें से तेल भी नहीं निकल सकता था। काशी के अच्छे वस्त्र का मूल्य 1000 कार्षापण माना जाता था। बनारसी रेशम हर दिशा से नीला ही प्रतीत होता था अर्थात् नीले रंग की झलक मारता था। नीले के अतिरिक्त पीले, लाल एवं सफेद रंग का रेशमी वस्त्र भी होता था। इस समय यमली' नामक एक वस्त्र प्रचलित था। यह भी काशी में ही बनता था। यमली वस्त्र इतने महीन रेशम का होता था कि छतरी की डंडी में एक जोड़ा यमली वस्त्र रखा जा सकता था। रेशमी वस्त्र पर कसीदाकारी भी होती थी। राजा एवं अभिजात वर्ग के लोग रेशम की जरीदार पगड़ियां पहनते थे।

(ii) **सूती वस्त्र -** रेशमी वस्त्र जहां राजकीय परिवारों का वस्त्र था, वहां मध्य एवं निम्नवर्गीय जन सूती वस्त्र धारण करते थे। सूती वस्त्र कपास से बनाये जाते थे।

(iii) **ऊनी वस्त्र -** गान्धार एवं कौटूम्बर बौद्ध-युग में ऊनी वस्त्रों के लिए विश्व प्रसिद्ध थे। ऊन भेड़ के रोयें से बनाया जाता था।

**(2) विभिन्न परिधान -** तद्युगीन भारतवासी रंग-बिरंगे वस्त्रों के प्रेमी थे। महापरिनिब्बानसुत्त से ज्ञात होता है कि जब भगवान बुद्ध वैशाली गये तो उनको देखने आये रंग-बिरंगे सुरूचिपूर्ण वस्त्र पहने हुए थे। स्त्रियां विशेष तौर पर रंगों का चयन करने में सजग होती थी। वस्त्रों के समीकरण का जैसा प्रचलन आज वर्तमान है, वैसा ही बौद्ध युग में भी था। सिरिकालकण्णि जातक से ज्ञात होता है कि कालकण्णि नामक युवती ने एक श्रेष्ठि से मिलते समय नीले रंग के वस्त्र, नीलमणि एवं नीला विलेपन धारण कर रखा था।

(i) **पुरुष परिधान** - ग हस्थ पुरुष के परिधान दो प्रकार के होते थे-अधोवस्त्र एंव उत्तरीय। अधोवस्त्र धोती होती थी। यह घुटने तक पहनी जाती थी। धोती पहनने के अनेक प्रकार प्रचलित थे, जैसे हस्तिशौंडिक, मत्स्यवालक, चतुष्कर्णक, तालक त्तक एवं शतवल्लिक। लाँगदार धोती पहनने का भी चलन था। पुरूष उत्तरीय वस्त्रों में कुरते जैसा वस्त्र पहनते थे। अनेक प्रकार के कमरबन्द भी पहने जाते थे। कालाबुक नामक कमरबंद बटी रस्सियों से बनाया जाता था। डेडडुमक नामक कमरबन्द का आकार जल में रहने-वाले सर्प के समान होता था। मुरज नामक कमरबन्द ढोल के आकार का होता था।

उच्चस्तरीय समाज में पगड़ियों का चलन था। पगडियां अनेक ढंग से बांधी जाती थी। पगड़ियों की निम्नांकित किस्मों का चलन तद्युगीन समाज में अधिक व्याप्त था - लडडूदार, झालरदार, कागदार, पान की आक ति की (आभूषणयुक्त), पुष्पालंकार युक्त आदि। पगड़ी बांधने में मुख्यतः दो ढंग प्रचलित थे - प्रथम, सिर पर केश का जुड़ा बांधकर तत्पश्चात् पगड़ी के दो फेंटे मस्तक के ठीक मध्य से लेकर पीछे जूड़े तक ले जाकर उसे ढक दिया जाता था। उसके दोनों छोर खोंस दिये जाते थे। द्वितीय पगड़ी भारी होती थी। इस किस्म में पगड़ी से सारा सिर ढक लिया जाता था।

(ii) **स्त्री-परिधान** - स्त्रियों के वस्त्र भी दो प्रकार के होते थे - अधोवस्त्र एवं उत्तरीय। अध ोवस्त्र में स्त्रियां घाघरा पहनती थी। मूर्तियों एवं साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि स्त्रियां साड़ी (साटक), दुपट्टा (उत्तरासंग) एवं चोली भी पहनती थीं। रानियों की साड़ियां सट्ठसाटक कहलाती थी। उत्तरासांग (दुपट्टा) ओढ़ने की दो विधियों का प्रचलन था - उल्टा पल्ला एवं सीधा पल्ला। सीधे पल्ले के अनुसार दुपट्टे को बायें कंधे से लाकर वक्ष-स्थल को ऊपर से ढकते हुए नीचे लाया जाता था एवं नाभि के नीचं गांठ लगाकर बांध दिया जाता था। उल्टे पल्लेवाले उत्तरीय को वक्षस्थल के निम्न भाग से ले जाकर बायें कंधे पर फेंककर ओढ़ा जाता था। इसका बायां छोर लटकता रहता था।

स्त्रियां कलात्मक आभूषण-युक्त कमरबन्द भी पहनती थीं। ये कमरबन्द पटके भी कहलाते थे। कमरबन्द बांस के रेशे, चर्म-पट्ट, ऊर्णपट्ट, गुंथे हुए ऊन, बटे हुए चोल, वस्त्र, गुंथे हुए चोल वस्त्र, गुंथे हुए सूती वस्त्र आदि से बनाये जाते थे।

**(3) पादुका** - बौद्ध युग में पादुका (जूता एवं चप्पल) का बहुल प्रचलन था। चर्मार धन्धा पूर्ण विकसित था। जूते के तल्ले विभिन्न रंगों के बनाये जाते थे। जूते केवल एक तल्ले के ही नहीं, दो, तीन एवं चार तल्लो के भी बनाये जाते थे। जूते बनाने के लिए विभिन्न पशुओं (चीता, ऊदबिलाव, बिल्ली, गिलहरी, उल्लू, सिंह आदि) का चर्म प्रयोग मे लाया जाता था। महाबग्ग में जूतों की विभिन्न किस्मों का वर्णन मिलता है ; जैसे, पुरबद्धक (घुटने तक चढ़े हुए), पालि-गुंठिय (केवल पैर ढकनेवाले), खलबद्ध (आधुनिक पेशावरी जूते), मेण्ड विषाण बद्धिक (मेढे के सींगवाले), अज-विषाण बद्धिक (बकरे के सींगवाले), व श्चिकालिक (नोक पर बिच्छू की पूंछ लगे हुए), मोरपिद्द परिवसिब्बति (तलवे या बन्दों में मोरपंख सिला हुआ), तूलपुष्षिक (रूई भरा हुआ), तित्तिरपट्टिक (तीतर के पंख सद श) आदि।

चम्बार जूते में एड़ी भी लगाते थे। जूते आर्डर देकर भी बनवाये जाते थे। जूतों के अलावा बांस एवं तालपत्र की पादुकाएं भी बनायी जाती थी। अमीर व्यक्ति एवं राजघराने के लोग अपनी चप्पलों और जूतों की सोना, चांदी, स्फटिक, कांच, रांगा एवं तांबे आदि से सजाते थे। यह सिद्ध करता है कि तद्युगीन समाज में शौकीनी बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। ये विशिष्ट प्रसाधन तद्युगीन समाज की सम द्धि और वैभव के परिचायक थे।

**(4) आभूषण** - बौद्ध युगीन स्त्रियां अलंकारप्रियता एवं विलासिता के लिये प्रसिद्ध थी। तद्युगीन समाज में निम्नांकित आभूषणों का प्रचलन था - बीड एवं जवाहर-जड़ित गले का हार, बावजूद (हत्वहत्थस्थ), अंगूठियां, माला, कान के बुन्दे (कुण्डल), करधनी (मेखला), पायजेब (केयूर), बालों के पिन (बन्धनम्), पगड़ी के चूणामणि आदि। उस युग में विभिन्न अंगों के निमित्त विशिष्ट आभूषणों के विशेषज्ञ होते थे। स्वर्णालंकारों में मणि-माणिक्य एवं विभिन्न प्रकार के नग आदि भी जड़े जाते थे। स्वर्ण पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था।

स्वर्ण एवं रजत के अतिरिक्त आभूषण-निर्माण के हेतु मुक्ता, मणि, वैडूर्य, भद्रक, शंख, शिला-प्रवाल, लोहितंक एवं मसारगल्ल का भी प्रयोग किया जाता था।

इस युग में पुष्पालंकार एवं सुगन्धि विलेपन का भी प्रचलन था। पुष्पों के प्रति नागरिकों का अगाध प्रेम होने के कारण मालाकार की रोजी-रोटी भली प्रकार चलती थी। पालि वाङ्मय में दक्ष मालाकारों द्वारा विशिष्ट प्रकार के पुष्पहार बनाने का वर्णन मिलता है। सुगन्धियों में अधिकतर चन्दन, तगर, कालिय, भद्र, मुक्तक एवं क ष्णानुसारि का चलन था। इत्र विभिन्न पुष्पों, जैसे वस्सिका, मल्लिका, कमल एवं प्रियंगु से बनाये जाते थे। चन्दन की सुगन्धि बनाने हेतु हरिचन्दन एवं लोहित चन्दन का प्रयोग किया जाता था। इस युग का जनप्रिय इत्र सब्बसंहारक अनेक प्रकार की सुगन्धियों के सम्मिश्रण से बनाया जाता था।

इस प्रकार के दैनंदिन जीवन-यापन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध युगीन समाज मे विलासी जीवन का शुभारम्भ हो चला था। किसी भी समाज में विलासिता का अंकुर सदैव धन की प्रचुरता में ही फूटता है और बौद्ध युग एक वर्ग के पास असीम धन-सम्पदा की अतुल सम द्धि का युग था। समस्त प्रसाधनों का प्रचलन न केवल अतुल धन का ही परिचायक है, वरन् तद्युगीन नागरिकों के कला-सौष्ठव एवं श्रेष्ठ रूचि का भी अवबोधक है।

## लोक-महोत्सव

यद्यपि बौद्ध-युग पूंजीवादी परम्परा का श्रीगणेश करता है एवं धन-वैभव के प्रति नागरिकों के तीव्राकर्षण को आश्रय देता है, फिर भी धन की अभीप्सा के मध्य तद्युगीन सामजिक जीवन की सरसता नष्ट नहीं हुई थी। तद्युगीन नागरिक अपने जीवन में आनन्द-सरिता प्रवाहित करने के हेतु सदैव उत्सवों एवं समारोंहों का आयोजन करते रहते थे। भारतीय आर्य स्वभाव से मनोविनोद-प्रेमी रहे हैं। उनकी मनोविनोद-प्रियता विभिन्न लोक-महोत्सवों के आयोजन में प्रकट होती रहती थी।

बौद्ध-युगीन समाज में आयोजित उत्सवों का लक्ष्य धार्मिक एवं सामाजिक दोनों ही रहता था। उत्सवों का रूप आधुनिक मेलों जैसा होता था। धार्मिक उत्सवों का विशिष्ट अंग मुख्यतः भोजन, संगीत एवं न त्यादि होता था। हम यहां बौद्ध-युगीन समाज में आयोजित कुछ विशिष्ट उत्सवों का पर्यवेक्षण करेंगे :

## कौमुदी महोत्सव

वैदिक काल से भारत में चातुर्मास समारोह मनाया जाता रहा है। यह समारोह ऋतु-परिवर्तन का प्रतीक माना जाता था। इस उत्सव का सम्बन्ध विशेषतः ग्रामीण नागरिकों अर्थात् क षकों से होता था। बौद्ध-युग में फाल्गुन एवं आषाढ़ का चातुर्मासोत्सव इतनी धूम-धाम से नहीं मनाया जाता था, जितने उल्लास से कार्तिक पूर्णिमा का उत्सव आयोजित किया जाता था।

कार्तिक पूर्णिमा अथवा शरद् पूर्णिमा के दिन आयोजित यह उल्लासमय पर्व ही पालि निकाय में 'कौमुदी-महोत्सव' संज्ञा से अभिहित किया गया है। वर्णगत एवं स्तरगत भेदभाव से दूर, समाज के समस्त नागरिक अद्भुत उत्साह एवं उमंग के साथ इस जनप्रिय पर्व में भाग लेते थे। राजा एवं गरीब, अमीर एवं साधारण जन, ग हस्थ एवं संन्यासी, बच्चे एवं बूढ़े, स्त्रियां एवं पुरूष, विद्वान एवं मूर्ख, समाज के समस्त लोग इस महोत्सव के शुभ अवसर पर पुलकित हो उठते थे। इस दिन राजा विशिष्ट सवारी में बैठकर नगर की दिव्य ज्योति एवं अनुपम सौन्दर्य का रसास्वादन करते थे। इस महोत्सव के अवसर पर सम्पूर्ण नगर भव्यता के साथ सजाया जाता था। न केवल नगर ही, वरन् नागरिक भी विशिष्ट रूप से सजते थे। कौमुदी पर्व-दिवस सम्पूर्ण नगर का अवकाश दिवस माना जाता था। समस्त नगरवासी मनोरंजन के विभिन्न साधनों से मनोविनोद करते थे एवं नगर मे स्वच्छन्द होकर घूमते थे। यह पर्व सात दिन तक चलता था।

### सालभंजिका पर्व

यह पर्व एक निश्चित तिथि को शालवन में मनाया जाता। इस पर्व पर शालवन में पुष्पों के विपुल अम्बार के मध्य समस्त नागरिक संगीत का आयोजन करते थे एवं विभिन्न क्रीड़ाओं के द्वारा मनोरंजन किया करते थे। इस अवसर पर शालवन के प्रत्येक व क्ष पुष्पों से पूर्णतः आव त हो जाते थे। पुरूष, स्त्री, बच्चे सभी उन पुष्पों को तोड़कर विशेष आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते थे।

### सुरा-नक्षत्र पर्व

इस पर्व की मुख्य विशेषता थी - मुख्य रूप से मद्य-मांस का सेवन एवं संगीत न त्य का भरपूर रसास्वादन। इस अवसर पर सुरापान मांगलिक एवं सम्माननीय माना जाता था। इस पर्व में राजा एवं प्रजा समान रूप से मद्यपान करते थे। मद्यपान के अतिरिक्त इस पर्व पर कुछ कुत्सित घटनाएं (झगड़ा एवं मार-पीट) भी घट जाती थी। इनके बावजूद प्रत्येक वर्ष यह पर्व विशिष्ट रूप से उमंग के साथ मनाया जाता था। कहा जाता है, इस दिन तपस्वी भी सुरापान करते थे, परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता।

### हस्तिमंगलोत्सव

यह उत्सव समाज के विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित था। यह अभिजात वर्ग का अनुपम वैभवपूर्ण पर्व माना जाता था। यह समारोह राजमहल के प्रांगण की शोभा द्विगुणित करता था। इस पर्व के अवसर पर राजप्रांगण भव्य रूप से अलंक त कर, उसमें स्वर्ग परिष्टोम ध्वज एवं जाल के अलंक त हस्तियों को पंक्ति में खड़ा किया जाता था। राजा की उपस्थिति में इस समारोह का शुभारम्भ एवं विसर्जन वेदज्ञ ब्राह्मण करता था।

### कर्षणोत्सव

यह पर्व अन्नपूर्णा माता को प्रसन्न करने के निमित्त मनाया जाता था। वर्षा काल के प्रारम्भ में शुभ दिन धरती की पूजा करके राजा हल चलाता था। राजा द्वारा हल चलाने की रस्म पूरी होने पर क षक क षि कर्म प्रारम्भ करते थे।

### गिरज्ज समज्ज

यह धार्मिक उत्सव था। यह पर्व राजग ह की पहाड़ी पर आयोजित किया जाता था। इस अवसर पर इस पहाड़ी के ऊपर अपार जन-समूह एकत्र होता था। इस पर्व में राजपरिवार के लोग भी सम्मिलित होते थे। इस पहाड़ी पर देवता का निवास माना जाता था, अतः उनके सम्मुख संगीत न त्यादि का आयोजन होता था। इस मंगल पर्व का स्वरूप मेले जैसा ही होता था।

### मनोरंजन के अन्य साधन

इन पर्वो के अतिरिक्त भी यदा-कदा मेले आदि का आयोजन होता रहता था। इन मेलों की विशेषताएं होती थी - संगीत, नाटक, न त्य, नटकर्म, समूह-गान एवं नर्तन, हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, मल्लयुद्ध, महिषयुद्ध, व षभयुद्ध, मुष्टियुद्ध, लाठी युद्ध, मुर्गो की लड़ाई आदि। इन युद्धों का आयोजन कभी-कभी राजप्रसाद के प्रांगण में भी होता था। मेले कभी-कभी हफ्ते भर और कभी-कभी महीनों चलते थे। जितने दिनों मेले की धूम रहती, नगरवासी भरपूर आनन्द मनाते, विशिष्ट भोजन इष्ट मित्रों को खिलाते एवं घूमते-घामते थे। इस प्रकार वर्ष भर किसी न किसी पर्व, उत्सव या समारोह का आयोजन होता रहता था। यद्यपि यह युग भौतिक युग का प्रवेश काल माना जाता है। और इस युग में अर्थ लोलुपता, भौतिकता एवं लौकिक आनन्द का महत्त्व अधिक बढ़ गया था, फिर भी विभिन्न उत्सवों का आयोजन जहां एक ओर आनन्द की धारा

प्रवाहित करता था, वहां सर्वमान्य जनों में आध्यात्मिक चेतना भी जाग त करता रहता था, साथ ही सामाजिक एकता एवं समानता की डोर भी मजबूत हुआ करती थी।

यहां एक बात अवश्य ही ध्यान में रखनी होगी कि यह सब साज श्र गांर शान शौकत का वर्णन है वह एक विशिष्ट वर्ग अर्थात् अभिजात वर्ण का ही चित्रण है।

### शिक्षा

बौद्ध युगीन शिक्षा प्रणाली एवं प्राचीन शिक्षा पद्धति में बहुत अधिक साम्य था। गौतम बुद्ध के सभी नियम स्व-निर्मित नहीं थे, वरन् हिन्दू धर्म एवं संन्यासियों के नियमों से भी संग्रहीत थे। फिर भी बौद्धयुगीन शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन पद्धति की परिचायक है। संघ बौद्ध-संस्क ति के मूल केन्द्र थे। उन्हीं संघों में तद्युगीन शिक्षा पल्लवित और पुष्पित हुई थी।

### शिक्षा का उद्देश्य

बौद्ध युगीन शिक्षा का उद्देश्य वैदिक शिक्षा के समान मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति कराना था। शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थी के हृदय एवं मानस से अविद्या अथवा अज्ञान का मल दूर करना होता था। इसी कारण मज्झिमनिकाय में स्नातक का अर्थ 'स्नान किया हुआ' माना गया है, अर्थात् जिस प्रकार जल से स्नान करने पर आन्तरिक मल दूर होता है। अज्ञान रूपी मल के साफ होने पर ही शिक्षार्थी 'स्नातक' कहलाने का अधिकारी होता था। आज के समान तद्युगीन समाज में स्नातक का अर्थ केवल उपाधि ग्रहण कर लेना ही नहीं माना जाता था, वरन् स्नातक को वास्तविक अर्थों में सत्य का खोजी एवं बोधक बनाया जाता था, क्योंकि व्यक्ति से ही स ष्टि की रचना मानी जाती थी। समष्टि के निःश्रेयस् के द ष्टि में रखकर तद्युगीन समाज में व्यक्ति विशेष की सम्यक् शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। तद्युगीन शैक्षिक उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए अल्टेकर महोदय लिखते हैं, ''प्राचीन काल के आचार्य अपने पेशे की पवित्रता का पूरा निर्वाह करते थे। उस काल में आज की भांति धन एवं सम्मान परस्पर सम्बद्ध नहीं माने जाते थे। तद्युगीन शिक्षक भी त्यागी होते थे। उनके त्यागमय जीवन से ही शिक्षा का स्वरूप ओजमय, प्राणमय एवं जीवन्त हो सका था। शिक्षा के महत्त्व को समझते हुए राज्य भी शिक्षण संस्थाओं, शिक्षक एवं शिक्षार्थी को सहायता देते थे।''

बौद्ध शिक्षा का परम लक्ष्य सामुदायिक उत्कर्ष की भावना से बालकों में आरंभ से ही मानव-कल्याण एवं विश्वबंधुत्व का भाव जाग त करना था। बौद्ध शिक्षा आचरण पर अधिक बल देती थी क्योंकि आचरण को ही सत्य-प्राप्ति का आधार माना जाता था।

### शिक्षण संस्थाएं

जिस प्रकार ब्राह्मण-शिक्षा के मूल केन्द्र गुरूकुल थे, उसी प्रकार बौद्ध शिक्षा के केन्द्र बौद्ध संघ थे। गुरूकुल के समान संघ भी नगरीय कोलाहल से दूर एकान्त में प्रतिष्ठित होते थे। इन संघों के स्थायी आवास-ग ह 'संघाराम' एवं 'विहार' कहलाते थे। अधिकतर ये विहार श्रेष्ठि-जनों द्वारा संघ को दान किए जाते थे। इन्हीं विहारों एवं 'आरामों' में शिक्षा का आदान-प्रदान होता था। बौद्ध युगीन शिक्षा युगीन शिक्षा केन्द्रों में राजग ह का वेणुवन विहार, वैशाली की कूटागारशाला एवं आम्रवन विहार, कपिलवस्तु का न्यग्रोधाराम एवं श्रावस्ती का जेतवन विहार प्रसिद्ध थे। इस युग मे एक ओर ब्राह्मणों के आश्रम अथवा गुरुकुल पनप रहे थे, तो दूसरी और बौद्धों के विहार भी सुरभित हो रहे थे। इन विहारों में गुरु एवं शिष्य साथ-२ रहकर आध्यात्मिक एवं लौकिक विषयों पर ज्ञान का आदान-प्रदान करते थे।

## तक्षशिला विद्याकेन्द्र

इस युग का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र तक्षशिला का विद्यालय माना जाता था। यहां के आचार्यो की न केवल सम्पूर्ण भारत में वरन् विदेशों में भी प्रसिद्धि थी। वाराणसी, राजग ह, मिथिला एवं उज्जयिनी आदि सुदूरवर्ती नगरों से शिक्षा के जिज्ञासु तक्षशिला में ज्ञानार्जन के हेतु पहुंचते थे। पालि साहित्य में इस विद्याकेन्द्र का बहुल वर्णन मिलता है। इस शिक्षा-केन्द्र में न केवल ब्राह्मण वरन् बौद्ध भी जाते थे। यद्यपि तक्षशिला में आधुनिक विश्वविद्यालयों के समान उच्च अट्टालिकाओं का समूह नहीं था, वरन् वहां आचार्यो का आवास ही संस्था का स्वरूप था। वैसे, तक्षशिला विद्या केन्द्र के अन्तर्गत अनेक विद्यालय थे - वैदिक विद्यालय, अष्टादश विद्यालय, शिल्पविज्ञान विद्यालय, सैनिक विद्यालय, ज्योतिष एवं आयुर्वेदिक विद्यालय आदि। ये समस्त विद्यालय आचार्यो के आवास पर ही संगठित थे। वहीं पर शिक्षक एवं विद्यार्थी अलग-२ रहा करते थे। जातकों में तो एक-एक उपाध्याय द्वारा 500 छात्रों तक को एक साथ पढ़ाने का विवरण मिलता है। साधारणतः प्रत्येक विद्यालय में 5-5 सौ छात्र अध्ययन करते थे, परन्तु प्रमुख आचार्यो के पास साधारणतः 100 विद्यार्थी ही रहते थे।

जो विद्यार्थी गुरु के साथ रहते थे, वे अपने गुरु को शिक्षा शुल्क देते थे। धनाढ्य एवं सम द्ध परिवार के छात्र धनराशि या सम्पत्ति के रूप में शुल्क देते थे, परन्तु गरीब छात्र सेवा एवं श्रम के रूप में गुरु-दक्षिणा चुकाते थे। गुरु के आवास पर छात्रों के भोजन, आवास एवं अध्ययन, सबकी सुविधा रहती थी। श्रम के रूप में गुरु का शुल्क चुकानेवाले छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था रात्रि में होती थी, क्योंकि दिन के समय वे गुरु की सेवा में व्यस्त रहते एवं भिक्षाटन करते थे।

इस शिक्षा-केन्द्र में वर्णगत भेदभाव नहीं था। इन विद्यालयों में राजकुमार, क्षत्रिय, ब्राह्मण, श्रेष्ठि-पुत्र एवं मछुआरों आदि के पुत्र समान रूप से शिक्षा प्राप्त करते थे। यदि प्रतिबन्ध था, तो केवल चाण्डालों पर ही था।

## उपाध्याय (उपज्झाय)

बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत गुरु 'उपज्झाय' कहलाता था। यह संस्क त शब्द 'उपाध्याय' का ही पर्याय या रूपान्तरण है। बौद्ध शिक्षा-पद्धति में पेशेवर) शिक्षक को 'आचारय' एवं आध्यात्मिक गुरु को 'उपज्झाय' (उपाध्याय) कहा गया। इस पद्धति से उपज्झाय को 'आचारिय' से श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत् इस व्यवस्था के विपरीत पेशेवर शिक्षक 'उपाध याय' आध्यात्मिक गुरु 'आचार्यः से श्रेष्ठतर माना जाता था। बौद्ध व्यवस्थानुसार 'उपाज्झाय' पद के हेतु गुरु के लिए दस वर्ष का भिक्षु जीवन एवं साधना सिद्धि आवश्यक मानी जाती थी, परन्तु 'आचारिय' के हेतु केवल छह वर्ष का भिक्षु-जीवन ही पर्याप्त माना जाता था।

## उपज्झाय के कर्त्तव्य

पालि साहित्य में जहां शिष्यों के कर्त्तव्यों की दीर्घ श्र ंखला का वर्णन मिलता है, वहां गुरु के कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। उपज्झाओं का यह परम एवं पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था कि वे अपने शिष्यों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करें एवं शिष्य के उत्थान की ओर सजग रहें। शिष्य की प्रत्येक सुविधा का ध्यान रखना एवं उसकी व्यवस्था करना गुरु का ही धर्म माना जाता था। विनयपिटक में स्पष्ट उल्लेख मिलता है, ''उपाध्याय को शिष्य पर....अनुग्रह करना चाहिए. ....। (शिष्य के लिए) उपदेश देना चाहिए.....। पात्र देना चाहिए.....। यदि उपाध्याय को चीवर, शिष्य को नहीं ...(तो उसे) चीवर देना चाहिए, या शिष्य को चीवर दिलाने के लिए उत्सुक होना चाहिए। ....यदि शिष्य रोगी हो तो उसे पात्र धोकर देना चाहिए। ...शिष्य के उठ जाने पर आसन उठा लेना चाहिए। सुपात्र अथवा योग्य और निर्धन विद्यार्थी को निशुल्क पढ़ावे आदि-आदि।

शिष्य (सद्विविहारिक) गुरु की भांति शिष्य के गुरु के प्रति कर्तव्यों का भी समकालीन साहित्य

में विवरण मिलता है। सद्धिविहारिक अर्थात गुरु के पास वास करने वाला शिष्य का कर्तव्य है कि वह अपने गुरु की सेवा करे। विनयपिटक के अनुसार उपाध्याय अर्थात गुरु को दातुन देनी चाहिए, मुख धोने को जल देना चाहिए। गुरु के उठ जाने पर आसन उठाकर रख देना चाहिए .....। स्नान करना चाहे तो स्नान कराना चाहिए.....। जैसे विहार में उपाध्याय विचरण करते हैं यदि विहार मैला है तो साफ करना चाहिए। गुरुजनों का सत्कार एवं सेवा शिष्यों का परम् कर्तव्य एवं पुनीत धर्म माना जाता था।

**अध्ययन के विषय :-**

इस काल में छः विषयों का अध्ययन किया जाता था। (1) वेद (2) वैदिक साहित्य-षडवेदांग (3) ब्राह्मण संहिता, उपनिषद (4) ग हसूत्र तथा धर्म सूत्र (5) अन्य विषय जैसे धर्मविधियों का पद्यमय वर्णन (6) लौकिक साहित्य-अर्थशास्त्र शिल्प एवं वार्ता।

बौद्ध विहारों में बौद्ध दर्शन तथा पालिभाषा की पढ़ाई पर बल दिया जाता था जबकि ब्राह्मण शिक्षा केन्द्रों में संस्कृत पर। इस काल में शिक्षा प्रणाली में शिल्प शिक्षा को प्रमुखता मिली। इस काल मिलिन्दपन्हों में 19 शिल्पों का वर्णन है। इन शिल्पों के अतिरिक्त वैद्यक मन्त्रविद्या, सर्प वशीकरण आदि की शिक्षा दी जाती थी। शिल्प-शिक्षा दोनों ही शिक्षा पद्धतियों में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी।

इस काल में बोद्ध में एवम ब्राह्मण दोनो ही शिक्षा पद्धति साथ-साथ ही पनप रही थी हालाकिं दोनो में कुछ समान्ताऐं एवम् कुछ असमानताऐं थी जैसे बोद्ध शिक्षा समूह प्रधान थी, ब्राह्मण व्यक्ति प्रधान माना जाता है। बोद्ध शिक्षण सस्थाओं में आमतौर पर भेदभाव नहीं माना जाता था। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में था। परन्तु दोनो ही गुम शिष्य के पुत्र-पित व्रत सम्बधों पर बल दिया गया है।

**धार्मिक स्थिति**

**नऐ धार्मिक विचारों का उद्गमः-**

किसी भी काल के धार्मिक विचार उस युग की प्रचलित राजनैतिक, सामाजिक एवम् आर्थिक परिस्थितियों की देन होती हैं। इस काल में बुद्ध एवं जैन धर्म का उदय प्रचलित सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों की ही उपज थे। नवीन धार्मिक विचारों को इसलिए प्रचलित धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था के परिपेक्ष में बेहतर समझा जा सकता है।

**इस काल के नए समाज के संदर्भ वैदिक धर्म पद्धति :-**

(i) जटिल तथा अर्थ-विहीन हो गई थी। बलि एवं अनुष्ठान अक्सर बड़े पैमाने पर आयोजित किए जाने लगे। बड़े समुदायों के बिखरने के साथ-साथ इनके आयोजनों में लोगों की भागीदारी कम हो गई और समाज के कई समूहों के लिए अर्थहीन हो गई।

(ii) बलि-यज्ञों तथा अनुष्ठानों के बढ़ते महत्व ने समाज में ब्राह्मण समुदाय के प्रभुत्व को स्थापित किया। वे पुजारी तथा अध्यापक, दोनों का कार्य करते थे और धार्मिक अनुष्ठानों के आयोजन पर अपने एकाधिकार के कारण वे चार वणोर्ं में विभाजित समाज में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

(ii) समकालीन आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में भी नए सामाजिक समुदायों के उद्भव में मदद की। ये समुदाय आर्थिक रूप से सम्पन्न थे। शहर में रहने वाले व्यापारियों तथा अमीर खेतिहर समुदायों के पास प्रचुर सम्पत्ति थी। क्षत्रिय समुदाय, चाहे वे राजतंत्र में हो चाहे गणतन्त्र में, के हाथ में पहले से अधिक राजनैतिक शक्ति थी। ये सामाजिक समुदाय उस सामाजिक

व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, जो ब्राह्मणों ने वंश के आधार पर निर्धारित की थी। बौद्ध मत तथा जैन मत ने जन्म के आधार पर सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को कोई महत्व नही दिया जिसके कारण वैश्य इन सम्प्रदायों की ओर आकर्षित हुए। इसी तरह से ब्राह्मणों के प्रभुत्व से क्षत्रिय समुदाय अर्थात शासक वर्ग भी नाराज था। संक्षेप में, समाज में ब्राह्मण की सर्वोच्चता ने असंतोष उत्पन्न किया और इसी ने नवीन धार्मिक विचारों के उदय में सामाजिक सहयोग प्रदान किया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि दोनों बुद्ध तथा महावीर क्षत्रिय समुदाय से थे। मगर जटिल सामाजिक समस्याओं से जूझते हुए वे जन्म द्वारा निर्धारित सीमाओं को पार कर गए। जब हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि उस समय के समाज में इनके विचार कितने लोकप्रिय हुए तो हम पाते हैं कि राजाओं, बड़े व्यापारियों, अमीर ग हस्थों, ब्राह्मणों तथा वेश्याओं ने भी इनके विचारों के प्रति उत्साह दिखाया।

प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों की आलोचना करने वालों में बुद्ध एवं महावीर ही पहले नही थे। उनसे पहले दूसरे धार्मिक उपदेशकों जैसे कपि, मखल्लि, गोसाल, अजिता, केशंकवलिन और पकुध कात्यापन ने वैदिक धर्म में सुधार के लिए उसकी बुराईयों को उजागर किया था। उन्होंने भी ईश्वर एवं जीवन के विषय में नवीन चिन्तन प्रस्तुत किये। नए दर्शनों को भी प्रचारित किया गया। परन्तु बुद्ध और महावीर ने नये वैकल्पिक धर्मों की व्यवस्था को प्रस्तुत किया। यह वह प ष्ठभूमि थी जिसमें छठी शताब्दी ई०पूर्व में नवीन धार्मिक व्यवस्थाओं की उत्पत्ति और स्थापना हुई। इन सभी नवीन धार्मिक सम्प्रदायों में बौद्ध सम्प्रदाय तथा जैन सम्प्रदाय सबसे अधिक लोकप्रिय और अच्छी तरह से संगठित थे।

बौद्ध धर्म का मूलधार **'चार आर्य सत्य'** है। इस धर्म के सारे सिद्धान्त तथा बाद में विकसित विभिन्न दार्शनिक मत-वादों के ये ही आधार है। ये चार आर्यसत्य हैः दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध-गामिनी-प्रतिपदा(दुःख निवारक मार्ग) अर्थात **अष्टांगिक मार्ग।**

बुद्ध के अनुसार जन्म भी दुःख है, जरा (व द्धावस्था) भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है। प्रिय वियोग भी दुःख है। संसार को दुःखमय देखकर ही बुद्ध ने कहा था 'सब्बं दुःखं' अर्थात सभी वस्तुएं दुःखमय हैं।

'दुःख समुदाय' अर्थात दुःख उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। सभी कारणों का मूल है त ष्णा (पिपासा अथवा लालसा)। त ष्णा से ही आसक्ति तथा राग का उद्भव होता है। रूप, शब्द, गध ं, रस तथा मानसिक तर्क-वितर्क आसक्ति के कारण हैं। दुःख निरोध या दुःख के निवारण के लिए त ष्णा का उच्छेद या उन्मूलन आवश्यक है। संसार में प्रिय लगने वाली वस्तुओं की त ष्णा या इच्छा को त्यागना ही दुःख निरोध का मार्ग प्रशस्त करता है। अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा है। ये आठ मार्ग हैंः (1) सम्यक् द ष्टि अर्थात सत्य और असत्य तथा सदाचार और दुराचार के विवेक द्वारा चार आर्य सत्यों की सही परख, (2) सम्यक् संकल्प अथवा इच्छा तथा हिसां से रहित सकल्प करना, (3) सम्यक वाणी जिसका तात्पर्य है सदा सत्य तथा म दु वाणी का प्रयोग करना, जो धर्मसम्मत हो, (4) सम्यक् कर्म या अच्छे कर्मो में संलग्न होना, (5) सम्यक् आजीव अर्थात विशुद्ध रुप से सदाचार पालन करके जीवन व्यतीत करना, (6) सम्यक् व्यायाम अर्थात विवेक पूर्ण प्रयत्न,(7) सम्यक् स्म ति अर्थात् अपने कर्मो के प्रति विवेक तथा सावधानी को निरतंर स्मरण रखना, और (8) सम्यक् समाधि अथवा चित्त की समुचित एकाग्रता।

इस अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। बुद्ध ने अष्टागिंक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपुर्ण जीवन व्यतीत करना या अत्याधिक काया-क्लेश में सलग्न

होना-दोंनों को वर्जित किया है। उन्होनें इस संबंध में मध्यम प्रतिपदा (मार्ग) का उपदेश दिया है।

बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी है। स ष्टि का कारण ईश्वर को नही माना गया है। तर्क यह है कि यदि ईश्वर को संसार का रचियता माना जाए तो उसे दुःख को उत्पन्न करने वाला भी मानना होगा। वास्तव में बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर मानव की प्रतिष्ठा पर ही बल दिया। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में आत्मा की परिकल्पना भी नही है। अनत्ता अर्थात अनात्मवाद के सिद्धान्त के अर्न्तगत होता यह मान्यता है कि व्यक्ति में आत्मा है वह उसके अवसान के साथ समाप्त हो जाती है। आत्मा शाश्वत या चिरस्थायी वस्तु नही है जो अगले जन्म में भी विद्यमान रहे। किंतु बौद्ध धर्म में पुर्नजन्म की मान्यता है। इसी के कारण कर्म-फल का सिद्धान्त भी तर्कसंगत होता है। इस कर्म-फल को अगले जन्म में ले जाने वाला माध्यम आत्मा नही है। फिर कर्म-फल अगले जन्म का कारण कैसे होता है? इसके उत्तर में **मिलिन्द प्रश्न** में कहा गया है कि जिस प्रकार पानी में एक लहर उठ कर दूसरे को जन्म देकर स्वयं समाप्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म-फल चेतना के रूप में पुर्नजन्म का कारण होता है।

जैसे दुःख समुदाय का कारण जन्म है उसी प्रकार जन्म कारण भी कर्म-फल उत्पन्न करने वाला अज्ञान रूपी चक्र है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में '**प्रतीत्य-समुत्पाद**' (या पालि भाषा में पटिच्च सम्मुत्पाद) कहा जाता है, अर्थात 'प्रतीत्य' (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है)। इस चक्र के 12 क्रम हैं जो एक-दुसरे को उत्पन्न करने के कारण है; ये हैं (1) अविद्या (2) संस्कार (3) विज्ञान (4) नाम-रूप (5) षडायतन (6) स्पर्श (7) वेदना (8) त ष्णा (9) उपादान (10) भव (11) जाति और (12) जरा-मरण।

जीवन-चक्र के इन 12 कारणों में से प्रथम दो अन्तिम पूर्वजन्म से सम्बन्धित हैं तथा दो भावी जीवन से और शेष वर्तमान जीवन से संबंध रखते हैं। यह जीवन-मरण का चक्र म त्यु के साथ समाप्त नही होता। म त्यु तो केवल नवीन जीवन के प्रारम्भ होने का कारण मात्र है। इस हेतु चक्र का अंत करने के लिए अविद्या का अन्त आवश्यक है और ज्ञान ही अविद्या का उच्छेद करके व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाने में समर्थ है। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन तथा सिद्धान्त का मूल तत्व है। अन्य सिद्धान्त इसी में निहित हैं। जन्म के कारण-रूपी कर्म का सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है। अविद्या तथा कर्म एक-दूसरे को उत्पन्न करने में सदैव सक्रिय रहते हैं। बौद्ध धर्म का क्षग-भंग-वाद भी प्रतीत्यसमुत्पाद से ही उत्पन्न सिद्धान्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु विशिष्ट परिस्थिति तथा कारण से पैदा होती है, इसलिए संसार की सभी वस्तुएँ सापेक्ष और परिस्थिति तथा कारण विशेष पर निर्भर और इसलिए परिमित और अस्थायी हैं। इसी कारण वे क्षणिक भी हैं। इसी सिद्धान्त से नैरात्मवाद भी सिद्ध होता है। यदि संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं तो व्यक्ति की आत्मा भी क्षणिक और सापेक्ष होगी और इसी कारण वह मिथ्या भी है।

चार आर्य सत्यों के ज्ञान तथा अनुशीलन से निर्वाण की प्राप्ति मनुष्य को जरा-मरण के चक्र से छुटकारा दे सकती है। निर्वाण प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं अपना उत्तरदायित्व है। इसके लिए सत्कर्म तथा सदाचार का मार्ग अपनाना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन, अनेक पेचीदे प्रश्न-जैसे संसार नित्य तथा शाश्वत है अथवा नही- आत्मा तथा परलोक सम्बन्धी अनेक समस्याओं के बारे में मौन रहा। बुद्ध की मान्यता थी कि किसी रोग के कारण के बारे में वाद-विवाद में समय व्यर्थ करने से अच्छा है उसके उपचार का प्रयास तुरंत किया जाये। इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म अत्यंत व्यवहारिक प्रतीत होता है। निर्वाण प्राप्ति के लिए सदाचार तथा नैतिक जीवन पर बुद्ध ने अत्याधिक बल दिया। दस शीलों का अनुशीलन नैतिक जीवन का आधार है। ये दस शील हैं : (1) अहिंसा

(2) सत्य (3) अस्तेय (चोरी न करना) (4) व्यभिचार न करना (5) मद्य का सेवन न करना (6) असमय भोजन न करना (7) सुखप्रद बिस्तर पर न सोना (8) धन का संचय न करना तथा खाली है (9) स्त्रियों का संसर्ग न करना।

बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है निर्वाण प्राप्ति। निर्वाण का अर्थ है दीपक का बुझ जाना अर्थात् जीवन मरण के चक्र से मुक्त हो जाना। निर्वाण का सिद्धान्त वैदिक धर्म के मोक्ष के सिद्धान्त से भिन्न है। वैदिक धर्म के अनुसार सत्कर्मों से व्यक्ति में निहित आत्मा परब्रह्म में विलीन हो जाती है और पुर्नजन्म के चक्र से व्यक्ति छुटकारा पा जाता है। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण इसी जन्म में प्राप्त हो सकता है किंतु महापरिनिर्वाण म त्यु के बद ही सम्भव है।

## जैन धर्म

महावीर जैन धर्म के संस्थापक नही थे वरन् वे इस धर्म के अन्तिम और सर्वाधिक प्रसिद्ध तीर्थकर थे। जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक पार्श्वनाथ थे। पार्श्वनाथ ने अंहिसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह के चतुर्याम धर्म की व्यवस्था की। महावीर ने पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित किये गये ध ार्मिक विचारों को ही ज्यादातर कुछ संशोधनों और कुछ जोड़कर स्वीकार किया जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि पार्श्वनाथ ने चार सिद्धान्तों का प्रचार किया वे सिद्धान्त थे :

(1) सत्य।

(2) अंहिसा।

(3) किसी प्रकार की कोई सम्पति न रखना।

(4) गिरी हुई या पड़ी हुई सम्पति को ग्रहण न करना। इसी में महावीर ने ''ब्रह्मचर्य व्रत का पालन'' करना भी जोड़ दिया।

महावीर का विश्वास था कि आत्मा (जीव) व पदार्थ (अजीव) अस्तित्व के दो मूलभूत तत्व है। उसके अनुसार, पूर्व जन्मों की इच्छाओं के कारण आत्मा दासत्व की स्थिति में है। लगातार प्रयासों के माध्यम से आत्मा की मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यही आत्मा की अन्तिम मुक्ति या मोक्ष है। यह मुक्त आत्मा ''पवित्र आत्मा'' हो जाती है।

जैन धर्म के अनुसार, मानव अपने भाग्य का स्वयं रचियता है और वह पवित्र, सदाचारी एवं आत्म-त्यागी का जीवन का अनुसरण करके ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों (तीन गणुव्रत) का अनुसरण करके मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त किया जा सकता हैं :-

(i) उचित विश्वास

(ii) उचित ज्ञान और

(iii) उचित कार्य।

''निर्वाण'' या आध्यात्मिकता की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए उन्होंने घोर वैराग्य और कठोर तपस्या पर जोर दिया। उनका विश्वास था कि स ष्टि की रचना किसी सर्वोच्च शक्ति के द्वारा नहीं की गयी। उत्थान-पतन के अनादि नियम के अनुसार, स ष्टि कार्य करती हैं।

उसका विचार था कि सभी चेतन या अचेतन वस्तुओं में आत्मा का वास है। उसका विश्वास था कि उनका किसी थी प्रकार से उपकार करने पर वे दुःख महसूस करते हैं। उन्होंने वेदों के प्रभुत्व का तिरस्कार किया और वैदिक अनुष्ठानों तथा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का भी विरोध किया।

ग हस्थों एवं भिक्षुओं, दोनों के लिए आचार-संहिता को अनुसरणीय बताया। बुरे कामों से बचने

के लिए एक ग हस्थ को निम्नलिखित पांच व्रतों का पालन करना चाहिए।

(1) परोपकारी होना,

(2) चोरी न करना,

(3) व्याभिचार से बचना,

(4) सत्य वचन, और

(5) आवश्यकता से अधिक धन संग्रह न करना।

उन्होनें यह भी निर्देशित किया कि प्रत्येक ग हस्थ को जरूरतमंदों को प्रत्येक दिन पका हुआ भोजन खिलाना चाहिए।

उन्होंने प्रचारित किया कि छोटे पुजारियों को क षि कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि इस कार्य में पेड़-पौधे एवं जन्तुओं का अन्त होता है। एक भिक्षु को कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। उसको सभी सांसारिक चीजों का परित्याग करना होता। उसको अपने सिर के प्रत्येक बाल को उखाड़ना होता था। वह केवल दिन के समय ही चल सकता था जिससे कि किसी भी प्रकार के जीव हत्या न हो या उनको कोई भी हानि न पहुंचे। उसको स्वयं को इस प्रकार से साधना करनी होती थी कि अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण कर सके। जैन धर्म का विश्वास था कि मोक्ष प्राप्ति के लिए एक भिक्षु का जीवन अनिवार्य था और एक ग हस्थ इसको प्राप्त नहीं कर सकता था।

अनुश्रुत्तियों के अनुसार महावीर द्वारा शिक्षित किए गए मूल सिद्धान्तों को 14 ग्रंथों में संकलित किया गया था तथा जिनको ''पर्वो'' के नाम से जाना जाता है। पाटलिपुत्र की प्रथम सभा में स्थूलभद्र ने जैन धर्म को 12 ''अंगो'' में विभाजित किया। इसको श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने स्वीकार किया। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के लोगों ने यह कहकर उसे मानने से इंकार कर दिया कि सभी पुराने धर्म ग्रन्थ खो चुके है। दूसरी सभा का आयोजन वल्लुमि में हुआ और इसमें उपंगों के नाम से नयी श्रुतियों को जोड़ा गया।

12 अंगों में आचारंग सूत्र और भगवती सूत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पहले में उन नियमों का वर्णन है जिनका जैन भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए, दूसरे में जैन धर्म के सिद्धान्तों का विशद् रूप से वर्णन किया गया है।

## अन्य अनिश्वरवादी विचार

इस काल में वैदिक धर्म से भिन्न दूसरे अन्य विचार भी प्रचलित थे। बाद में यह छोटे सम्प्रदायों के रूप में सामने आये। उनमें आजीवक सम्प्रदाय के अनुयाइयों की संख्या काफी अधिक थी और वे भली प्रकार से संगठित थे।

### आजीवक

आजीवकों के विषय में कहा जाता है कि वे शूद्र सन्यासी थे। ऐसा कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक नन्द वंश था और जिसका अनुसरण किसंसकिक्षा के द्वारा किया गया। तीसरा इस धर्म का मुख्य प्रवर्तक मक्खालिपुत्र गौसाल था, जिसने इस सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाया। उसने ''कर्म'' की अवधारणा को नकारा और तर्क दिया कि मनुष्य नियति के अधीन है। आजीवक विश्वास करते थे कि किसी व्यक्ति के विचार एवं कार्य पहले ही निश्चित हो जाते है। वे विश्वास नहीं करते थे कि मानव के दु:खों का कोई विशेष कारण है या फिर इन दु:खों से

मुक्ति मिल सकती है। वे मानव के प्रयासों में भी विश्वास करते थे और उनका विचार था कि सभी प्राणी मात्र अपने भाग्य के समक्ष असहाय हैं। गोसाल ने कहा कि सभी को दुःखों से होकर गुजरना पड़ता है और इसका अन्त निश्चित चक्र को पूरा करने पर ही होता है। गोसाल के अनुयायी कोसल की राजधानी श्रावस्ती के चारों ओर केन्द्रित हो गये और वही पर वह प्रचार करते थे। महावीर से 16 वर्ष पूर्व गोसाल की म त्यु हो गई।

### अन्य विचार

चार्वाक सम्प्रदाय के लोग पूर्ण भौतिकवादी थे। उनका विचार था कि मनुष्य मिट्टी का बना है और मिट्टी में मिल जाएगा। इसलिए मानव जीवन का उद्देश्य भौतिक सुख का भोग करना होना चाहिए। पुराण कस्यप ने अक्रिय या सांख्य दर्शन का प्रचार किया। वह एक ब्राह्मण शिक्षक था और उसका मुख्य सिद्धान्त था कि कार्य गुण या दोष का निर्धारण नहीं करता। उसके अनुसार अगर कोई आदमी स ष्टि के सभी जीव-जन्तुओं का वध कर दे तब भी वह किसी पाप का भागीदार नहीं होगा। इसी भांति वह कोई पुण्य नहीं प्राप्त करेगा चाहे वह कितने भी अच्छे कार्य करे यहां तक कि वह गंगा के किनारे भी खड़ा रहे। इसी प्रकार, आत्म-नियंत्रण, दानता और सत्यवादिता उसके लिए कोई भी गुण प्राप्त करने में सहायक नहीं होगी। अजित के शकम्बलिन ने भी प्रचारित किया कि म त्यु के साथ प्रत्येक वस्तु समाप्त हो जाती है और म त्यु के बाद आगे कोई जीवन नहीं होता। वह इस बात में विश्वास नहीं करता था कि कोई अच्छा या बुरा कार्य करता है या किसी के अधिकार में उच्च तथा आलौकिक शक्तियां हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार, सांसारिक सुखों को भोगने में कोई बुराई नहीं है और वध करते में भी कोई पाप नहीं है। याकूप कात्यासायन ने अशाश्वतवाद के सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया। इसके अनुसार, सात तत्त्व हैं जो स्थिर है और जो किसी भी प्रकार से दुःख या सुख में योगदान नहीं करते। शरीर अन्ततः इन सात तत्त्वों में विलीन हो जाता है।

## नवीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव

इन नए धार्मिक विचारों के प्रादुर्भाव एवं विकास ने समकालीन सामाजिक जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन किए। इस काल में समानता के विचार का प्रसार किया गया तथा बौद्ध तथा जैन धर्म में ब्राह्मणीकल जाति व्यवस्था को कोई स्थान नही दिया गया। इन नवीन धर्मों में बिना जाति-पाति के भेदभाव के कोई भी व्यक्ति प्रवेश पा सकता था। इन धार्मिक विचारों ने ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दे डाली। बौद्ध धर्म में महिलाओं को स्वीकार करने का समाज पर एक विशेष प्रभाव यह पड़ा कि महिलाओं को पुरूषों के समान स्थान समाज में प्रदान किया।

इसी प्रकार ब्राह्मणीकल धर्म में शिल्पियों को निम्न द ष्टि से देखा जाता था। समुन्द्र यात्रा भी निन्दनीय होती थी परन्तु इन नए धर्मों ने व्यापारिक समुदाय को काफी प्रोत्साहित किया क्योंकि इन धर्मों में कर्म पर बल दिया गया था जो व्यपारिक गतिविधियों के अनुकूल थी।

इन धर्मों से प्राकृत, पाली और अर्चमगधी जैसी स्थानीय भाषाओं का विकास हुआ। क्योंकि बौद्ध और जैनियों ने अपने उपदेश इन स्थानीय भाषाओं में लिखे गए।

# अध्याय - 4
# मौर्यकालीन समाज
# (Mauryan Society)

### परिचय

मौर्यकालीन साम्राज्य की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संबंधी जानकारी के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज की इंडिका तथा अशोक के अभिलेख इनमें प्रमुख स्त्रोत है। मौर्यकाल के सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत 'अर्थशास्त्र' की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आमतौर से इसे चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री चाणक्य द्वारा चरित मानकर ई.पू. चौथी शताब्दी का बताया जाता है। परन्तु कुछ विद्वनों के अनुसार इसकी रचना एक युग काल विशेष में नहीं हुई अपितु विभिन्न शताब्दियों में हुई। इसकी संपुष्टि ट्रॉटमैन द्वारा की गई अर्थशास्त्र की शैली के सांख्यिकीय विश्लेक्षण से हो जाती है। भले ही कुछ अध्याय, जैसा कहा जाता है तीसरी-चौथी शताब्दी में लिखे गए हो परन्तु अधिकतर हिस्सा मौर्यकाल में ही लिखा गया और इससे मौर्यकालीन समाज के सभी पक्षों की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

### वर्ण व्यवस्था

मौर्यकालीन भारतीय समाज ब्राह्मणीक व्यवस्था पर आधारित था। पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रों व स्म तिकारों की भांति तत्कालीन विचारकों ने वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक मूल्यों तथा वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया। कौटिल्य के अनुसार चतुर्वण की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य था। उसके अनुसार राजा का यह कर्तव्य था कि वह सब व्यक्तियों को वर्णध ार्म के लिए बाध्य करे। लकिन कृषि और औद्योगिमी, उत्पादन कार्यों में हुई उन्नति तथा अधिशेष ने सामाजिक परिवेश में परिवर्तन के मार्ग को प्रशस्त किया और इस प्रकार परिवर्तित परिस्थितियों को परम्परागत सामाजिक ढाँचे और मूल्यों में जज्ब कर सामाजिक व्यवस्था को समयानुसार ढाला गया। तत्कालीन आवश्यकताओं को समझते हुए कौटिल्य ने स्वयं व्यवसायों में गतिशीलता तथा जातिय व्यवस्था पर आधारित व्यावसायिक कठोरता को बीमार किया कौटिल्य वर्णव्यवस्था का कट्टर समर्थक होते हुए भी उसने शूद्रों जिनका परम्परागत धन्धा उपर के वर्णो की सेवा करना था। कृषि कार्य में पर्दापण को ना केवल स्वीकार किया अपितु उनको इस के लिए प्रोत्साहित भी किया। कृषि में अतिरिक्त शिल्प एवम् व्यापारिक गतिविधियां भी शूद्रों द्वारा अपनाई जा रही थी। कृषि पशुपालन और वाणिज्य को सम्मिलित रूप से वार्ता कहा गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण एवम् वैश्य को सेना में शामिल होने की अनुमति दी है। छोटे मोटे परिवर्तनों के साथ मौर्यकालीन समाज भी चार वर्णों में बंटा हुआ था।

### ब्राह्मण

कौटिल्य स्वयं ब्राह्मण था। स्वाभाविक है कि वह ब्राह्मण वर्ण की सर्वोच्चता को स्वीकार करता। इस युग मे ब्राह्मण समाज का सर्वाधिक सम्मानप्राप्त वर्ण था। कौटिल्य ब्राह्मण (ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित एवं श्रोत्रिय) को अबध्य एवं दण्ड और कर से मुक्त मानता था। केवल राजद्रोही ब्राह्मण को प्राण-दण्ड स्वरुप जल-समाधिस्थ किया जाता था। इसके अतिरिक्त ब्रह्महत्या, सुवर्ण-स्तेय एवं सुरापान आदि गम्भीर अपराधों के हेतु ब्राह्मण के मस्तक को गर्म लोटे सेदग्ध कर देश-निष्कासन का दण्ड दिया जाता था। यूनानी लेखकों के मतानुसार भी ब्राह्मण तत्कालीन समाज में अति पूज्य समझे जाते थे। ब्राह्मण बिना मूल्य के बाजार से वस्तुओं का क्रय कर सकते थे।

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण का वर्ण-धर्म यजन-याजन एवं अध्ययन-अध्यापन है। दान एवं परिग्रह भी ब्राह्मण के धर्म में सम्मिलित माने गये थे। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण साधारण जनों के परामर्शदाता का कार्य भी करते थे। अधिकांश राजमंत्री ब्राह्मण ही होते थे। ब्राह्मण अपने इहलौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान के आधार पर दुर्भिक्ष एवं महामारी आदि से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ भी करते थे। ब्राह्मण प्रकृति सम्बन्धी विषयों (सर्वोच्च-सत्ता-सम्बन्धी) की खोज भी करते थे।

कौटिल्य ब्राह्मणों कें परधर्मानुशीलन का विरोधी था, फिर भी ब्राह्मण सेना का संकेत देता है। कौटिल्य ब्राह्मणों को क्षात्र-धर्म के अनुपयुक्त मानता था, क्योंकि ब्राह्मण स्वभाव से अहिंसक होता हैं और वे प्रणिपात-मात्र से ही पराजित किये जो सकते हैं। फिर भी हम उस युग में सिन्धु प्रदेश में एक ब्राह्मण-राज्य का अस्तित्व पाते हैं। ब्राह्मणों को परधर्मानुसरण से बचाने के लिये कौटिल्य ने राज्य के प्रति यह विधान बनाया था कि राजा दण्डहीन एवं कर-हीन ब्रह्मदेय भूमि को ब्राह्मणों में दान कर दे, जिससे ब्राह्मणों की जीविका चले।

### क्षत्रिय

क्षत्रिय-वर्ण युद्ध धर्मा माना जाता था। शासन कार्य के हेतु सर्वाधिक उपयुक्त वर्ण क्षत्रिय ही माना जाता था। इसी कारण कौटिल्य ने नवीन साम्राज्य की बागडोर क्षत्रिय नरेश चन्द्रगुप्त को सौंपी थी। कौटिल्य ने क्षत्रिय-धर्म के अन्तर्गत युद्ध एवं शासन-कार्य के अतिरिक्त अध्ययन, यजन, दान, शस्त्रजीविता एवं भूतरक्षण भी सम्मिलित किया था।

### वैश्य

वैश्य वर्ण अर्थकर्मा माना जाता था। यह देश के निमित अर्थोपार्जन के लिए उत्तरदायी माना जाता था। वैश्य वर्ण शान्तिप्रिय होता था, तभी युद्धादि के दिनों में भी यह वर्ण निश्चिन्त होकर आर्थिक अभ्युत्थान में जुटा रहता था। यह समाज का बहुसंख्यक एवं सम द्ध वर्ण था। यह उपज का चौथा भाग राजकर के रूप में देता था। कौटिल्य ने इस वर्ण को भी अध्ययन, यजन एवं दान का अधि ाकार प्रदान किया था।

### शूद्र

#### (i) कृषक

कौटिल्य की शूद्र सम्बन्धी धारण धर्मशास्त्र के अनुसार ही निश्चित थी। कौटिल्य भी शूद्र का मुख्य धर्म द्विजाति की सेवा करना मानते थे। इस सेवा-व ति के अतिरिक्त कौटिल्य ने शूद्रों के स्वतंत्र कार्य-क्षेत्र का भी विधान बनाया था। कौटिल्य ने शूद्रों कें स्वतन्त्र के प्रति इस व्यवस्था का सूत्रपात किया था कि राज्य की ओर से नये गाँव, विशेषतः शूद्रों के हेतु, बसाये जायँ। इन गाँवों

में शूद्र कृषक रखे जायँ। इन शूद्रों को राज्य की ओर से भूमि (कृषि के हेतु) एवं उपकरण प्रदान किये जायँ। इससे सिद्ध हेाता है कि मौर्य-युग में शूद्र कृषक व ति अपनाने लगे थे। यद्यपि इतिहासकार सोराबजी अर्थशास्त्र में वर्णित 'शूद्रकर्षक प्रायम' के आधार पर शूद्र एवं कृषक को अलग अलग मानते हैं, परन्तु साधारणतः शूद्र को कर्षक, कर्मकार (किराये का मजदूर) एवं शिल्पी के रूप में तद्युगीन समाज में स्थान प्राप्त था। कौटिल्य ने शूद्रों को कृषि प्रधान बनाने के हेतु यह कदम संभवतः इस कारण उठाया था कि इस व्यवस्था के द्वारा राज्य को कर प्राप्त होगा एवं भूमि का उपयोग भी होगा। कृषि कर्म करने के अतिरिक्त कृषि-क्षेत्र में मजदूरों के रूप में भी शूद्र कार्य करते थे। अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे कृषकों का उल्लेख मिलता है जो राज्य द्वारा प्राप्त भूमि उपजायी गयी उपज में हिस्सेदार होते थे। कुछ कृषक उपज के 1/2 भाग के हिस्सेदार होते थे और कुछ कृषक उपज के 1/2 या 1/4 भाग का हिस्सा लेते थे। अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्ट स्वामी ने ऐसे भागीदार कृषकों को 'ग्राम्य कुटुम्बिन' की उपाधी दी है। अर्थशास्त्र में भी वर्णित है कि नगर की सीमाओं पर कुटुम्बिनों के ग्राम बसाये जाये और यह भी संकेत मिलता है कि कुटुम्बिन पुष्प-वाटिका, शाक-सब्जी के बगीचे, चावल के खेत एवं जंगल आदि में कार्य करेंगे। गणपति शास्त्री के अनुसार कुटुम्बिन निम्नतम वर्ण अथवा शूद्र का पर्याय है एवं शामशास्त्री के मतानुसार कुटुम्बिन कर्मकारों के परिवार का परिचायक शब्द है। उपर्युक्त वर्णन इस तथ्य के द्योतक हैं कि मौर्य-युगीन शूद्र अस्थायी कृषि होते थे। शूद्र यदि ठीक से कृषि कर्म न करें तो उन्हें हटा भी दिया जाता था।

### (ii) चरवाहे

शूद्र चरवाहे का कार्य भी करते थे। राज्याधिकारी के निर्देशन में पशुओं के विशाल आगार होते थे। इन पशओं की देख रेख करने एवं उन्हें चराने के हेतु राज्य की ओर से शूद्र नियुक्त किये जाते थे। कार्य के पारिश्रमिक में शूद्रों का उत्पादित घी का 1/2 भाग मिलता था। यदि एक भी पशु खो जाये तो नियुक्त शूद्र-चरवाहे को कठोर शारीरिक दण्ड दिया जाता था।

### (iii) शिल्पी

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त शूद्रों को राज्य की ओर से जुलाहागीरी, दुकानदारी, खान खोदने, हथियार बनाने एवं धातु सम्बन्धी कार्य भी सौंपे जाते थे। इस युग में शिल्पों का कार्य-क्षेत्र भी राज्य के नियंत्रण में हो गया था। शूद्र शिल्पियों के औजार अपने होते थे परन्तु कार्य के हेतु कच्चा माल राज्य की ओर से प्राप्त होता था। मौर्य-युगीन शिल्पियों की दो कोटियाँ थीं। कुछ शूद्र राज-शिल्पी थे। ये राजधानी या बड़े नगरों में रहते थे तथा राजाज्ञा पर वस्तुएँ तैयार करते थे। ये शिल्पी सूत्राध्यक्ष के नियंत्रण में कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त शिल्प कार्यों की देखरेख के लिये पंच समिति भी नियुक्त थी। कुछ शूद्र स्वतंत्र शिल्पी थे, परन्तु इन पर भी राज्याधिकारी का नियंत्रण रहता था। राज्य की ओर से शिल्पियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखा जाता था। शिल्पियों की मजदूरी काम के अनुसार निश्चित की जाती थी। राजाज्ञा प्राप्त शिल्पी आदिष्ट वस्तु यदि समय पर एवं सुंदर रूप में तैयार नहीं करते थे, तो उनकी मजदूरी तो कम हो ही जाती थी, साथ में दण्ड-स्वरूप जुर्माना भी देना पड़ता था।

### (iii) शूद्रों की स्थिति

शूद्रों की आर्थिक स्थिति मौर्य-युग में उन्नत हो गयी थी। इससे पूर्व कभी शूद्रों को खेती के लिए अलग से भूमि नहीं मिलती थी। इस युग में शूद्रों के कार्य-क्षेत्र अधिक विस्त त और व्यवस्थित अवश्य हो गए थे, परंतु उनका रहन-सहन का स्तर पूर्ववत् ही बना रहा। कृषक शूद्रों का स्तर अवश्य सुधर गया था।

कौटिल्य शूद्रों को निम्नवर्गीय मानता था, इसी कारण प्रशासनिक क्षेत्र में शूद्रों का प्रवेश उसने वर्जित कर रखा था। राजकीय विभागों में केवल गुप्तकाल विभाग में शूद्रों की नियुक्ति की जाती थी। शूद्रा स्त्री भी गुप्तचर के रूप में काम कर सकती थी। इसके अतिरिक्त राजा के व्यक्तिगत सेवा-कार्य शूद्र-गण ही सम्पन्न करते थे। शूद्र राजकीय संवादवाहक के रूप में भी काम करते थे। अर्थशास्त्र में शूद्रों को सेना में भर्ती करने का संकेत भी मिलता है। संभवतः सेना में निम्न कार्य, जैसे सामान आदि ढोना, जानवरों की देखरेख करना आदि के लिए शूद्रों की नियुक्ति की जाती होगी।,

शूद्रों में न्याय सम्बन्धी अधिकार भी सीमित थे। शूद्रों को गवाही देने, मालिक के विरूद्ध शिकायत करने एवं मालिक के साथ भागीदार के रूप में कार्य करने का अधिकार नहीं था। अन्य वर्णों की अपेक्षा शूद्रों क प्रति दण्डव्यवस्था अति कठोर थी।

निसंदेह कौटिल्य कर द ष्टि में ब्राह्मण एवम् क्षत्रिय वर्ण का उच्च स्थान था। चूंकि शूद्रों को भी वैश्य के कार्यों को अपनाने की अनुमति प्रदान कर दी। जाहिर है इन दोनों वर्णो का अन्तर कम हो गया होगा।

कौटिल्य कालीन वर्ण व्यवस्था की कठोरता अशोक के काल में ढीली पड़ गई। कारण अशोक काल में बुद्ध धर्म का प्रचलन होना तथा अशोक की सार्वभौम-धर्म की नीति रही होगी। इसके अतिरिक्त विभिन्न अन्य धर्मों का जन्म तथा विदेशी आक्रमणकारियों का आगमन भी रहा होगा।

### वर्ण संकर तथा अन्य जातियाँ

ब्राह्मणादि चार वर्णो के अलावा कौटिल्य ने अनेकों वर्णसंकर जातियों का भी उल्लेख किया है। इनकी उत्पत्ति विभिन्न वर्णों के अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण हुई बताई जाती है। जिन वर्णसंकार जातियों का वर्णन मिलता है वे हैं अम्बष्ठ, निषाद, वेदेहक, मागध, सूत, प्रल्कस पारश्व, रथकार क्षता, वेण, चांडाल आदि। इनमें से कुछ आदिवासी जातियां थी जो निश्चित व्यवसाय से आजीविका चलाती थी। कौटिल्य ने चंडालों को छोड़कर सभी वर्णसंकर जातियों को शूद्र माना है, इनके अतिरिक्त तंतुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), दर्जी, सुनार, बढई, लोहार आदि व्यवसाय पर आधारित वर्ण थे जो अब जाति का रूप धारण कर चुके थे। अर्थशास्त्र में इन सब का समावेश शूद्र वर्ण के अन्तर्गत किया गया है। अशोक के शिलालेख में दास और कर्मकार का उल्लेख है जो शूद्र वर्ग के अन्दर समाविष्ट किए जाते थे।

### मैगस्थनीज द्वारा वर्णित जातिय व्यवस्था :-

जाति प्रथा की कुछ विशेषताओं को विवरण मैगस्थनीज की इंडिका में किया गया है। मैगस्थनीज के विवरण के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता, न वह अपने व्यवसाय को दूसरी जाति के व्यवसाय में बदल सकता है। केवल ब्राह्मणों को ही यह विशेषाधिकार प्राप्त था। धर्मशास्त्रों में भी ब्राह्मणों को आपत्तकाल स्थिति में क्षत्रिय तथा वैश्य का व्यवसाय अपनाने की अनुमति दी गई थी। मैगस्थनीज ने परम्परागत लेखकों अथवा विचाराकों से अलग हटकर भारतीय समाज को सात वर्गो में विभाजित किया है वे हैं

(1) दार्शनिक (2) किसान (3) पशुपालक अर्थात् अहीर (4) कारीगर अर्थात् शिल्पी (5) सैनिक अर्थात योद्धा (6) निरीक्षक (7) सभासद तथा अन्य शासक वर्ग अर्थात अमात्य।

### (i) दार्शनिक

यह समाज का विद्वान वर्ग था। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ण के लोग आते थे। एक ओर यह वर्ग धर्माचरण एवं प्रकृति के अध्ययन में रत रहता था, दूसरी ओर कुछ लोग राजनीति में भी भाग

लेते थे। तद्युगीन दार्शनिकों के दो रूप परिलक्षित होते हैं :

### पुरोहित वर्ग

यह वर्ग श्रम एवं कर से मुक्त माना जाता था। पुरोहित वर्ग के मुख्य कार्य थे- राजा एवं प्रजा के घरों में धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराना; उत्सवों पर पूजा करना; वर्षारम्भ में वर्ष-फल बताना एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना आदि। इन कार्यों के बदले पुरोहितों को राजा एव प्रजा से दक्षिणा प्राप्त होती थी। उनकी भविष्यवाणी में यदि कोई त्रुटि होती तो ये दण्ड तो नहीं पाते थे, परन्तु पुरोहित के कार्य से वंचित कर दिये जाते थे।

### सन्यासी वर्ग

दार्शनिकों का यह वर्ग भी दो प्रकार के उपवर्गो में विभक्त था - ब्राह्मण एवं श्रमण।

#### ब्राह्मण

ब्राह्मण समाज में बहुत ही पूज्य द ष्टि से देखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार जब ब्राह्मण गर्भ में ही होता था, तभी से माँ विद्वान् लोगों के संरक्षण में रहती थी, ताकि बालक पर अच्छे अच्छे प्रभाव पड़े। जो माँ अधिक ध्यान से सन्यासी की बातें सुनती थी, वह बालकों के सम्बन्ध ा में अधिक भाग्यशाली मानी जाती थी। जन्म के पश्चात् ब्राह्मण बालक को गुरूओं का संरक्षण मिलता था। ब्राह्मण को अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्ष अत्यंत सादगी से व्यतीत करने होते थे। ये वनकुंजों में रहते हुए म ग-चर्म पर सोते थे। ये मांस, मदिरा एवं नारी से विरक्त रहते थे। ये अपना सम्पूर्ण समय विद्यार्जन में बिताते थे। मैगस्थनीज के अनुसार ब्राह्मण इस प्रकार का जीवन 75 वर्ष तक व्यतीत करके, तब ग हस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। परन्तु, मैगस्थनीज की धारणा मान्य नहीं हो सकती। ब्राह्मणों की ब्रह्मचर्यावस्था 37 वर्ष से ज्यादा नहीं हो सकती। मनु के अनुसार 37 वर्ष ब्रह्मचर्य जीवन की सर्वाधिक सीमा है। ब्राह्मण अपना संन्यासी-जीवन ज्ञानार्जन, ज्ञान-दान एवं समाजोपकार में व्यतीत करते थे।

ब्राह्मण अपना ज्ञान पत्नियों को नहीं देते थे। उन्हें भय रहता था कि कहीं स्त्रियाँ उपनी दुर्बुद्धि के कारण ज्ञान का दुरूपयोग न करें। ब्राह्मण म त्यु को नया जन्म मानते थे। उनकी द ष्टि में जीवन-काल गर्भकाल होता है। उनकी धारणा यह रहती थी कि म त्युपरान्त ही सर्वोचानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार रखनेवाले ब्राह्मण म त्यु के आगमन की तैयारी में अति अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे। दार्शनिक ब्राह्मण दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर गूढ़ विचार करते थे। वे स ष्टि-सम्बन्धी अथवा आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी तथ्यों पर मनन करके निशिचित धारणाओं की पुनर्स्थापना करते थे। तद्युगीन दार्शनिक ब्राह्मणों ने भी पंचतत्व की कल्पना की थी। इनके विचार ग्रीक दार्शनिकों के विचारों से साम्य रखते थे।

#### श्रमण

श्रमण वर्ग के अन्तर्गत बौद्ध सम्मिलित माने जाते थे। स्ट्रैबों के अनुसार ''श्रमणों में हाईलाबियाई को सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हैं, पत्तियाँ और जंगली फल खाकर गुजर करते हैं, पेड़ों की छाल के कपड़े पहनते हैं, न मदिरा-पान करते हैं, न स्त्री-भोग। राजा अपने दूतों के माध्यम से उनसे सामयिक समस्याओं पर परामर्श लेते हैं और देवता की पूजा, आराधना करने में उनकी सहायता लेते हैं।''

इस हाईलोबियाई वर्ग के पश्चात् श्रमणों का अन्य सम्मानित वर्ग चिकित्सकों का था। ये दर्शन का अध्ययन करते और रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा करते थे। ये लोग भी संन्यासी ही थे, परन्तु समाज में ही रहते थे। इनका भोजन जौ और चावल हेाता था। ये भिक्षाटन द्वारा समाज में ही

रहते थे। समाज के अन्य लोग इन्हें अतिथि के रूप में आमंत्रित करके भी भोजन कराते थे। ये लोग पुत्र एवं पुत्री के जन्म के हेतु औषधियाँ भी देते थे। ये जीव में आहार और संयम पर बल देते थे। कुछ श्रमण योगाभ्यास भी करते थे। श्रमण वर्ग के अन्तर्गत भिक्षुणियाँ भी सम्मिलित थीं।

समाज में ब्राह्मण एवं श्रमण दानों का ही विशेष सम्माजनक स्थान था। समाज का यह सर्वोत्कृष्ट वर्ग मानाा जाता था। यह वर्ग अपनी सच्चरित्रता, पवित्रता, विद्धता एवं आध्यात्मिकता के कारण समाज में अति पूज्य था।

### (ii) कृषक

समाज की द्वितीय उल्लेखनीय जाति कृषकों की मानी जाती थी। समाज में इसी वर्ग का बहुमत था। कृषक शांत स्वभाववाले होते थे। एवं कृषि-कर्म में ही दत्तचित रहते थे। इनके आवास-स्थल मुख्यतः ग्राम ही थे। ये अपनी आवश्यकता या घूमने की द ष्टि से नगरों में आते रहते थे। इनका देश की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। युद्धकाल में भी ये लोग तटस्थ भाव से कृषि-कर्म में लीन रहते थे। एरियन के अनुसार ''ग ह-युद्ध के समय भी सैनिकों को किसानों को उत्पीड़िन करने अथवा उनके खेतों को नष्ट करने की आज्ञा नहीं होती थी। इस प्रकार एक ओर जहाँ सैनिक मार-काट मचा रहे हों, वहाँ दूसरी ओर किसानों को इन सबसे निश्चिन्त अपने खेतों में काम करते देखा जा सकता था। ये कभी हल जोतते तो कभी फसल की रखवाली करते, कभी पेड़ छाँटते तो कभी फसल काटते थे।'' इस प्रकार का विवरण बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है- ''अपने विरोधियोंके मत का खण्डन करते समय दार्शनिकों को तर्कशास्त्र में उन सिद्धान्तों का सावधानीपूर्वक सम्मान करना चाहिए, जो सभी के लिए उपयोगी हों, ठीक वैसे ही जैसे राजा अपने शत्रु सैनिकों का संहार तो करते हैं, किन्तु कृषक-मजदूर का सम्मान करते हैं, जो दोनों ही सेनाओं के लिए समान रूप से सहायक होते हैं।

कृषक राज्य कर भी दिया करते थे, क्योंकि ये राष्ट्रीय भूमि का उपयोग करते थे। एरियन के अनुसार 'कृषक खेती करते हैं और राजा तथा स्वतन्त्र नगरों को कर देते हैं' डायोडोरस के अनुसार ''राजा को इस कारण कर देते हें क्योंकि समस्त भूमि राजा की सम्पत्ति है। भूमि-कर के अतिरिक्त ये लोग अपनी पैदावार का 1/4 भाग भी राजकीय अन्नकोश में दिया करते थे। स्ट्रैवो के शब्दों में, ''सारी जमीन राज्य की है तथा किसान इसमें खेती करते हैं और मजदूरी के बदले पैदावार का चौथाई हिस्सा लेते हैं। कृषक कर्म पर राजकीय एजेन्सियाँ पूरा ध्यान रखती थी।'' आर्थिक द ष्टि से समाज का यह वर्ग विशेष महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। यह वर्ग अर्थ-कोश का आधार स्तम्भ था।

### (iii) पशुपालन एवं शिकारी

यह वर्ग खानाबदोशों का जीवन-व्यतीत करता था। ये खेतीं को हानि पहुँचाने वाले पशु-पक्षियों तथा कीड़े-मकौडों को नष्ट करते थे। उन्हें कृषकों एवं राजा से अन्न मिलता था। राजकर के रूप में पशु प्रदान करते थे।

### (iv) दस्तकार

व्यापारी एवं हाथ की कलाओं में कुशल लोग इस वर्ग में सम्मिलित किए जाते थे। यह वर्ग भी राजकर प्रदान करता था। इस वर्ग में शस्त्रकार एवं पोतकार करों से मुक्त थे। इन दो प्रकार के दस्तकारों को राज्य से आर्थिक सहायता भी मिलती थी। यह वर्ग देश की सम द्धि में पर्याप्त सहयोग दिया करता था।

### (v) योद्धा

देश की रक्षा करने का दायित्व इसी वर्ग पर रहता था। शान्तिकाल में आनन्दमय जीवन जीनेवाले योद्धा युद्ध कला में तन मन से राष्ट्र के हित में प्राण त्यागने को तैयार रहते थे। संख्या की द ष्टि से कृषक जाति के बाद समाज में इसी वर्ग का स्थान था। यह वर्ग बहुत अधिक वेतन पाता था। ये राष्ट्र के सैनिक एवं कर्णधार थे। यह वर्ग राज्य की ओर से समस्त सुविधाओं से सम्पन्न रहता था।

### (vi) मंत्रीगण

यह राजकीय कर्मचारियों का वर्ग था। इस वर्ग के अन्तर्गत महामात्य और अध्यक्ष आदि सम्मिलित थे। ये राज्य के विभिन्न विभागों की व्यवस्था एवं संचालन करते थे। इस वर्ग के अन्तर्गत समाज की बहुत थोड़ी संख्या आती थी।

### गुप्तचर

ये राज्य की छोटी-छोटी सूचनाएँ राजा तक पहुँचाते थे। गणिकाएँ इनकी सहायता करती थीं। ये गुप्तचर सर्वप्रथम मजिस्ट्रेटों को सूचना देते थे, तद् अन्तर मजिसट्रेट राजा तक सूचना पहुँचाते थे।

इन विभिन्न जातियों के साथ जाति-परिवर्तन एवं विवाह सम्बन्धी कठोरता थी। मैगस्थनीज के अनुसार किसी को अपनी जाति के बाहर विवाह करने का अधिकार नहीं था और न ही कोई व्यक्ति अपनी जाति तथा व्यवसाय को परिवर्तित कर सकता था। डायोडोरस के अनुसार '' इस प्रकार ये ऐसे अंग हैं, जिनमें भारत की जनता विभक्त थी, किसी को अपने वर्ग से बाहर विवाह करने की इजाजत नहीं थी और न ही कोई अपने वर्ग का व्यवसाय छोड़कर दूसरा व्यवसाय अपना सकता था। उदाहरण के लिए एक सैनिक को कृषक बनने की आज्ञा नहीं थी और न एक दस्तकार दार्शनिक की बन सकता था।'' एरियन ने इस मत को सुधारते हुए कहा ''दार्शनिक किसी वर्ग का हो सकता है, क्योंकि दार्शनिक का जीवन सरल नहीं है। यह सबसे कठिन है। स्ट्रेबो भी यह मानता है कि दार्शनिक अपने उच्च गुणों के कारण इन सबसे मुक्त है। अतएव केवल ब्राह्मण वर्ग ही स्वधर्म-पालन एवं विवाह के सीमित बन्धन से मुक्त थे।

नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार ''यह स्पष्ट हो जाता है कि मेगस्थनीज जाति-व्यवस्था का ही उल्लेख कर रहा था। किन्तु कतिपय वर्गो के, विशेषतः छठे या सातवें वर्ग के, प्रसंग में इन निषेध ों का कोई मतलब नहीं होता। या तो उसे चातुर्वर्ण व्यवस्था का पता न था या वह अन्य यूनानी लेखकों की ही भांति मिस्र और भारत की सामाजिक व्यवस्था में सात स्पष्ट वर्गो के लोभ में फँस गया।'' मिस्र वाले भी सात स्पष्ट वर्गो (1) पुरोहित (2) योद्धा (3) गोपालक (4) शूकरपालक (5) व्यापारी (6) दूभाषिये (7) नाविक बंटे हुए थे।

मेगस्थनीज भारतीय जाति व्यवस्था को ठीक से समझ नहीं पाए तथा कुछ सामाजिक, आर्थिक एवम् सरकारी वर्गो के अन्तर को समझे बिना एक साथ मिलाकर जातियों का नाम दे दिया। रोमिला थापर का भी यही विचार है कि मैगस्थनीज भारतीय जाति व्यवस्था से भ्रमित हुआ प्रतीत होता है वह आगे कहती है कि यह वर्गीकरण आर्थिक दिखाई देता है सामाजिक नही या फिर उसके दिमाग में मिस्त्री समाज व्यवस्था थी जो कि सात वर्गो में बंटी थी। और फिर स्ट्रेबो, एरियन, प्लिनी आदि लेखकों का मानना है कि मैगस्थनीज ने भारत की कभी दूर तक यात्रा नहीं की और दरबार में रहकर ही सुनी सुनाई बातों का वर्णन कर दिया। इसलिए मैगस्थनीज की बजाय कौटिल्य की रचना अर्थशास्त्र मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था का अधिक विश्वसनीय चित्रण करता है।

## दास प्रथा

मैगस्थनीज के अनुसार भारत में दास प्रथा विद्यमान नहीं थी उसके अनुसार लैम्डेयोनियायी हैलेटों को अपने यहां दास रखते थे और दासों की तरह उनसे श्रम करवाते थे किंतु भारतीय विदेशियों को भी दास नहीं बनाते थे और अपने देशवासी को तो कदापि नहीं। एरियन भी मैगस्थनीज के मत पर अपना मत देते हुए कहता है कि सभी भारतीय स्वतन्त्र है। और उनमें से कोई भी दास नहीं है। परन्तु भारतीय साक्ष्य यूनानी साक्ष्यों के विपरीत मौर्ययुगीन भारत में दास प्रथा के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। अशोक के अभिलेखों से दास सेवकों और भ त्यों तथा अन्य प्रकार के श्रम जीवियों के उल्लेख मिलते हैं। अर्थशास्त्र में तो दास प्रथा का विस्त त विवरण मिलता है। वास्तव में भारत में व्यापक दास प्रथा उस दास प्रथा की तुलना में जिससे यूनानी परिचित थे बिल्कुल भिन्न थी। पाश्चात्य देशों के मुकाबले में यहां दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। अशोक भी अपने अभिलेखों में दासों के साथ सदव्यवहार की बात करता है। कौटिल्य ने शूद्रों को भी जन्म से आर्य (आर्यप्राण) बताया है और अर्थशास्त्र के अनुसार किसी भी आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता। किनकों दास बनाया जा सकता था तथा दासों के कितने प्रकार हैं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट हो जाता है। अर्थशास्त्र आठ प्रकार के दासों का वर्णन करता है जैसे आत्मविक्रयी (जो परिस्थिति वश अपने को बेचकर दास बन जाते हैं); उदर दास (जो पेट पालने के लिए अपने को बेच देते थे); ध्वजाहृत दास (युद्ध में बन्दी होने के कारण बनाए गए दास); दण्ड प्रणीत दास (दण्ड होने पर बनाए गए दास)।

## दास-कर्म

दास अधिकांशतः शूद्र-वर्णीय होते थे। ये कृषि के हेतु मजदूरी पर नियुक्त किये जाते थे। राज्य कभी-कभी दासों को भूमि जोतने एवं बोने के लिए दिया करता था, साथ ही कृषि के समस्त उपादान भी प्रदान करता था। दास कभी-कभी बढ़ई एवं लोहार आदि का कार्य भी करते थे। अतः यह निशिचित है कि ये दास शिल्प-कर्म भी करते थे। दासे कम्मकार सीताध्यक्ष के निरीक्षण में कार्य करते थे। रामशरण शर्मा के मतानुसार ''मौर्य साम्राज्य दासों को नियुक्त करने एवं काम देनेवाला सबसे बड़ा रोजगार विभाग था।'' स्त्री-दासियाँ अधिकांशतः घरों में कार्य करती थीं। राजमहल एवं धनाढ्य जन भी अपने घरों में दासों को नौकर के रूप में रखते थे। सैन्य विभाग में भी अश्व, हस्ति आदि की देख भाल करने के लिए दासों की नियुक्ति की जाती थी। अतः सेना में दास सिपाही के रूप में नहीं, चाकर के रूप में भी नियुक्त किये जाते थे।

## दासों की मजदूरी

दास-वर्ग मौर्य युग में कर-रहित माना जाता था। दास अपने श्रम का एवज अथवा वेतन पाते थे। दासों को वेतन धन एवं धान्य दोनों रूपों में मिलता था। उस युग में खेतिहर मजदूर (दास) की मजदूरी भोजन-सहित 2/3 माषक मिलती थी। कौटिल्य के अनुसार कृषि-कर्म में नियुक्त दास को अनाज का 1/10 भाग, पशुपालक को मक्खन का 1/10 भाग एवं व्यापार चाकर को लाभ का 1/20 भाग प्राप्त होता था। कौटिल्य के अनुसार ही ''अध्यक्ष के भण्डार-ग ह में सहायता करनेवाले दास को मजदूरी में चावल मिलना चाहिए।''

## दासों की स्वतंत्रता

कौटिल्य ने दासों से गर्हित कार्य कराने का निषेध कर रखा था। उन्होंने दास-दासियों से मुर्दा ढोने, मल-मूत्र साफ करने, उच्छिष्ट भोजन की सफाई करने एवं नग्न-स्नान के समय दासी से कार्य लेने की मनाही कर रखी थी। दास आर्थिक अधिकार से सम्पन्न होते थे। मौर्य-युग में दासों की स्थिति इतनी हेय एवं दयनीय नहीं थी। वे भली प्रकार खुशहाल थे। उनके रहने के हेतु राज्य

की ओर से प थक् दास ग्राम बनाये जाते थे।'' दासों को शिक्षा प्राप्त करने एवं धार्मिक दास प्रथा का चलन नहीं है। मैगस्थनीज के अनुसार ''लैक्डेमोनियायी हैलेटों को अपने यहाँ दास रखते थे और दासों की तरह उनसे श्रम कराते थे, किन्तु भारतीय विदेशियों को भी दास नहीं बनाते थे और अपने देशवासी को तो कदापि नहीं।''

यूनानी साक्ष्यों के विपरीत भारतीय साक्ष्य मौर्य-युगीन भारत में दासों के अस्तित्व से भली भांति परिचित प्रतीत होते हैं। अर्थशास्त्र, स्म तियाँ एवं अशोक के लेख दास प्रथा के प्रचलन के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय जन अपने दासों के साथ अमानवीय व्यवहार नहीं करते थे, तभी यूनानी लेखकों को दासों का अस्तित्व प्रतीत नहीं हुआ।'' समयुगीन देशों में दासों का स्वरूप गुलाम जैसा था, भारत में गुलामों का अभाव था। यहाँ पर दास का रूप कम्मकार अथवा मजदूर के समान था। भारत में दासों से निम्नतम् एवं अस्वच्छ कार्य नहीं कराये जाते थे। वे कृषि एवं ग हस्थी के विभिन्न कार्यों में सहायता करते थे। यहाँ दासों का स्वरूप चाकर जैसा था। वे आर्थिक स्वतन्त्रताओं से सम्पन्न थे एवं अपनी सम्पत्ति के मालिक होते थे। उस युग में दासों की इस प्रकार की सुख-सुविधा एवं स्वतन्त्रता को देखकर ही, यूनानी लेखकों को भारतीय दास वास्तविक अर्थो में अथवा गुलाम के अर्थ में दास प्रतीत नहीं हुए थे।''

### दास एवं स्वामी

दासों के प्रति दुर्व्यवहार मौर्य-युगीन में अपराध माना जाता था। जो मालिक दास से निम्नतम् कार्य कराता था, उसे दास के क्रय-मूल्य से वंचित होना पड़ता था। यदि कोई स्वामी अपनी दासी के साथ बलात्कार करता था तो उसे न केवल क्रय-मूल्य से ही वंचित किया जाता था, बल्कि उसे दण्ड-स्वरूप शुल्क भी देना होता था। तद्युगीन समाज में मलेच्छ अपनी सन्तान का विक्रय कर सकता था, परन्तु कोई किसी आर्य को दास नहीं बना सकता था।

इस प्रकार अधिकतर दास घरेलु कार्य करते थे और परिवार के सदस्यों की भांति रहते थे और कोई भी दास अपनी मेहनत, विवेक और लग्न के बलबूते पर स्वतन्त्र हो सकता था जैसा कि समकालीन स्त्रोत बार बार इस बात का प्रमाण देते हैं। कुल मिला यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौर्य समाज ने दासों की स्थिति अधिक अच्छी तो नहीं थी परन्तु सम्मानजनक स्थिति में थी।

### स्त्रियों की स्थिति

परिवार में स्त्रियों की स्थिति स्म तिकाल की अपेक्षा अधिक सुरक्षित थी। उन्हें पुर्नविवाह और नियोग की अनुमति थी थी परन्तु फिर भी मौर्यकाल में स्त्रियों की दशा बहुत संतोषजनक नही थी। प्रायः स्त्रियाँ घरों में ही रहती थी। उन्हें बाहर जाने की स्वतन्त्रता नहीं थी और पति की इच्छा के विरूद्ध कोई कार्य नहीं कर सकती थी। संभ्रात घर की महिलाएं प्रायः घर के अन्दर ही रहती थी ऐसी स्त्रियों को कौटिल्य ने 'अनिष्कासिनी' कहा है। डा. भण्डारकर के अनुसार मौर्यकाल में पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मौर्यकाल में स्त्रीप्रथा प्रचलित होने का भी कोई प्रमाण नहीं है इस समय के धर्म शास्त्र भी इसके विरूद्ध थे। बौद्ध और जैन श्रुतियों में भी इसका उल्लेख नहीं है परन्तु यूनानी लेखकों ने उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में सैनिकों की पत्नियों का सती होने का उल्लेख है जिससे ऐसा लगता है कि उसी क्षेत्र के जनजातियों के योद्धा वर्ग की स्त्रियों में सती प्रथा प्रचलित रही होगी। पति के दुराचारी तथा नपुंसक होने पर स्त्रियों का उन्हें तलाक देने का अधिकार भी था। इन कुछ एक राहतों के बावजूद भी कुल मिलाकर उसे केवल संतान उत्पन्न करने और पति की सेवा करने का साधन मात्र समझा जाता था। कौटिल्य स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के हक में भी नहीं था। मैगस्थनीज के अनुसार ब्राह्मण स्त्रियों

को दार्शनिक ज्ञान देने के पक्ष में नहीं था। इन प्रतिबन्धों के बावजूद महिलाएं विभिन्न कार्यो में संलग्न थी।

### पत्नी के रूप में

संयुक्त परिवार में पत्नी का महत्व तो निःसन्देह था ही, परन्तु उसकी स्वन्त्रता एवं सुविधाएँ बहुत ही सीमित हो गयी थीं। माँ के रूप में नारी की स्थिति फिर भी सम्मानीय थी, परन्तु पत्नी के रूप में नारी के प्रति हेय द ष्टि दिखाई देने लगी थी। नारी की स्थिति में इस परिवर्तन का कारण बहुपत्नीत्व-प्रथा थी। बहुपत्नीत्व-प्रथा के कारण तद्युगीन कौटुम्बिक जीवन विश्रंखलित हो गया था। इस प्रथा के परिणामस्वरूप परस्पर संघर्ष, उत्तराधिकार सम्बन्धी वाद-विवाद एवं पति-पत्नी के सम्बन्धों में कटुता परिलक्षित होने लगी थी। पत्नियों की अधिकता से पति का स्नेह विभक्त हो जाता था। फिर भी साधारणतः सफल दाम्पत्य-जीवन का आधार स्नेह ही माना जाता था।

### शैक्षिक अधिकार

मौर्य-युगीन कन्याएँ ब्रह्मचारिणी के रूप में आचार्य के घर पर शिक्षा ग्रहण करती थीं। साधारणतः कन्याएँ अपने ग हों में ही शिक्षा ग्रहण करती थीं। कुछ स्त्रियाँ बौद्ध एंव जैन भिक्षुणी के रूप में देशाटन करते हुए भी विद्यार्जन करती थी। स्त्रियों की शिक्षा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं था, परन्तु विवाहित स्त्रियों के सम्मुख विद्वान् एवं दार्शनिक पति दर्शन-सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन नहीं करते थे। उन्हें भय रहता था, कहीं बौद्धिक दुर्बलता-वश स्त्रियां उनका दुरूपयोग न करें। फिर भी, नारयिों का बौद्धिक जीवन उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट रहा। मौर्य-युगीन शिक्षिता नारियों के दो रूप प्राप्त हेाते हैं (1) ब्रह्मवादनी स्त्रियाँ, जो धर्मशास्त्रों के प्रति आजीवन समर्पित रहती थीं। ये जीवन -पर्यन्त धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में रत रहती थी। सधोवाह स्त्रियाँ, जो अपना अध्ययन क्रम केवल विवाह पर्यन्त ही रखती थी। स्त्रियाँ अध्यापक भी होती थीं। कात्यायन ने अपने वार्तिक में इन्हें उपाध्याय अथवा उपाध्यायी कहा है। उपाध्यायी सम्बोधन अध्यापक की पत्नी के हेतु नहीं था, वरन् यह शब्द पढ़ानेवाली स्त्रियों के लिये प्रयुक्त होता था। वार्तिक के अनुसार समाज में अध्यापक नारियों की संख्या अधिक थी। बौद्ध एवं जैन धर्म की अनुयायिनी अनेक स्त्रियाँ केवल शिक्षा के लिये ही अविवाहिता रहीं। इनका उद्देश्य आध्यात्मिक चिन्तन करना होता था। कुछ शिक्षिता नारियाँ कविता-रचनाएँ भी करती थीं।

स्त्री-शिक्षा के मुख्य विषय चित्रकला, संगीत, न त्य, चित्र-लेखक, पाक विद्या एवं दर्शनादि थे। नारियाँ सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। इस युग में नारी को वेदाध्ययन का अधिकार सुलभ न था, फिर भी अपवाद द ष्टव्य हैं। कौटिल्य नारियों को शिक्षा के अयोग्य मानता था। उसकी द ष्टि में स्त्री का मस्तिष्क संकुचित होता है। कौटिल्य नारी को मात्र सन्तानोत्पत्ति का साधन मानता था, परन्तु बौद्ध एवं जैन साक्ष्यों में नारी का शैक्षिक पहलू मुखरित परिलक्षित होता है। उस पर भी उसका पूर्ण स्वामित्व रहता था। स्त्री को प्राप्त दहेज का धन 'स्त्री धन' कहलाता था।

### न्यायिक अधिकार

स्त्रियों को पुरूषों के समान ही विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त था। स्त्री को पुरूष के समान विवाह-विच्छेद का अधिकार दिलाने का श्रेय कौटिल्य को प्राप्त है। स्त्री को न्यायालय में जाने का अधिकार प्राप्त था, जहाँ नारी न्यायाधीश के सम्मुख अपने पति द्वारा स्वयं के प्रति किये गये दुर्व्यवहार की शिकायतें पेश कर सकती थी। यदि पति अपनी ओर से सम्बन्ध-विच्छेद करे और सम्पत्ति का आधा भाग पत्नी को न दे तो पत्नी न्यायालय में अपने आर्थिक अधिकार का दावा

कर सकती थी। ''स्त्रियों के प्रति दण्ड-विधान उदार तो नहीं था, फिर भी अपराध-गुरूता की द ष्टि से वह कठोर भी न था। स्त्री-हत्या का अपराध उतना ही गुरूत्तर माना जाता था, जितना ब्रह्म-हत्या का अपराध गम्भीर समझा जाता था।

### राजकीय स्त्रियाँ

मौर्य-युग में स्त्रियाँ सैनिक भी होती थीं। राजा की व्यक्तिगत सेवा करने के लिये स्त्री अंगरक्षिकाएँ भी होती थीं। कौटिल्य ने राजा की व्यक्तिगत सुख-सुविधा एवं सुरक्षा का दायित्व नारी रक्षिका पर ही सौंपा था। मैगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की अंगरक्षिकाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, ''औरतों का झुण्ड उसे घेरे रहता है और उस घेरे के बाहर बल्लमधारी लोगों का व त रहता है। उसके (चन्द्रगुप्त के) पार्श्व में दो तीन सशस्त्र स्त्रियाँ रहती हैं। जब वह खुले मैदान में शिकार करता है, तब हाथी पर चढ़कर तीर चलाता है। स्त्रियों में से कुछ रथों पर होती हैं, कुछ घोड़ो पर और कुछ तो हाथियों पर भी रहती हैं, और वे हर तरह के शस्त्रास्त्रों से सज्जित रहती हैं, मानों किसी अभियान में जा रही हों।'' अधिकांशतः अंगरक्षिकाओं के रूप में विदशी स्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी।

### वेश्या स्त्रियाँ ( Sex Worker)

मौर्य-युगीन समाज में वेश्या-व त्ति का काफी प्रचलन था वेश्याओं में विभिन्न नगर- वधू कें रूप में सम्मानित की जाती थी। इसका रहन-सहन का स्तर एवं समाज में स्थान उच्च होता था। गणिकाएँ समाज में हेय द ष्टि नहीं देखी जाती थीं। कौटिल्य ने वेश्याव ति को राजकीय आय का एक साधन माना है। प्रत्येक वेश्या को प्रति मास में दो दिनों की आय राज्य को समर्पित करनी होती थी। नगर की सर्वसुन्दर एवं गुण-सम्पन्न गणिका को नगर की समस्त गणिकाओं एवं अन्य वेश्याओं की निरीक्षिका के रूप में नियुक्त किया जाता था। ये वेश्याएँ राजकीय सेवा में भी अनुरक्त पायी गयी है। कौटिल्य के अनुसार वेश्याओं को सेविकाओं के समान राजा का छाता एवं पंखा आदि पकड़ना चाहिए तथा रथ एवं सिहांसनादि पर बैठने में उसकी सहायता करनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार वेश्याओं को अति सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने चाहिए एवं सुगन्धित जल से नित्य स्नान करना चाहिए। कौटिल्य ने वेश्याओं से सम्बन्धित विस्त त नियमों का विधान निर्धारित कर रखा था। स्वतन्त्र रूप से वेश्याव ति करने वाली स्त्रियों को 'रूपाजीवा' कहा जाता था। मौर्ययुग में बहुत सी ऐसी स्त्रियाँ थी जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर गणिका या वेश्या के रूप में जीवन यापन करती थी। ऊपर विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेश्याव ति इस काल में एक सुव्यवस्थित एवम् संगठित संस्था के रूप में पनम रही थी। उस काल में महिलाओं के प्रति समाज की क्या सोच थी यह स्वयं में उसका एक उदाहरण है।

### विवाह

परिवार समाज की सबसे छोटी परन्तु सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। और परिवार का निर्माण अब वैवाहिक संस्कार पर आधारित माना जाता था। मौर्य युग में विवाह संस्था पूर्णतः संगठित एवम् शास्त्रों के नियमों पर आधारित थी। संभवतः विभिन्न किस्म की जनजातियों के रीतिरिवाजों को ब्राह्मणीकल संस्कृति में स्थान देने के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की विवाह विधियों को अपनाया गया। यह बात दूसरी है कि विवाह विधियों का श्रेष्ठ, मान्य एवम् अमान्य किस्मों में स्तरीकरण कर दिया गया। विवाह के कुछ प्रकारों को अमान्य घोषित करना केवल ऐसे विवाहों के प्रति ध र्मशास्त्रकारें का उद्देश्य अपनी नापसंदगी जाहिर करना था ना कि निषेध घोषित करना। अतः अमान्य विवाह अमान्य होते हुए भी मान्य थे।

## विवाह के प्रकार

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में आठ प्रकार की वैवाहिक विधियों का वर्णन किया है। विवाह के ये आठ प्रकार सूत्रों एवं धर्म-शास्त्रों में वर्णित ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाह है। प्रारम्भिक चार पद्धतियों को कौटिल्य ने समाज सम्मत माना था और अन्तिम चार विवाह-विधियों को त्याज्य एवं वर्ज्य कहा था। फिर भी कौटिल्य ने गन्धर्व विवाह को मान्यता दी थी। परन्तु यह विधान भी रखा कि रजोदर्शन के तीन वर्ष पश्चात् यदि अविवाहित कन्या समान जाति तथा कुल के पुरूष का स्वतः वरण करती है तो इसमें कोई दोष नहीं हैं। विवाह में कन्या को अपने वर का चयन करने की स्वतन्त्रता थी, परन्तु जाति की सीमा भी निध ार्रित कर दी गयी थी। स्ट्रैबो ने मौर्य-युग में प्रचलित एक अजीब सी वैवाहिक प्रथा का उल्लेख किया है उसके अनुसार गरीब पिता भरे बाजार में अपनी कन्या को खड़ा करता था। शंखनाद से बाजार में जनता का ध्यान कन्या की ओर खींचा जाता था। भावी वर वहाँ कन्या का पूर्णतः निरीक्षण करता था और दोनों पक्ष के राजी हो जाने पर कन्या का विवाह उस पुरूष के साथ कर दिया जाता था। यह प्रथा अवश्य ही कुछ अटपटी प्रतीत होती है, परन्तु कन्या के पिता की गरीबी के कारण यह संभव भी हो सकता है। किंतु ऐसी प्रथा का संकेत भारतीय साक्ष्यों में कहीं दिखाई नहीं देता।

## बहु-विवाह एवं पुनर्विवाह

तद्युगीन समाज में प्रचलित बहु-विवाह प्रथा का संकेत भारतीय एवं यूनानी दोनों साक्ष्यों में मिलता है। बहु-विवाह का प्रचलन राजघराने एवं सामन्तीय वर्ग में अधिक था। कौटिल्य ने बहु-विवाह का प्रतिपादन पुत्रों की प्राप्ति की द ष्टि से किया था, यद्यपि एक स्थल पर कौटिल्य यह भी कहते हैं कि स्त्री के अप्रजा, स्त्री-प्रजा अथवा म त-प्रजा होने पर, पति कुछ समय तक प्रतीक्षा करे, तब दूसरा विवाह कर ले। अन्यथा स्थिति में पुनर्विवाह त्याज्य माना जाता था। पति पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह कर सकता था, परन्तु पत्नी को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। पत्नी पति की म त्यु के पश्चात् ही पुनर्विवाह कर सकती थी। इसके अतिरिक्त, पति यदि विदेश से दीर्घ काल तक वापस न लौटे या स्त्री को बिना किसी व्यवस्था के छोड़ जाय या विकार-ग्रस्त हो, तब पत्नी दूसरा विवाह कर सकती थी।

## विधवा विवाह एवं नियोग प्रथा

कौटिल्य विधवा विवाह के समर्थक थे। कौटिल्य के अनुसार विधवा स्त्री को पति की म त्यु के पश्चात् कुछ समय तक प्रतीक्षा करके विवाह करना चाहिए। कौटिल्य ने विधवा स्त्री को पति के म त्युपरान्त सात बार रजस्वला होने के पश्चात पुनर्विवाह की अनुमति दी थी। विधवा विवाह के लिये कौटिल्य ने श्वसुर की अनुमति आवश्यक मानी थी। श्वसुर की आज्ञा के बिना विवाह करने पर विधवा स्त्री को अपने स्वर्गवासी पति की सम्पत्ति से वंचित होना पड़ता था। कौटिल्य ने विधवा विवाह दा कारणों से समाज-सम्मत माना था- प्रथम, विधवा यदि पुत्र-हीन है तो उसे पुत्र की प्राप्ति हो सके और द्वितीय, विधवा के पास जीविका-निर्वाह का कोई साधन नहीं है, तो पुनर्विवाह से विधवा का जीवन सुगम हो सके। कौटिल्य के विधानानुसार सन्तानहीन विधवा स्त्री को पति के म त्युपरान्त एक वर्ष तक प्रतीक्षा करके तब विवाह करना चाहिए और विधवा स्त्री के पास यदि जीवन-निर्वाह का साधन नहीं है, तब वह उसे आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

कौटिल्य ने नियोग प्रथा का प्रतिपादन भी किया था। कौटिल्य के अनुसार नियोग सम्बन्ध केवल पुत्र-प्राप्ति की द ष्टि से ही स्थापित किया जाए, कामवासना की त प्ति के लिए स्थापित किया

गया नियोग सम्बन्ध निकृष्ट एवं पतित माना जाता था। कौटिल्य ने विधवा स्त्री के नियोग के लिए सगोत्र पुरूष या मात बन्धु पुरूष को ही उपयुक्त माना था। नियोग सम्बन्ध द्वारा प्राप्त पुत्र सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी माना जाता था।

### स्वजातीय विवाह

मौर्य युगीन समाज में अन्तर्जातीय विवाह का निषेध 'अर्थशास्त्र' एवं 'इण्डिका' दोनों करते हैं, फिर भी समाज में अपवाद-स्वरूप अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। इसके अतिरिक्त, एक ही गोत्र एवं प्रवर में विवाह करना भी निषिद्ध माना जाता था। केवल शाक्य एवं मौर्य जाति में ही सगोत्रीय विवाह का चलन था। दक्षिण भारत में मामा से विवाह सम्बन्ध स्थापित करने का भी चलन था।

### बाल विवाह

कौटिल्य विवाह की उम्र कम ही मानते हैं। कौटिल्य की द ष्टि में 12 वर्ष की कन्या एवं 16 वर्षीय युवक विवाह योग्य होते थे। अतः, एक प्रकार से उस युग में बाल-विवाह का ही चलन था। कन्या को विवाह में दहेज भी दिया जाता था, अतः कौटिल्य नारियों के प्रति संकुचित द ष्टि रखते थे; फिर भी स्त्री के अधिकार एवं स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कौटिल्य मनु की विचार धारा से कहीं उदार प्रतीत होते हैं।

### शिक्षा

कौटिल्य ने देश में शिक्षा प्रचार पर बहुत बल दिया था। मौर्य युग में पर्याप्त संख्या में स्कूल एवं उच्च शिक्षण संस्थाएँ विद्यमान थीं। हिन्दू वर्ग में शिक्षण कार्य ब्राह्मण वर्ण के ही जिम्मे था। साथ ही, शिक्षण कार्य का कुछ दायित्व बौद्ध भिक्षु भी निभाते थे। राजघराने के तरूण एवं युवक-युवतियों के हेतु महलों में ही शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। किंतु साधारणतः युवक गुरू के पास ही जाकर अध्ययन करते थे। मौर्य-युगीन शिक्षण-संस्थाओं में तक्षशिला, उज्जैन एवं काशी के विद्यापीट प्रमुख थे। ये तीनों विद्यापीठ विश्वविद्यालय स्तर के संस्थान थे।

तद्युगीन संस्थाओं एवं गुरू-आश्रमों में मुख्यतः साहित्य एवं धर्म-शास्त्र का अध्ययन ही कराया जाता था। इनके अतिरिक्त व्याकरण, व्रत (राजनीतिशास्त्र एवं इतिहास) तथा सैन्य ज्ञान भी विद्यार्थियों को दिया जाता था।

सैन्य-शिक्षण देने का उद्देश्य यह था कि कौटिल्य के अनुसार, प्रत्येक गाँव को स्वरक्षा में पूर्णतः सक्षम होना चाहिए। यद्यपि सैन्य-शिक्षण के हेतु प थक् सैन्य-शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थी, फिर भी ग्राम के युवकों को अनुभवी एवं व द्ध जन तीरकमान चलाने की शिक्षा देते थे। इसी प्रकार के सैन्य-शिक्षित युवक केन्द्रीय सेना में भेजे जाते थे। जो ग्राम ऐसे सैन्य सैन्य-शिक्षित युवकों को अधिक संख्या में केंन्द्रिय शासन को दान करता था, वह ग्राम राज्य की ओर से कर-रहित घोषित कर दिया जाता था। शिक्षण-संस्थाओं में कुछ दिनों की छुट्टियाँ भी होती थीं। विद्यार्थी सैनिकों को सुबह से शाम तक अभ्यास कराया जाता था और शाम को समस्त शस्त्र आयुधागार को वापस दिये जाते थे। शिक्षकों को धार्मिक ज्ञानार्जन के लिए राज्य की ओर से पूर्णतः सुरक्षित जंगल प्रदान किए जाते थे।

तद्युगीन शिक्षा के आधार-स्तम्भ ब्राह्मण शिक्षकों के लिए कौटिल्य ने समुचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है। उस जंगल प्रदान किये जाते थे। उस जंगल में जिस गोत्र का ब्राह्मण गुरू चिन्तन-मनन करते हुए रहता था, उसी गुरू के नाम पर वह जंगल नामान्वित कर दिया जाता था। वेद-विद् ब्राह्मणों को दान में ब्रह्मदेय भूमि मिलती थी। यह भूमि राजकरों एवं जुर्मानों से मुक्त रहती थी। ब्राह्मण गुरू इस भूमि की सारी उपज का स्वामी होता था। कई दक्षिण भारतीय अभिलेखों में

इस प्रकार ब्रह्मदेय भूमि पानेवाले विद्वान ब्राह्मणों की व त्ति को 'भट्टव त्ति' कहा गया है। प्रत्येक शिक्षक को उनकी योग्यता के अनुसार 500 से 1000 पण तक वेतन दिया जाता था।

शिक्षा न केवल राजघराने तक वरन् जन-साधारण में भी प्रचलित थी। अशोक के अभिलेख तद्युगीन समाज में व्याप्त शैक्षिक महत्व के परिचायक हैं। मैगस्थनीज ने भी शिक्षित समाज का उल्लेख किया है। कर्टियस के अनुसार उस युग में व क्ष की छाल पर लेख लिखे जाते थे। स्ट्रैबो ने 'ज्योग्रैफी' में संकेत किया है कि तद्युगीन व्यक्ति 'लिनेन' (रेशमी वस्त्र) पर लिखा करते थे। शिक्षण-संस्थाएँ तद्युगीन समाज में अशिक्षा को तो दूर करती ही थीं, उनके उद्देश्यों में उद्योग-ध न्धों का विकास, पेशेवर व्यक्तियों की प्रस्तुति, दार्शनिकों, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक जनों का विकास, समस्त पहलू सम्मिलित थे।

## आमोद-प्रमोद के साधन

कौटिल्य अर्थोपार्जन में व्यस्त व्यक्तियों के लिए आमोद-प्रमोद की आवश्यकता एवं उपयोगिता से भली भांति परिचित था। इसीलिए कौटिल्य ने यह राज्य का कर्तव्य माना था कि राज्य की ओर से जनता के मनोरंजनार्थ यात्रा, समाजोत्सव एवं प्रवहण का प्रबन्ध होना चाहिए। मौर्य युग में प्रचलित मनोरंजन के साधनों का यूनानी लेखक भी उल्लेख करते हैं। आमोद-प्रमोद का जीवन निःसन्देह तद्युगीन समाज की स म द्धि का परिचायक है। अर्थशास्त्र में मनोरंजन के विविध साध नों का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य के अनुसार जो व्यक्ति जनता के आनन्दोत्सव के संगठनों में भाग नहीं लेता था और सहायता नहीं देता था, वह अर्थदण्ड का भागी होता था।

### (1) सार्वजनिक उत्सव

कौटिल्य ने मनोरंजन के व्यक्तिगत साधनों की अपेक्षा सामूहिक साधनों पर अधिक बल दिया है, क्योंकि समूह में किया गया आमोद-प्रमोद परस्पर मैत्री, सौहार्द एवं समानता के भावों को विकसित करता है। कौटिल्य प्रत्येक ग्राम में एक सार्वजनिक शाला बनाने का वर्णन करता है। इन सार्वजनिक शालाओं में सामूहिक रूप से उत्सवों का आयोजन होता था। इन उत्सवों में व्यक्ति गायन, नर्तन, वादन, भोजन एवं मदिरा-पान के द्वारा उल्लास प्रकट करते थे। कौटिल्य ने इस प्रकार के उत्सवों के लिए राजकीय सहायता का विधान भी रखा था। कुछ सामाजिक उत्सव धर्म-प्रधान भी होते थे। इनमें सरस्वती, शिव एवं ब्रह्मा आदि देवताओं की पूजा सामूहिक रूप से की जाती थी। पुष्पोत्सव भी मनाए जाते थे।

### (2) मल्ल युद्ध

ऐसे अवसरों पर मल्ल युद्ध का आयोजन होता था। मल्ल युद्ध एवं पशु (मुख्यतः हाथी) और कभी-कभी पशु-पशु के मध्य होता था। मल्ल युद्ध में भाग लेने के लिए दूसरे प्रान्तों से पहलवान आमन्त्रित किए जाते थे। एलियन नामक यूनानी लेखक ने मल्ल युद्ध का वर्णन किया है। मल्ल युद्ध में प्रायः रक्तपात भी हो जाता था। अहिंसात्मक प्रव ति के कारण अशोक ने मल्ल युद्ध वर्जित कर दिया था। अशोक के एक उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार ''मनुष्यों एवं पशुओं की मुठभेड़ बन्द करा दी गई और उसके स्थान पर आकाश में भांति-भांति के द श्यों के चित्रण की व्यवस्था की गई, जिनसे लोगों का मनोरंजन तो हो ही, साथ ही उनसे उन्हें यथेष्ट भौतिक शिक्षा भी मिले।''

### (3) पशु-पालन का शौक

मौर्ययुगीन व्यक्तियों का एक शौक पशु-पालन भी था। मनोरंजन का यह साधन अति व्ययकारी सिद्ध होता था। संभवतः यह राजघरानों का व्यसन होता था। पशुओं में हाथी पालने का शौक अधिक प्रचलित था। समस्त यूनानी लेखकों ने हस्तिपालन का उल्लेख किया है। निआर्कस ने

हाथी पकड़ने की विधि को 'खेद्दा' कहा है। उसी के अनुसार ''हाथियों को सहज ही पालतू बनाया जा सकता था, क्योंकि वे बहुत ही सीधे एवं सौम्य प्रकृति के होते थे, मानों उनमें मनुष्य की सी विवेक शक्ति हो।'' हाथी का उपयोग सैन्य-द ष्टि से तो लाभप्रद था ही, साथ ही प्रेमी जन अपने प्रेमोपहार में हाथी उपहार देता था। उसका बहुत सम्मान किया जाता था और यह उपहार देनेवाले किसी प्रेमी का चारित्रिक पतन होने पर, उसे दोषी ठहराने की बात सोची नहीं जाती थी। स्ट्रैबो के अनुसार उपर्युक्त कथन इस तथ्य को सिद्ध करता है कि सामान्य जन (निश्चय ही धनाढ्य) भी हाथी पाल सकता था। इस प्रकार मैगस्थनीज के इस मत का कि ''हाथी-पालन पर केवल राजा का ही अधिकार होता था'' खंडन होता है।

हाथी के अतिरिक्त बन्दर भी पाले जाते थे। झेलम के जंगल से लंगूर (बड़ी पूँछवाले) पकड़े जाते थे। बन्दर एवं लंगूर नकलची स्वभाव के होने के कारण दूसरों का विशेष मनोरंजन किया करते थे। यह धन्धा मदारी लोग आज भी करते हैं। मैगस्थनीज के वर्णनानुसार एक किस्म के वानर व्यक्तियों से इतने अधिक मिलते जुलते थे कि उन्हें देखकर सन्यासी होने का भ्रम होता था। ऐसे वानरों को राजा की ओर से प्रतिदिन भोजन मिलता था।

सपेरे साँपों को पालते थे तथा नगरों में घूम-घूमकर साँपों का प्रदर्शन करते थे। ये लोग साँप द्वारा काट लेने पर उपचार भी करते थे। सिकन्दर के पास कुशल एवं दक्ष सँपेरे थे। यूनानी लेखकों ने अति विशाल सर्प भारत में देखे थे। एरिस्टोबुलस ने 9 हाथ एक बित्ता लम्बा साँप देखा था। वनसिक्रिटस ने एक साँप अस्सी हाथ लम्बा और दूसरा साँप 140 हाथ लम्बा देखा था।

इन पशुओं के अतिरिक्त कुत्ते पालने का शौक भी साधारण जनों में प्रचलित था। कुछ लोग साधारण एवं कुछ लोग शिकारी कुत्ते पालते थे। सिकन्दर को 150 कुत्ते भेंट में मिले थे। मेगस्थनीज ने एक बार पालतू बाघ भी देखा था।

### (4) पक्षी-पालन का शौक

पक्षियों में तोते पालने का बहुत अधिक प्रचलन था। तोतों को बोलना सिखाया जाता था। निआर्कस के अनुसार ''मुझे बताया गया है कि वे तीन प्रकार के होते हैं, और जैसे बच्चों को बोलना सिखाया जाता है, वैसे ही उन्हें भी बोलना सिखाया जाये तो वे बच्चों की तरह वाचाल हो जाते हैं।'' मोर पालने का भी समाज में चलन था। संभवतः मयूर-पालन राजशाही शौक था।

### (5) जुआ

समाज में मनोरंजनार्थ चौपड़ आदि खेल भी खेले जाते थे। जुआघर को राज्य द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती थी। कौटिल्य ने जुआघर को राजस्व का एक साधना माना है। कौटिल्य ने जुआ सम्बन्धी नियम निर्धारित कर रखे थे। कौटिल्य ने जुआ को बुरी लत माना है, क्योंकि इस लत से आदमी कर्तव्य विमुख हो जाता है।

### (6) शिकार

आखेट राजा एवं प्रजा दोनों का प्रिय आमोद-प्रमोद साधन था। आखेट के हेतु शिकारी कुते पाले जाते थे ताकि शेर आदि को पकड़ने में सहायता मिले। इन कुतों की रंगों में चीतों का रक्त होता था। कौटिल्य की द ष्टि में शिकार अच्छा शौक नहीं था। अशोक भी मनोविनोद के इस हिंसक साधन के विरूद्ध था।

### (7) रथ-दौड़

एरियन ने रथ-दौड़ को भी तद्युगीन समाज में प्रचलित मनोविनोद के साधन के रूप में वर्णित किया है।

### (8) कन्दुक-क्रीड़ा

राजघरानों में स्त्रियाँ बाग-बगीचों में गेंद से खेलकर मन बहलाती थीं।

### (9) नाटक

तद्युगीन समाज में नाट्य संस्थाओं का अस्तित्व भी विद्यमान था। इस प्रकार की संस्थाओं को अशोक ने बहुत प्रोत्साहन दिया था। नाट्य-संस्थाएँ नाटक के अतिरिक्त न त्य एवं वादन का भी आयोजन किया करती थीं। तद्युगीन वाद्य-यन्त्रों में वीणा का प्रमुख स्थान था। कुछ नाट्य-संस्थाएँ एक नगर से दूसरे नगर में घूमती रहती थीं। न त्यादि की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। हापकिन्स के अनुसार ''आमोद-प्रमोद द्वारा सत्कार करना स्वयं ऐसा उद्यम बन गया था, जिसके द्वारा अनेक प्रकार के नर्तकों एवं नर्तकियों, गायकों एवं गायिकाओं तथा कुशल अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का जीवन -यापन होता था।'' कौटिल्य के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में प्रक्षाएँ(तमाशे) बहुत ही जनप्रिय थीं प्रत्येक ग्राम में शालाएँ होती थीं, जो नियमित रूप से खेल-कूद का आयोजन किया करती थीं। राज्य की ओर से इन संस्थाओं को अपना संघटन करने की स्वीकृति लेनी पड़ती थी।

## भोजन

मौर्य-युगीन समाज में पौष्टिक, स्वादिष्ट, स्वच्छ एवं प्रचुर भोजन का सेवन किया जाता था। अन्न एवं दूध तद्युगीन भोजन के प्रमुख अंग थे। चन्द्रगुप्त एवं बिन्दूसार के राज्य काल में मांस एवं मदिरा का समाज में बहुत प्रचलन था। कौटिल्य ने भोजन के हेतु पशु-पक्षी प्राप्त करने के लिये विशेष वनों की व्यवस्था कराई थी। पशुओं को काटने के लिये नगर एवं ग्राम में वध शालाएँ (कसाई घर) भी होती थीं। मांस एवं मदिरा दूकानों पर बिकती थीं इन दूकानों पर राज्य का नियन्त्रण रहता था। समाज में मदिरा-पान का चलन था, परन्तु वह खुले आम नहीं पी जाती थी। मांस एवं मदिरा की दूकानों को राज्य कर देना होता था। अशोक ने अपनी अहिंसक नीति के कारण मांसाहार करने पर निंयत्रण लगा दिया था जिससे उसका प्रचलन कम हेा गया था।

तद्युगीन समाज में पेय पदार्थो में दूध के अतिरिक्त मधु, शर्बत, अंगूर का रस एवं अन्य फलों के रस भी प्रमुख पेय थे। मद्य पान विशेष अवसरों पर ही किया जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार मद्यपान पर यह बन्धन मात्र ब्राह्मणों के लिये था। यज्ञ के समय खुले आम सुरापान होता था।

मैगस्थनीज के अनुसार भारतीयों के भोजन करने का अपना विशिष्ट ढंग था- ''जब भारतीय भोजन करने बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख तिपाई के आकार की मेज रख दी जाती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे ऐसे उबले होते हैं, जैसे उबले जौ। उसके बाद दूसरे बहुत से पकवान रखे जाते हैं, जो भारतीय विधियों से तैयार होते हैं।''

मैगस्थनीज के वर्णनानुसार भारतीय एक साथ (सामूहिक रूप से) समय में भोजन नहीं करते थे। जिसे जब भूख लगती है, वह खा लेता है। मैगस्थनीज के अनुसार ''सामाजिक और नागरिक जीवन के लिए इस पद्धति के विपरीत एक साथ निश्चित समय पर भोजन की प्रथा उत्तम होती हैं।'' यूनानी साक्ष्यों से ही ज्ञात होता है कि मौर्य-युगीन भारतीय व्यक्ति ज्वार, बाजरा, गेहूँ, जौ, दाल, गन्ना एवं समस्त प्रकार के मसालों से परिचित थे।

## वेश-भूषा

कर्टियस के वर्णनानुसार ''अन्य स्थानों की भांति यहाँ के लोगों का चरित्र भी देश की स्थिति एवं जलवायु से बना है। वे महीन मलमल से पैर तक अपना शरीर ढकते हैं, जूते पहनते हैं, सर पर

मलमल के ही कपड़े मरोड़कर कुण्डली की तरह बाँधते हैं और कानों में रत्नों की बालियाँ लटकती रहती हैं। जिनकी समाज में ऊँची हैसियत होती है या जो ज्ञानी होते हैं, वे अपनी कलाईयों और बाँहों के ऊपर सोने के कड़े पहनते हैं। वे प्रायः बालों में कंघी करते हैं, पर शायद ही उन्हें कभी कटवाते हैं। चेहरे के शेष भागों का क्षीर-कर्म करते हैं। ठुड्डी की दाढ़ी को वे कभी नहीं बनवाते।''

यूनानी लेखकों के अनुसार मौर्यकालीन भारतियों के वस्त्र सूती एवं सफेद होते थे। सूत कपास से तैयार किया जाता था। सूत को बिनकर, रंगकर एवं सिलकर वस्त्र बनाये जाते थे। एरियन के वर्णनानुसार ''ये लोग जो कपड़ा पहनते थे, वह सूती होता था और घुटनों से कुछ नीचे तक रहता था, ऊपर शरीर में ये दो कपड़े पहनते थे जिनमें से एक उनके कंधे पर पड़ा रहता था और दूसरे को मरोड़कर सिर पर धारण करते थे। भारतीय लोग हाथी-दाँत के कुण्डल भी पहनते हैं, किन्तु ऐसा वे ही करते हैं जो धनी होते हैं। जिसकी समाज में कुछ हैसियत होती है, वह ध ूप से बचाव के लिए छत्र धारण करता है। ये लोग सफेद चमड़े के बने जूते भी पहनते हैं, जो मेहनत करके बनाये जाते हैं और जिनकें तले रंग-बिरंगे और एड़ियाँ ऊँची होती हैं, ताकि पहनने वाला अधिक लम्बा नजर आये। एरियन के अनुसार भारतीय दाढ़ी में खिजाब लगाते थे एवं लम्बे लम्बे बाल रखते थे। वे सिर के बाल गूँथते थे एवं फुलों से बाँधते थे। कर्टियस के अनुसार तद्युगीन राजसी पोशाक अति भव्य होती थी। इनकी पोशाक पैर को छूती हुई, सोने के तारों से मण्डित होती थी तथा हीरे मोती जड़े होते थे। निर्धन स्त्रियां अन्य सस्ते वस्त्र एवम् सस्ती ध ातुओं के गहने पहनती थी।

### अशोक का धम्म

अशोक का धम्म क्या था? अशोक के धम्म से क्या अभिप्रायः है? इस विषय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। फ्लीट तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि अशोक ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया। वह वास्तव में राजधर्म है। डा० स्मिथ तथा आर० के० मुकर्जी के अनुसार अशोक का ध म्म कल्पना सार्वभौम धर्म था। रोमिला थापर का मत है कि धम्म कल्पना अशोक की निजी कल्पना थी किन्तु अशोक के अभिलेखों में धम्म की जो बातें दी गई हैं उनसे स्पष्ट है कि वे पूर्णरूप से बौद्धग्रन्थों से ली गई है। सेनार्ट और भंडारकर जैसे विद्वानों के अनुसार अशोक का धम्म उपासक बौद्ध धर्म था। अशोक के धम्म को जो भी नाम दिया जाए इतना अवश्य है कि जिन सिद्धांतों के पालन से नैतिक उत्थान सम्भव था अशोक के लेखों में उन्हें धम्म कहा गया है। इसमें वे आधार मूलक सिद्धान्त थे जो सभी धर्मावलाम्बियों को को मान्य होते थे।

### धम्म का तात्पर्य

दूसरे और सातवें स्तम्भ लेखों में अशोक ने धम्म व्याख्या इस प्रकार की है : धम्म है साधुता, बहुत से अच्छे कल्याणकारी कार्य करना, पाप रहित होना, म दुता, दूसरों के प्रति व्यवहार में मधुरता, दया, दान आगे कहा गया है प्राणियों का वध न करना जीवहिंसा न करना, माता-पिता और बड़ों की आज्ञा मानना, गुरूजनों के प्रति आदर, मित्र, परिचितों संबंधियों, ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति उचित व्यवहार बह्यगीरि। शिलालेखों में इन गुणों के अतिरिक्त शिष्य द्वारा गुरू का आदर भी धम्म के अंर्तगत माना गया हैं तीसरे शिलालेख में अशोक के अल्प व्यय और अल्प संग्रह को भी धम्म माना है।

### धम्म के आचार तत्त्व

अशोक के इस धर्म में आचार - तत्त्वों की प्रधानता है। जैसा कि ऊपर लिखा है उसका धर्म आचार मूलक है। शील, पवित्रता, सदाचार की मान्यता सार्वभौम है और सभी धर्म उनका प्रतिपादन करते

हैं। बौद्ध होते हुए भी अशोक में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोव त्ति नहीं थी। अतः अशोक ने एकमात्र उन्हीं बौद्ध सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख रखा जो व्यावहारिक और आचार मूलक होने से समस्त साम्प्रदायिक विवादों से परे थे। अशोक ने अपने **तेरहवें शिलालेख** में लिखा है - ब्राह्मण, श्रमण और ग हस्थ सर्वत्र रहते हैं और धर्म के इन आचरणों का पालन करते हैं। अशोक के साम्राज्य में अनेक संप्रदायों के मानने वाले थे और हो सकता है कि उनमें थोड़ा बहुत विरोध तथा प्रतिद्वंद्विता का भाव भी रहा हो। उसने सभी संप्रदायों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए सदाचार के इन नियमों पर जोर दिया है। **बारहवें शिलालेख** में अशोक ने धर्म की सार-व द्धि पर जोर दिया है अर्थात् एक धर्म-संप्रदाय दूसरे धर्म-संप्रदाय के सिद्धान्तों के विषय में जानकारी प्राप्त करें, इससे धर्मसार की व द्धि होगी। इस तरह उसने कर्मकाण्ड मूलक धर्म को हतोत्साहित किया और आचार मूलक धर्म को प्रोत्साहित किया।

### धम्म का आदेशात्मक और निषेधात्मक स्वरूप

आदेशात्मक स्वरूप में अशोक ने अनेक आचार तत्त्वों का उल्लेख किया है उसका उद्देश्य था कि इन नैतिक नियमों से व्यक्ति के आन्तरिक गुणों का विकास करते हुए उस सच्चे सुख और शान्ति की ओर अग्रसर करें। इन आचार तत्त्वों और नैतिक नियमों में निम्नलिखित मुख्य है :-

1. माता-पिता एवं गुरूजनों, व द्धों की सेवा-सुश्रूषा तथा उनके प्रति आदर-सम्मान व श्रद्धा।
2. मित्रों, परिचितों और सम्बन्धियों तथा ब्राह्मणों एवं श्रमणों के प्रति उदारता और समुचित व्यवहार।
3. दासों, भ त्यों तथा वेतन-भोगी सेवकों के साथ उचित व्यवहार।
4. समस्त प्राणियों के प्रति आदर भाव और दया।
5. अहिंसा और पशु -वध का त्याग।
6. भावनाओं की शुद्धता तथा विचारों की पवित्रता।
7. थोड़ा व्यय तथा थोड़ा संग्रह
8. संयम अथवा इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार।
9. दान।
10. सत्य।

अशोक के धम्म का निषेधात्मक स्वरूप भी है। इसमें उन पापों, कुव त्तियों और दुर्गुणों का निषेध ा है जो धर्म के पालन में बाधक हैं। इनमें निम्नलिखित है :- (1) चण्डता या उग्रता (2) निष्ठुरता (3) क्रोध (4) अभिमान (5) ईर्ष्या। अशोक ने इन सब कुव तियों से छुटकारा पाने को कहा है। धार्मिक भावना और आचरण के विकास के लिए तथा आत्मोत्कर्ष के हेतु अशोक ने आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने आसिनव को जान लेने और उसे नष्ट करने की समुचित सम्मति दी है।

### धम्म मंगल, धम्म दान, अनुग्रह और धम्म विजय

अशोक के समय विवाह, जन्म परेदशगमन आदि अवसरों पर अनेक मंगल कार्य होते थे। उत्सवों, त्यौहारों और पर्वो पर समाज में समारोहों का आयोजन होता था, उनमें विविध प्रकार के खेलकूद व हिंसात्मक मनोरंजन होते थे। अशोक ने इन मंगल कार्यो और समारोहों को निस्सार बताया। उसने इनके स्थान पर धम्म मंगल को अधिक फलदायक कहा। इस **धम्म मंगल** में उसने निम्नलिखित कार्य बतायें दास, श्रमिकों और सेवकों से समुचित व्यवहार, गुरूजनों का आदर, प्राणियों के प्रति अंहिसा, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान आदि ऐसे ही अन्य मंगल कार्य। **धम्म दान**

में उसने दासों और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों और जाति भाइयों, सहायकों, ब्राह्मणों तथा साधु-संन्यासियों के प्रति उदारता और अंहिसा का पालन करना बताया है। अशोक ने धम्मदान को साधारण दान से अधिक श्रेष्ठ बताया है। धम्म अनुग्रह और धम्म विजय में उसने मनुष्यों, पशु-पक्षियों और प्राणी मात्र प्रति उदारता व दया रखने एवं दैनिक जीवन में सब धर्मो के सार की व द्धि की कामना की है जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और दूसरे धर्म की निन्दा करता है। वह अपने कार्यो से अपने धर्म को भारी क्षति पहुंचाता है। इस तरह अशोक ने धर्म विजय को साधारण विजय से भी अधिक कल्याणकारी बताया है।

## अशोक की धार्मिक सक्रियता

अशोक का धर्म एक आदर्शवादी या उपदेश देने वाला धर्म ही नहीं था, अपितु वह व्यवहारिक था। अशोक ने अपने धर्म से प्रेरित होकर जो कुछ उपदेश दिया और जिन श्रेष्ठ धार्मिक आदर्शो का अनुकरण करने के लिए उसने अपनी प्रजा को आदेश दिए, उन सबको उसने स्वयं अपने जीवन में कार्यान्वित किया। उसने हिंसात्मक समाजिक व उत्सवों, समारोहों व मनोरंजनों का निषेध कर दिया। उसने स्वयं उन विहार यात्राओं को छोड़ दिया जिनमें हिंसात्मक आखेट या आमोद-प्रमोद होते थे अपितु इन विहार यात्राओं के स्थान पर अशोक ने धर्म स्थानों और तीर्थ-स्थानों की यात्राएं प्रारम्भ की। उसने युद्ध बंद कर दिए और स्वयं को तथा राजकर्मचारियों को मानव-मात्र के नैतिक उत्थान में लगाया। जीवों का वध रोकने के लिए अशोक ने प्रथम शिलालेख में विज्ञप्ति जारी की कि किसी यज्ञ के लिए पशुओं का वध न किया जाए। उसकी पाकशाला में जहां बहुसंख्यक पशुओं की हिंसा होती थी, वह उसने धीरे-२ बन्द करवा दी। अपने विस्त त साम्राज्य में उसने अनेक जीवोपकार के कार्य किए। मनुष्यों के लिए ही नहीं अपितु उसने पशुओं के लिए भी औषधालय निर्मित करवाएं, छायादार वट-व क्ष लगवाये, आम्रकुंज लगवाये, कुएं खुदवाएं, अनेक धर्मशालाएं और जलाशय बनवाये। इस प्रकार अशोक अपने धार्मिक सिद्धान्तों को कार्यन्वित करने के लिए सदा सक्रिय रहा।

अपने राज्यभिषेक के 14वें वर्ष में अशोक ने एक नवीन प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति की। इन्हें **धम्ममहामात्र** कहा गया है। अपने कार्य की द ष्टि से धम्ममहामात्र एक नवीन प्रकार का कर्मचारी था। इन कर्मचारियों का मुख्य कार्य जनता को धम्म की बातें समझाना, उनमें धम्म के प्रति रूचि पैदा करना था। वे समाज के सभी वर्गो-ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, निर्धन, व द्ध के कल्याण तथा सुख के लिए कार्य करते थे। वे सीमांत देशों तथा विदेशों में भी काम करते थे। उनका कार्य था धर्म के मामले में लोगों में सहमति बढ़ाना। ब्राह्मण, श्रमण तथा राजघराने के लोगों को दानशील कार्यो के लिए प्रोत्साहित करना। कारावास के कैदियों को मुक्त कराना या उनका दंड कम करवाना तथा लोगों की अन्याय से रक्षा करना। धम्म महामात्रों की नियुक्ति से एक वर्ष पूर्व उसने साम्राज्य के विभिन्न स्थानों पर धम्म की शिक्षाओं की शिलालेखों में उत्कीर्ण करवाया।

## अशोक के धम्म (धर्म) की विशेषताएं

सम्राट अशोक के धर्म के स्वरूप को समझने के बाद हमें इस धर्म की निम्नलिखित विशेषताएं दिखाई देती हैं :-

### सार्वभौमिकता

अशोक का धर्म सार्वभौम था। उसके धर्म में सभी धर्मो की श्रेष्ठ बातों का समन्वय था। उसमें वे समस्त शिक्षाएं और उपदेश थे जो धर्मो में साधारण रूप से सर्वमान्य होते हैं उसमें न तो साम्प्रदायिकता और संकीर्णता थी, न धर्मान्धता और धार्मिक कट्टरता।

### मूल धार्मिक तत्त्वों पर बल

अशोक ने धर्म के मूल धार्मिक तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया था। धार्मिक बाह्य आडम्बरों क्रिया-विधियों को निरर्थक माना गया था।

### श्रेष्ठ पवित्र नैतिकता

अशोक का धर्म शुद्ध नैतिक था। उसमें श्रेष्ठ नैतिकता और पवित्र सदाचार पर बल दिया गया था। मानव जीवन के चिर नैतिक आचरण से धर्म का सम्बन्ध जोड़ दिया गया था। दर्शन केवल मानसिक विकास के लिए उपयोगी है, पर धर्म की सफलता के लिए शुद्ध नैतिक आचरण अनिवार्य है।

### अन्य धर्मो के लिए स्थान

अशोक के बौद्ध धर्म के अंगीकार करके भी मनुष्य किसी भी अन्य धर्म को ग्रहण कर उसका पालन कर सकता था। सभी धर्मवलम्बी अपना-अपना धार्मिक विश्वास रखते हुए भी अशोक के धर्म को मान सकते थे। अशोक का धर्म धर्मावलम्बियों में सद्भावना उत्पन्न करने के लिए था, उनके ध र्मो या देवी-देवताओं को अपदस्थ करने या उनका अनादर करने के लिए नहीं था।

### अंहिसा की उच्चता

समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा का सिद्धान्त प्रतिपादित करके अशोक के धर्म में अंहिसा को ऊंचा स्थान दिया गया था।

### धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता

अशोक के धर्म में धार्मिक कटुता और संकीर्णता को स्थान नहीं दिया था। उसमें धार्मिक उदारता और सहिष्णुता थी। स्वयं अशोक समस्त प्रचलित धर्मो के प्रति आदर और श्रद्धा रखता था। ''वह ईश्वर के पित त्व और मानव के मात त्व में विश्वास करता था।''

### लोक कल्याण

अशोक के धर्म-प्रचार के पीछे लोक-कल्याण की भावना थी। धर्म को व्यावहारिक रूप देने के लिए अशोक ने जन-कल्याण और परोपकारिता के अनेक कार्य किये।

### आडम्बरहीनता

अशोक ने धर्म में बह्य आडम्बरों, अनुष्ठानों और विडम्बनाओं को स्थान नहीं दिया।

## धम्म की आलोचना

कुछ इतिहासकार अशोक के धर्म को राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का एक हथकंडा मात्र मानते है। रोमिला थापर ने लिखा है कि कुछ राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही अशोक ने एक नये धर्म की कल्पना की तथा इसका प्रसार किया। चंद्रगुप्त मौर्य के समय शासन के केन्द्रीकरण की नीति सफलतापूर्वक पूरी हो चुकी थी। किन्तु केन्द्र का आधिपत्य बनाए रखना दो ही तरह से संभव था, एक सैनिक शक्ति द्वारा कठोर शासन तथा राजा में देवत्व का आरोपण करके और दूसरे सभी वर्गों में संकलित सारग्राही धर्म को अपनाकर। यह दूसरा तरीका ही अधिक युक्ति-संगत था क्योंकि ऐसा करने से किसी एक वर्ग का प्रभाव कम किया जा सकता था और फलतः केन्द्र का प्रभाव बढ़ता। अशोक की यह नीति सार रूप में वही थी जो अकबर ने अपनाई थी यद्यपि उसका रूप भिन्न था। सिहांसनारूढ़ होने के समय अशोक बौद्ध नहीं था। बाद मे ही उसकी बौद्ध धर्म में रूचि बढ़ी क्योंकि उत्तराधिकार युद्ध बौद्ध धर्म को स्पष्ट रूप में समर्थन देकर उसने उन वर्गो का समर्थन प्राप्त किया जो कट्टर नहीं थे। इस प्रकार अशोक

धर्म को अपनाने में व्यवहारिक लाभ देखा। इस नए धम्म की कल्पना का दूसरा कारण था छोटी-२ राजनीतिक इकाइयों मे बंटे साम्राज्य के विभिन्न वर्गो, जातियों और संस्क तियों को एक सूत्र में बांधना।

किन्तु **बौद्ध अनुश्रुतियों** और **अशोक के अभिलेखों** से यह सिद्ध होता कि उसने किसी राजनीतिक उद्देश्य से धम्म का प्रचार किया हो। तेरहवें शिलाभिलेख और लघुशिलालेख से विदित होता है कि अशोक धर्मपरिवर्तन का कलिंग युद्ध से निकट संबंध है इसमें संदेह नहीं कि अशोक सच्चे ह्दय से अपनी प्रजा का नैतिक पुनरूद्धार करना चाहते थे। और उसके लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहा। वह निस्संदेह एक आदर्श को चरितार्थ करना चाहता था। यही अशोक की मौलिकता है।

इस तरह कह सकते हैं कि जिस धर्म का प्रतिपादन अशोक ने किया वह रूढ़िवादी, कर्मकाण्डवादी, बाह्य आडम्बर पूर्ण, गूढ़ क्रियावादी, दर्शन मूलक और सूक्ष्म तत्वापेक्षही न था। अशोक का धर्म किसी एक धार्मिक समाज के अन्तर्गत नहीं था। अपितु उसके धार्मिक उपदेश व्यापक नैतिक नियमों का संकलन थे। जहां तक उसके व्यक्तिगत धर्म का सम्बन्ध है, अशोक बौद्ध मतावलम्बी था, परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचारों और सिद्धान्तों को अपनी प्रजा पर लादने का प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में उसके धर्म में सर्वमान्य आचार तत्वों और नैतिक नियमों का समन्वय था और वह अत्यन्त ही सरल, सुबोध, पवित्र, नैतिक और व्यावहारिक था। उसका धर्म सर्वमंगलकारी था जिसका उद्देश्य प्राणिमात्र का उद्धार करना था। अशोक का धम्म उसके जीवन में घुल गया था। वह उसके समस्त प्रशासन की आधारपीठिका था। ''धम्मेन पालना धम्मेन विधाने, धम्मेन सुखियाना, धम्मेन गोती (रक्षा)'' से विदित होता है कि उसका धर्म उसके शासन और जीवन का एक अविच्छिन्न अंग बन गया था।

## मौर्यकालीन कला

मौर्ययुगीन आर्थिक सम्पन्नता ने कला के विकास को प्रभावित किया। वस्तुतः हड़प्पा काल के पश्चात पहली बार भारतीय कला के स्पष्ट प्रमाण मौर्य काल में हष्टिगोचर होते हैं। मौर्ययुगीन कला को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

1. दरबारी कला अथवा राजकीय कला जिसमें राजतक्षाओं द्वारा निर्मित स्मारक मिलते हैं जैसे राजप्रासाद, स्तम्भ, गुहा-विहार, स्तूप आदि।
2. लोककला जिसमें स्वतंत्र कलाकारों द्वारा लोकरूचि की वस्तुओं का निर्माण किया गया, जैसे यक्ष-यक्षिणी प्रतिमायें, मिट्टी की मूर्तियाँ आदि।

## राजकीय कला : मौर्य राजप्रासाद

राजकीय कला के अर्न्तगत राज्य या शासको के प्रयास से सुन्दर कला-क तियाँ बनाई गईं। इस श्रेणी में चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित पाटलिपुत्र के राजप्रासाद, अशोक द्वारा स्थापित प्रस्तर-स्तंभ (लाट), स्तूप एवं गुफाओं को रखा गया है। मौर्ययुग के भवनों में पकाई गई ईंटों के व्यवहार का प्रमाण यद्यपि बड़े पैमाने पर मिलता है, तथापि लकड़ी और पत्थर का उपयोग भी भवन-निर्माण के लिए किया जाता था। इसका सबसे बढ़िया नमूना काष्ठ-निर्मित पाटलिपुत्र का राजप्रासाद है, जिसकी प्रशंसा यूनानी लेखक करते हैं। उनके अनुसार पाटलिपुत्र नगर की सुन्दरता अद्वितीय थी। इसके राजप्रासाद की तुलना में सूसा और एकबतना भी फीके थे। पाटलिपुत्र नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा था। पुनपुन नदी भी इसके नजदीक ही थी। मेगस्थनीज के अनुसार नगर 9½ मील (15.2 किलोमीटर) लम्बा और ½ मील (0.8 किलोमीटर) चौड़ा था। नगर की सुरक्षा के लिए लकड़ी की चारदीवारी बनी हुई थी। इनमें जगह जगह छिद्र बनाए गए थे, जिससे

तीरंदाज नगर की सुरक्षा कर सकें। चारदीवारी के बाहर चारों तरफ एक गहरी खाई (600 फुट चौड़ी एवं 60 फुट गहरी) बनायी गयी थी। नगर में प्रवेश के लिए अनेक प्रवेश-द्वार बने हुए थे। दीवारों पर बुर्ज भी बने हुए थे। इनकी संख्या 570 थी। कुम्हरार, बुलंदी बाग और अन्य समीपवर्ती स्थानों के उत्खननों से इस चारदीवारी और लकड़ी के स्तंभ के प्रमाण मिले हैं। बुलंदी बाग के उत्खननों से 150 फीट (लगभग 47.75 मीटर) लम्बा लकड़ी का प्राचीर मिला है। इस प्राचीर का निर्माण लकड़ी के खंभों की दो पंक्तियों से हुआ था। खम्भे 14.5 फीट (4.4 मीटर) की दूरी पर लगाए गए थे। खंभों के बीच के अंतर को लकड़ी के स्लीपरों से पाटा गया था। खंभे करीब 12.5 फीट (3.8 मीटर) जमीन के ऊपर और 5 फीट (1.52 मीटर) जमीन के अन्दर थे।

अशोक ने इस राजप्रासाद का विस्तार किया तथा अनेक नए भवन भी बनवाए। उसके समय में भवन में पत्थरों का भी इस्तेमाल हुआ। कुम्हरार में एक विशाल भवन जो 80 प्रस्तरस्तंभों पर टिका हुआ था, प्रकाश में आया है। अनेक स्तंभ अब भी अपनी जगह पर टिके हुए हैं। कुम्हरार के उत्खननों से करीब 40 स्तंभ जमीन में धंसे पाए गए हैं। यह भवन संभवतः एक सभाकक्ष था। इसकी लम्बाई करीब 140 फीट (42.67 मीटर) और ऊँचाई 120 फीट (36.58 मीटर) थी। अनुमानतः इसका पर्खा और छत लकड़ी का बना हुआ था। भवन के स्तंभ बलुआ पत्थर के बने हुए हैं और उन पर चमकदार पालिश है। फाहियान भी अशोक के भवनों में पत्थरों के उपयोग की चर्चा करता है। इन भवनों से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि वह कहता है कि इन्हें देवताओं ने बनाया था, मनुष्य ने नहीं। ह्यूनत्सांग भी अशोक द्वारा बनवाए गए भवनों का उल्लेख करता है।

अशोक के समय तक मौर्यकला के बहुसंख्यक स्मारक मिलते हैं। इस समय की कला-क तियों को चार भागों में विभाजित किया गया है - स्तंभ, स्तूप, वेदिका तथा गुहा-विहार।

## अशोक स्तंभ

अशोक के समय की कला का सर्वोत्क ष्ट नमूना उसके द्वारा बनवाए गए विशाल प्रस्तर-स्तंभ अथवा लाट हैं। ये सभी स्तंभ पत्थर के एक ही टुकडें से बनाए गए हैं। इनके निर्माण में चुनार का बलुआ पत्थर उपयोग में लाया गया था। इन पर अशोक के आदेश खुदे हुए हैं। ये स्तंभ अनेक जगहों से प्राप्त हुए हैं, जैसे - दिल्ली-टोपरा, दिल्ली-मेरठ, लौरिया-अरेराज, लौरिया-नंदनगढ़, रमपुरवा, सारनाथ, कौशांबी इत्यादि। करीब 20 ऐसे स्तंभ पाए गए हैं। इन स्तंभों की ऊँचाई करीब 40-50 फीट और वजन लगभग 50 टन तक हैं। स्तंभों का आधार मोटा है, परंतु ऊपरी भाग क्रमशः पतला होता चला गया है। इन स्तंभों पर चमकदार पॉलिश की गयी है। स्तंभों के शीर्ष पर घंटा, गोल अण्ड या चौकी हैं, जिनमें कुछ पर पशुओं के, कुछ पर चक्रों एवं हंसों की पंक्तियाँ अंकित हैं। उदाहरणस्वरूप, जहाँ सारनाथ -स्तंभ पर चार सिंह एक-दूसरे से सटे हुए बैठे हैं और एक चक्र धारण किए हुए हैं, वहीं रमपुरवा में स्तंभ शीर्ष को एक साँड़ सुशोभित कर रहा है इसी प्रकार, लौरिया-नंदनगढ़ स्तंभ के शीर्ष पर सिर्फ एक सिंह की ही अनुक ति है। वस्तुतः अशोक के स्तंभ अपनी सुन्दरता, विशालता एवं पशुओं की जीवंत अनुक ति के लिए विश्वविख्यात हैं।

अधिकांश विद्वानों का विचार है कि अशोक के स्तंभ ईरानी और यूनानी कला से प्रभावित हैं। ऐसा मत मुख्यतः पाश्चात्य विद्वानों ने व्यक्त किया है। भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी धारण है कि अशोक-स्तंभों का निर्माण विशुद्ध भारतीय परंपराओं के अनुरूप हुआ था, इन पर विदेशी कला का प्रभाव नहीं है। प्रो० नीहार रंजन राय ने मौर्यकालीन राजकीय कला

पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यह मूलरूप से व्यक्तिगत था, व्यक्तिगत इच्छाओं और अभिरूचियों के अनुसार इसे ढ़ाला गया था। अनेक विद्वान् मानते हैं कि अशोक के लाट पर जिस प्रकार की पशु आक तियाँ हैं, वह हड़प्पा की पशु आक तियों की परंपरा में हैं। वे यह भी मानते हैं कि पत्थर पर चमकदार पॉलिश करने की कला भारत में ईरानी संपर्क के पहले से ज्ञात थी। इसका एक प्रमाण काली मिट्टी के बर्तनों को पॉलिश कर चमकदार बनाने की प्रक्रिया से द ष्टिगोचर होता है। पुनः ईरानी स्तंभ जहाँ नालीदार हैं और प्रस्तर खंड़ों के जोड़ने से बने हैं वहीं अशोक के लाट सपाट और एक ही पत्थर से बने हैं। दोनों स्तंभों के घंटा और अलंकरण में भी अन्तर है।

## स्तूप

अशोक ने अनेक स्तूपों का भी निर्माण करवाया। चीनी यात्री (ह्वेनत्सांग) के अनुसार अशोक ने बुद्ध के अवशेषों पर 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया। यद्यपि यह संख्या कपोलकल्पित है, तथापित सांची, भरहुत और सारनाथ के स्तूप आरंभिक रूप में अशोक के समय ही बने। उसने भिक्षुओं के लिए विहार भी बनवाया। बोधगया के मंदिर के मूल-निर्माण का श्रेय भी अनेक विद्वान् अशोक को ही देते ळे। यद्यपि यह संदिग्ध है।

स्तूपों में बुद्ध अथवा उनके प्रमुख शिष्यों की धातु रखी जाती थी, अतः वे बौद्धों की श्रद्धा और उपासना के प्रमुख केन्द्र बन गए।

स्तूप चार प्रकार के बताये गए हैं -

1. शारीरिक - इनमें बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों की अस्थियाँ तथा उनके शरीर के विविध अंग (दंत, नख, केश आदि) रख जाते थे।
2. पारिभौगिक - इनमें बुद्ध द्वारा उपयोग में लाई गई वस्तुएं (भिक्षा पात्र, चरण-पादुका, आसन आदि) रखी जाती थी।
3. उद्देशिक - इनमें वे स्तूप आते थे जिन्हें महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं से संबंधित अथवा उनकी यात्रा से पवित्र हुए स्थानों पर स्म ति रूप में निर्मित किया जाता था। ऐसे स्थान बोधगया, लुम्बिनी, सारनाथ, कुशीनगर आदि हैं।
4. संकल्पित - ये छोटे आकार के होते थे और इन्हें बौद्ध तीर्थ स्थलों पर श्रद्धालुओं द्वारा स्थापित किया जाता था। बौद्ध धर्म में इसे पुण्य का काम बताया गया है।

स्तूप का प्रारम्भिक रूप अर्ध-गोलाकार मिलता है। इसमें एक चबूतरे के ऊपर उल्टे कटोरे की आक ति का एक थूहपं बनाया जाता है जिसे ''अंड'' कहते हैं। स्तूप की चोटी सिरे पर चपटी होती थी जिसके ऊपर धातु-पात्र रखा जाता था। इसे ''हर्मिका'' कहते हैं। यह स्तूप का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग होता था। हर्मिका का अर्थ देव-सदन अथवा देवताओं का निवासस्थान होता है। हर्मिका के बीच में एक यष्टि लगाई जाती थी। यष्टि के ऊपरी सिरे पर तीन छत्र लगाये जाते थे। स्तूप को चारों आरे से बाड़ अथवा दीवाल से घेर दिया जाता था। इसे ''वेदिका'' कहते हैं। स्तूप तथा वेदिका के बीच परिक्रमा करने के लिए जो खाली स्थान होता था उसे ''प्रदक्षिणापथ'' कहा जाता था। कालान्तर में वेदिका के चारों दिशाओं में प्रवेशद्वार बनाये गए। प्रवेशद्वार पर मेहराबदार तोरण बनाए जाते थे। इस प्रकार मेधि, वेदि, अण्ड, प्रदक्षिणापथ, हर्मिका, यष्टि, क्षेत्र, तोरण आदि स्तूप वास्तु के प्रमुख अंग होते थे। अशोक ने अपने समय में स्तूपों का विस्तार पूरे देश के किया था। मौर्यकालीन स्तूप ईटों के बने थे।

## पाषाण-वेदिका

मौर्ययुगीन स्तूप तथा विहार वेदिकाओं से घिरे होते थे। इनमें से कुछ के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। बोधगया से एक वेदिका के अवशेष मिले हैं। इनका निर्माण अशोक के समय में हुआ था। इसे ''बोधिमण्ड'' कहा जाता है। वेदिका के खम्भों तथा उनके जोड़ने वाली लम्बी पाषाण शिलापट्टिकाओं पर कम की आक ति बनी है। कहीं-कहीं अश्व, हाथी, मकर आदि की आक तियाँ भी उत्कीर्ण मिलती हैं। सारनाथ से भी अशोक के समय की एक पाषाण वेदिका मिली है। इसे एक ही पत्थर में काटकर चौकोर बनाया गया है। यह आकर्षक, सुन्दर एवं चिकनी है। पाटलिपुत्र की खुदाई से तीन वेदिकाओं के टुकडें मिले हैं जो अपनी चमकीली पॉलिश के कारण मौर्ययुगीन माने जाते हैं। सांची के मौर्ययुगीन स्तूप की ईटों के अतिरिक्त पाषाण का एक खण्डित छत्र भी प्राप्त हुआ है।

## अशोक कालीन गुफाएँ/गुफा विहार

कला के क्षेत्र में अशोक का दूसरा महत्वपूर्ण योगदान है - गुफाओं का निर्माण। ठोस पहाड़ की चट्टानों को कुशलता पूर्वक काटकर गुफाओं का निर्माण करवाया गया। बिहार में गया जिला के अंतर्गत बराबर की पहाड़ियों में ऐसी गुफाएँ बनवाई गई, जहाँ से अशोक के अभिलेख भी मिले हैं। पहली गुफा अशोक के 12वें राजवर्ष की है (न्यग्रोध - गुहा या सुदामागुहा)। इसे आजीवकों को दिया गया था। दूसरी गुफा (विश्व - झोपड़ी गुहा) भी इस वर्ष (अभिषेक के 12 वर्षों के बाद) आजीवकों को दी गयी। तीसरी गुफा (कर्णचौपड़) 19वें शासनवर्ष में सन्यासियों को बाढ़ से सुरक्षा के उद्देश्य से दी गई थी। गुफाओं की निर्माण-शैली बौद्ध शैली से मिलती-जुलती है। बाद में अशोक के पुत्र दशरथ ने भी नागार्जुनी (गया जिला) की पहाड़ियों में तीन गुफाएँ बनाकर आजीवकों को दान में दी। अशोक द्वारा बनवाई गई गुफाओं के आधार पर ही कालांतर में भाजा, कन्हेरी और कार्ले के चैत्य ग हों का निर्माण हुआ।

## लोककला

राजकीय कला के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से लोक-कला का भी विकास इस युग में हुआ। मिट्टी के सुन्दर बर्तन, मूर्तियाँ एवं खिलौने बनाए गए। मिट्टी के बर्तनों पर काली पॉलिश कर उन्हें चमकदार बना दिया जाता था। इनकी चमक आज भी बनी हुई है। बुलंदी बाग से हँसते हुए बालक की मिट्टी की मूर्ति अनायास ही ध्यान आक ष्ट करती है। मिट्टी एवं धातुओं के सुन्दर आभूषण भी बनाए गए। पत्थर से विभिन्न सुन्दर और जीवंत मूर्तियाँ भी बनी। मौर्यकालीन मूर्तियों में विशेष उल्लेखनीय हैं परखम से प्राप्त यक्ष की मूर्ति, पटना से प्राप्त यक्ष की दो मूर्तियों, दीदारगंज से प्राप्त चामरधारिणी यक्षी की मूर्ति, लोहानीपूर से प्राप्त नग्न तीर्थकर की मूर्ति, बेसनगर में मिली यक्षी - प्रतिमा इत्यादि। इन मूर्तियों की जीवंतता देखते ही बनती है। दीदारगंज की यक्षी मौर्यकालीन मूर्तिकला की सर्वोत्तम क ति मानी जाती है। समूचे विश्व में इसके समकक्ष अन्य कोई भी मूर्ति नहीं है। अन्य ललितकलाओं - नाटक, संगीत, न त्य, चित्रकारी इत्यादि का भी इस समय विकास हुआ।

इस प्रकार मठों, विहारों, स्तूपों इत्यादि का निर्माण कर अशोक ने बौद्ध धर्म की प्रोन्नति एवं प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसने सर्वाधिक स्तूपों का निर्माण करवाया। स्तूपों के साथ-साथ मठों तथा विहारों का भी निर्माण करवाया तथा दानादि द्वारा इनके व्यय की व्यवस्था की। इनमें बहुसंख्यक भिक्षु-भिक्षुणी रहा करते थे तथा बौद्ध धर्म के चिन्तन, मनन तथा प्रचार-प्रसार में यत्नशील रहते थे। स्तंभ प्रज्ञापन सात में अशोक उन निर्माणात्मक कार्यों का जिक्र करता है, जिस उसने प्रजा के हित के निमित्त किया था। इससे प्राणियों के लौकिक हित

की साधना होती थी। उनमें व क्षारोपण, कुओं तथा विश्राम-ग हों के निर्माण के साथ-साथ जलाशयों (पौसले) की व्यवस्था की गयी थी। संयुक्तनिकाय में स्वर्ग-प्राप्ति के साधनों में फलदार व क्षारोपण, सेतु, बाँध, कूप तथा जलाशयों का निर्माण तथा अनाथालयों की स्थापना का उल्लेख किया गया है। अस्तु, अशोक द्वारा अंगीक त सार्वजनिक निर्माण के कार्य बौद्ध धर्म के अनुकूल थे तथा इससे बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में सहायता मिली। क्रिस्टमस हम्फेज ने अशोक के निर्माणात्मक कार्यों की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। आपके अनुसार ''जलाशयों'' कूपों तथा चिकित्सालयों तथा शानदार स्तूपों का निर्माण कर अशोक ने न केवल शाक्यमुनि की स्म ति सुरक्षित रखी प्रत्युत भारतवासियों को ऐसी कला के स जन के लिए उत्प्रेरित किया जिसकी कला के इतिहास में कहीं बराबरी नहीं मिलती।''

## पाटलीपुत्र, सांची, भरहुत, सारनाथ, तक्षशिला

### पाटलिपुत्र

साहित्यिक, अभिलेखीय तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से मौर्य काल के प्रमुख नगरों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। पाटलिपुत्र नगर के विषय में मेगास्थनीज नामक यूनानी राजदूत द्वारा लिखित 'इण्डिका' नामक पुस्तक के उपलब्ध उद्धरणों से सूचना मिलती है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सेल्यूकस की सन्धि हो जाने पर उसने राजधानी पाटलिपुत्र में मेगास्थनीज नामक एक राजदूत भेजा। मेगास्थनीज ने ''इण्डिका'' नामक पुस्तक की रचना की थी जो मूल रूप से अब उपलब्ध नहीं है। इस पुस्तक के उद्धरण स्ट्रैबों, एरियन एवं प्लिनी आदि यूनानी-रोमन लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं। स्वानबेक नाम विद्वान ने सन् 1846 ई. में इन उद्धरणों को संकलित कर के प्रकाशित किया था। मैक क्रिण्डल ने सन् 1819 में इनको अंग्रेजी में अनूदित किया था।

मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर का विस्त त वर्णन किया है। उसने पाटलिपुत्र को ''पालिबोथ्रा'' कहा है और गंगा तथा सोन के संगम पर स्थित बतलाया है। यह नगर 15 किमी (80 स्टेडिया) लम्बा और लगभग 1.50 किमी (15 स्टेडिया) चौड़ा था। इसके चारों ओर 90 मीटर चौड़ी तथा 9 मीटर गहरी खाई थी। इसके चारों ओर एक ऊँची रक्षा-प्राचीर थी जिसमें 570 बुर्ज और 64 दरवाजे थे। पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य का राजमहल था। प्राचीन यूनानी इतिहासकारों के अनुसार यह अत्यन्त भव्य और रमणीक था। ईरान के सूसा और एकबेटना के महल उसके सामने नगण्य थे। पाटलिपुत्र के राजमहल के पॉलिशदार स्तम्भों को सुनहरी लताओं और चाँदी के पक्षियों से सजाया गया था। राजमहल के चारों और सुन्दर उद्यान और जलघरों के युक्त सरोवर थे। यह राजमहल काष्ठ-निर्मित था। फाहियान ने भी इस राजमहल की प्रशंसा की थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सात सौ वर्ष बाद भी इसने अपनी भव्यता नहीं खोई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में पाटलिपुत्र का वह राजमहल आग में जलकर भस्म हो गया। पटना के कुम्हरार नामक स्थान पर सन् 1912-16 ई. डी. बी. स्पूनर और एल. ए. वैडेल द्वारा की गई खुदाइयों से पाटलिपुत्र के विषय में मेगास्थनीज के साक्ष्यों की पुष्टि हुई है। उत्खनन के फलस्वरूप पाटलिपुत्र की लकड़ी की दीवाल एवं स्तम्भों के अवशेष प्राप्त हुए। डी. बी. स्पूनर और एल. ए. बैडेल पाटलिपुत्र के दुर्ग-प्राचीर और राजप्रासाद की शहतीरों को हजार वर्षों से ज्यादा समय बाद भी वैसा ही चिकना और अक्षत पाकर दंग रह गए थे। इनके अलावा पत्थर के 80 स्तम्भों के आधारभूत हिस्से मिले हैं। यह स्तम्भ 8 पंक्तियों में थे तथा प्रत्येक पंक्ति में 10 स्तम्भ थे। दो स्तम्भों के बीच की दूरी 4.50 मीटर थी। यह भवन राजमहल अथवा सभा-मण्डप रहा होगा। इस राजमहल की फर्श एवं छत लकड़ी की बनी हुई थी। राजमहल के दक्षिण में लकड़ी के बने हुए सात चबूतरे अथवा मंच मिले हैं। प्रत्येक मंच 9 मीटर लम्बा 1.50 मीटर चौड़ा

और 1.35 मीटर ऊँचा है। इनका निर्माण किस लिए किया गया था, यह स्पष्ट नहीं है।

सन् 1926-27 ई. में पटना के बुलन्दी बाग नामक स्थान पर काष्ठ-निर्मित दीवाल एवं खण्डित काष्ठ-स्तम्भ मिले थे। यहाँ फर्श पर जो पटरे बिछे हुए मिले थे, उनमें से प्रत्येक 4.20 मीटर लम्बा था। इनके ऊपर काष्ठ-स्तम्भ खड़े किये गए थे जिनमें से प्रत्येक 4.50 मीटर ऊँचा था। इन खड़े स्तम्भों के सिरों पर चूलदार धरन जोडें गए थे। लकड़ी का बना हुआ यह घेरा 75 मीटर की लम्बाई तक मिला था। बुलन्दी बाग के पूर्व में लगभग एक किमी की दूरी पर स्थित गोसाई खण्ड नामक स्थान से भी लकड़ी के इसी प्रकार के अवशेष आकस्मिक ढंग से प्रकाश में आए हैं। इनमें अंतर केवल इतना था कि फर्श पर लकड़ी के पटने नहीं बिछे हुए थे।

सन् 1951 से 1955 ई. के बीच में के के. पी. जायसवाल शोध संस्थान की ओर से प्रोफेसर ए. एस. अल्तेकर एवं विजय कान्त मिश्र के नेत त्व में कुम्हरार का पुनः उत्खनन कराया गया। इस उत्खनन से ज्ञात हुआ कि अग्नि काण्ड के पश्चात् द्वितीय शताब्दी ई. पू. में पत्थर के स्तम्भों और लकड़ी के बचे हुए ठूँठ हटा दिए गए थे। ईटों के बने हुए अनेक भवनों के अवशेष मिले हैं जिनमें से कुछ का निर्माण काल मौर्य सुग से माना जा सकता है। मिट्टी की एक रात-मुद्रांक से यह ज्ञात होता है कि इनमें से एक भवन का नाम ''आरोग्य विहार'' था। सन् 1955-56 में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्क ति एवं पुरातत्व विभाग ने प्रोफेसर बी. पी. सिन्हा के निर्देशन में पटना शहर के चार विभिन्न स्थानों पर उत्खनन कराया जिसके फलस्वरूप तीन सांस्क तिक कालों से सम्बन्धित पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। प्रथम सांस्क तिक काल का कालक्रम 600 ई. पू. से 150 ई. पू. द्वितीय का 150 ई. पू. से 500 ई. और तीसरे का 700 ई. और उनके बाद निर्धारित किया गया है। इनमें से प्रथम सांस्क तिक काल से प्राप्त पुरावशेष पाटलिपुत्र की प्राचीन वास्तुकला पर प्रकाश डालते हैं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काष्ठ कला अपनी पराकाष्ठा पर पाटलिपुत्र नगर निर्माण शैली में दिखलाई पड़ती है।

## साँची

साँची मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में स्थित है। यह विदिशा से उत्तर-पूर्व दिशा में केवल 9 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। साँची की पहाड़ी पर तीसरी शताब्दी ई. पू. से लेकर नवीं शताब्दी ई. पू. तक निर्माण कार्य होता रहा। बौद्ध धर्म के एक केन्द्र के रूप में साँची का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब मौर्यवंश के प्रसिद्ध शासक अशोक ने यहाँ पर ईटों के एक स्तूप का निर्माण कराया और इसके दक्षिणी द्वार के सामने एक स्तम्भ स्थापित कराया। साँची में प्रमुख स्तूपों की संख्या तीन हैं। इनके अलावा अनेक छोटे-छोटे अन्य स्तूप भी हैं। साँची के आस-पास अनेक स्थानों पर भी स्तूपों का निर्माण किया गया था। इन स्थानों में सतधारा, सोनारी, अँधेर और भोजपुर प्रमुख हैं।

साँची के तीन स्तूपों में जो सबसे बड़ा है वह महास्तूप (स्तूप संख्या) 1 के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पास में ही दो अन्य अपेक्षाक त छोटे स्तूप हैं जिनको स्तूप संख्या २ और स्तूप संख्या 3 के नाम से अध्ययन की सुविधा के लिए दिया गया है। सर जॉन मार्शल ने सन् 1912 से 1920 ई. के बीच में साँची के स्तूपों का अध्ययन किया और इन स्तूपों का पुनरूद्धार कराया था। अपने मूलरूप में सुरक्षित होने के कारण साँची के महास्तूप का विशेष महत्व है और अन्य दो स्तूपों के अध्ययन के आधार पर प्रारम्भिक स्तूपों के स्वरूप के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है।

साँची का महास्तूप अपने मूल रूप में ईटों का बना हुआ था जिसे संभवतः अशो क ने तीसरी शताब्दी ई. पू. में बनवाया था। बनने के लगभग एक शताब्दी पश्चात् शुंग-सातवाहन काल में इसको विवर्द्धित किया गया और प्रस्तर - खण्डों से आच्छादित किया गया। इस प्रकार मूल स्तूप

का आकार दो गुना हो गया। विवर्द्धित स्तूप का व्यास लगभग 40 मीटर और ऊँचाई 16.50 मीटर हो गई। यह स्तूप तीन वेदिकाओं के द्वारा तीन भूमियों में विभक्त है। भूमितल, मध्यतल और हर्मिका के चारों ओर वेदिकाओं के निर्माण-इसको त्रिमेधि स्तूप कहा गया है। भूमितल पर बनी हुई है महास्तूप की वेदिका सादी है। स्तूप के चारों आरे लगे वेदिका-स्तम्भों पर निर्माण कराने वाले अनेक दानदाताओं के नाम अंकित है। पत्थरों की यह वेदिका अठपहलू स्तम्भों की बनी हुई है। जिनके ऊपर उष्णीव लगे हैं जो ऊपर की ओर गोलाकार हैं। खड़े स्तम्भों के बीच में जो सूचियाँ लगी हुई हैं उनकी जुड़ाई में काष्ठ कला का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। महास्तूप का अण्ड गोल आकार की मेधि के ऊपर स्थित है। मेधि और वेदिका के बीच में 2.25 मीटर जगह छूटी हुई है। यह खाली जगह प्रदक्षिणापथ के रूप में उपयोग होती है। स्तूप के ऊपर जाने के लिए मेधि के दक्षिणी भाग में चौड़ी दोहरी सीढ़ियाँ हैं। स्तूप के ऊपर का प्रदक्षिणापथ पत्थर की वेदिका से घिरा हुआ है। अण्ड का शिखर चिपटा है। जिसमें वेदिका से घिरी हुई हर्मिका है जिसके बीच में यष्टि है। यष्टि में तीन छत्रों से युक्त छत्रावली है।

महास्तूप के भूमितल की वेदिका में चार तोरण हैं। वेदिका की अपेक्षा इन तोरणों का निर्माण परवर्ती माना जाता है। साँची के चारों तोरण-द्वार अलंक त हैं। साँची के महास्तूप का वर्तमान विवर्द्धित स्वरूप द्वितीय शताब्दी ई. पू. में शुंग काल में रखा जा सकता है किंतु इसके तोरण आन्ध्र सातवाहन काल में 72-22 ई. पू. के बीच निर्मित हुए। वेदिका की भाँति तोरणों का भी भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने निर्माण कराया था। दक्षिण के तोरण पर राज श्रीशातकर्णि के शिलिपियों के अध्यक्ष वासिष्ठीपुत्र आनन्द आनन्द का नाम उत्कीर्ण है। सबसे पहले बने इस तोरण का निर्माण विदिशा की एक दन्तकार श्रेणी ने किया था। अन्य तीनों तोरण भी इसके शीघ्र बाद ही बनाए गए रहे होंगे क्योंकि अयचूड़ के शिष्य बलमित्र का नाम दक्षिण तथा पश्चिम के दोनों तोरणों में अंकित मिलता है। दक्षिण में तोरण के पश्चात उत्तर का तोरण द्वार बनाया गया जो सबसे सुरक्षित अवस्था में है। पूर्वी और पश्चिमी तोरण क्रमशः उसके बाद बनाये गए थे। प्रत्येक तोरण - द्वार में 4.25 मीटी ऊँचे चौपहल दो भारी स्तम्भ हैं। उन स्तम्भों के ऊपर स्तम्भ-शीर्षक हैं। शीर्षकों पर चार हाथियों, सिंहों के अग्रभाग या चार बौनों के संघाट बने हुए हैं। जो ऊपर की बँडेरियों का बोझ सँभाले हुए हैं। दक्षिण तोरण-स्तम्भों के शीर्ष पर चार सिंहों को तोरण द्वार के बाहर अशोक के स्तम्भ के चार सिंहों के संघाट से मिलते जुलते रूप में बनाया गया है जिन पर तेहरी बँडेरियाँ हैं जो बीच में थोड़ा कमानीदार है। बँडेरियों के ऊपर हाथी, सिंह, धर्म-चक्र तथा त्रिरत्न आदि बने हुए हैं। उत्तरी तथा पूर्वी तोरणों को छोड़कर शेष तोरणों की ऊपरी बँडेरियों से त्रिरत्न और धर्मचक्र अब नष्ट हो चुके हैं। उत्तरी तोरण की सम्पूर्ण ऊँचाई 11.35 मीटर है। उत्तर तोरण के स्तम्भों के शीर्ष पर चार हाथियों के संघाट है।

साँची के महास्तूप के तोरण-द्वारों का अलंकरण भरहुत की तरह हीनयान बौद्धधर्म से सम्बन्धि ात होते हुए भी तत्कालीन जीवन की एक मनोरम झाँकी प्रस्तुत करता है। बुद्ध और उनके जीवन की कतिपय घटनाओं के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणियों, वामन, विभिन्न पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों एवं लता-पुष्पों आदि का अंकन मिलता है। बुद्ध के जीवन की पाँच घटनाओं -जाति (जन्म), महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा निर्वाण का पुनःपुनः अंकन तोरणों पर किया गया है। इन घटनाओं के अंकन में बुद्ध की उपस्थिति को सदैव प्रतीकों में माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। बुद्ध के व्यक्तिगत जीवन की प्रमुख घटनाओं के अंकन के अतिरिक्त जातककथाओं के द श्यों का साँची के शिल्प में मूर्तन मिलता है। पल्लवित, पुष्पित, हरे-भरे पेड़-पौधों, लताओं तथा कल्पव क्षों का अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ चित्रण किया गया है। साँची की कला में पत्र, पुष्प, लता एवं पेड़-पौधों का अत्यन्त सुन्दर शिल्पांकन किया गया है।

साँची के महास्तूप के अतिरिक्त दो अन्य प्रमुख स्तूप उल्लेखनीय हैं। इनमें से स्तूप संख्या 2 साँची की पहाड़ी के पश्चिम ढलान पर महास्तूप से लगभग 325 मीटर की दूरी पर स्थित है। उसकी रूपरेखा साँची के महास्तूप से मिलती जुलती है किन्तु यह आकार में छोटा है। इसकी वेदिका में अलंकरण है, जबकि महास्तूप की वेदिका सादी है।

स्तूप संख्या 3 महास्तूप संख्या 1 के उत्तर-पूर्व दिशा में लगभग 45 मीटर की दूरी पर साँची की पहाड़ी के ऊपर ही स्थित है। यह स्तूप आकार में अपेक्षाक त छोटा है। इसका स्तूप और दक्षिण की ओर का केवल ऐ तोरण द्वार शेष है। इस स्तूप का निर्माण द्वितीय शताब्दी ई. पू. में हुआ था। इस स्तूप का महत्व यह है कि गौतम बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान के अस्थि-अवशेष इस स्तूप में रखे हुए कनिघंम को प्राप्त हुए थे।

## भरहुत

भरहुत का स्तूप, मध्य प्रदेश के सतना जिले में, सतना नगर से लगभग १४०५० कि.मी. दक्षिण दिशा में स्थित था। यह स्तूप अब पूर्णतः विनष्ट हो चुका है। प्रमुख स्तूप की मात्र नींव शेष है तथा प्रमुख स्तूप के समीप ऐ चबूतरे पर हनुमान जी की प्रतिमा स्थापित है। इस स्तूप की खोज 1873 ई. में करने का श्रेय अलेक्जेण्डर कनिंघम महोदय को है।

भरहुत की वेदिका में तीन-चार स्थलों पर स्तूप को ''अण्ड'' भाग की मूल आक ति अंकित थी जिसके आधार पर इसके वास्तविक स्वरूप के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। स्तूप का आकार अर्द्ध-गोलाकार था। अशोक के काल में स्तूप का मूल भाग पत्थर के टुकड़ों की नींव पर संभवतः ईटों का बना हुआ था। अण्ड के ऊपर हर्मिका, यष्टि तथा छत्र बने रहे होंगे। स्तूप के चारों ओर लाल पत्थर की वेदिका का निर्माण किया गया था। कनिंघम को वेदिका के केवल 49 स्तम्भ मिले थे। एक अनुमान के अनुसार सम्पूर्ण वेदिका में कुल 80 स्तम्भ रहे होंगे, वेदिका के दो खड़ें स्तम्भों में तीन सूचियाँ चूल बनाकर पिरोयी गयी थीं तथा उन स्तम्भों के ऊपर गोलाकार भारी उष्णीव बनाया गया था। भरहुत की वेदिका का प्रत्येक स्तम्भ लगभग 2.15 मीटर ऊँचा तथा 56.25 सें.मी. चौड़ा है। इनमें पिरोयी वर्गाकार प्रत्येक सूची 56.25 से.मी. चौड़ी तथा 7.50 से. मी. मोटी है। कनिंघम को केवल 80 सूचियाँ मिली थीं किंतु इनकी संख्या 228 अनुमानित की गई है। प्रत्येक उष्णीव 2.15 मीटर लम्बा तथा 56.25 से. मी. चौड़ा है।

भरहुत की वेदिका पर व त्तों में अंकित द श्यों के नाम तत्कालीन ब्राह्मी लिपि और प्राक त भाषा में मिलते हैं इसलिए उनकी पहचान करना बहुत आसान है। भरहुत के स्तूप एवं उसकी वेदिका के निर्माण में जन सामान्य का महत्वपूर्ण योगदान था। अभी तक ज्ञात 136 दान परक अभिलेखों में, 25 भिक्षुओं, 16 भिक्षुणियों, 58 सामान्य पुरूषों, 36 सामान्य स्त्रियों के द्वारा दिये गए दान के सूचक हैं। भरहुत की वेदिका की मूर्तिकला बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा से सम्बन्धित है जिसमें बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनती थी। बुद्ध की उपस्थिति छत्र, बोधिव क्ष, धर्मचक्र, पादुका, पदचिन्ह, भिक्षापात्र और स्तूप आदि प्रतीकों के माध्यम से प्रदर्शित की गया है। एक द श्य में बुद्ध के जन्म का प्रतीकात्मक अंकन है जिसमें मायादेवी स्वप्न देख रही है कि एक सफेद हाथी स्वर्ग से उतर कर उनके गर्भ में प्रवेश किया गया था। जातक-कथाओं के अंकन कथावस्तु के शीर्षक के नामोल्लेख पूर्व मिलते हैं। पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों आदि को स्तूप के अलंकरण अभिप्रायों के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनके अलावा यक्ष एवं यक्षिणी के अंकन भी वेदिका स्तम्भों में व त्त के अन्दर अत्यन्त कलात्मक रूप में मिलते हैं।

भरहुत की वेदिका में कम से कम 20 जातकों और 30 यक्ष-यक्षिणी, देवता, नागराज और पशु-पक्षियों तथा व क्षों के अंकन है। लगभग 6-7 ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन वेदिका में

किया गया है। यक्ष-यक्षिणी पूजा जनसामान्य के बीच लोकधर्म के रूप में प्रचलित थी। चार लोकपाल यक्ष चार दिशाओं के रक्षक माने जाते थे। भरहुत स्तूप में कुबेर यक्ष तथा सुप्राव ष् यक्ष के अंकन नाम के उल्लेख के साथ मिलते हैं। यक्षिणियों को भरहुत के अभिलेखों में देवता कहा गया है।

भरहुत की वेदिका चार भागों में विभक्त थी और प्रत्येक दिशा में प्रवेश के लिए एक तोरण-द्वार था। इन चारों तोरणों में से केवल पूर्व दिशा का तोरण ही प्राप्त हो सका है। तोरण के स्तम्भ 2.90 मीटर ऊँचे तथा 41.75 से. मी. मोटे एवं अठपहल है। प्रत्येक के ऊपर एक पद्याकार शीर्ष है जिसके ऊपर दूसरा अपेक्षाक त विशाल शीर्ष है। इन विशाल शीर्षों के ऊपर एक ओर सिंह संघाट और दूसरी ओर व षभ-संघाट उकेरे हुए हैं। स्तम्भों के सहाने तीन बडेरियाँ समानान्तर एक के ऊपर एक रखी हुई। हर दो बडेरियों के बीच में छोटे-छोटे स्तम्भ हैं। भरहुत के तोरण की बडेरियों के दोनों ओर के गोल सिरों पर मकराक तियाँ बनी हुई हैं, जिनके मुख खुले हुए हैं, पूँछ गोलाई लिए हुए हैं।

भरहुत के पूर्वी तोरण द्वार पर भी मूर्तन मिलता है। इस पर यक्ष, यक्षिणी देवताओं और कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं का अंकन किया गया है। बाहरी कोनों पर जातक द श्य अंकित हैं। भरहुत के शिल्प में तकनीकी द ष्टि से प्रस्तर-तक्षण में काष्ठ ला का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आक तियों को तरासने में कुशलता का अभाव मिलता है। भरहुत के स्तूप के अलंकरण में भारतीय जीवन-दर्शन की सफल दिखायी पड़ती है। भरहुत की कला में तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी दिखलाई पड़ती है।

**सारनाथ**

यह वाराणसी के समीप स्थित प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थस्थल है जहाँ महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश पाँच ब्राह्मण शिष्यों को दिया था। इसे ''धर्मचक्रप्रवर्तन'' कहा गया हैं। इसका एक नाम बौद्ध साहित्य में ''ऋषिपत्तन'' भी मिलता है। काशी के प्रसिद्ध श्रेष्ठि नन्दी ने यहाँ बुद्ध के लिए एक विहार बनवाये थे। इनमें सिंह-शीर्ष स्तम्भ अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसकी फलका पर चार सिंह परस्पर पीठ सटाये हुए चारों दिशाओं में मुँह करके बैठे हैं। उनके मस्तक पर एक धर्मचक्र था जो अब नहीं है। यह शक्ति के ऊपर धर्म की विजय का प्रतीक है। मार्शल इस स्तम्भ को कला की द ष्टि से बेजोड़ मानते हैं। सम्प्रति भारत राष्ट्र का यही राजचिन्ह है।

चीनी यात्रियों - फाहियान तथा ह्यूनत्सांग - दोनों ने सारनाथ का वर्णन किया है। फाहियान ने यहाँ चार बड़ें स्तूप और पाँच विहार देखे थे। ह्यूनत्सांग के अनुसार यहाँ तीस बौद्ध विहार थे जहाँ 1500 भिक्षु निवास करते थे। हिन्दुओं के 100 मन्दिर भी यहाँ स्थित थे।

सारनाथ की खुदाइयों में अनेक स्मारक प्राप्त होते हैं। धमेख स्तूप का निर्माण गुप्तकाल में हुआ माना जाता है। इसी समय की एक बुद्ध प्रतिमा भी मिलती है। इस पर विदेशी प्रभाव नहीं है तथा यह कला की द ष्टि से उत्क ष्ट है। एक प्राचीन शिव मन्दिर तथा जैन मन्दिर भी यहाँ स्थित है। आज भी यह स्थल बौद्धों की श्रद्धा एवं उनके आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है।

सारनाथ में अनेक बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ गुप्त काल में बनी। घनत्व के बोझ से मुक्त, आध्यात्मिक भव से अनुप्राणित, सलवट रहित महन वस्त्रधारी सारनाथ की बौद्ध कलाक तियों में अतुलनीय है, धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बनी बुद्ध की आसन मूर्ति। पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध के दाहिने हाथ की चुटकी, आवद्ध अगूंठा और तर्जनी, बाएं हाथ की अंगुली को स्वाभाविक रूप से छूते हुए दिखलाया गया है। संघाटी का अंकन इतना सूक्ष्म है कि वह प्रायः शरीर का अंग ही बन गया है। अलंकरण और सरलता के इस संयोजन ने मूर्ति के सौन्दर्य को अत्यधिक बढ़ा दिया है। इस

मूर्ति में बुद्ध के विभिन्न महापुरूष लक्षण मूर्तिमान हुए हैं। असान के निम्न भाग के मध्य में स्थित चक्र के दोनों पार्श्वो के बुद्ध के पांच शिष्यों का और बालक सहित स्त्री आक ति का रूपांकन है। प्रभामंडल के ऊपरी दोनों पार्श्व में आलीढ़, प्रत्यालीढ़ मुद्रा में पुष्पामात्र सहित नारी आक तियां बनी हैं। आसन की पीठ पर दोनों ओर सपक्ष सिंह तथा उसके ऊपर मकर मुख प्रदर्शित है। सारनाथ की कला में बुद्ध चरित के विभिन्न द श्यों को भी सफलता पूर्वक निरूपित किया गया है।

## तक्षशिला

वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में स्थित प्राचीन समय में गान्धार राज्य की राजधानी थी। रामायण के अनुसार भरत ने अपने पुत्र तक्ष के नाम पर इस नगर की स्थापना की थी। महाभारत से पता चलता है कि परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने इसे जीता तथा यही अपना प्रसिद्ध नागयज्ञ किया था। तक्षशिला के इतिहास में प्रसिद्धि का कारण उसका ख्याति प्राप्त शिक्षा केन्द्र होना था। यहाँ अध्ययन करने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे जिनमें राजा तथा सामान्य जन दोनों ही सम्मिलित थे। सबके साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। कोशल के राजा प्रसेनजित, मगध का राजवैद्य जीवक, सुप्रसिद्ध राजनीतिविद् चाणक्य, बौद्ध विद्वान वसुबन्धु आदि ने यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि यह धनुर्विद्या तथा वैद्यक की शिक्षा के लिए पूरे विश्व में प्रसिद्ध था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी सैनिक शिक्षा यहीं पर ग्रहण की थी। चाणक्य यहीं का प्रमुख आचार्य बन गया।

पश्चिमोत्तर भारत में स्थित होने के कारण तक्षशिला विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा आक्रान्त होता रहा। सिकन्दर के समय यहाँ का राजा आम्भी था जिसने स्वदेश के विरूद्ध उसकी मदद की थी। यूनानी लेखक इस देश की सम द्धि का उल्लेख करते हैं। मौर्यकाल में यहाँ उत्तरापथ की राजधानी थी। मौर्यकाल के बाद यहाँ इण्डो-यूनानी, शक तथा कुषाण राजाओं का शासन रहा। तक्षशिला पर चतुर्थ शती में गुप्त राजाओं का प्रभाव रहा। तत्पश्चात् हुणों ने आक्रमण करके यहाँ की प्राचीन सम द्धि एवं सभ्यता को नष्ट कर दिया। सातवीं शती के चीनी यात्री ह्यूनत्सांग के समय में यह नगर उजाड़ हो चुका था। तत्पश्चात् तक्षशिला का इतिहास अन्धकार पूर्ण हो गया। 1863 ई. में कनिंघम ने इस स्थान के खण्डहरों का पता लगाया। 1912 से 1929 तक मार्शल ने यहाँ व्यापक पैमाने पर खुदायी करके पुरातात्विक महत्त्व की अनेक वस्तुएँ प्राप्त की। तीन प्राचीन नगरों के अवशेष खुदाई में मिलते हैं जिनके आधुनिक नाम भीर का टीला, सिरकप तथा सिरमुख हैं। इसके अतिरिक्त अनेक भवनों, विहारों एवं स्तूपों के अवशेष भी खुदाई में मिलते हैं। इनसे पता चलता है कि तक्षशिला बौद्ध सभ्यता का प्रमुख केन्द्र रहा होगा। कुषाण-युगीन सिक्के भी मिलते हैं।

एक विशेष प्रकार के काले-चमकीले म द्भाण्ड यहाँ मिलते हैं जिन्हें एन० बी० पी० कहा जाता है। इस प्रकार के 22 बर्तनों के टुकड़े यहाँ से मिलते हैं , जिनके काल ई. पू. 500-200 निर्धारित किया गया है। तक्षशिला से, रोमन उत्पत्ति की कई प्राचीन सामग्रियाँ, जैसे धातु के बर्तन, काँच के कटोरे, मनके, रत्न आदि प्राप्त होते हैं। पश्चिम के कई देशों के व्यापारी स्थल-मार्ग द्वारा अपना माल लेकर तक्षशिला पहुँचते थे, तथा यहाँ से उसे देश के अन्य भागों में पहुँचाया जाता था।

इस प्रकार तक्षशिला प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध सांस्क तिक एवं व्यापारिक स्थल था।

तक्षशिला जैन-धर्म का भी तीर्थस्थल कहा गया है। पुराजन प्रबन्ध संग्रह में यहीं के 105 जैन स्थलों का विवरण प्राप्त होता है।

## मौर्य युगीन मूर्तिकला

मौर्ययुगीन मूर्तिकला के सर्वोत्तम नमूने अशोक स्तम्भों की मण्डित करने वाली विभिन्न पशुओं की आक तियों में दर्शनीय हैं। कला अभिप्रायों में बटी हुए रस्सी की डिजाइन, मणि माला की डिजाइन, कंटीली पत्ती और खजूर की पत्ती की तरह की डिजाइन तथा मधुबेल आदि उल्लेखनीय हैं, जिनका स्तम्भ शीर्ष की पशु-आक ति के नीचे की पट्टी को अलंक त करने के लिए प्रायः उपयोग किया गया है। मिट्टी की मूर्तियाँ, मनके तथा उत्तरी काली चमकीली पात्र-परम्परा मौर्य के विषय में प्रकाश डालती हैं।

अशोक के अनेक स्तम्भ-शीर्ष पशु आक तियों से अलंक त हैं। ये पशु आक तियाँ मूर्तिकला के अनोखे उदाहरण हैं। बसाढ़-बखिरा, लोरिया-नन्दनगढ़, संकिसा, रमपुरवा, साँची तथा सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष की पशु आक तियाँ उपलब्ध हैं। गया जिले की बराबर पहाड़ी की लोमश ऋषि की गुफा के प्रवेश द्वार के ऊपर अंकित हाथियों की आक तियाँ भी मौर्य काल की तक्षण कला के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष पर सिंह, गज, व षभ एवं अश्व आदि की मूर्तियाँ अकेले अथवा चार-चार के समूह में बनी हुई मिली है। बसाढ़-बखिरा के स्तम्भ के शीर्ष पर बनी हुई सिंह की अपेक्षाक त आक ति एवं अस्थिर मुद्रा के आधार पर इसको कलाविदों ने मूर्ति कला की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक माना है। शीर्ष पट्टिका चौकोर एवं अनलंक त है। शीर्ष पट्टिका का उसके नीचे स्थित घण्टाक ति से उचित संयोजन नहीं हो पाया है। शीर्ष पर बैठा हुआ सिंह स्तम्भ-यष्टि से अलग-थलग प्रतीत होता हैं। संकिसा के हस्ति-मंडित शीर्ष को इसके बाद रखा जा सकता है। इसकी शीर्ष - पट्टिका चौकोर के स्थान पर गोलाकार एवं पद्म, पुष्प आदि से अलंक त है। हाथी की आक ति हृष्ट-पुष्ट है एवं उसके विभिन्न अंगों के निर्माण में उचित अनुपात है किंतु गजाक ति एवं स्तम्भ-पट्टिका में सामंजस्य का अभाव खटकता है। उड़ीसा के पुरी जिले में अशोक के शासन के ग्यारहवें वर्ष में उत्कीर्ण धौली के शिलालेख के समीप चट्टान को तराश कर हाथी के अग्रभाग को बनाया गया है। इस मूर्ति के सूँड को अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से बनाया गया है, मानो यह हाथी सूँड से लपेट कर कोई वस्तु उठा रहा हो। हाथी के आगे का दाहिना पैर किंचित झुका हुआ है, बाँया पैर सीधा है। हाथी को मस्त चाल से चलता हुआ बनाया गया है। यह मूर्ति अपनी विशालता एवं ओजस्विता के लिए प्रसिद्ध है।

उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में स्थित कालसी के शिलालेख के पास चट्टान में एक हाथी की मूर्ति उत्कीर्ण है जिसके नीचे ब्राह्मी अक्षरों में 'गजतमें' (गजोत्तमः) अर्थात् श्रेष्ठ हाथी यह लेख खुदा हुआ है। यह रिलीफ मूर्ति की कला की द ष्टि से काफी उन्नत है। रमपुरवा के स्तम्भ-शीर्ष पर बनी साँड की मूर्ति को कलात्मक द ष्टि से संकिसा के हाथी के बाद रखा गया है। इस मूर्ति के निर्माण में मूर्तिकार ने आकार एवं छवि के अंकन में उल्लेखनीय विवेक का परिचय दिया है। साँड को उसके पूरे भारे के साथ बड़े शान्त और नैसर्गिक शक्ति के साथ जमीन पर खड़ा करके दिखलाने की कल्पना के साथ बनाया गया है। साँड के भीतर का ओज और जीवट अत्यन्त संयम तथा गौरव के साथ मूर्त हुआ है। लौरिया-नन्दनगढ़ के स्तम्भ शीर्ष पर स्थित एकाकी सिंह की मूर्ति को कलाविदों ने इसके बाद स्थान दिया है। लहराते अयाल, पीन वक्ष, क्षीण कटि आदि सिंह के स्वाभाविक गुणों का सुन्दर निरूपण किया गया है। सिंह की आक ति का स्तम्भ के विभिन्न हिस्सों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में कलाकार को इस में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो पायी है। रमपुरवा से जो दूसरा स्तम्भ मिला है उसका शीर्ष सिंह-मंडित है। सिंह पूर्ण स्वाभाविक एवं गतिशील मुद्रा में निर्मित हैं। हंसों की पंक्ति से युक्त व त्ताकार चौकी पर पंजों के बल बैठे हुए सिंह की मांसपेशियों एवं पट्टों का निरूपण अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया है। अयाल, पैरों और पंजों का निर्माण रूढिबद्ध ढंग से किया गया है। कलात्मक द ष्टि से फिर भी इसमें

परिपक्व मूर्तिकला के दर्शन होते हैं।

सारनाथ के पाषाण स्तम्भ की शीर्ष चौकी पर बनी हुई चार सिंह आक तियाँ अपने कलात्मक लालित्य के लिए विश्व प्रसिद्ध हैं। पीठ से पीठ सटाकर बैठे हुए सिंह कलात्मक सौन्दर्य तथा भावाभिव्यक्ति की द ष्टि से उल्लेखनीय हैं। चारों सिंहों के शरीर के सभी अंगों के प्रदर्शन में पूर्ण सामंजस्य है। मूर्तिकला की तकनीक का पूर्ण विकसित रूप सारनाथ की सिंह मूर्तियों में द ष्टिगोचर होता है, किंतु सिंहों की छवि आडम्बरपूर्ण तथा रूढिबद्ध है। बलशाली सिंहों की शिराएँ उभरी हुई तथा माँसपेशियाँ खिंची हुई हैं। आयालों का अंकन सजीव न होकर आलंकारिक है। सिंहों के मुँह फाड़ने तथा मूँछों के ऐंठने का ढंग भी रूढ़िगत है। सिंहों के नीचे की व त्ताकार चौकी में सरपट दौड़ता घोड़ा, मुदित गवेन्द्र, मदमस्त गज और विक्रान्त सिंह उत्कीर्ण हैं। दो पशुओं के बीच में 24 आरे वाला एक चक्र बना हुआ है। इस प्रकार चार पशु तथा चार चक्र चौकी की सजावट के लिए बनाये गए हैं। भारत सरकार ने अशोक के चार सिंहों वाले सारनाथ के स्तम्भ-शीर्ष को राजचिन्ह के रूप में ग्रहण किया है। यह स्तम्भ-शीर्ष सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

साँची और सारनाथ के पाषाण-स्तम्भों के शीर्ष पर पीठ से पीठ सटाये हुए चार-चार सिंहों का निर्माण मूर्तिकला में विविधता उत्पन्न करने की द ष्टि से किया गया है। साँची और सारनाथ के शीर्ष-फलकों का अलंकरण भिन्न-भिन्न प्रकार का है। साँची में दान चुगते हंस, मिथुन एवं मधुवेल के अलंकरण-अभिप्राय को दोहराया गया है। सिंहों के मुख मण्डित होने पर भी शारीरिक सौष्ठव, मांसपेशियों के उभार तथा सँवार कर सजाये हुए अयाल कलाकार की कलात्मक क्षमता, सूझबूझ एवं प्रतिभा के परिचायक हैं।

मौर्य काल की मूर्तिकला पर भी विदेशी प्रभाव-विशेषकर ईरान की मूर्ति कला का प्रभाव-कुछ विद्वान मानते हैं। मौर्य कला के विकास में हेलेनिस्टिक कला का भी योगदान माना जाता है। स्तम्भों के शीर्ष को मंडित करने वाले सिंहों की मूर्तियों के निर्माण में वैदेशिक प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। सिंहों की मूर्तियों की कल्पना, निर्माण शैली और तकनीक सभी नितान्त पेचीदी तथा परिष्क त है। इन मूर्तियों में आदिम कला का रंचमात्र आभास नहीं मिलता है। अशोक के साँची तथा सारनाथ के सिंहों के प्रतिमांकन, आकार और सौन्दर्यबोध में रूढ़िद्धिता दिखलाई पड़ती है। अतः यह अनुमान किया जाता है, कि इनके निर्माण की प्रेरणा का स्त्रोत कहीं विदेश में रहा होगा।

मिट्टी की मूर्तियाँ, पशु-पक्षियों तथा जलचरों की मिट्टी की मूर्तियों के साथ स्त्री-पुरूषों की मूर्तियां भी उत्खनन से मिली हैं। अहिच्छत्र, मथुरा, हस्तिनापुर, अत्रंजीखेड़ा, कौशाम्बी, भीटा, झूंसी, श्रं गवेरपुर, राजघाट, बुलन्दीबाग, कुम्हरार तथा अन्य अनेक स्थानों से मौर्य काल की मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं। हाथी, घोड़ा, कुत्ता, भेड़ तथा हिरण आदि पशुओं कच्छप एवं सर्प आदि सरीस पों और चिड़ियों की हस्त-निर्मित मूर्तियाँ मिली हैं। अधिकांश मूर्तियाँ लाल रंग की है जिनके ऊपर गेरू के गाढ़े घोल का प्रलेप चढ़ाया हुआ मिलता हैं, आँखों को व त्त के अन्दर छेद कर के बनाया गया है। गहरे रेखाकंन और छोटे-छोटे गोल ठप्पे लगाकर इनको अलंक त किया गया है। बक्सर से प्राप्त इस काल की पशु-म ण्यमूर्तियाँ पीले रंग की पड़ी रेखाओं से अलंक त हैं।

पशु-म ण्यमूर्तियों के अतिरिक्त मानव म ण्यमूर्तियाँ भी मिली है। अधिकांश पशु-मूर्तियाँ हाथ से बनी हुई हैं किन्तु इस काल की कतिपय मानव म ण्यमूर्तियाँ साँचे में ढालकर बनाई गई हैं। हाथ से बनी हुई मिट्टी की मूर्तियों के छोटे-छोटे हाथ-पैर मिलते हैं। आँखों को छोटे से गोल छेद से, बालों को रेखाकंन द्वारा तथा नाक को चुटकी में दबा कर बनाया जाता था। स्त्री म ण्यमूर्तियों

में बड़े-बड़े कर्णपटल, गोलाकार कर्णफूल, गले में कामदार भारी हारावली तथा भव्य शिरोवेशभूषा चिपकवाँ विधि से बनायी जाती थी। अधिकांश म ण्मूर्तियों का उपयोग खिलौनों के रूप में होता रहा होगा किन्तु इस बात की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इनमें से कुछ के निर्माण के पीछे धार्मिक विश्वासों का भी हाथ रहा हो।

# अध्याय - 5
# गुप्तकालीन समाज
# (Gupta Society)

गुप्तकालीन समाज की जानकारी हमें पुरातात्विक उत्खन्नों से प्राप्त अवशेषों तथा समकालीन साहित्यक स्त्रोतो से हो जाती है। गुप्तयुगीन साहित्यक स्त्रोतों में स्म ति, पुराण एवम् महाभारत के शान्तिपर्व प्रमुख हैं। स्म तियों में याज्ञवालक्य स्म ति, ब हस्पति स्म ति नारद स्म ति एवम् कात्यायन स्म ति आदि उल्लेखनीय है और पुराणों में विष्णुपुराण, मार्कण्डेय पुराण भागवत पुराण एवम् मत्स्य पुराण आदि उल्लेखनीय है। महाभारत का शान्तिपर्व भी इसी काल की रचना माना जाता है, इनके अतिरिक्त धर्मनिरपेक्ष साहित्य जैसे कालिदास, मुद्राराक्षस तथा फाह्यान आदि से भी हमें समसामयिक समाज की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। गुप्तपूर्वोत्तर काल में बहुत सी विदेशी जातियों के आगमन तथा भारतीय समाज में विलय के प्रयत्नों के फलस्वरूप बाह्मणीकल समाज व्यवस्था डगमगा गई थी अतः गुप्तकाल में एक बार फिर से ब्राह्मणीकल सामाजिक व्यवस्था को पुनः कठोर रूप से स्थापित करने का प्रयत्न किया और वैदिक धर्म को पुनःजीवन्त तथा पुनर्गठित किया गया। ब्राह्मण धर्म के पुनर्गठन का परिणाम हुआ स्म तियों और पुराणों पर आधारित समाज का पुनर्निमाण का प्रयत्न।

## (1) वर्ण व्यवस्था

गुप्तकालीन समाज परंपरागत चार वर्णो में विभक्त था। इस काल में फिर से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवम् प्रमुखता पुनः स्थापित हो गई। ब्राह्मणों के परंपरागत छः कर्त्तव्य माने जाते थे अर्थात अध यन, अध्यापन, यज्ञ करना एवम् कराना तथा दान देना एवम् दान लेना। क्षत्रियों में कर्त्तव्य, देश की रक्षा करना, वैश्य का क षि व्यवसाय एवम् वाणिज्य करना तथा शूद्र का मुख्य कर्त्तव्य इन तीनों वर्णो की सेवा करना था परन्तु जैसा कि समकालीन स्त्रोतों से स्पष्ट होता है कि इस काल में जातियों का व्यावसायिक बंधन अर्थात जुड़ाव ढीला पड़ने लगा था। अब वर्ण जन्म से ही तय हो जाता था, गुण और कर्म से नही। इसलिए मनुष्य कर्म चाहे जो भी करता हो उसका वर्ण वही रहता था जिसमें उसने जन्म लिया है ह्युनत्सांग ने चारों वर्णो के वे ही कर्म बताए हैं जो परम्परागत रूप से प्रतिपादित थे।

गुप्तकालीन समाज में वर्ण भेद स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया। जीवन के हर क्षेत्र में वर्ण भेद साफ छलकता है यहाँ तक कि शहर गाँव में इनकी अलग-२ बस्तियों का विधान था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवम् वराहमिहिर की व हतसंहिता में चारों वर्णो के लिए अलग अलग बस्तियों की व्यवस्था की है। इसी प्रकार घर के आकारों में भी अन्तर किया गया है। वराहमिहिर के अनुसार ब्राह्मण के घर में पाँच, क्षत्रिय के घर में चार, वैश्य के घर मे तीन और शुद्र के घर में दो कमरे होने चाहिए।

दण्ड व्यवस्था तथा न्यायव्यवस्था भी वर्ण भेद मूलक रही है। विष्णुपुराण में हत्या के पाप से मुक्ति में मामले के ब्राह्मण को बारह, क्षत्रिय को नौ और वैश्य तथा शुद्र को तीन वर्ष का महाव्रत नामक तप का प्रावधान है क्योंकि नारद के अनुसार हत्या या चोरी करने पर ब्राह्मण का अपराध सबसे अधिक जघन्य तथा शुद्र का सबसे कम होता है। इसी प्रकार न्याय के मामले में भी न्याय संहिताओं में कहा गया है कि ब्राह्मण की परीक्षा तुला से, क्षत्रिय की अग्नि से, वैश्य की जल से तथा शुद्र की विष से की जानी चाहिए। ब हस्पति ने कहा है कि सभी वर्णो से सभी दिव्य कराए जा सकते हैं, केवल विष वाली परीक्षा ब्राह्मण से न कराया जाए। उसने जो आगे यह भी कह दिया कि साक्षी (गवाह) भी कुलीन हो तथा वेदों और स्म तियों में निर्धारित नियमों पर कर्म करने वाला हो जिसका अर्थ हुआ कि शुद्र की गवाही, भले ही चश्तदीद गवाह हो, भी मान्य नही थी। हांलाकि नारद के अनुसार सभी वर्णो की गवाही मान्य थी।

यहाँ तक की उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों में भी वर्णभेद स्पष्ट छलकता है। विष्णु के अनुसार ब्राह्मण के शुद्रपुत्र का अंश पिता की सम्पत्ति का आधा होगा। इसी प्रकार स्म तिकारों द्वारा प्रतिपादित दाय भाग सम्बन्धी नियमों में यह कहा गया है कि यदि गडा खजाना अर्थात धन ब्राह्मण को मिलता है तो उसे पूरा का पूरा लेने का अधिकार है। क्षत्रिय को यदि मिलता है तो वह उसमें से 1/4 भाग राजा को, 1/4 भाग ब्राह्मण को देगा और आधा स्वयं रखेगा। और यदि वैश्य पाता है तो वह 1/4 भाग राजा को, 1/2 भाग ब्राह्मण को तथा 1/4 भाग स्वयं रखेगा। और शुद्र उसे बारह भागों में बाँटकर पाँच पाँच भाग राजा को ब्राह्मण को देगा और दो भाग स्वयं रखेगा।

**ब्राह्मण -** इस प्रकार गुप्तकालीन समाज में ब्राह्मण को शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवम् आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण को प्राणदण्ड़ नही दिया जा सकता था। शुद्रक के म च्छकटिक में ब्राह्मण चारुदत्त के न्यायालय में हत्यारे सिद्ध होने का वर्णन है परन्तु ब्राह्मण होने के कारण उसे प्राणदण्ड नहीं दिया गया। दशकुमार चरित में ब्राह्मण मंत्री राजद्रोह का दोषी होने पर केवल अंधा बना दिया गया। इस प्रकार स्म तियों के अनुसार जघन्य से जघन्य अपराध के लिए भी ब्राह्मणों को म त्युदंड नहीं दिया जा सकता बौद्ध एवम् चीनी साक्ष्यों से भी ब्राह्मणों की समाज में विशेष स्थिति की पुष्टि होती है। वे अपने उच्च कर्मों और पवित्र नैतिक जीवन के कारण वंदनीय थे अतः ब्राह्मणों को भूमिअनुदान देने की प्रथा भी प्रारम्भ हुई जो गुप्तकाल में काफी विकसित हुई। ब्राह्मणों ने शिक्षा प्रणाली के माध्यम से ज्ञान पर भी एकाधिकार जमा लिया।

इस काल में अनेकों इस बात के संदर्भ मिलते है कि जब ब्राह्मणों ने अपने वर्ण के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर अन्य वर्णों के कार्य अपना लिए थे। गुप्त काल में ब्राह्मण राजवंशों के प्रमाण भी मिलते हैं जिसमें वाकारका तथा कंदब वंश प्रसिद्ध हैं। गुप्तों का सामन्त शासक मात विष्णु ब्राह्मण था। ह्यूनत्सांग के समय उज्जैन, जिहोती और माहेश्वरपुर के राजा ब्राह्मण थे। मनु के अनुसार क्षत्रिय कर्म के जीवन निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण वैश्य के कर्म-क षि, गोपालन और व्यापार कर सकता था जैसे म च्छकटिक के अनुसार ब्राह्मण चारुदत्त व्यापार करता था। मनु का कथन है कि ब्राह्मण को धनवर्द्धक वस्तुए बेचनी चाहिए।

ब्राह्मणों की पवित्रता पर भी बल दिया जाता था। ब्राह्मण को स्म तियों के अनुसार, शुद्रों का अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे अध्यात्मिक शक्ति कम होती है। याज्ञवालक्य के अनुसार स्नातकों को पतितों का अन्न नहीं खाना चाहिए। जो ब्राह्मण शुद्र का अन्न ग्रहण करे या वैश्य और क्षत्रिय की पंगत में खाए उसके लिए प्रायश्चित का प्रावधान किया गया। परन्तु ब हस्पति ने संकट के समय दासों और शुद्रों का खाना खाने की अनुमति दी है परन्तु इसके साथ साथ म च्छकटिक से इस प्रकार संदर्भ भी मिला है जहाँ ब्राह्मण और शुद्र एक ही कुएँ से पानी

भरते थे।

**क्षत्रिय -** क्षत्रियों का समाज में स्थान ब्राह्मणों के पश्चात आता है इसकी पुष्टि मनु के इस वाक्य से हो जाती है जब वह कहता है कि दस वर्षीय ब्राह्मण सौ वर्षीय क्षत्रिय से श्रेष्ठ है। क्षत्रिय का मुख्य कार्य देश और समाज की रक्षा और सैन्य संचालन करना था। मनु के अनुसार क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना, दान करना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना है चारों वर्णो को संरक्षण प्रदान करना भी उनका कर्त्तव्य था। स्म तिकारों ने क्षत्रियों को भी आपदा के समय अन्य वर्ण के कर्म अपनाने की व्यवस्था की है। इंदौर से प्राप्त स्कंदगुप्त के काल के अभिलेख में क्षत्रिय लोग वैश्य का काम करते दिखाया है।

ह्यूनत्सांग ने क्षत्रियों की कर्मनिष्ठा की भी प्रंशसा की है। उसके अनुसार वे सरल, पवित्र, सीधे-सादे होते थे। वे दयालु और परोपकारी थे। बाणभट्ट ने सूर्य और चन्द्र नामक दो क्षत्रिय वंशों का उल्लेख है। युद्ध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी।

**वैश्य -** समाज में वैश्यों का स्थान क्रमानुसार तीसरा था क षि और व्यवसाय उसका मुख्य धन्धा था गुप्त युग में उन्हें श्रेष्ठि, वणिक, सार्थवाह नामों से भी पुकारा गया है। ह्यूनत्सांग ने वैश्यों को व्यापारी जाति का माना है उसके अनुसार ये विनिमय करते थे तथा लाभ कमाने दूर-२ के देशों में जाते थे राज्य को अधिकाधिक कर देने वाला वर्ग भी यही था पुराणों में भी इनका धन्धा क षि पशुपालन और वाणिज्य था। परन्तु आपातकाल में भी दूसरे कर्म कार्य करते थे जैसे गो, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था।

वैश्य वर्ग द्वारा क्षत्रिय का व्यवसाय अपनाने के अनेक उदाहरण है जैसे गुप्त वंशी राजा संभवता वैश्य थे। राजा हर्षवर्धन भी संभवतः वैश्य था। वैश्य क षक था। इसकी पुष्टि भी गुप्तकालीन साहित्य से भी हो जाती है। परन्तु विष्णु और याज्ञवालक्य के अनुसार आधी उपज पर शुद्रो को खेत दिया जाता था इससे स्पष्ट है क षि कार्य वैश्य के अलावा शुद्र भी करने लगे थे। बौद्धायन में वैश्य की स्थिति भी शुद्र समान दर्शायी गई है। इसके अतिरिक्त वैश्य लुहार, सुनार, बढ़ई, तेली, बुनकर (जुलाहा) तथा पशुपालक होते थे।

वैश्य वर्ग काफी धनी वर्ग भी होता था जो दान देने के लिए मशहूर था जैसे पाटलीपुत्र और मगध के औषधालयों में इनके दान से रोगियों और जरूरतमंदों का मुफ्त उपचार किया जाता था। इसी प्रकार धार्मिक संस्थानों अर्थात् मठों और मंदिरों को भी खुले हाथों से दान देते थे। महाभारत के अनुसार यह सर्वाधिक धनी वर्ग होता था। भले ही इसका सामाजिक स्तरीकरण गिर गया हो। मद्य, मांस, लोहा और चमड़े जैसी वस्तुएं बेचना वैश्यों के लिए निषिद्ध था।

**शूद्र -** शूद्र का स्थान सबसे निम्न था। हेमचन्द्र ने शूद्रों के लिए छः नाम दिए हैं - शूद्र, अन्त्यवर्ण, क षल, पद्यः, पज्ज तथा जघन्य। मनु के अनुसार शूद्र का एकमात्र धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णो की सेवा करना है। परन्तु याज्ञवालक्य मनु की बजाय शूद्र के प्रति उदार रहा और शूद्र को व्यापारी क षक और कारीगर होने की अनुमति दी है। इस कारण कुछ शूद्रों ने सैनिक व ति को भी अपनाया और कुछ तो सेना में पदाधिकारी बनने में सफल रहे। यहाँ तक कि हमें शूद्र शासकों, इक्के दुक्के ही सही, के प्रमाण भी मिलने लगे जैसे मतिपूर का शासक शूद्र था। सौराष्ट्र, अवंति और मालवा के शूद्र राजाओं का उल्लेख भी मिलता है इसी प्रकार सिंधु और कश्मीर प्रदेशों शूद्र, अमीर और म्लेच्छ राजा शासन कर रहे थे।

वैश्य लोग जब क षि के स्थान पर व्यापार एवम् वाणिज्य में अधिक रूचि लेने लगे तब शूद्र वर्ण ने क षिकार्य को अपना लिया। सातवीं शताब्दी ई. पूर्व में ह्यूनत्सांग ने शूद्रों के एक वर्ग को क षि कार्य में संलग्न दिखाया है। न सिंह पुराण में तो क षि कर्म शूद्रो का बताया है। गुप्तकाल तक यह परिवर्तन स्पष्ट हो चुका था और अब करदाता क षक के रूप में शूद्रों का विवरण बार-बार मिलता है जिससे लगता है कि आम शूद्र की नही तो कम से कम शूद्रों के एक वर्ग

की आर्थिक दशा में सुधार अवश्य हुआ होगा। परन्तु आमतौर से इस काल में भी अन्य तीन वर्णो की सेवा ही शूद्र का धर्म रहा है। शांतिपर्व में राजा दावा करता है कि उसके राज्य में शूद्र तीनों वर्णो की सेवा करते हैं। इसमें आगे कहा गया है कि शूद्र सेवको का भरण पोषण करना ऊपर के तीन वर्णो का कर्त्तव्य है। शान्तिपर्व में भी कहा गया है कि द्विज अपने सेवक को पुराना छाता, पगडी, बिस्तर, आसन, जूते, पंखे और फटे पुराने कपड़े दे। परन्तु प्राचीन काल का यह मत कि शूद्रों को ब्राह्मण, दास और नौकर रहने में संतोष करना चाहिए यह जैसा कि डी. एन. फा कहते है कतई ना ही तो सैद्धान्तिक तौर पर और ना ही व्यवाहरिक तौर पर स्वीकार्य था।

गुप्त काल में शिल्पकर्म शूद्रों के सामान्य कर्त्तव्यों में आ गया। **वायु पुराण** के अनुसार उसके दो प्रमुख कर्त्तव्य थे - शिल्प और भ क्ति। इस काल में शूद्र कारीगरों का महत्त्व बढ़ा। **अमरकोष** में शिल्पियों की सूची शूद्र वर्ग में हैं। इसमें सामान्य शिल्पियों, उनकी श्रेणी के प्रधानों, मालियों, धोबियों, कुम्हारों, जुलाहों, राजमिस्त्रियों, दर्जियों, चित्रकारों, शास्त्रकारों, चर्मकारों, लुहारों, शंखशिल्पियों, स्वर्णकारों, बढ़ई, ढोल, वंशी और वीणा बजाने वालों, अभिनेताओं, नर्तकों आदि की सूची दी है, जो इस बात का प्रमाण है कि शूद्र सभी तरह के शिल्पों और कलाओं का व्यवसाय करते थे। ब हस्पति ने भी यह पुराना नियम दोहराया था कि शिल्पी लोग मास में एक दिन राजा का काम करेंगे। इस काल में शूद्र शिल्पियों की आर्थिक दशा सुधरी थी जो इस बात से प्रमाणित होती है कि व्यापारी और शिल्पी राजा को कर चुकाते थे।

गुप्त काल में वाणिज्य को भी शूद्रों का कर्त्तव्य माना जाने लगा था। ब हस्पति के अनुसार हर प्रकार की बिक्री करना शूद्रों का समान कर्त्तव्य है। पुराणों में भी कहा गया है कि शूद्र क्रय-विक्रय और व्यापारिक लाभ से जीवन-निर्वाह कर सकता है। 'अनुशासन पर्व' में कहा गया है कि यदि शूद्र न हों तो मजदूर नहीं होंगे। इससे स्पष्ट है कि शूद्रों एक बहुत बड़ा भाग मजदूरी कमाता था। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि मजदूरी के सभी ग्यारह पर्याय 'अमरकोष' में शूद्र वर्ग में आए हैं। नारद और ब हस्पति ने भ तकों को तीन कोटियों में रखा है (1) सेना में काम करने वाले, (2) क षिकर्म करने वाले और (3) भार ढोने वाले है। उन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कर्मकार माना गया है। ब हस्पति द्वारा वर्णित पारिश्रमिक की दरों से विदित होता है कि गुप्त काल के अंतिम भाग में क षकों की मजदूरी दोगुनी हो गई। वे बिना अन्न और वस्त्र के काम करते थे जो इस बात का संकेत है कि वे अपने भरण पोषण के लिए अपने नियोजकों पर आश्रित नहीं थे।

शूद्र केवल अपने वर्ण के लिए ही साक्षी हो सकते हैं, यह नियम दोहराया गया। इस काल के स्म तिकारों ने गवाही लेते समय विभिन्न वर्णो के लिए जो चेतावनी विहित की है उसमें शूद्रों को दी जाने वाली चेतावनी सबसे कठोर है। सामान्यतया ब्राह्मण के विरुद्ध किए गए अपराध कर्म के लिए शूद्रों को कठोर शारीरिक दंड देने का विधान नारद और ब हस्पति ने स्वीकार किया है। परन्तु ब हस्पति ने दंडों की जो सूची दी है उसमें इसका संकेत नहीं मिलता है। फाह्यान ने लिखा है कि मध्यदेश मे राजा म त्युदंड अथवा अन्य शारीरिक दंड दिए बिना ही शासन करता था। इससे स्पष्ट है कि गुप्त काल में शारीरिक दंड का प्रचलन कम हो गया था और इससे शूद्रों को लाभ हुआ।

दाय विधि में विष्णु ने उदारपूर्वक यह नियम बनाया है कि द्विज पिता और शूद्र माता से उत्पन्न पुत्र अपने पिता से आधे धन का अधिकारी होगा। परन्तु ब हस्पति के अनुसार वह केवल भरण-पोषण पाने का अधिकारी बताया है। शूद्र पिता की संपत्ति उसके पुत्रों में समान रूप से बांटने का नियम था। याज्ञवल्क्य के अनुसार शूद्र पिता और दासी माता से उत्पन्न पुत्र को पिता की इच्छा होने पर ही संपत्ति में से हिस्सा मिलेगा। 'अनुशासन पर्व' में उसका अंश पिता की संपत्ति का दसवां भाग निश्चित किया गया है।

धर्म-संबंधी अधिकारों के क्षेत्र में शूद्र के प्रति उदार भावनाएं व्यक्त की गई। उनके दान का भी उल्लेख किया गया है। मत्स्य पुराण के अनुसार अगर शूद्र भक्ति में निमग्न रहे, मदिरापान न करे, इंद्रियों को वश में रखे और निर्भय रहे तो उसे भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है। **मार्कण्डेय पुराण** में दान देना और यज्ञ करना शूद्र का कर्त्तव्य बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शूद्र 'ओंकार' के बदले 'नमः' का प्रयोग करते हुए पंच महायज्ञ कर सकते हैं। 'शांतिपर्व' में भी यह कहा गया है कि सभी वर्ण यज्ञ कर सकते हैं यदि उनमें श्रद्धा हो। निस्सदेंह शूद्रों को **रामायण, महाभारत** और **पुराण** सुनने और कभी-कभी वेद सुनने का भी अधिकार प्राप्त हो गया था।

योग व सांख्य दर्शन, जिनका विकास गुप्त काल में अपनी चरम सीमा पर था, शूद्रों के लिए वर्जित नहीं थे। अतः गुप्त काल में अनेक शिक्षित शूद्रों के उदाहरण मिलते हैं। कई ग्रन्थों में सन्यास आश्रम को शूद्रों के लिए वर्जित बताया गया। **विष्णु पुराण** में यह कहा गया कि अगर कोई ब्राह्मण शूद्र के यज्ञ में सहायक होगा तो वह नरकगामी होगा। **ब्रह्माण्ड पुराण** के अनुसार श्राद्ध का अवशिष्ट अन्न शूद्र को देने से श्राद्ध का फल नहीं प्राप्त होता था। परन्तु इसके बावजूद गुप्त काल में शूद्रों की धार्मिक प्रतिष्ठा में सुधार नजर आता है।

शूद्रों ने अपनी स्थिति से असंतुष्ट हो विरोध भी किए है इसके प्रमाण भी मिले है। शांतिपर्व में शूद्रों को राजा का नाशक कहा गया है अन्य समकालीन साहित्य में भी उनको क्रोधी अंहकारी, हिसंक, क तघ्न आदि कहा गया है इससे शूद्र और शासक वर्ग के बीच, जैसा कि डी. एन. फा कहते हैं, संघर्ष स्पष्ट नजर आता है।

इन वर्णभेद नियमों के कारण समाज दो धड़ों में स्पष्टतः बटा हुआ नजर आता है एक वर्ग अर्थात् ब्राह्मण एवम् क्षत्रिय जो कि निम्न दो वर्णो के अधिशेष पर कुंडली लगाए बैठा था और दूसरा वर्ग, उत्पादक वर्ग अर्थात वैश्य एवम् शूद्र का था। शांतिपर्व में नौ श्लोकों में ब्राह्मण एवम् क्षत्रिय वर्ग के बीच मेल मिलाप की आवश्यकता पर बल दिया गया है जिससे ऐसा आभास होता है कि संभवतः वैश्य एवम् शूद्र दोनों वर्ण सयुंक्त रूप से ऊपर के वर्णो के विरूद्ध यदा कदा बगावत करते रहे होगें और इसके हमें काफी प्रमाण भी समसामयिक साहित्यक रचनाओं में मिल जाते हैं जिनको कि आर. एस. शर्मा ने अपने एक लेख तथा प्रात्रक शूद्रो का इतिहास में बखूबी लेखबद्ध किया है। एक ऐसा वर्णन भी मिलता है जब कि एक बार शूद्रों और वैश्यों ने जान बूझकर ब्राह्मणों की स्त्रियों को तंग करना शुरू किया।

अतः भले ही स्म तिकारों ने सभी वर्णो के अधिकार एवम् कर्त्तव्यों सम्बन्धी नियम बना दिए हो और सभी वर्णो को उनका पालन का आदेश दे दिया हो परन्तु वर्ण व्यवस्था सुचारु रूप से कभी नही चली तथा विभिन्न वर्णो का विशेष रूप से वैश्य एवम् शूद्र अपने अंसतोष को जाहिर भी करते रहे है।

**उपजातियां** - आज हिन्दू समाज में जितनी उपजातियां मिलती है उनमें से लगभग सभी जातियों का उद्भव गुप्त एवम् गुप्तोतर काल तक हो चुका था। गुप्त युग उपजातियों की व्युपत्ति तथा पूर्ण विकास का युग माना जाता है। इस काल में ऐसी जातियां भी उत्पन्न हुई जिनका किसी वर्ण विशेष से सम्बन्ध नहीं था जैसे रथकार, वणिक, मागध आदि इसी श्रेणी की मानी जाती है। कायस्थ जाति का उद्भव भी इसी काल में हुआ। इस जाति का सर्वप्रथम उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया इसके साथ ही इस जाति का उल्लेख गुप्तकाल के अभिलेखों में भी मिलते हैं, दामोदर के ताम्रपत्र लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रथम कायस्थ' शासन कार्य में भी भाग लेते थे। इनका प्रधान कार्य लेखन कार्य रहा है परन्तु इसके साथ ही लेखाकरण गणना, आय व्यय और भूमिकर के अधिकारी के रूप में ये कार्य करते थे। ओझा के प्रण्डूवर्धन कायस्थ या शूद्रम के अनुसार कायस्थ न्यायालय के लेखक थे (ओझा के अनुसार, ''ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो लेखक

का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे।'' कुछ के अनुसार कायस्थ दो जातियों या वर्णो के मिश्रण का फल थी परन्तु कौन सी दो जातियों या वर्णो का कहना कठिन है। यह भी कहा गया है कि भूमि और भूराजस्व के हस्तांतरण के कारण कायस्थ जाति का जन्म हुआ और उन्होंने ब्राह्मण लेखकों के एकाधिकार को समाप्त कर दिया इसीलिए ब्राह्मणों की रचनाओं में उनके प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्राप्त प्रमाणों से जैसा कि डी. एन. फा भी कहना है ऐसा लगता है कि गुप्त युग तक कायस्थ केवल एक वर्ग के रूप में थे जो आगे चलकर एक जाति में परिवर्तित हो गए। क्योंकि इस काल की स्म तियों में उनका उल्लेख कहीं भी जाति के रूप में नही मिलता।

**मिश्रित जातियां -** गुप्तकालीन स्म तियां में कुछ मिश्रित जातियों का वर्णन मिलता है। ये जातियां अर्न्तजातीय विवाह अर्थात अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का परिणाम रही है। इन जातियों का भी सामाजिक स्तरीकरण से संतान किन दो जातियों के मिश्रण का प्रतिफल है, पर निर्भर करता था। प्रतिलोभ विवाह से उत्पन्न संतान ज्यादातर अस्प श्य जातियों का हिस्सा बनी तथा अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान का समाज में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान के मुकाबले सम्मानजनक स्थान था तथा इस प्रकार के विवाह काफी हद स्वीकार्य थे। मुर्द्धावषिक्त, करण, अम्बष्ठ, पारश्व तथा उग्र आदि कुछ मिश्रित जातियां थी। इनमें 'अम्बष्ठ' ब्राह्मण पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान थी, वैश्य पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान, गौतम के अनुसार उग्र कहलाई जबकि स्म तियां के अनुसार क्षत्रिय पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान उग्र कहलाती थी और ब्राह्मण पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न संतान पारश्व कहलाती थी।

**अस्प श्य जातियां -** फाह्यान के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में गुप्त काल में एक अस्प श्य वर्ग था। इस काल के स्म ति ग्रंथों में शूद्रों व अस्प श्यों के बीच पूर्ववत् अंतर माना गया है। शूद्रों व श्वपाकों का प थक् रूप से वर्णन अनेक ग्रंथों में मिलता है। किंतु **अमरकोष** में वर्णसंकरों और अस्प श्यों को शूद्र जाति में ही रखा गया है। गुप्त काल के ग्रंथों में अछूतों का, और विशेष रूप से चांडालों का, वर्णन बहुत अपमानजनक है और उन्हें अपवित्र, असत्यवादी, चोर, झगड़ालू, क्रोधी व लोभी कहा गया है।

जितना अधिक बल ब्राह्मणों की पवित्रता पद पर दिया गया उतना ही अछूतों की अपवित्रता पर। यदि किसी 'द्विज' की द ष्टि किसी अस्प श्य पर कुछ दूर से भी पड़ जाती थी, तो वह अपवित्र हो जाता था। उसे अपनी शुद्धि के लिए धार्मिक अनुष्ठान करने पड़ते थे। धर्म संहिताओं में शुद्धि के मार्ग बताए गए थे। फाह्यान के वर्णन से पता चलता है कि अस्प श्यों को बस्ती से बाहर रहना पड़ता था। स्म तियों में उन्हें अंत्यज अथवा चांडाल तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न कहा गया है। ये सबसे निम्न व त्ति का पालन करते थे, जैसे जंगली जानवरों का शिकार, मछली पकड़ना या श्मशान घाटों की रखवाली करना। अन्य स्त्रोतों से इन संकर जातियों और अछूतों की आजीविका के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। कालिदास ने चांडालों का उल्लेख बहेलियों और मछुआरों से भिन्न रूप में किया है, यद्यपि ये सब एक ही वर्ग के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चांडाल मूलतः शिकारी नहीं थे परन्तु शिकार करना उनका एक गौण व्यवसाय था, साधारणतः चांडालों का पेशा था। सड़कों व गलियों की सफाई करना, श्मशान का काम करना, अपराधियों को फांसी पर लटकाना और रात में चोरों को पकड़ना आदि। डोम्ब गीत गाते थे और सार्वजनिक मनोरंजन भी करते थे।

जिस प्रकार फाह्यान ने पांचवीं शताब्दी में अछूतों का वर्णन किया है उसी प्रकार सातवीं शताब्दी ने ह्यूनत्सांग ने भी अस्प श्यता का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि कसाई व मेहतर नगर के बाहर ऐसे मकानों में निवास करते थे जो किसी विशेष चिन्ह् से जाने जा सकते थे। गुप्त काल में अस्प श्यता ही विकसित नहीं हुई बल्कि चांडालों की संख्या में व द्धि भी हुई थी। अतः

यह स्वाभाविक ही था कि फाह्यान का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आक ष्ट हुआ। विंध्य जंगल में शबर जाति के निवासी रहते थे जो अपने देवताओं को मनुष्य का मांस चढ़ाते थे। डोम्ब नामक जाति भी संभवतः गुप्त काल में ही एक स्वतंत्र जाति के रूप में प्रकट हुई। डोम्ब जाति को भी अछूत माना गया है। जैन स्त्रोत उन्हें उपेक्षित वर्ग का मानते हैं।

अस्प श्यता की सामाजिक स्थिति पहले से भी अधिक बिगड़ गई थी। यद्यपि वे सिद्धांत रूप में शूद्र माने जाते थे परंतु व्यवहार में वे प थक थे क्योंकि वास्तव में तो उन्हें किसी वर्ण व्यवस्था के दायरे में भी नही रखा गया था। उनकी समाज में बहुत ही दयनीय स्थिति थी इसकी पुष्टि सम्पदा के नाम पर टूटे फूटे बर्तन एवम् कुत्ते उनकी सम्पदा होना, उनका खानपान के नाम पर जूठन खाना एवम् पहनावे के नाम पर फटे पुराने एवम् मले वस्त्र पहनना रहने के नाम पर दयनीय हालत में शहर के बाहर रहना, आदि विवरण से इसकी पुष्टि हो जाती है।

**व्यवसायों का जाति में परिवर्तन -** प्रायः कारीगरों की श्रेणियां भी एक जाति का रूप ले लेती थी। जिसके फलस्वरूप भी जातियों की संख्या में तेजी से व द्धि हुई। उत्तर भारत के ग्रामीण, क्षेत्रों में ग्राम मुखियाओं का एक वर्ग था जो बाद में 'महात्तार' के नाम से जाने लगे थे जो बाद में चलकर एक जाति में परिवर्तित हो गए।

**दास प्रथा -** भारत में घरेलू ढंग की दास प्रथा प्राचीन काल के ऐतिहासिक काल में प्रारम्भ से ही चली आ रही है। युद्धबन्दियों, कर्जदारों और हारे हुए जुआरियों को बहुधा दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। शान्तिपर्व के अनुसार प्रजापति ने शूद्रों को त्रिवर्ण के दास के रूप में जन्म दिया था अतः अनुशासन पर्व के अनुसार भी शूद्रों को दास धर्म का ही वरण करना चाहिए। परन्तु सभी शूद्र दास थे ऐसा कहना गलत होगा। गुप्तकाल में चूँकि दास प्रथा एक संस्था के रूप में प्रचलित थी अतः यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में कुछ शूद्र ही दास थे परन्तु सभी शूद्र दास है यह कहना सर्वथा अनुचित होगा। दास दासियों से युक्त राज्य का भोग करना उत्तम साधना का फल माना जाता था। 'शांतिपर्व' में कहा गया है कि शूद्र की स ष्टि प्रजापति ने अन्य तीनों 'वर्गो के दास के रूप में की, इसीलिए, उसे दास धर्म के पालन का उपदेश दिया गया है। नारद ने दास के 15 प्रकार बताए हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं - (1) प्राप्त किया हुआ दास, (2) स्वामी द्वारा प्रदत दास, (3) ऋण न चुका सकने के कारण बना दास, (4) दांव पर हार जाने वाला दास, (5) स्वयं दासत्व ग्रहण करने वाला, (6) अपने को एक निर्धारित समय के लिए दास बनाने वाला, (7) दासी के प्रेमपाश में पड़कर बनने वाला, और (8) आत्मविक्रयी दास।

नारद और ब हस्पति दोनों ने यह स्पष्ट किया है कि दास केवल अपवित्र कार्यो में लगाए जाते थे। अतः इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कोई दास उत्पादन कर्म में लगाया गया हो यद्यपि मौर्यकाल और उससे पूर्व इसके प्रमाण मिले हैं। अतः यह स्पष्ट है कि गुप्त काल में दासों की अवस्था पूर्वकाल से अधिक दयनीय थी। याज्ञवल्क्य, नारद और कात्यायन ने यह कहा है कि दास स्वामी के वर्ण के नीचे के वर्ण का होना चाहिए। कात्यायन के अनुसार दासता ब्राह्मण के लिए नहीं है और वह ब्राह्मण का दास भी नहीं बन सकता। यदि किसी आपत्ति के समय उसे ब्राह्मण का दास बनना भी पड़ जाए जो वह वैदिक अध्ययन जैसे स्वच्छ कर्म को ही अपनाए। परंतु इन नियमों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दासता शूद्रों तक ही सीमित नहीं थी। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि किसी मनुष्य को बेचना नहीं चाहिए। नारद और ब हस्पति ने भी अपने को बेचने वाले की निंदा की है। दासियों के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है जो धनी लोगों के घरों में चेरियों का कार्य करती थीं। **अमरकोष** में 'दासीसभम्' (दासियों का दल) शब्द आया है। जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि आदिम जातियों से भी दासियां और चेरियां ली जाती थीं। कोई दासी अपने स्वामी के पुत्र को जन्म देती थी तो वह स्वतंत्र हो जाती थी। गुप्तकाल में दासों की

सामान्य दशा अपरिवर्तित रही। उन्हें पीटा जा सकता था और बेड़ियों में बांधा जा सकता था।

परंतु इस बात के अनेकानेक प्रमाण मिले हैं कि गुप्त काल में दास प्रथा कमजोर हो गई थी। दासमुक्ति के अनुष्ठान का विधान सर्वप्रथम नारद ने किया है। डी. एन. फा के अनुसार दासों के संगठन होने से भी दास-व्यवस्था कमजोर हुई होगी। भारत में दासों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था, अतः विदेशी यात्री इसके अस्तित्व का पता भी नहीं लगा सके।

इस काल में दास प्रथा जैसा कि उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है, कुछ शिथिल पड़ गई थी। रामशरण शर्मा के अनुसार, ''ऐसा लगता है कि वर्ण-व्यवस्था ही कमजोर पड़ गई थी और इस कारण दास-प्रथा में भी कमजोरी आई। वर्ण-प्रथा का नियम था कि शूद्र को दास बनाना चाहिए, पर गुप्तकालीन पुराणों के वर्णन से पता चलता है कि वैश्य और शूद्र अपने वर्ण- धर्म का पालन नहीं करते थे - अर्थात् किसान के रूप में अन्न पैदा कर वैश्य कर नहीं देते थे औ शूद्र द्विजों की सेवा करने को तैयार नहीं थे। घोर वर्ण संकट की स्थिति पैदा हो गई थी।'' बंटवारे और धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई थी, अतः छोटे क षि-क्षेत्रों में स्थायी रूप से अधिक शूद्र, दास और मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं थी। इससे अधिकांश दासों को छांट दिया गया। यह दास प्रथा कमजोर होने का मुख्य कारण था।

गुप्तयुगीन अनेक पुराणों, महाभारत के अंशों और बौद्ध जातक व जैन साहित्य में कलियुग का विवरण मिलता है जो भारत का प्राचीन काल से मध्यकाल में पदार्पण को प्रदर्शित करता है और दिखाता है कि किस प्रकार दास प्रथा पर आधारित क षि व्यवस्था में रूपान्तरण हो रहा था। कारण भूअनुदानों के कारण तथा कुछ विदेशी आक्रमणों के कारण दासों को संरक्षण देने वाले पुराने परिवार कम होते गए और ईसा की प्रथम सहस्त्राब्दी के मध्य तक दासप्रथा के क्षीण होने की प्रक ति काफी तेज हो गई थी।

## स्त्रियों की दशा

गुप्तकालीन साहित्य व कला में नारी का आदर्शमय चित्रण है परंतु व्यावहारिक रूप में उनकी स्थिति पहले की अपेक्षा दयनीय हो गई थी। साहित्य में नारी की मर्यादा और सम्मान का वर्णन है। **महाभारत** में पत्नी के बिना जीवन शून्य माना गया है। इसमें भार्या को समस्त रोगों और दुखों का निदान माना गया है। **रघुवंश** में अज ने अपनी प्रिया को सखी, सचिव तथा प्रिय शिष्या कहा है। **स्वप्नवासवदत्तम्** में उदयन वासवदत्ता को 'प्रिये' तथा 'प्रिय शिष्ये' कहता है। पत्नी पुरुष की सहधर्मिणी मानी जाती थी।

दूसरी तरफ मनु स्त्रियों को कलिगत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है जैसे अनेकों उदाहरण है जहां स्त्री, शूद्र और सम्पत्ति को साथ-साथ एक समान रखा है। गुप्त काल में स्त्रियों और शूद्रों को वेद आदि के अध्ययन का भी अधिकार नहीं दिया गया था और ना ही वह कुलीन वर्ग की भाषा संस्क त बोल सकता है कालिदास के नाटकों में स्त्रियां और शूद्र पात्र अपभ्रंश बोलते हुए दिखाए गए है जबकि संस्क त अन्य बोलते हैं।

इस काल में बाल विवाह, सती प्रथा, देवदासी प्रथा जैसी कुछ ऐसी प्रथाऐं सामने आई कि जिसके कारण गुप्त और गुप्तोत्तर काल में महिलाओं की दशा और दयनीय व चिन्ताजनक हो गई। जन्म से म त्यु तक उसे पुरूष के नियन्त्रण में रखने की बात कही गई यद्यपि कहने को ये बंधन उसकी पवित्रता और सुरक्षा के लिए थे।

पिता के लिए कन्या एक समस्या थी और पुत्र के आगमन का स्वागत होने लगा। धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक सभी स्थितियों में स्त्रियों पर प्रतिबंध लगाए गए, उन्हें ऐसी संपत्ति कहा गया जो किसी को भी दी जा सकती थी या गिरवी रखी जा सकती थी। उनकी निरंतर अधीनता पर विशेष बल दिया गया। निजी संपत्ति के विचारों पर आधारित पित प्रधान, वर्ग-विभाजित

समाज में यह स्वाभाविक था कि स्त्री को पुरुष के अधीन रखा जाए।

## स्त्री शिक्षा

उच्च वर्ग की स्त्रियों को थोड़ी शिक्षा दी जाती थी जिसका उद्देश्य इतना ही था कि वे बुद्धिमत्तापूर्ण वार्तालाप कर सकें। परंतु सार्वजनिक जीवन में भाग लेना उनके लिए आवश्यक नहीं समझा गया। केवल उच्च वर्ग में ही स्त्रियां सुशिक्षिता होती थी। महिला दार्शनिकों और विदूषियों के भी कुछ द ष्टांत मिले हैं। विविध कलाओं में निपुण स्त्रियों की भी चर्चा है। साहित्य में इसके संकेत मिलते हैं। राजशेखर क त **काव्य-मीमांसा** के अनुसार स्त्रियां भी कवयित्री होती थी। कालिदास ने **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** में अनुसूया को इतिहास का ज्ञाता कहा है। भवभूति के **मालती माधव** नाटक चित्र अंकित करने तथा संस्क त समझने योग्य दर्शाई गई है। **अमरकोष** में शिक्षिकाओं के लिए उपाध्याया, उपाध्यायीय और आचार्या शब्द आए हैं। परंतु अल्पायु में विवाह की प्रथा के विकास के कारण स्त्री शिक्षा को धक्का पहुंचा और बाल विवाह के कारण समुचित रूप से विद्याभ्यास का अवसर कन्याओं से छिन गया। अतः गुप्त काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में ह्रास हुआ।

## पर्दा प्रथा

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त काल में पर्दे की प्रथा का अधिक विकास नहीं हुआ। फाह्यान व ह्यूनत्सांग जैसे चीनी लेखकों ने अपने व त्तांत में स्त्री के पर्दे का कहीं उल्लेख नहीं किया है। परंतु साहित्य से उच्च वर्ग की स्त्रियों में पर्दे की प्रथा की जानकारी प्राप्त होती है। कालिदास ने **अभिज्ञानशाकुण्तलम्** में कहा है कि जब शंकुतला राजा दुष्यंत के दरबार में गई तो उसने अपने मुख को अवगुंठन से ढक लिया। बाणभट्ट ने **हर्षचरित** में राज्यश्री को **अरुणांशुकावगुण्ठितमुखी** कहा है जिसका अर्थ है 'मुख पर लाल रेशम का पर्दा डाले हुए'। दक्षिण प्रांतों में यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी आक्रमणों का प्रभाव न होने के कारण पर्दा प्रथा नहीं थी। अतः अजंता या ऐलोरा के चित्रों व मूर्तियों में कहीं भी स्त्रियों को पर्दे में नहीं दिखाया गया है।

## सती प्रथा

सती प्रथा के संबंध में भी गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण मिले हैं। सती प्रथा का महत्वपूर्ण साक्षी 510 ईसवी का ऐरण शिलालेख है जिसमें गोपराज नामक सेनापति की पत्नी के सती होने का वर्णन है। यह शिलालेख एक स्मारक के रूप में स्थापित किया गया था। उत्तर भारत में कुछ सैनिक पति युद्ध करते हुए मारे जाते थे तब अपने सम्मान की रक्षा के लिए स्त्रियां सती हो जाती थी। बाद में यह प्रथा मध्य भारत तथा पूर्वी भारत व नेपाल के उच्च वर्गो तक पहुंची। हर्ष वर्धन की माता यशोमति अपने पति की म त्यु की संभावना मात्र पर ही 604 ईसवी में सती हो गई थी। हर्ष की विधवा बहन राज्यश्री को सती होने से उसने बचाया था। इसके विपरीत किसी गुप्त रानी के सती होने का प्रमाण नहीं मिलता है। दूसरी ओर, चंद्र गुप्त द्वितीय की विधवा पुत्री प्रभावती गुप्त ने लंबे समय तक अपने पुत्र की संरक्षिका के रूप में शासन-भार संभाला।

## विधवा

यद्यपि जनसाधारण में तो सती होने का प्रचलन नहीं था, परंतु विधवाओं की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। उच्च वर्ग की विधवाओं का और ब्राह्मण वर्ण की विधवाओं का जीवन कष्टपूर्ण था। उन्हें वस्त्र धारण करने होते थे और जीवनभर ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। ब हस्पति के अनुसार, ''पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा का पालन करती है वह सब

पापों को छोड़कर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित व्रत-उपवास में निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित, दम और दान में रत सती अपुत्रवती होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।'' गुप्तकालीन अनेक स्म तियों से विधवा के लिए ब्रह्मचर्य, व्रत, नियम आदि का विधान है।

## गणिकाएं एवम् देवदासियां

गणिकाएं नागरिक जीवन का सामान्य अंग थी। उनकों न तो भावुकतापूर्ण द ष्टि से देखा जाता था और न ही उपेक्षा की द ष्टि से। **कामसूत्र** में गणिका को दिए जाने वाले प्रशिक्षण के वर्णन से स्पष्ट है कि इस व्यवसाय की अधिक मांग थी। कालिदास ने विदिशा की गणिकाओं के साथ साहसी नवयुवकों की क्रीड़ाओं का उल्लेख किया है। विशाखादत्त ने **मुद्राराक्षस** में उत्सवों पर बड़ी संख्या में वेश्याओं के सड़कों पर आने का उल्लेख है। देवदासियों का भी एक वर्ग था जो मंदिरों के साथ संबद्ध था। देवताओं के साथ इनका संबंध माना गया और इन्हें मंदिरों में रखा जाने लगा। जो सुंदरियां देवमंदिर में नियुक्त की जाती थीं उनका काम था आराध्यदेव के सम्मुख न त्य और गान करना तथा संगति का कार्यक्रम प्रस्तुत करना। **मेघदूत** तथ पुराणों में देवदासियों का उल्लेख है। कालिदास ने **मेघदूत** में उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में अनेक देवदासियों ने न त्यगान का उल्लेख किया है।

## सम्पत्ति संबंधी अधिकार

स्त्रियों के संपत्ति अधिकारों के विषय में **याज्ञवल्क्यस्म ति** में निरूपित मान्यताएं महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने पत्नी को भी पति की संपत्ति का अधिकारी बताया है। पुत्र के अभाव में पुरुष की संपत्ति पर उसकी पत्नी का सर्वप्रथम अधिकार होगा और उसके बाद उसकी कन्याओं का यह मंतव्य मनु, आपस्तम्ब आदि के विधानों के सर्वथा प्रतिकूल है। ब हस्पति और नारद ने भी कहा है कि कन्या भी पुत्र के समान संतान होती है, अतः पुत्र के अभाव में उसका संपत्ति पर अधिकार होना चाहिए। कात्यायन ने पत्नी को 'धनहरी' (संपत्ति प्राप्त करने वाली) बताया है और उसके जीवित न होन पर कन्या को। परंतु यह विषय विवादग्रस्त था। ऐसे भी शास्त्रकार हुए जिन्होंने विधवा को पति की संपत्ति की अधिकारिणी नहीं माना है। नारद के अनुसार संतानहीन व्यक्ति की संपत्ति राज्य को प्राप्त हो जानी चाहिए, यद्यपि राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह विधवा का पालन-पोषण करे। नारद ने इसे 'सनातनधर्म' कहा है।

दहेज में प्राप्त धन पर स्त्री का पूरा अधिकार होता था। मायके से प्राप्त स्त्री धन का उपयोग पति आपातकाल में कर सकता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यह धन पति को वापिस नहीं करना चाहिए परन्तु कातयायन के अनुसार यदि पति ने पत्नी से धन वापिस करने का वायदा किया है तो वापिस अवश्य करना चाहिए। माता की म त्यु होने पर पुत्र को पिता का वायदा पूरा करना चाहिए। स्त्री यदि संतानविहिन है तो उस परिस्थिति में स्त्री धन पुनः उसके पिता या भाई को प्राप्त हो जाता था। स्त्री धन छः प्रकार का बताया गया है पिता, माता, भ्राता व पति द्वारा दिया हुआ उपहार अथवा धन, कन्यादान के समय प्राप्त धन तथा अधिवंदन के निमित मिला हुआ धन यही नही विवाह के पश्चात् सास ससुर आदि से पादवंदन स्वरूप मिला धन ये सब स्त्री धन था।

## विवाह प्रथा

तत्कालीन लेखों और साहित्य से उस समय की वैवाहिक प्रथा का भी पता चलता है। राजवंशों में अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्तों के विवाह-सम्बन्ध ब्राह्मण, वाकाट और नाग राजाओं के साथ थे। विधवा-विवाह और सती प्रथा का भी प्रचलन था। कालिदास के भाटकों और म च्छ-कटिक में सती प्रथा का उल्लेख मिलता है जो विधवा पुनर्विवाह नहीं करती थी वह

अत्यन्त सादा और संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। आभूषण और विलास की सामग्रियों का वे कभी प्रयोग नहीं करती थी। बहु-विवाह की प्रथा भी थी। अनमेल विवाह भी होता था जिसका उदाहरण कुमारगुप्त है। ऊंची जाति के पुरुष नीची जाति की स्त्रियां और नीची जाति उच्च जाति की स्त्री के पुरुषों में भी सम्बन्ध हो सकता था। ऐसे विवाह को प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। ऐसे विवाहों के भी उदाहरण इस युग में मिलते हैं। कदम्ब राजा ब्राह्मण थे किन्तु उनकी कन्याएं गुप्त परिवार में ब्याही गयी थी।

पारिवारिक जीवन - गुप्त काल का हिन्दू समाज सम्मिलित कुटुम्ब के ऊपर आधारित था। इसका काल में स्म ति-ग्रंथों में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा को प्रशंसनीय बताया गया है और पिता के जीवन काल में परिवार के विभाजन की निन्दा की गयी है। गुप्तकालीन अभिलेखों से भी सम्मिलित कुटुम्ब के अस्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। एक लेख से हमें पता चलता है कि दानकर्ता अपने, अपनी मां, पत्नी, एक पुत्र, एक पुत्री, दो भतीजों और भतीजियों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए दान करता है। इससे यह स्पष्ट होत है कि पिता की म त्यु के बाद भाई पूरे परिवार के साथ ही रहा करते थे।

## खानपान

गुप्तकालीन समाज में दोनों ही प्रकार - मांसाहारी तथा शाकाहारी के भोजन का सेवन किया जाता था।

**मांसाहारी भोजन :-** फाह्यान ने यद्यपि मांस और मदिरा के गुप्तकाल में चलन से इन्कार किया है उसके अनुसार बाजारों में मांस, मदिरा की दुकानें नहीं हैं, लोग सुअर और मुर्गियां नहीं पालते, प्याज और लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते, केवल चाण्डाल, जो समाज से बहिष्क त हैं, वन्य पशुओं का आखेट करते एवं मांस का विक्रय करते हैं।'' किन्तु फाह्यान का यह तर्क सर्वमान्य नहीं हो सकता। रतिभानु सिंह नाहर के अनुसार यह तथ्य बौद्ध धर्म से प्रभावित प्रजा के लिए सत्य हो सकता है, परन्तु बौद्ध प्रजा के लिए भी मांसाहार का निषेध नहीं था। तत्कालीन हिन्दू समाज में मांस, मछली, प्याज एवं लहसुन का बहुत प्रचलन था। कालिदास ने अमिषाहार का पर्याप्त वर्णन किया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में ब्राह्मण द्वारा भुना हुआ मांस खाने का उल्लेख मिलता है। कालिदास के अन्य नाटकों में भी स्त्री एवं पुरुष के द्वारा मांस एवं सुरा के ग्रहण करने का संकेत मिलता है। 'मालविकाग्निमित्र', 'रघुवंश' एवं 'कुमारसंभव' तीनों नाटकों में स्त्री द्वारा सुरा-पान किए जाने के संकेत हैं। कभी-कभी तो स्त्रियां बहुत अधिक सुरा-पान कर लेती थी (मालविकाग्निमित्र)। भोजनोत्सव में खुले आम सुरापान का चलन था। इनके अतिरिक्त कोई भी स्म तिकार मांस एवं मदिरा-पान का निषेध नहीं करता। हां, इनसे सम्बन्धित सीमाएं अवश्य वर्णित मिलती हैं। स्म तिकारों के अनुसार प्रोषितपतिकाओं (वे पत्नियां जिनके पति विदेश चले गये हैं) को मासांहार नहीं करना चाहिए। राजघराने के भोजन में मांसाहार की प्रमुखता रहती थी।

**शाकाहार -** साधारण जनता सात्त्विक भोजन ही करती थी। गुप्त काल में हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान ने आहार को भी प्रभावित किया था। भागवत धर्म एवं महायान शाखा के पूर्ण अभ्युदय ने अहिंसा के परिपालन पर बल दिया था। फलस्वरूप समाज का एक वर्ग शाकाहारी एवं द्वितीय वर्ग मांसाहारी हो उठा। ब्राह्मण अधिकांशतः शाकाहारी थे। इनके अतिरिक्त मक्खन, तेल एवं शक्कर का संकेत भी फाह्यान के वर्णन में मिलता है।

## परिधान

सांस्क तिक उथल-पुथल के इस युग में वस्त्रों की कलात्मकता एवं श्रेष्ठता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

**(1) वस्त्रों के प्रकार :-** तत्कालीन समाज में सूती, रेशमी, एवं ऊनी, तीनों प्रकार के वस्त्रों में रेशमी वस्त्रों को सर्वाधिक पसन्द किया जाता था। राजकीय पोशाकें अधिकांशतः रेशम से ही निर्मित होती थी। रेशम का चीन से आयात किया जाता था।कालीदास ने इस रेशम को 'चीनांशुक' कहा है। कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर अभिलेख से स्त्रियों में रेशम की लोकप्रियता का पता चलता है। प्रेमियों के मिलने से पूर्व प्रेमिकाएँ अवश्य ही रेशमी वस्त्र धारण करती थी।

अमर कोष में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है :-

(i) क्षौम-यह दुकूल के समान था तथा विशुद्ध रेशम से बनता था।
(ii) रूई के वस्त्र-ये वस्त्र फल के रेशों से बनाये जाते थे।
(iii) रेशमी वस्त्र-यह कीड़ों के रेशें से बनाये जाते थे।
(iv) ऊनी कपड़े-ये पशुओं के वालों से तैयार किए जाते थे।

वस्त्रों के रँगने का भी चलन था। वराहमिहिर ने 'वज्रलेप' का संकेत किया है। वज्रलेप वस्त्र रँगने का रासायनिक पदार्थ था। वस्त्रों को रंगकर कलात्मक एवं सुन्दर बनाया जाता था।

**(2) पुरूष-वस्त्र**--धोती एवं उतरीय पुरूषों का पहनावा था। धोती एवं उत्तरीय गुप्तयुगीन राष्ट्रीय परिधान था, अतः राजा आदि भी यही पोशाक धारण करते थे। यद्यपि विदेशी सीरियनों के संपर्क में आने से भारतीय भी कोट-पायजामा आदि सिले वस्त्र पहनने लगे थे, परन्तु विदेशी परिधानों का चलन कम ही था। उष्णीप पहनने का प्रचलन था। उष्णीय केवल राजघराने के एवं उच्चस्तरीय जन ही धारण करते थे, साधारण पुरूष पगड़ी नही पहनते थे।

**(3) स्त्री-वस्त्र**--नारियों का प्रमुख परिधान साड़ी था। लम्बी साड़ियों से ही पेटीकोट का काम भी लिया जाता था। चोली का भी चलन था। साड़ियाँ रंग-बिरंगी होती थीं। साड़ी व चोली चोली पहने हुए नारियों के अनेक चित्र अजन्ता एवं अलोरा की गुफाओं में चित्रित पाये गये हैं। विदेशी परिधान का प्रयोग अनेक भारतीय स्त्रियाँ भी करने लगी थीं, परन्तु सीरियन परिधान का चलन कम ही था। नाचनेवाली लड़कियाँ कभी-कभी विदेशी वस्त्र धारण करती थी।

**(ऋ) आभूषण**

गुप्त कालीन मूर्तियों से तत्कालीन समाज में आभूषण-प्रियता का बोध होता है। स्त्री एवं पुरूष दोनो ही अलंकार धारण करते थे परन्तु स्त्रियाँ आभूषणों की विशेष शौकीन होती थीं। म च्छकटिक में करघनी, कड़े, अँगूठी, बाजूबन्द(केयूर), पायल आदि स्त्रियों के छह प्रकार के मुख्य गहनों के रूप में वर्णन मिलता है। मणि एवं मोती के हारों का खूब प्रचलन था। राजकीय पुरूष भव्य वेश-भूषा के साथ केयूर (बिजायठ), अंगुलीयक (अँगूठी) एवं हार पहनते थे। मेघदूत का यक्ष अपने हाथ में कनक-वलय पहनता था। ब हत्संहिता के अनुसार धार्मिक संस्कार सम्पन्न करते समय प्रत्येक स्त्री-पुरूष को हाथ में आभूषण धारण कना चाहिए। अमरकोष भी आभूषणों के बारे में पर्याप्त ज्ञान देता है। पहाड़पुर (राजशाही, बँगला देश) से उपलब्ध मूर्तियों से पुरूषों द्वारा पहने जाने वाले कटिबन्ध एवं उदरबन्ध का आभास मिलता है। अँगूठी प्रेम-प्रतीक आभूषण माना जाता था। प्रेम-प्रतीक होने के कारण ही विवाहोपलक्ष में चन्द्रगुप्त प्रथम ने रानी कुमारदेवी को अँगूठी प्रदान की थी। इस अँगूठी सहित राजा-रानी काचित्र मुद्रा पर अंकित है।

गुप्तकाल में सुवर्ण-कला इतनी अधिक विकसित एवं उच्चकोटि की हो चुकी थी कि रत्न-परीक्षा नामक एक वैज्ञानिक शाखा का जन्म इसी काल में हुआ। इस विज्ञान की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी, ऐसा दिव्यावदान से ज्ञात होता है।

### (ऋ) केश-श्रंगार

गुप्त-काल में लम्बे केश नारी सौन्दर्य के बोधक माने जाते थे। स्त्रियाँ पुष्पों के द्वारा केशों को भिन्न-भिन्न रूपों में सजाने में निष्णात् थीं। मेघदूत एवं कुमारसंभव में पुष्प-केश-सज्जा का अति सुन्दर चित्रण मिलता है। बाघ एवं अजन्ता की गुफाओं में चित्रित नारी-चित्रों से हमें तद्युगीन जूड़ों एवं पुष्प-केश-सज्जा के नमुनों का ज्ञान प्राप्त होता है। उस समय कृत्रिम केशों का भी चलन था। गुप्त-युगीन-नारियाँ सौन्दर्य-बोध समझती थीं, तभी वे सौन्दर्य-व द्धि के लिए नए-नए तरीके खोजती थीं।

श्रंगार-शत्क एवं ऋतु-संहार से नारियों के विभिन्न प्रसाधनों का ज्ञान प्राप्त होता है। स्त्रियाँ ग्रीष्म ऋतु में सुगन्धित चन्दन का विलेपन करती थीं। प्रत्येक ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रंगारिक प्रसाधनों का नारियाँ प्रयोग करती थी। नारियाँ ओठों में अलक्तक एवं पैरों में अंगराग लगाती थीं। श्रंगार-प्रियता तद्युगीन नारियों की सौन्दर्यनुभूति की परिचायिका है। यह प्रमाणित करता है कि गुप्त-युग समाज विलासिता की ओर अग्रसर होने लगा था।

### (ए) आमोद-प्रमोद

गुप्तयुगीन समाज भौतिक द ष्टि से भली प्रकार सम्पन्न था। गुप्त-काल के उस भौतिक एवं विलासी समाज में आमोद-प्रमोद के अनेक साधन भली-भांति पनप रहे थे। तद्युगीन समाज में व्यक्ति मनोरंजन को जीवन का महत्वपूर्ण एवं अत्यावश्यक अंग मानते थे। जीविकोपार्जन के व्यस्त क्षणों को जीवान्त बनाने के तरीके से तद्युगीन व्यक्ति पूर्णतः अवगत थे। वे मनोरंजन को जीवन-क्षमता एवं कार्य-क्षमता द्विगुणित करने का साधन मानते थे। न केवल राजकीय घरानों एवं उच्चस्तरीय समाज में ही आमोद-प्रमोद का प्रचलन था, वरन् समाज के साधारण वर्ग भी मनोरंजन के महत्त्व से परिचित थे। ये लोग भी मनोरंजन में कुछ समय व्यतीत करके अपने दैनिक जीवन को सरस, सहज एवं जीवान्त बनाते थे। गुप्तयुगीन समाज में आमोद प्रमोद के मुख्यतः निम्नांकित साधन प्रचलित थे :-

**(1) आखेट** :- आखेट मुख्यतः राजकीय व्यसन माना जाता था। समस्त गुप्त-सम्राट् म गया में अनुरक्त प्रकट होते हैं। समुन्द्रगुप्त के सिक्कों पर बाघ का शिकार करते हुए सम्राटों के चित्र अंकित हैं। इन सिक्कों पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं कुमारगुप्त की म गया-मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं। ये सिक्के तद्युगीन अभिजात-वर्ग के आखेट-अनुराग के परिचायक हैं। न केवल सम्राट्, वरन् सामन्त एवं सैन्याधिकारी भी यह शौक रखते थें। संभवंतः यह जन-साधरण का व्यसन नही था।

**(2) द्यूत-क्रीड़ा** :-भारत में द्यूत-क्रीड़ा का चलन वैदिक काल से ही चला आ रहा है। रघुवंश में वर्णित 'दुरोदरं' शब्द गुप्तयुगीन समाज में जुए की लोकप्रियता का परिचायक है। यह समाज के समस्त वर्गो में प्रचलित था। संभवतः यह निम्न एवं साधारण वर्गीय समाज का अति लोकप्रिय मनोरंजन का साधन था।

**(3) पशु-युद्ध** :-पशुओं का परस्पर युद्ध भी तद्युगीन समाज का अतिलोकप्रिय मनोरंजन का साधन था। युद्ध करने वाले पशुओं में भैंसा एवं हाथी प्रमुख थे। युद्ध के निमित्त युद्ध-स्थल (अखाड़े) बने होते थे। उस युग में पशु-युद्ध का प्रचलन अवश्य था, परन्तु पशु युद्ध स्पेन आदि देशों के समान अति मानवीय नही होते थे। स्पेन आदि में पशुओं से पुरूष युद्ध करता था, परन्तु भारत में परस्पर पशुओं में ही युद्ध कराने का ही चलन था। आमोद-प्रमोद के इस साधन में अभिजात एवं साधारण दोनों वर्ग पूर्ण आनन्द लेते थे।

**(4) नाटक** :-नाटक-ग हों का जन्म इसी युग से होता है। नाटकाभिनय की परम्परा का श्रीगणेश गुप्तयुगीन समाज द्वारा ही हुआ था। गुप्त-युग सांस्कृतिक नाटकों के अभ्युत्थान एवं चरमोंत्कर्ष का युग था। कालिदास के समस्त नाटक अभिनय-योग्य हैं। अवश्य ही नाटकों को भी अभिनीत किया जाता होगा। तद्युगीन समाज में प्रेक्षा-ग हों का अस्तित्व था, इसका प्रमाण साहित्य में मिलता है। विशुद्ध संस्कृत नाटकों के प्रति जन साधारण की अभिरूचि यह सिद्ध करती है कि तत्कालीन समाज में अधिकांशतः बुद्धिजीवी व्यक्ति थे। वे साहित्य एवं कला के प्रति सहज अनुराग रखते थे। तद्युगीन नाटक जहाँ मनोरंजन के उत्कृष्ट साधन थे, वहीं वे समाज में सांस्कृतिक अभिरूचि को भी परिष्कृत करते थे एवं आध्यात्मिकता के दिव्य पक्ष को भी उजागर करते थे। नाटकों का अभिनय न त्य, वादन एवं गायन के माध्यम से होता था। यूरोप में नाटक तथा अभिनय के क्षेत्र में जो महत्व महारानी ऐलिजाबेथ (प्रथम) के युग को प्राप्त था, वही महत्व भारत में गुप्त-काल को सुलभ था। गुप्त सम्राटों एवं नाटककारों द्वारा आर्विभूत नाट्य-परम्परा भारत में आज भी प्रचलित है।

**(4) संगीत** :-तत्कालीन समाज में संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। संगीत के तीनों अंग-गायन, नर्तन एवं वादन-अति लोकप्रिय थे। संगीत को राजप्रश्रय सुलभ था। समुन्द्रगुप्त के सिक्कों पर वीणा-वादन करते हुए सम्राट का चित्रांकन तद्युगीन सम्राटों के संगीतानुराग का परिचायक है। गुप्त-समाज में संगीत के प्रति अविरल अनुराग न केवल अभिजात वर्ग में ही व्याप्त था, वरन् जन-साधारण भी समान रूप से संगीत में रूचि लेता था। संगीत तद्युगीन में पूर्ण विकसित कला के रूप में प्रतिष्ठित था। संगीत कला की विधिवत् शिक्षा भी दी जाती थी।

**(4) सामाजिक उत्सव** :-सामाजिक उत्सवों में जनता सामुहिक रूप से सम्मिलित होती और आनन्द प्राप्त करती थी। किसी पर्व एवं उत्सव के अवसर पर समाज के समस्त वर्ण एवं वर्ग समान रूप से आत्म-विभोर हो उठते थे। सामाजिक उत्सव के अवसर पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित एवं ब्राह्मण-शूद्र का भेद-भावात्मक बोध तिरोहित हो जाता था। समस्त व्यक्ति सहयोगी भाव से पर्व में भाग लेते थे। ऐसे सामाजिक उत्सवों में 'रथयात्रा' का विशेष महत्व था। फाह्यान के अनुसार-''प्रति वर्ष रथयात्रा का आयोजन किया जाता है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहियों के रथ बनते हैं। यह पूस पर काटी जाती है, जिसमें धुरी तथा हर्से लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा और सूप के आकार का बनता हैं। ऊपर से सफेद ऊनी चमकीला कपड़ा मंढ़ा जाता है। विविध प्रकार की रँगाई की जाती है। सुवर्ण, रजत एवं स्फटिक की भव्य प्रतिमाएँ निर्मित की जाती है, रेशम की पताकाएँ एवं चाँदनी लगाई जाती हैं। चारों कोनों में कलंगियाँ लगी रहती हैं। रथों की संख्या बीस होती है। रथ एक से एक सुन्दर, आकर्षक और भड़कीले होते हैं। निश्चित समय पर निकट के सभी ग हस्थ एवं संन्यासी आकर एकत्र हो जाते हैं। गाने-बजाने वाले भी सम्मिलित होते हैं। एक-एक करके लोग नगर में प्रवेश करते हैं। इस कार्य में दो रातें व्यतीत होती हैं। सारी रात दीपक जला करता है। गाना, बजाना एवं पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा ही किया जाता है।'' सामाजिक उत्सवों में ग हस्थों के साथ संन्यासी भी भाग लेते थे। जन-साधारण के साथ सम्राट्, सामन्त एवं सैन्याधि ाकारी भी पर्वों का आनन्द लेते थे। इन पर्वो एवं उत्सवों से सामाजिकता का भाव परिष्कृत होता था। परस्पर मिलने-जुलने एवं आनन्द मनाने से भ्रात त्व एवं सौहार्द का भाव जाग त होता था। इस प्रकार के सामाजिक उत्सवों से गुप्त-युगीन समाज में एकता एवं संगठन के भाव का संचार होता था और मनोरंजन तो उसका प्रत्यक्ष लाभ था ही।

**(7) पासा एवं अन्य क्रीड़ाएँ** :- उपर्युक्त मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त गुप्त-युगीन

व्यक्ति पासा खेलने में भी रूचि रखते थे। यह जन-साधारण का खेल था। कन्दुक क्रीड़ा में अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ रूचि लेती थी। रघुवंश से यह प्रमाणित होता है।

### (ऐ) शिक्षा

गुप्त-कालीन समाज पूर्णतः संभ्रान्त एवं सुशिक्षित था। इस युग में शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा उठ चुका था। केवल स्त्रियों की शिक्षा अवश्य ही शिथिल हो गयी थी, जिसका मूल कारण बाल-विवाह का प्रचलन था। परन्तु युवकों की शिक्षा पर राज्य एवं समाज द्वारा पूरा ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक बालक एवं युवक को राष्ट्र का उपयोगी अंग माना जाता था एवं उनके वैयक्तिक महत्व को समझा जाता था, सभी बालकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के पूर्ण विकास की ओर ध्यान दिया जाता था।

**(1) गुरु-शिष्य सम्बन्ध** :- तद्युगीन शिक्षा व्यवस्था केवल अध्ययन, अध्यापन एवं शिक्षण विषयों तक ही सीमित नही थी, वरन् शिक्षा मूलतः ब्रह्मचर्य जैसे सात्विक आचार नियमों पर आध त थी। शिक्षक तथा विद्यार्थी के गहरे सम्बन्ध पिता एवं पुत्र तुल्य थे। विद्यार्थी अन्तेवासी, शिष्य एवं ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य किसी भी वर्ण का विद्यार्थी वर्ण-विशेष से सम्बोधित नही किया जाता था, वरन् सभी छात्र-वर्णी कहलाते थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रत्येक छात्र को वेदाध्ययन करना चाहिए तथा पूर्णतः धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। 12 वर्ष के अध्ययन-काल में विद्यार्थी को पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। 16वें वर्ष में केश उतरवाने चाहिए। छात्र अपने व्यवहारिक जीवन में अपने गुरु के आदर्श एवं आचरण का अनुशीलन करता था। गुरु की सेवा करना शिष्य का परम धर्म होता था। शिक्षक विद्यार्थियों का गुरु होता था, क्योंकि गुरु बनकर ही शिक्षक विद्यार्थियों के गर्भाधान से लेकर समस्त संस्कार सम्पन्न करवाता था। गुरु ही उपाध्याय एवं प्राचार्य आदि कहलाता था, गुरु बिना शिक्षण-शुल्क लिए विद्यार्थियों को पुत्रवत् शिक्षा देता था। शिक्षा देने में गुरु वर्ण-भेद एवं अमीर-गरीब का भेद नही करता था। भेदभाव करनेवाला या शुल्क लेने वाला गुरु हेय द ष्टि से देखा जाता था तथा वह धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराने का अधिकारी नही माना जाता था। गुरु यदि विद्यार्थी से शुल्क ग्रहण करे, तो वह पातकी माना जाता था, अतः गुरु के द्वारा शुल्क-ग्रहण पाप-तुल्य माना जाता था। गुरु विद्वान् एवं प्रकाण्ड पंडित होते थे।

इस प्रकार गुरु पिता के समान समस्त छात्रों को समान भाव से पुत्रवत् शिक्षा देते थे, उनका आचरण उन्नत एवं उत्कृष्ट बनाते थे। गुरु के निःस्वार्थ विद्यादान के बदले में शिष्य को पूर्ण निष्ठा एवं मन से गुरु की सेवा करनी होती थी। न केवल गुरु, वरन् गुरु-पत्नि के प्रति भी श्रद्धा-भाव रखना होता था। गुरु-पत्नि के साथ र्दुव्यवहार एवं अभद्र आचरण करने वाला विद्यार्थी नरक-भागी माना जाता था। ऐसे पापी शिष्य के लिए याज्ञवल्क्य ने कुपरिणाम, गम्भीर दण्ड एवं प्रायश्चित की व्यवस्था की थी।

**(2) राज्य-संरक्षण** :- उपर्युक्त भाग में यह स्पष्ट हो चुका है कि गुरु शुल्क नही लेता था। गुरु की इस निःस्वार्थ सेवा के प्रति राज्य एवं समाज के भी कुछ कर्तव्य होते थे। राज्य द्वारा ब्राह्मणों के आवास एवं भोजनादि की व्यवस्था की जाती थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मणों के लिए उचित आवास की उचित व्यवस्था करना राजा का धर्म था। तद्युगीन राज्य में ब्राह्मणों की आवास-नगरी 'ब्रह्मपुरी' कहलाती थी। रधुवंश से ज्ञात होता है कि राजा कुश ने समस्त कुशवती नगरी वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान कर दी थी। विद्यापीठ के व्यय के लिए राज्य की ओर से अग्रहार-दान (ग्राम-दान) किए जाते थे।

**(3) गुरुकुल-व्यवस्था** :- नगर से दूर प्रकृति के आँचल में गुरु के आश्रमों में विद्यार्थी

रहते थे। गुरु के व्यक्तिगत सम्पर्क में रहकर विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। नारद स्म ति के अनुसार उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को गुरुकुल में ही गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए एवं शिक्षा में निष्णात् होना चाहिए।

**(4) शिक्षण-विषय** :- शिक्षण-विषयों में वेद का मुख्य स्थान था। तद्युगीन विद्यार्थियों की शिक्षा में चतुर्वेद, छह वेदांग, 14 विद्याएँ, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्म, कानून, वैज्ञानिक शिक्षा, शिल्प, व्याकरण, सैन्य प्रशिक्षण, संस्कृति एवं भाषा पर बहुत बल दिया जाता था।

**(5) शिक्षण-पद्धति** :- गुप्तयुग में शिक्षण-पद्धति मुख्यतः मौखिक ही थी। यद्यपि लिपि ज्ञान भी कराया जाता था, परन्तु धर्म-ज्ञान मौखिक रूप से ही दिया जाता था। फाह्यान के अनुसार ''विद्यार्थियों को अध्यापक के शब्द सुनने, सोचने और समझने पड़ते थे।'' फाह्यान ने भारत के समस्त प्रमुख विद्यापिठों का भ्रमण किया था। प्रत्येक विद्यापीठ में फाह्यान ने मौखिक शिक्षण-पद्धति का ही चलन पाया। केवल पाटलीपुत्र के विहार में दो सूत्र एवं अभिधम्म के कुछ अंश उसने लेखबद्ध पाए थे। लेखन-विद्या का प्रचार भी बहुत था। फाह्यान ने भारत में मात्र तीन वर्ष में संस्कृत लिखना एवं पढ़ना सीख लिया था।

**(6) प्रतिष्ठित शिक्षण-संस्था** :- प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय गुप्त-काल की ही देन था। कुमारगुप्त प्रथम, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त एवं बालादित्य आदि ने इस विश्वविद्यालय को द्रव्य दान दिए थे। इस विश्वविद्यालय की ख्याति वर्धन काल में चरम सीमा पर पहुँची थी। यह विश्वविद्यालय पाटलीपुत्र में प्रतिष्ठित था।

**(7) विद्या का माहात्म्य** :- गुप्त-काल में अभिजात वर्ग, विद्वर्ग एवं जन-साधारण सभी विद्या के महत्व से परिचित थे। व्यास स्म ति के अनुसार वेदज्ञान मनुष्य का लोक एवं परलोक उत्कृष्ट बनाता है। ब हस्पति स्म ति के अनुसार विद्या दुःखों से मुक्ति का अमोघ अस्त्र है। इसी कारण विष्णु ने न केवल जन-साधारण के बालकों, वरन् राजकुमारों को भी आवश्यक रूप से स्नातक बनने की राय दी थी। पराशर की द ष्टि में वेद-विद् ब्राह्मण 'ब्रह्म' होता है, अतः उसका नित्य दर्शन करना चाहिए। गुप्तयुगीन समाज में इस विद्या की सुकीर्ति चतुर्दिक व्याप्त थी। विद्या का मन्दिर एवं उसके मधुर सुगन्ध से सुवासित तद्युगीन समाज निश्चय ही बौद्धिक उत्कृष्टता का प्रतिमान था। उस बुद्धिजीवी समाज में सभी वर्ग शान्तिमय, सहयोगमय, प्राणमय एवं आनन्दमय जीवन जी रहे थे।

### जन-जीवन

गुप्तकालीन जनसंख्या का एक हिस्सा बहुत ही सम द्ध और सम्पन्न था। साम्राज्य की जनसंख्या काफी तेज गति से बढ़ रही थी। एक तरफ साम्राज्य के विभिन्न भागों में फैले विशाल नगर एवं बस्तियाँ राज्य की सम द्धि राजाओं, सामन्तों अर्थात अभिजात वर्ग की विलासिता पूर्ण जीवन की साक्षी है, वहाँ दूसरी तरफ समाज में एक बहुत बड़े वर्ग (महिलाएँ, शुद्र, अस्प श्य) की सामाजिक तथा आर्थिक विषमता की गवाह। इस काल में दो ग्रन्थों श्र ंगारशतक तथा ऋतुसंहार से गुप्तकाल के विलासमय जीवन का विवरण प्राप्त होता है। यह मुख्यतः सामन्ती सभ्यता थी जिसका भोग विलास के जीवन पर काफी जोर था इसी कारण आनन्दकुमार स्वामी ने गुप्तकालीन संस्कृति को **'विलासमयी अभिजात्य संस्कृति'** कहा है।

### धार्मिक स्थिति

**हिन्दु धर्म** :-गुप्त काल ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का प्रतीक माना जाता है। गुप्त सम्राटों ने वैदिक धर्म के विविध अनुष्ठानों व क्रियाविधियों को अपनाया और वैदिक धर्म के अनुसार यज्ञ

आदि किए। गुप्त सम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। यह इस बात का प्रतीक है कि एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग धर्म अपना सकते थे। हिंदू धर्म के पुनरुत्थान की प्रक्रिया गुप्त साम्राज्य की स्थापना से पूर्व ही आरम्भ हो गई थी और गुप्त काल में विकास का यह क्रम अपनी चरम सीमा पर था। परन्तु इसका यह अर्थ नही था कि बौद्ध और जैन धर्म भारत से लुप्त गए। साथ-ही-साथ इन धर्मो का अस्तित्व भी बना रहा और इनमें भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

अभिलेखों और मुद्राओं के स्त्रोत से उत्तरी और दक्षिण भारत के सम्राटों द्वारा वैदिक यज्ञ करने के प्रमाण मिले हैं। अल्तेकर के अनुसार तीसरी तथा चौथी शताब्दी में यज्ञों की जितनी अधिक लोकप्रियता थी उतनी पहले कभी नही थी। गुप्त सम्राटों ने वैदिक परम्पराओं व प्रणालियों के अनुसार अश्वमेघ यज्ञ किए। समुन्द्र गुप्त और कुमारगुप्त ने भी अश्वमेघ यज्ञ किए। इसके अतिरिक्त अग्निष्टोम, वाजपेय, वाजसनेय आदि यज्ञ भी किए जाने लगे। अभिलेख से जानकारी मिलती है कि ब्राह्मणों को मंदिरों के लिए भूमिदान दिए जाने की प्रथा बढ़ी। साधारण लोगों में पंचमहायज्ञों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। इस समय तक हिंदू धर्म के तीन महत्वपूर्ण पक्ष विकसित हुए। मूर्ति उपासना का केन्द्र बन गई और यज्ञ का स्थान उपासना ने ले लिया। मूर्ति को बलि चढ़ाने की प्रथा भी प्रचलित रही। मानव जीवन के चार लक्ष्य बताए गए-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम का सम्यक् संतुलन आवश्यक था। वैदिक देवताओं की प्रतिष्ठा पहले से कम हो गई और हिंदू धर्म के दो मुख्य संप्रदाय विकसित हुए-वैष्णव तथा शैव। इन दोनों धर्मो का समन्वय गुप्त काल की प्रमुख विशेषता है।

इस काल में भक्ति के सिद्धान्त को बढ़ावा मिला क्योंकि यही सिद्धान्त समसामयिक परिस्थितियों के अनुकूल था क्योंकि उभरती सामंती व्यवस्था में स्वामी भक्ति की हद तक के सेवक एवं चाकरों की जरुरत थी।

**वैष्णव धर्म** :- गुप्त राजाओं के राजाश्रय से वैष्णव धर्म लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँचा। अनेक गुप्त नरेशों का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म था। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समान अनेक गुप्त सम्राटों ने अपने सिक्कों पर नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण का प्रयोग किया है। चंद्रगुप्त द्वितीय और समुन्द्रगुप्त के सिक्कों पर विष्णु के वाहन गरुड़ की प्रतिमा अंकित है। इसके अतिरिक्त मुद्राओं के ऊपर वैष्णव धर्म के अन्य प्रतीक शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होते हैं। गुप्त सम्राटों के काल में अनेक वैष्णव मंदिरों का निर्माण हुआ।

अनेक शिलालेखों में भक्तों द्वारा बनवाए गए विष्णु-मंदिरों व विष्णु-ध्वजों का वर्णन है। स्कंद गुप्त का जूनागढ़ अभिलेख तथा बुद्धगुप्त का एरण स्तंभलेख विष्णु की स्तुति से आरम्भ होता है। गुप्त काल में वैष्णव धर्म सम्बन्धि सबसे महत्वपूर्ण अवशेष देवगढ़ (झांसी) का दशावतार मंदिर है। उत्खनन से ज्ञात होता है कि यह मंदिर पंचातयन श्रेणी का है जिसमें मुख्य मंदिर के चारों ओर अन्य देवताओं के चार छोटे-छोटे पूजा स्थल हैं। इसी मंदिर के एक स्तंभ पर अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें केशवपुर के स्वामी के उपासक भागवत गोविन्द का उल्लेख है। संभवतः यह स्थान केशवपुर कहलाता था। इस मंदिर में कृष्ण के जीवन की कुछ घटनाएँ अंकित हैं। इसी मंदिर में शेषनाग की शैया पर विश्राम करते हुए नारायण विष्णु को दिखाया गया है।

सुवीरा जयसवाल के अनुसार इस काल में वैष्णव धर्म भारत के प्रत्येक भाग में फैला तथा दक्षिण पूर्वी एशिया, हिंदचीन, कम्बोडिया, मलाया और इंडोनेशिया तक इसका प्रचार हुआ। भारत में इस धर्म के विस्तार के प्रमाण शिलालेखों, सिक्कों और साहित्य में मिलते हैं। अतः गुप्तकाल में भागवत धर्म अपनी पराकाष्ठा पर था। विष्णु या नारायण अथवा नर नारायण का

पूजन और मूर्तिनिर्माण बहुत अधिक विकसित था। स्थापत्य और साहित्य दोनों में विष्णु के विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया हैं।

इस काल में वैष्णव धर्म का केवल प्रसार ही नही हुआ वरन् अनेक रूपों में उसका विकाश भी हुआ। यह विकास प्रधानतया अवतारवाद के रूप में था। वैष्णव धर्म में पहले से चले आ रहे अवतारवाद के विचार को विशेष रूप से विकसित किया गया और यही अवतारवाद इस धर्म का प्रधान अंग बन गया। उस समय विकसित हो रहे सामंतवादी सामाजिक ढ़ाचें में वैष्णव धर्म और कुछ हद तक शैव धर्म का अवतारवाद अधिक अर्थपूर्ण हो गया। बौद्ध धर्म और बोधित्सव में भी अवतारवाद मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार विष्णु के 39 अवतार हुए हैं किंतु 10 अवतारों को आम तौर पर स्वीकार किया गया है। ये दस अवतार हैं :- मत्स्य, कूर्म, वराह, न सिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। ऐसा प्रतीत होता है कि अवतारवाद के माध्यम से न केवल विभिन्न प्रमुख धर्मो के अनुयायियों अपितु कबायली एं जनजातीय लोगों के धार्मिक विश्वासों एवं आस्थाओं को भी वैष्णव पंथ में समाविष्ट करने का प्रयास किया गया था। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि नारायण, संकर्षण, लक्ष्मी जैसे अवैदिक देवी-देवताओं को वैष्णव धर्म का ही अंग बना लिया गया और यह प्रक्रिया मुख्यतः गुप्त काल की देन है।

**शैव धर्म** :- शिव से सम्बन्धित धर्म को शैव धर्म कहा गया। गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के अनुयायी थे परन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता की भावना से शैव धर्म का समाज में यथोचित प्रसार हुआ था। कुमारगुप्त प्रथम के मंत्री प थ्वीसेन ने शिव मंदिर के लिए दान दिया था। स्कंदगुप्त का अधीनस्थ सामंत महाराज हस्तिन शिवोपासक था। स्कंदगुप्त के बैल के आकार वाले सिक्के उसकी शैव धर्म में आस्था के प्रमाण हैं। गुप्त युग में अनेक शिवमंदिरों का निर्माण हुआ और शिव की महिमा से संबंधित साहित्य की रचना भी हुई। कालिदास की अनेक कृतियों में शिव के विभिन्न रूपों, मतों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख हैं। पुराणों में शिव के अनेक नाम मिलते हैं और उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है। वायुपुराण और मत्स्यपुराण में, जिनकी रचना गुप्त काल में हुई, शिव की महिमा तथा पूजा का विस्त त वर्णन है। कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर मयूर पर आरूढ़ कार्तिकेय (स्कंद) की प्रतिमा अंकित है। कुमारगुप्त ने अपने पुत्र का नाम स्कंदगुप्त रखा जो शैव धर्म में उसकी आस्था दर्शाता है।

शिव की मूर्तियाँ दो प्रकार से बनाई जाती थी -मानव आकार में तथा लिंग के रूप में। गुप्त वंश के काल में दोनों रूपों में शिवमूर्तियाँ बनाई गई। लिंगोपासना का उल्लेख **महाभारत** के अनुशासन पर्व में मिलता है। पुराणों में लिंग पूजा का उल्लेख है। इसका स्पष्ट वर्णन **मत्स्यपुराण** में मिलता है, जिसमें बाणासुर द्वारा शिवलिंग को सिर पर रखकर शिव की पूजा का उल्लेख है। मानवाकार शिव की मूर्तियों में कोसाम से प्राप्त शिव-पार्वती की मूर्ति महत्वपूर्ण है। सारनाथ संग्रहालय में विद्यमान लोकेश्वर शिव का एक सिर उल्लेखनीय है, जिसका जटाजूट अत्यंत कलात्मक ढ़ंग से बना हुआ है। लिंग रूप मूर्तियों में नागोद से प्राप्त एकलिंग मुखमूर्ति महत्वपूर्ण है। इसमें शिवलिंग के एक ओर सिर की आकृति बनाई गई है, जिस पर रत्नजड़ित मुकुट है और जटाजूट के ऊपर अर्धचंद्र है। मस्तक पर शिव का त तीय नेत्र भी बनाया गया है। अर्धनारीश्वर के रूप में भी शिव की कल्पना की गई तथा शिव व पार्वती की संयुक्त मूर्तियाँ गुप्त काल में बनीं। अर्धनारीश्वर की मूर्ति शिव और पार्वती के परस्पर तादात्म्य पर आधारित थी। हरिहर के रूप में शिव को विष्णु के साथ दर्शाया गया जो वैष्णव व शैव धर्म के समन्वय का प्रमाण था। हरिहर की अनेक मूर्तियाँ गुप्त युग में बनाई गई तथा एक ही मूर्ति के माध्यम से दोनों संप्रदायों के विचारों को व्यक्त किया गया। मूर्ति के दायें भाग में शिव के लक्षण थे, जैसे जटा, त्रिशुल, परशु आदि तथा बायें भाग में किरीटधारी विष्णु थे जिनके हाथ में शंख व चक्र बनाया गया।

त्रिमूर्ति के अर्न्तगत गुप्त काल में ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) की पूजा आरम्भ हुई। ब्रह्मा सर्जन, विष्णु पालन व महेश संहार के प्रतीक थे। समन्वय की यह उदार भावना गुप्त काल की विशेषता है। तीनों देवताओं के गुण, बल और स्वभाव को समाहित करके बहुदेववाद को एकदेववाद का रूप दिया गया। गुप्त काल में शैव धर्म के अनेक संप्रदायों का विकास हुआ। **वामन पुराण** में इनकी संख्या चार है : (1) शैव (2) पाशुपत (3) कापालिक और (4) कालामुख। 'पति' का अर्थ शिव है, 'पशु' का प्रयोग जीवात्मा के लिए है जो नित्य, अनिष्क्रिय और सर्वव्यापी है और 'पाश' का अभिप्राय बंधन से है। जीव पाशों से मुक्त होकर शिव बनता है। **पाशुपत संप्रदाय** का गुप्तकाल में अत्याधिक विकास हुआ। इस संप्रदाय के सिद्धान्त के तीन अंग है-'पति' (स्वामी), 'पशु' (व्यक्ति या आत्मा), 'पाश' (बंधन)। पशुपति के रूप में शिव की उपासना की जाती थी। **कापालिक संप्रदाय** के इष्टदेव भैरव थे, जो शंकर का अवतार माने जाते हैं। यह संप्रदाय अत्यंत भयंकर और आसुर प्रव त्ति का था। इसमें भैरव को सुरा और नरबलि को नैवेद्य चढ़ाया जाता था। **कालामुख संप्रदाय** के अनुयायी कापालिक के ही वर्ग के थे। वे भी भयंकर प्रव त्ति के थे। नर-कपाल में भोजन करना, जल पीना, सुरा पीना तथा शव का भस्म शरीर पर लगाना उनके अतिमार्गी कर्म थे। इस प्रकार के संप्रदायों के कारण गुप्त काल में शैव धर्म उतना लोकप्रिय नही हो सका जितना वैष्णव धर्म। इन शाखाओं में नरबलि को समर्थन दिया गया।

गुप्त काल के कुछ शासकों ने वैष्णव धर्म के समान शैव धर्म को भी राजकीय समर्थन दिया और शिव मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस काल के दो शिव मदिंर प्राप्त हुए हैं-एक बुदेलखंड क्षेत्र में नचनाकुठारा में और दूसरा मध्यप्रदेश के नागोद में। नगोद में भूमरा तथा खोह स्थानों में एक मुख शिवलिंग की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। एक चर्तुमुख लिंग तथा अन्य मूर्तियाँ अजमेर संग्रहालय में हैं जो गुप्तकालीन हैं। करमदंडा से एक शिवलिंग प्राप्त हुआ है। त्रिशुल तथा शिव के वाहन नंदी के अनेक चिन्ह भी प्राप्त हुए हैं।

**शक्ति** :- गुप्तकाल में अन्य देवताओं की तुलना में दैवी शक्ति का वैभव अत्यंत बढ़ गया। देवी का अपार ऐश्वर्यपूर्ण स्वतंत्र रूप सामने आया। शक्ति पूजा के साथ एक विस्त त और विशाल पौराणिक कथासाहित्य का विकास हुआ। देवी की विभिन्न मूर्तियाँ पूर्वी भारत या बंगाल से प्राप्त हुई हैं। अर्धनारीश्वर के रूप में शक्ति और शिव दोनों संप्रदायों का एकीकरण भी हुआ परन्तु शक्ति की प्रधानता स्वीकार की गई। शिव और शक्ति की पूजा उनके करुणमय और भयंकर दोनों रूपों में की जाती थी। कुछ अतिवादी मनुष्य बलि द्वारा देवी को प्रसन्न करने में भी विश्वास रखते थे। यह कहा जाता है कि चीनी यात्री ह्युनसांग शिव की पत्नी दुर्गा के सामने अग्नि में समर्पित किया जाने वाला था कि उसी समय एक विस्मयकारी तुफान आ गया जिसकी वजह से वह बच गया।

**सूर्यपूजा** :- गुप्तकाल में सूर्य की उपासना करने वालों का भी संप्रदाय विद्यमान था। विक्रम सम्वत् ५२६ के मंदसौर शिलालेख के प्रारंभिक श्लोकों में सूर्य की उपासना की गई है। इस लेख से ज्ञात होता है कि इस स्थान पर एक सूर्य मंदिर था। स्कंदगुप्त के काल का इंदौर ताम्रलेख सूर्य पूजा से आरंभ होता है। इसमें भी गुप्तकाल में सूर्य मंदिरों के निर्माण का उल्लेख है। इसके अनुसार बुलंदशहर जिले में 'माडास्यात' नामक बस्ती में भगवान सूर्य का एक मंदिर था। दो क्षत्रियों द्वारा अंतरवेदी (गंगा, यमुना दोआब का क्षेत्र) में एक सूर्य मंदिर के निर्माण और एक ब्राह्मण द्वारा मंदिर में नित्य दीप जलाने की व्यवस्था करने का भी उल्लेख इस ताम्रपत्र में है। मिहिरपुर के ग्वालियर लेख के अनुसार मात चेट नामक नागरिक ने ग्वालियर में एक प्रस्तर सूर्य मंदिर का निर्माण किया था। सूर्य के विभिन्न नाम अभिलेखों में मिलते हैं, जैसे लोकार्क,

भास्कर, आदित्य, वरुणस्वामी, मार्तण्ड इत्यादि।

**बौद्ध धर्म** :- फाह्यान के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त काल में बौद्ध धर्म में अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो रहा था। उसके अनुसार भारतीय नगरों में इस समय मठ बने हुए थे, जिनमें बौद्ध ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता था। उसके अनुसार गुप्त काल में कश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। यहाँ हजारों बौद्ध विहार थे जिनमें लाखों की संख्या में बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियाँ रहते थे। परन्तु पूर्वी भारत के प्रसिद्ध गौरवशाली बौद्ध नगर वैशाली, श्रावस्ती और कपिलवस्तु गुप्त युग में सम द्ध नही थे। फिर भी इसका अर्थ यह नही है कि बंगाल, बिहार और पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म लुप्त हो गया था। बोधगया भी बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, जहाँ के बौद्ध यात्रियों के लिए विहार बनवाया गया था। गया, मथुरा, कौशांबी, सारनाथ आदि बौद्ध धर्म व संस्कृति के मुख्य केन्द्र थे। यहाँ के बौद्ध विहार भी उन्नत अवस्था में थे। गुप्त काल में नालंदा में प्रसिद्ध बौद्ध विहार की स्थापना हुई।

यद्यपि बौद्ध धर्म को गुप्त सम्राटों का राजकीय संरक्षण प्राप्त नही था परन्तु गुप्त राजाओं ने इस धर्म के प्रति सहिष्णुता रखी। शिल्पी संघो और व्यवसायी वर्ग ने बौद्ध विहारों, गुफाओं और मठों को संरक्षण प्रदान किया। साँची के एक लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने आम्रकाद्दव नामक एक बौद्ध को उच्च पद पर नियुक्त किया था। उसने काकनादबार के महाविहार को पच्चीस दीनार दान में दी थी। इसके सूद से इनमें दीपक जलाया जाता था तथा पाँच भिक्षुओं को भोजन दिया जाता था। परन्तु व्यापार की अवनति होने पर व्यापारी वर्ग का सहयोग कम हो गया। बौद्ध मठ तब राजाओं द्वारा भूमिदान और ग्रामदान पर निर्भर थे। नालंदा को दो सौ ग्रामों का राजस्व प्राप्त होता था।

सैद्धांतिक रूप से बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म का घोर विरोधी था, परन्तु उपासना, कर्म और व्यवहार में बौद्ध धर्म की महायान शाखा के सहारे वह ब्राह्मण धर्म के अत्यंत समीप आ गया था। अनेक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक महायान शाखा के समर्थक थे। आर्यदेव, असंग, वसुबंधु, मैत्रेयनाथ और ढ़िड़नाग गुप्तकाल के ही थे। फाह्यान ने अफगानिस्तान, भिड (पंजाब), मथुरा और पाटलीपुत्र में महायान भिक्षु देखे। खोतान के सारे भिक्षुओं का उसने महायान का अनुयायी कहा है।

**जैन धर्म** :-गुप्तकाल में जैन धर्म मुख्य रूप से अपरिवर्तित रहा परन्तु इसमें भी मूर्ति निर्माण प्रारंभ हुआ। 313 ई० में मथुरा और 453 ई० में वल्लभी में जैन सभाएँ हुई। वल्लभी सभा का सभापति प्रसिद्ध जैन आचार्य क्षमाश्रमण था। धार्मिक व्यवस्था को एक स्पष्ट रूप दिया गया। संस्कृत के एक प्रतिष्ठित भाषा होने के कारण धर्माचार्यो का अनुयायियों से संपर्क कम हो गया। महावीर तथा अन्य तीर्थकरों की सीधी खड़ी हुई और पालथी मारकर बैठी मूर्तियों का निर्माण हुआ।

उत्तर और दक्षिण भारत में जैन ग्रन्थों पर भाष्य और टीकाएँ लिखी गई। मुनि सर्वनंदी ने 458 ई० में **लोक विभंग** नामक ग्रन्थ लिखा। आचार्य सिद्धसेन ने **न्यायवार्ता** की रचना की जिससे जैन दर्शन और न्याय दर्शन के विकास में योग मिला।

फाह्यान ने जैन धर्म का उल्लेख अधिक नही किया है। परन्तु मध्य वर्ग और व्यपारियों में इस वर्ग का पर्याप्त प्रचार था। उत्तर भारत में इसे राजकीय समर्थन नही मिला। परन्तु कदंब और गंग राजाओं ने इसे आश्रय दिया। कदंब नरेशों ने जैन साधुओं को दान दिए थे और अनेक जैन मंदिरों का निर्माण करवाया। कदंब राजाओं के लेखों से पता चलता है कि उनके राजाश्रय से जैन धर्म काफी उन्नत अवस्था में था और अनेक उच्चपदाधिकारी तथा सम्पन्न भूमिपति इस धर्म का निष्ठा से पालन करते थे। कुमारगुप्त प्रथम के उदयगिरि लेख से पता चलता है कि शंकर

नामक व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना की थी। मगध से लेकर कलिंग, मथुरा, उदयगिरि, तमिलनाडु तक जैन धर्म का प्रचार था परन्तु मगध अब इसका केन्द्र नही था।

मथुरा और वल्लभी श्वेतांबर जैन धर्म के केन्द्र थे और बंगाल में पुड्रवर्धन दिगंबर संप्रदाय का केन्द्र था। पहाड़पुर से अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनमें जैन मंदिरों को भूमिदान का वर्णन किया गया है। स्कंदगुप्त के काल में भद्र नामक व्यक्ति ने पाँच जैन तीर्थकरों की मूर्तियों की स्थापना कराई थी। मथुरा के एक अभिलेख के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में हरिस्वामिनी नामक एक जैन महिला ने किसी जैन मंदिर को दान दिया था। फाह्यान के अनुसार प्रसिद्ध नगरों में जैनियों के मंदिर थे।

## साहित्य और कला

**साहित्य** :- इस काल में संस्क त साहित्य का काफी विकास हुआ था। संस्क त का प्रयोग शिलालेख, स्तंभलेख, दानपात्र लेख आदि में किया जाने लगा। संस्कृत साहित्य को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। बौद्ध एवं जैनों ने भी प्राकृत और पाली भाषा को छोड़कर संस्कृत को अपना लिया था। परिणामस्वरूप संस्कृत को नयी स्फूर्ति मिली और उसने इस काम में अत्याधिक उन्नति की। गुप्त सम्राटों ने विद्वानों एवं कवियों को दरबार में प्रश्रय दिया। कुछ शासक तो स्वयं विद्वान थे। समुन्द्रगुप्त में आश्चर्यजनक काव्यात्मक एवं कलात्मक प्रतिभा थी।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में नव रत्नों को संरक्षण दिया गया था। इनमें कालिदास सबसे प्रतिभावान थे। वह संस्कृत के अद्वितिय नाटककार तथा कवि थे। कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थों में कुमारसंभव और रघुवंशम् दो महाकाव्य, ''अभिज्ञानशकुन्तलम'', विक्रमोर्वशीयम्, मालविका-ग्निमित्रम् तीन नाटक, मेघदूत और ऋतुसंहार दो गति काव्य हैं।

अन्य महाकवियों में वत्सभट्टी थे जिन्होनें ''रावण-वध'' नामक महाकाव्य की रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक में संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम की समीक्षा की गयी है। दण्डी ने ''दशकुमार चरित्र'' तथा ''रीति ग्रन्थ काव्यादर्श'' की रचना की। वीरसेन राव चन्द्रगुप्त के काल में प्रसिद्ध कवि और महाव्याकरणाचार्य था। ''किरातार्जुननीयम्'' का लेखक भारवी इस युग का प्रतिभासंपन्न कवि था।

मात हरि के तीन काव्य ग्रंथ अतुलनीय हैं-''श्र ंगार शतक'', ''वैराग्य शतक'' और ''नीति शतक''। भ्रात गुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र अन्य प्रसिद्ध कवि थे। ममट ''काव्यालंकार'' का लेख इस युग की निधि थी। शूद्रक ने 'म च्छकटिकम्' नाटक संस्कृत में लिखा। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और ''देवी चन्द्रगुप्तम्'' नाटक प्रसिद्ध हैं। ''स्वप्ननासला'' का लेखक भास भी इस युग का प्रसिद्ध नाटककार था।

इस काल में रचित नीति ग्रंथों में ''कामन्दक का नीतिसार'' ग्रंथ अनुपम है इस काल में स्म ति ग्रन्थों या कानून ग्रन्थों की भी रचना हुई। इनमें नारद स्म ति, कात्यायान स्म ति, पराशर स्म ति तथा याज्ञावलक्य स्म ति भी प्रसिद्ध है।

इस काल में कोष और कात्यायान व्याकरणों की भी रचना हुई। अमर सिहं ने ''अमरकोष'' इसी युग में लिखा। इस काल में पाणिनी, कल्यायन और पातंजलि के व्याकरण ग्रन्थ प्रसिद्ध थे परन्तु चन्द्रगोपी नामक बौद्ध भिक्षु का ''चन्द्र व्याकरण'' भी बहुत लोकप्रिय हुआ।

इा काल में ''पंचतन्त्र'' एवं ''हितोपदेश'' दो गल्प ग्रन्थ भी लिखे गये। पंचतन्त्रा विष्णु शर्मा द्वारा लिखा गया था। ये गल्प ग्रन्थ विभिन्न कथाओं द्वारा मनोरंजक ढ़ग से नीति की शिक्षा देते थे।

परस्पर वाद-विवाद तथा मनन-चिंतन के फलस्वरूप ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध दर्शन का काफी विकास हुआ तथा तीनों के अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी।

शवर स्वामी ने मीमांशा दर्शन पर ''श्वरभाष्य'' सन् 300 के लगभग लिखा। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य पद्धति पर ''सांख्यकारिका'' ग्रन्थ लिखा। योग दर्शन पर आचार्य व्यास ने ''व्यास भाष्य'' की रचना की। वात्स्यायन के न्याय दर्शन पर ''न्याय भाष्य'' लिखा।

बौद्ध दार्शनिक साहित्य का भी खूब विकास हुआ। आर्यदेव ने ''चतुःशतक'', आसंग ने ''योगाचार भूमि शास्त्र'', ''महायान सूत्रालंकार'' और वसुबन्धु ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे ''अभिधर्म कोष'', विंशतिका'', त्रिंशातिका''। दिग्गनाथ ने ''प्रमाण समुच्य'' तथा ''न्याय मुख'' लिखा। बेद्धघोष ने त्रिपिटकों पर अनेक भाष्य लिखे। जैन साहित्य का भी विकास हुआ। जैन आचार्य सिद्धसेन ने न्याय दर्शन पर ग्रन्थ लिखे, उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ ''न्यायावतरू'' है। भद्रबाहु द्वितीय ने प्राचीन जैन-ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को प्रकट किया। आचार्य उमास्वामी, जिन चन्द्रमणि और देवनन्दगी अन्य प्रसिद्ध विद्वान थे।

हिन्दु धर्म के साहित्य को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए धार्मिक ग्रन्थों को संशोधित करके ब्राह्मण ने पुनः रचना की। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्म तियों और सूत्रों पर भाष्य लिखे गए। पुराण, महाभारत और रामायण आदि महाकाव्यों का अंतिम संपादन इस युग में किया गया। दक्षिण भारत में भी साहित्यिक प्रगति हुई। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति के कारण इस युग को भारत का ''आगस्टस युग'' कहा जाता है।

**विज्ञान** :- गुप्तकालीन भारत में विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। खगोलविद्या, गणित तथा चिकित्साशास्त्र में नए-नए अन्वेषण हुए। इनमें वराहमिहिर, आर्यभट्ट, नागार्जुन, वाग्भट्ट प्रथम के नाम उल्लेखनीय हैं। वराहमिहिर खगोलविद्या के प्रकांड विद्वान थे। व हत्संहिता और पंचसिद्धान्तिका इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। व हत्संहिता में ज्योतिष वास्तु और तक्षणकला का विवेचन किया गया है। पंचसिद्धान्तिका में ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों, (पैतामाह सिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त, सूर्य सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त तथा रोमन सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है। आर्यभट्ट महान् गणितज्ञ थे। उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् है। उन्होनें दशमलव, पाई के मूल्य (व त्त के व्यास एवं परिधि के व्यास), ग्रहण आदि के बारे में बतलाया। उन्होनें बतलाया कि ग्रहण में राहु तथा केतु का कोई स्थान नही है। यह सूर्य और चन्द्रमा पर प थ्वी की छाया के परिणाम है। उन्होनें ही सर्वप्रथम यह बतलाया कि प थ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा करती है। नागार्जुन एक लब्ध प्रतिष्ठित चिकित्सक थे। वे रसायनशास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। उन्होनें रस चिकित्सा नामक एक नवीन पद्धति का आविष्कार किया। उन्होनें यह प्रमाणित कर दिया कि लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि धातुओं की भस्मों से असाध्य रोगों का उपचार संभव है। उन्होनें ही पारद (पारा) का आविष्कार किया। वागभट्ट उच्चकोटि के आर्युर्वेदाचार्य तथा चिकित्सक थे। उन्होनें अष्टांग-संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें चरक संहिता तथा सुश्रूत संहिता का सारांश है।

**कला** :- गुप्तकाल में कला की विशेष प्रगति हुई। डा०वी०एस० अग्रवाल ने कहा है कि, ''इस काल की द ष्टिगत कलाकृतियों ने गुप्तकाल के गौरव को स्थायित्व प्रदान किया।'' गुप्तकालीन कला में ओज, संयम तथा प्राविधिक सौष्ठव पाया जाता है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में, ''सामान्यतः उच्चकोटि का आदर्श, माधुर्य तथा उच्चकोटि की सौन्दर्य भावना गुप्तकाल की विशेषता है।'' यह शुद्ध भारतीय कला के रूप में विकसित हुई। इसमें गांधार शैली की तरह न तो भारतीय विषय और न ही यूनानी हाथ है। यूनानी कुषाण, सीथियन आदि विदेशी जातियों की कला से गुप्तकालीन कला अप्रभावित है। इस युग के कला की दूसरी विशेषता इसकी सरलता

है। गुप्तकालीन मूर्तियों में न तो वस्त्राभूषण का भार है और न कोमलांगो का उभार ही। इसकी तीसरी विशेषता कलाकारों की सौन्दर्य विशेषता है। कलाकारों ने पारदर्शक वस्त्रों का निर्माण ऐसी कुशलता के साथ किया है कि उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य तथा मनोहरता द ष्टि गोचर होती है। एक अन्य विशेषता आध्यात्मिकता है। सारनाथ के गुप्तकालीन अनेक बौद्ध विहारों के अवशेष पाये गये हैं। राजगीर का स्तूप, जौलियान और पुष्कलवती का बौद्ध विहार और स्तूप, साँची और बौद्धगया के बौद्ध मंदिर भी गुप्तकालीन माने जाते हैं।

उदयगिरि की पहाड़ी में वैष्णव और शैवमत की गुफाएँ काटकर हिन्दु देवी, देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी। अजन्ता एलोरा (महाराष्ट्र), बाध (मध्य-प्रदेश) की गुफाएँ, बिहार, चैत्य और स्तूप पहाड़ी काटकर बनाये गये हैं। अजन्ता की गुफा नम्बर 16,17,19 गुप्तकाल में सर्वोत्कृष्ट कलाकृति प्रस्तुत करती है। दक्षिणी भारत की भोगलराजपुटम् और अखन्न-मदन्न गुफाएँ भी गुप्तकाल में निर्मित की गयी। इस काल में प्रस्तर स्तम्भ और ध्वज स्तंभ भी निर्मित किये गये। दुर्भाग्यवश वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तों की उपलब्धियों के अधिक अवशेष प्राप्त नही हैं।

**चित्रकला** :- गुप्तकाल में चित्रकला की बड़ी प्रगति हुई। डा० वासुदेव के शब्दों में,''गुप्तकाल में चित्रकारी अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गई थी। महाकवि कालिदास ने चित्रकला की शिक्षा देने के लिए ''चित्राचार्य'' शब्द का प्रयोग किया है। वात्सायायान ने चित्रकला की गणना 64 कलाओं में की हैं। अपने कामसूत्र में उन्होनें कला के रूप-भेद, प्रमाण-भाव, लावण्य, योजना, साद श्य तथा वणिका-भंग छः अंगो का उल्लेख किया है।

अजन्ता और बाघ की चित्रकारी गुप्तकालीन चित्रकला के अनुपम उदाहरण है। डा० अग्रवाल के अनुसार, ''रेखाओं का समाश्वासन तथा उनकी कमनीयता, रंगो की शुभ्रता, अभिव्यंजना की सम द्धता के साथ-साथ उदितव्य भावनाओं और स्पंदित जीवन ने इस कला को सभी कालों के लिए सर्वोत्कृष्ठ बना दिया है।'' अजन्ता में चट्टान को तराश कर 29 गुफाओं में प्राचीन चित्र गुप्तकालीन है। 10वीं गुफा स्तम्भों पर पुरुषों तथा स्त्रियों के चित्र तथा वेशभूषा गांधार-कला से प्रभावित है। 16वीं और 17वीं गुफाओं में कथानक के चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया था। अलंकरण के अर्न्तगत फल-पत्तियाँ, पशु-पक्षियाँ उत्कीर्ण है। 16वीं गुफा प्राचीर चित्र में एक मरणासन्न राजकुमारी का चित्र अंकित है। यह चित्र बड़ा ही स्वाभाविक है। चतुर्दिक खड़े उसके स्वजन अत्यंत विवश तथा दुःखी दिखाए गए हैं। यह चित्र आख्यानात्म अथवा भावात्मक चित्र का एक सुन्दर उदाहरण है। 17वीं गुफा के चित्र वर्णनात्मक हैं और इनमें विभिन्न कथाओं को चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ये चित्र बड़े ही ओजपूर्ण, सजीव तथा स्वाभाविक है। इसमें भगवान बुद्ध को अत्यंत ही निर्लिप्त मुद्रा में दिखाया गया है। इस गुफा के चित्रों में माता तथा पुत्र नामक चित्र अत्यंत प्रसिद्ध है। इस चित्र में गौतम बुद्ध की पत्नि यशोधरा अपने पुत्र राहुल को अपने पति को समर्पित करती हुई प्रदर्शित की गई है। इसमें माता की ममता तथा पुत्र-वात्सल्य दर्शनीय है। इस गुफा के अन्य चित्र में कोई सम्राट एक सुनहरे राजहंस की बातों को बड़ी ही अभिरूचि के साथ सुनता हुआ चित्रित किया गया है। 17वीं गुफा के एक दूसरे चित्र में गौतम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का द श्य दिखाया गया है। यह काफी स्वाभाविक है।

बाघ की चित्रकला भी अनुपम है। बाघ ग्वालियर के समीप एक छोटा सा ग्राम है। यहाँ पर विंध्य की पहाड़ियों को तराश कर गुफाएँ बनाई गई हैं। इनकी भीतरी दीवारों के चित्र गुप्तकालीन हैं। अजन्ता के चित्र प्रधानतया धार्मिक विषय से संबंधित है, किन्तु बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से लिये गये हैं। इन चित्रों से तत्कालीन वेशभूषा, केश विन्यास तथा अलंकार

प्रसाधन को समझने में सुविधा होती है। एक चित्र में महिलाओं को न त्य-गान करते हुए दिखलाया गया है। बाघ की चित्रकला की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके चित्रों को बनाने की कल्पना एक ही समय की गई थी। फलतः ये चित्र दर्शकों के समक्ष समरूपता का भाव प्रकट करते हैं।

**मूर्तिकला** :- इस युग की सबसे बड़ी देन हिन्दु, जैन और बौद्ध की कलापूर्ण प्रतिमाएँ हैं। सारनाथ, मथुरा और पाटलीपुत्र में अनेक बुद्ध और बोधित्सव की मूर्तियाँ निर्मित की गयी। ताँबे और काँसे की भी मूर्तियाँ बनाई गई। यहाँ अनेक प्रस्तर खण्डों पर बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाएँ उत्कीर्ण की गयी।

इस काल में ब्रह्मा, विष्णु और शिव, पार्वती की मूर्तियाँ भी बनाई गई। विष्णु और शिव के अनेक अवतारों की पौराणिक गाथाएं पाषाणों में उत्कीर्ण थी, जैसे- देवगढ़ के मंदिर में कृष्णलीला, कृष्ण का गोकुल जाना, कंस-वध, कृष्ण-सुदामा मिलन आदि। रामलीला के द श्य, राम वनगमन आदि। बंगाल के राजशाही जिले में कृष्ण लीला संबंधी अनेक द श्य उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।

विष्णु की प्रसिद्ध प्रतिमा देवगढ़ के दशावतार मंदिर में है। इस 'अनंतशायी' मूर्ति में विष्णु को शेषनाग की शैया पर दर्शाया गया है। वे कुंडल, मुकुट, माला, कंगन, हार आदि से सुशोभित हैं। एक ओर शिव और इन्द्र आदि की प्रतिमाएँ हैं। इनके समीप ही दो शस्त्रधारी पुरुष बने हैं। कार्तिकेय मयूर पर आसीन है तथा नाभि से निकले कमल के ऊपर चार मुख वाले ब्रह्मा विद्यमान है। लक्ष्मी उनके चरण दबा रही है। काशी से प्राप्त गोर्वधन पर्वत को गेंद के समान उठाए हुए कृष्ण की मूर्ति भी काफी सुन्दर हैं।

अवतारों में वराह की अनेक प्रतिमाएँ बनाई गई। उदयगिरि में प्राप्त मूर्ति में शरीर मनुष्य का है तथा मुख वराह का। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तिकारों की प्रतिभा का स्मारक है। वराह के कंधे के ऊपर भूमि देवी की आकृति है। प थ्वी को प्रलय से बचाने के लिए वराह अपने दाँतों पर प थ्वी को उठाए है जिसे नारी रूप में बनाया गया है। वराह का बांया पैर शेषनाग के मस्तक पर है। तरंगित रेखाओं से समुन्द्र बनाया गया है। गंगा और यमुना दोनों नारी के रूप में वराह भगवान का अभिषेक करने के लिए जल-कलश लिए हुए है। वराह के बाई और अप्सराएँ तथा दाई ओर ब्रह्मा, शिव आदि देवता और ऋषि हैं। वराह की वास्तविक आकृति में निर्मित मूर्ति एरण से प्राप्त हुई है जिसका निर्माण मात विष्णु के भाई धन्यविष्णु ने किया था।

गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियाँ अपनी उत्कृष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनमें सजीवता तथा मौलिकता मिलती है। गुप्तकालीन बौद्ध तक्षण कला का प्रभाव दक्षिण पूर्व एशिया की कला पर भी पड़ा। गुप्तकाल के अभिलेखों में बुद्ध की मूर्तियों की स्थापना के अनेक उल्लेख मिलते हैं। 448 ई० में मानकुँवर के लेख के अनुसार बुद्धिमित्र नामक भिक्षु ने बुद्ध मूर्ति स्थापित की थी। 476 ई० के सारनाथ के लेख में अभयमित्र नामक भिक्षु द्वारा बुद्ध की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। इस युग की बुद्ध मूर्तियों के बाल घुंघराले है, उनके प्रभामंडल अलंकृत है तथा मुद्राओं में विविधता है। इस समय की तीन बुद्ध मूर्तियाँ प्रसिद्ध है-मथुरा संग्रहालय की बुद्ध मूर्ति, बरमिंघम संग्रहालय की ताम्रमूर्ति और सारनाथ की प्रतिमा।

**अन्य कलाएँ** :- संगीत, न त्य तथा अभिनय कला भी इस काल में काफी विकसित हुई। समुन्द्रगुप्त के अभिलेख तथा मुद्राओं से स्पष्ट हो जाता है कि समुन्द्रगुप्त संगीत का ज्ञाता था। वात्सायन ने संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक बताया है। मालविकाग्निमित्रम् से पता चलता है कि नगरों में संगीत शिक्षा के लिए बकायदा कलाभवन होते थे। इसी में गणदास को संगीत तथा न त्य का आचार्य बताया है। नाट्यशालाओं के लिए रंगशाला शब्द मिलता है। वाद्य यन्त्रों में झांझ, भेरी, टिपरी, बाँसुरी आदि वाद्ययन्त्र बजाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल में कला और साहित्य का अद्वितीय विकास हुआ।

# अध्याय - 6
# पूर्व मध्यकालीन समाज
# (Early Medieval Society)

पूर्व मध्यकाल में हुए सामाजिक परिवर्तनों को आर्थिक परिवर्तनों के साथ जोड़कर ही समझा जा सकता है। इस काल की मुख्य आर्थिक विशेषताएं व्यापक स्तर पर भूमि अनुदान, व्यापार का ह्रास, वाणिज्य और नगरीय जीवन, धन की कमी, कृषि का प्रसार और समाज का बढ़ता कृषि चरित्र तथा उत्पादन और उपयोग की अपेक्षाकृत बंद स्थानीय ईकाईयों का उभार था। इस आधार पर एक ऐसा समाज का ढाँचा विकसित हुआ जिसकी जनसंख्या का बहुत बड़ा हिस्सा कुलीन जमींदार शासक, बिचौलिए और बहुसंख्यक किसान था। भूमि सम्पत्ति और सत्ता के असमान वितरण के कारण ऐसे नए सामाजिक ग्रुप तथा वर्ग उत्पन्न हुए जो प्राचीन भारतीय समाज के परम्परागत वर्ण विभाजन की सीमाओं को ऊलांघ गए। इस समाजिक संरचना से दूसरे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। नई नई जातियाँ की उत्पत्ति (*Proliferation of Castes*) एवं संव द्धि, जाति सम्बन्धों में कठोरता आना तथा आसपास के कबिलों के द्वारा ब्राह्मणिक संस्कृति को अपनाना, भूमि अनुदान के फलस्वरूप कबिलाई क्षेत्रों में ब्राह्मणों की गतिविधियों का हस्तक्षेप साध ारण परिणाम था इसी कारण से दूर दराज के इलाकों में स्थानीय शाही परिवारों का जन्म हुआ और इस स्थानीय शासक परिवारों कें द्वारा भूअनुदानों तथा शाही दरबारों और अन्य कार्यालयों में ब्राह्मणों को काम देकर ब्राह्मणों को पोषित किया जिसका परिणाम इन कबिलाई क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों में भी सामाजिक विभेद पर आधारित एक जटिल समाज का जन्म हुआ। इस प्रकार पूर्व मध्यकालीन सामाजिक ढाँचे में हुए ये परिवर्तन समकालीन परिवर्तित आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप थे और उसे संपोषित कर रहे थे।

## वर्ण व्यवस्था

पंरम्परागत वर्ण व्यवस्था अर्थात चतुर्वर्ण वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही पूर्व मध्यकालीन समाज बंटा हुआ था जिसकी संपुष्टि समकालीन साहित्य तथा अभिलेखों से हो जाती है वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था। उड़ीसा के राजा क्षमाकरदेव 'वर्णाश्रमपरमोपासक' उपाधि से विभूषित था। पाल अभिलेखों में धर्मपाल एवं विग्रहपाल भी जाति व्यवस्था के संरक्षक के रूप में वर्णित हैं यहां तक कि पाटन नरेश यद्यपि बौद्ध थे, फिर भी उन्हें वर्ण व्यवस्था की रक्षा करने वाले शासक कहा गया है।

## ब्राह्मण

समाज में सर्वश्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण का था उनका आधिपत्य आध्यात्मिक एवम् भौतिक, दोनों क्षेत्रों में व्याप्त था इसकी पुष्टि समसामयिक देशीय साहित्य से ही नहीं वरन् विदेशी व तांतों से भी हो जाती है ह्यूनत्सांग के अनुसार अनेक वर्ण एवम् जातियों में ब्राह्मण सबसे अधिक पवित्र है और

उन्हें सबसे अधिक सम्मान मिलता है अरब या श्री अलमसूदी और अलबसनी भी इस मत की संपुष्टि करते हैं। ब्राह्मणों के वही छः परम्परागत- अध्ययन, अध्यापन, भजन-याजन, दान लेना-देना - कार्य बताए गए हैं। वे शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट आचार का पालन करते थे। वेद वेदांग इब्न खुर्दाद्ब ने क्षत्रियों के दो वर्गो का उल्लेख किया है-सवूकफूरिया तथा कतरिया। अल्तेकर के अनुसार सवूकफूरिया सत् क्षत्रिय थे। इसके अंतर्गत राजवंश तथा सामंत वर्ग और योद्धा क्षत्रिय वर्ग को सम्मिलित किया गया है। कतरिया साधारण क्षत्रिय थे जो कृषि, व्यापार इत्यादि व्यवसायों से भी आजीविका चलाते थे। आहार अभिलेख में क्षत्रिय व्यापारी स्राहाक का उल्लेख है। अलबरूनी के व त्तांत से पता चलता है राजपूत क्षत्रिय ब्राह्मणों के समान समझे जाते थे किंतु खेतिहर क्षत्रिय और वैश्य बराबर थे और शूद्रों से बहुत ऊँचे नहीं थे क्योंकि इन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था और उनके धार्मिक कृत्य पुराणोक्त मन्त्रों द्वारा होते थे, वैदिक मंत्रों द्वारा नहीं।

इस युग में कुछ क्षत्रियों ने विद्वता के क्षेत्र में भी श्रेष्ठता पा ली थी जैसे परमार राजा भोज तथा गढवाल राजा गोबिन्दचन्द्रदेव सुप्रसिद्ध विद्वान थे। ब्राह्मणों की भांति इन्हें भी विशेषाधिकार प्राप्त थे। अल्तेकर के अनुसार क्षत्रियों के प्रति भी दण्ड विधान उदार था जैसे चोरी के अपराध में यदि ब्राह्मण को अंधा कर दिया जाता था, वहां क्षत्रिय के केवल हाथ पैर काटे जाते थे।

**वैश्य**

धर्मशास्त्रों के अनुसार वैश्य का कार्य कृषि, पशुपालन और व्यापार है। पाराशर ने 'कुसदि व ति' (सूद पर पैसे उधार देना) को भी वैश्य का व्यवसाय बताया है। वैश्य वर्ग का वाणिज्य एवम् व्यापार पर एकाधिपत्य था। इस काल में वैश्य श्रेणियों में संगठित हो चुका था। कई कारणों से वैश्य अब खेती छोड़ते जा रहे थे। अब कृषिकार्य के लिए बटाँई पर खेत शूद्रों को ही दिए जाते थे। अब चूंकि कृषि को सम्माननीय व्यवसाय नहीं माना जाता था इसलिए वैश्यों ने सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए कृषि कर्म तथा पाशुपालन छोड़ दिया था। देवी भागवत पुराण, हरिवंश पुराण भी वैश्यों को व्यापार करने की ही अनुमति देते हैं क्योंकि कृषि में हिंसा शामिल थी और चूंकि वैश्य अधिकतर बौद्ध, जैन तथा वैष्णव धर्मावलम्बी थे और अहिंसा के सिद्धान्त में यकीन रखते थे। इसलिए व्यापार एवम् शिल्प ही इनका मुख्य धन्धा हो गया था जिसकी पुष्टि विष्णुपुराण एवम् स्कन्द पुराण से हो जाती है।

इसी प्रकार भविष्यत कथा में एक वैश्य के संबंध में कहा गया है कि उसने नावों को खरीदने के लिए अपने पशु भी बेच दिए। माघ के 'शिशुपाल वध' में व्यापारियों को राजा की सेना के साथ यात्रा करते हुए तथा फौजी खेमे में समान बेचते हुए प्रस्तुत किया गया है। अब तक उपलब्ध अभिलेखों से पता चलता है कि बंगाल, बिहार, गुजरात और मालवा में वैश्य वर्ग के लोग अपनी सम द्धि के कारण समाज में प्रभावशाली हो गए थे और राजनीतिक पदों के लिए स्पर्द्धा करते थे। बिहार प्रदेश से प्राप्त आठवीं सदी के दूधपाणि अभिलेख से ज्ञात होता है कि उदयमान नामक एक सम द्ध व्यापारी ने तीन गाँव के लोगों की ओर से राजकीय कर दिया। इस गाँव के लोगों ने उदयमान को अपना प्रभु (राजा) स्वीकार कर लिया। बंगाल में सेना राजा लक्ष्मणसेन के समय सुवर्ण के व्यापारी इतने सम द्ध थे कि वे अपने धम्म और वैभव के कारण राजा का विरोध करने लगे और राजा से युद्ध करने पर उतारू हो गए; दंडस्वरूप राजा ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। चालुक्य नरेशों से भी गुजरात के कई सम द्ध व्यापारियों का संघर्ष हुआ। उदयन, तेजपाल इत्यादि धनी व्यापारी मंत्रिपद पर नियुक्त थे। जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल में कई व्यापारियों को सामंत की पदवी दी गई थी।

इस युग में वैश्य वर्ग वैष्णव धर्म तथा जैन धर्म का अनुयायी था। पुराणों में अनेक धनी

वैश्यों की कथाएँ हैं जिन्होंने प्रभूति धनराशि दान देकर पुण्य लाभ उठाया। जिस प्रकार प्राचीन काल में वैश्यों ने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया उसी प्रकार पूर्व मध्यकाल में वैष्णव और जैन धर्म में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। राजस्थान, कर्नाटक तथा गुजरात में जैन धर्म के प्रसारण में वैश्यों की सम द्धि प्रमुख कारण है।

यह सब होते हुए भी रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था में वैश्यों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। खानपान तथा अन्य प्रकार के सामाजिक व्यवहार में वैश्य शूद्रों के अधिक निकट दिखाई पड़ते हैं। वैश्यों के लिए वैदिक संस्कार सिद्धांत रूप से अनुमत थे किंतु अलबीरूनी ने लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों को वेदों के अध्ययन या श्रवण की अनुमति नहीं थी। वास्तविक स्थिति यही मालूम पड़ती है। अलबीरूनी ने आगे लिखा है कि यदि यह सिद्ध हो जाए कि वैश्य और शूद्रों ने वेद-पाठ सुना है तो ब्राह्मण उन्हें न्यायाधीश के पास ले जाते हैं और उनकी जीभ काट दी जाती है। अलबीरूनी ने वैश्यों और शूद्रों के सामाजिक स्तर में कोई भेद नहीं देखा है। उसके अनुसार वे नगर और गाँवों में एक साथ रहते थे और कभी कभी एक ही आवास में रहते थे। शूद्रों की सुधरती हुई आर्थिक स्थिति भी इसका एक कारण हो सकता है। उन्हें कई वस्तुओं में व्यापार करने की अनुमति दी गई थी।

इस प्रकार इस काल में वैश्य के सामाजिक स्तरीकरण में कुल जमा गिरावट आई। तथा आर्थिक द ष्टि से दो वर्ग पाते हैं, एक वर्ग उन बड़े व्यापारियों जो भूमि खरीदकर सामंती श्रेणी में शामिल हो गए तथा उन वैश्यों का जो छोटे मोटे शिल्प तथा कृषि कार्य जैसे धन्धे अपनाकर जीवन यापन कर रहे थे।

## शूद्र

अन्य वर्णों की भांति शूद्र वर्ण की स्थिति में भी इस काल में परिवर्तन आया परन्तु यह परिवर्तन आर्थिक स्थिति में ही आया, सामाजिक में नहीं। अब इस काल की स्म तियों तथा अन्य साहित्य सेवाव ति के अतिरिक्त शूद्र के लिए अन्य अनेक व्यवसाय निर्धारित किए गए हैं जिनसे उनकी आर्थिक स्थिति में निश्चित सुधार हुआ। अति, देवल तथा पाराशर ने शूद्र के लिए सेवा के अतिरिक्त कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा शिल्प उपयुक्त व्यवसाय बताए हैं। उशना ने व्यापार और शिल्प, शूद्र की आजीविका के साधन बताए हैं। ब हस्पति की परिभाषा के अनुसार सुवर्णकार, लोहार, चर्मकार (चमार), तंतुवाय (जुलाहा) के कार्य शिल्पों के अंतर्गत जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण और पद्म पुराण के अनुसार कुंभकार, बढई, पत्थर का काम करने वाले, लौहाकार इत्यादि से संबद्ध शिल्प शूद्रों के लिए निर्दिष्ट किए गए हैं। तत्कालीन स्म तियों में कुल मिलाकर सभी उद्योग और व्यवसाय शूद्रों की आजीविका के साधन बताए गए हैं।

आर्थिक द ष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है कि कृषिकार्य का आमतौर पर शूद्रों का व्यवसाय होना। ह्यूनत्सांग तथा इब्न खुर्दाद्ब ने कृषि, शूद्रों का सामान्य व्यवसाय बताया है। व्यास, पाराशर और वेजयंती में एक कृषक वर्ग का उल्लेख है जिन्हें 'कुटुंबी' कहा गया है। इन्हें शूद्रों के अंतर्गत रखा गया है। एक और वर्ग 'किसान' का उल्लेख आता है। प्राचीन ग्रंथों में कीनाश वैश्य हैं किंतु *8*वीं शताब्दी के नारद स्म ति के टीकाकार असहाय ने 'किसानों' को शूद्र बतलाया है। इन किसान को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : *(1)* स्वतंत्र किसान (संभवतः कुटुंबी इसी श्रेणी के थे) जो भूमि के स्वामी थे और राज्य को अनेक प्रकार के कर देते थे, *(2)* वे किसान जो बटाई पर खेती करते थे। इन्हें 'व्यधसीरिन' या 'सीरिन' कहा गया है। इन्हें उपज का *1/3* या *1/4* भाग मिलता था। किसान मजदूरों को उपज का *1/10* से *¼* भाग तक मिलता था। अधिकतर शूद्र कृषक इसी श्रेणी के थे। आदिवासी कृषक वर्ग को हिंदू समाज में समाविष्ट होने पर शूद्र वर्ण में रखा गया। हर्षचरित में आदिवासी कृषकों का उल्लेख है। गुप्त काल के अभिलेखों में शिल्पी के खेत का उल्लेख है। इस काल में भी अनेक शिल्पी कृषि को आजीविका का

अतिरिक्त साधन समझते थे। निस्संदेह इस युग में शूद्र कृषकों की संख्या में काफी व द्धि हुई। वे बड़े भूस्वामी भले ही न रहे हों किंतु स्वतंत्र थे। वे स्वयं खेती करते थे और अनेक प्रकार के कर देते थे। करों की अधिकता के कारण वे आर्थिक द ष्टि से सम्पन्न नहीं थे। इस काल में दासों की स्थिति में सुधार हुआ और वे कृषि दास बन गए।

इस काल में शूद्र प्रायः कृषक थे हालांकि कुछ एक शिल्प तथा अन्य व्यवसाय भी अपनाए हुए थे। सामंत वाद के आविर्भाव से पहले भाड़े के मजदूर तथा दास के रूप में कार्य करने वाले शूद्र कृषकों के रूप में परिवर्तित हो गए। इस काल में कृषकों की दयनीय स्थिति हो चुकी थी। उनको एक क्षेत्र के साथ बांध दिया जाता था जिसे वह अपनी मर्जी से नहीं छोड़ सकते थे। कृषकों का दमन ब हन्नारदीय पुराण (नौवीं शताब्दी) के एक श्लोक तथा लेखपद्धति में भूमि संस्था के लिए एक दस्तावेज से भी हो जाती है। भूमि संस्था एक प्रकार का दस्तावेज है जो राजा द्वारा ग्रामवासियों को दिया गया। इसमें झोपड़ी में रहने वाले कृषकों को उनके नामों के आगे पंजीकृत खेतों पर खेती करने, किसी भी भाग को अजोत छोड़ने पर जुर्माना वहन करने तथा स्थानीय रीति रिवाजों के आधार पर सम्बन्धित अधिकारियों, ग्राम शिल्पियों आदि को फसल का कुछ भाग भुगतान के रूप में देने के साथ साथ सभी प्रकार के कर देने को कहा गया है। कृषकों को फसल का *2/3* हिस्सा मुखिया के अन्न भंडार में उसके हिस्से के रूप में देना पड़ता था तथा स्वयं *1/3* ही अपने पास रख सकता था। यदि कोई कृषक भूस्वामी के अत्याचारों से तंग आकर गांव छोड़कर अन्यत्र जाने पर उसके क्षेत्र, अनाज, पशु तथा अन्य संपत्ति मुखिया या शासक द्वारा हथिया ली जाती थी।

इस काल में शूद्रों को दो वर्गों में विभक्त किया गया- सत् और असत्। सत शूद्रों का पौराणिक विधि से संस्कार, पंचमहायज्ञ आदि करने का अधिकार दे दिया गया परन्तु वेदाध्ययन तथा वैदिक यज्ञ के सम्बन्ध में शूद्रों पर जो प्रतिबन्ध थे ज्यों के त्यों बने रहे। सत शूद्रों में शिल्पी व कृषक वर्ग थे तथा असत् शूद्र अस्प श्य थे उन्हें शहर से बाहर रहना पड़ता था तथा घ णित कार्य करते थे।

### विभिन्न जातियों तथा उपजातियों का प्रस्फुटन (Proliferation of Castes)

नई-*2* जातियों तथा उपजातियों का उदय एवम् प्रसार पूर्वमध्यकाल की एक खास विशेषता रही है। वर्तमान समाज में जिन जातियों या उपजातियों का अस्तित्व है लगभग उन सबका उदय इस काल में हो चुका था और सब उपजातियां अब पूर्णतः व्यवस्थित हो चुकी थी।

इन जातियों तथा उपजातियों के प्रस्फुटन के कई कारण थे जैसे इस काल में भारत छोटे छोटे अनेक राज्यों में बंटा हुआ था और इन छोटे छोटे राज्यों में विभाजित जनसमुदाय भी एक जाति तथा वर्ण के होते हुए भी राज्य के आधार पर विभाजित हो चुकी थी अतः अपनी भूमिगत अथवा राज्यगत भेद तथा पहचान बनाए रखने के लिए गोत्र, स्थान एवं उपजातियों का निमार्ण किया जैसे ब्राह्मण वर्ण का पंच प्रवर में विभक्त होने का मूल कारण स्थानगत भेदभाव और भूमिगत सीमाए थी ये पंच गौड ब्राह्मण क्षेत्रों की ऊपज थे।

*(1)* कान्यकुब्ज (कन्नौज वासी)
*(2)* सरयूपारी (सरयू नदी के तट पर बसने वाले ब्राह्मण)
*(3)* सारस्वत - सरस्वती तट वासी
*(4)* गौड - गोड देश वासी
*(5)* शाकद्वीपी - शकद्वीप वासी

इन पाँचों में भी ऊँच नीच का भेदभाव था। ये केवल अपने ही प्रवर अर्थात कान्यकुब्ज ब्राह्मण कान्यकुब्जों में ही विवाह कर सकता था। उत्तरी भारत की भाँति दक्षिणी भारत में भी राज्यों की सीमा के आधार पर मालवी, तेलगू, कोंकणी आदि उपजातियों प्रस्फुटित हो चुकी थी।

### शिक्षा के आधार पर

देवपाल के मान्धाता ताम्रपत्र में पाण्डेय, पाठक, शुल्क, उपाध्याय अग्निहोत्री एवं चतुर्वेदी का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त वेदी (एक वेद का ज्ञाता), द्विवेदी (दो वेदों का ज्ञाता), त्रिवेदी, मिश्रा (दो विचारधाराओं का अध्ययन करने वाला), ओझा (बिमारियों का इलाज करने वाला) व्यासू और त्रिपाठी (प्रशस्ती लेखन वाला) आदि अनेक उपजातियों का विवरण मिलता है।

### व्यवसाय पर आधारित उपजातियां

व्यवसायों के आधार पर मूलतः चार वर्णो से समाज का विभाजन हुआ। परन्तु जब भी किसी वर्ण ने अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय अपनाया तो उनकी जाति अलग बन गई। इस प्रकार क्षत्रियों में इस समय *36* उपजातियां जन्म ले चुकी थी कर्नल टाड ने इन की *list* दी है जैसे इक्षवाकू, गहलोत, राठौर, तुल्लर, चहमान, सोलंकी, परिहार, चावला, सोलंकी, परमार, युदु आदि। विभिन्न शिल्पों के आधार पर सुनार, चमार, मछुआरे, जुलाहे, तैली, मालाकार, चित्रकार आदि की उत्पत्ति विभिन्न दस्तकारियों से हुई। कारीगरों के कुछ वर्ग अछूत बन गए। दसवीं शताब्दी के अन्त तक जुलाहे, रंगरेज, दर्जी, नाई, जूतों का निर्माण करने वाले, लुहार आदि की स्थिति भी अछूतों जैसी हो गई उदाहरण के लिए गुप्त काल में उनमें से कई जातियों की जैसे जुलाहों की समाजिक स्थिति उच्च थी जो इस काल में आते आते निम्न हो गई।

वर्ण संकरता जाति-मिश्रण से उत्पन्न संतानों ने भी उपजातियों की संख्या में व द्धि की। क्योंकि समाज में जाति अथवा वर्ण से बाहर विवाह की अनुमति न थी परन्तु प्रतिबन्धों के बावजूद भी हमें अर्न्तजातिय विवाहों अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के समकालीन साहित्य में अनेकोंनेक उदाहरण मिलते हैं अतः उनसे उत्पन्न संतान को सामाजिक व्यवस्था में स्थान देने के लिए नई नई उपजातियों का जन्म हुआ।

### कायास्थ

यद्यपि एक ग्रुप के रूप में कायास्थों का आविर्भाव पूर्वमध्यकाल से पूर्व ही हो चुका था परन्तु एक जाति के रूप में कायस्थों का आर्विभाव इस काल में ही हुआ जो एक महत्वपूर्ण घटना है। कायस्थों का सर्वप्रथम वर्णन याज्ञवाल्क्य स्म ति में मिलता है। इसमें कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह शोषित प्रजा की कायस्थों से रक्षा करे। चूंकि ये गणक और लेखक के रूप में भूमि तथा राजस्व सम्बन्धी दस्तावेज और हिसाब किताब रखते थे इसलिए अपने पद का लाभ उठाकर प्रजा पर अत्याचार करते थे चूंकि भू अनुदानों के कारण कालान्तर में भूमि के रिकार्ड से सम्बन्धित कार्य में बढोतरी होने से इनकी संख्या में भी तेजी से व द्धि हुई भिन्न भिन्न प्रकार का हिसाब किताब रखने वाला कायस्थ विभिन्न नामों से जैसे करणिक (न्यायालय में न्याय निर्णय लिखने वाला) पुस्तपाल, अक्षपाटलिक, लेखक, दीविर आदि। बाद में ये सब कायस्थ वर्ग में समा गए।

धीरे-धीरे कायस्थों की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के भिन्न-*2* मत हैं। कुछ के अनुसार कायस्थ जाति-मिश्रण का परिणाम थे तो कुछ के अनुसार ये विभिन्न जातियों/वर्णो के लोग थे जो दस्तावेज इक्क्ठा करने और लेखाकार्य में लग हुए थे जिन्होंने धीरे-*2* अपने मूल वर्णो से सम्बन्ध तोड़ लिया तथा नया वर्ग बनाकर आपस में ही खानपान तथा विवाह सम्बन्ध स्थापित

कर लिए और इस प्रकार कायस्थों की एक अलग जाति बन गई। ब्राह्मण ग्रंथों में इन्हें शूद्र कहा गया है। चूंकि पढ़ने लिखने के कार्य पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था जिस पर कायस्थों ने चोट की अतः ब्राह्मणों का उन्हें शूद्र कहना ब्राह्मणों का कायस्थों के प्रति रोष का परिणाम हो सकता है। दसवीं बारहवीं शताब्दी के बीच कायस्थों की भी विभिन्न स्थानों के आधार पर उपजातियां बन गई जैसे माथुर (मथुरा के कायस्थ) बल्लभीय कायस्थ, श्रीवास्तव, गौड कायस्थ आदि।

अब कायस्थ केवल लेखक तथा गणक ही नहीं रहे अपितु अनेक ऊँचे पदों पर भी उन्हें नियुक्त किया गया। श्रीवास्तव कायस्थ चँदेलों में यहाँ मन्त्री थे और उन्हें 'ठाक्कुर' की सामंत उपाधि भी दी गई इसी प्रकार लक्ष्मणसेन का मुख्यमन्त्री भी कायस्थ था। दामोदर माथुर नामक कायस्थ कोषाधिकारी था।

### अस्प श्यता

इस काल में अस्प श्य जातियों की संख्या में ही व द्धि नहीं हुई अपितु अस्प श्यता की भावना में भी व द्धि हुई। चाण्डाल तो पहले से ही अस्प श्य था परन्तु इस काल की स्म तियों में सात अन्य जातियों को भी अस्प श्यों की सूची में रख दिया ये सात जातियाँ थी चर्मकार (चमार), नट, धोबी (इजक), वरूड (चटाई, टोकरी आदि बनाने वाला), कैवर्त, धीवर, भेद (आदिवासी जाति) तथा भिल्ल। स्कन्द पुराण में अन्तयज जातियों की संख्या अठारह (*18*) बताई गई है इस काल में या बाद के काल में अछूतों की संख्या में वास्तविक रूप से कितनी व द्धि हुई कहना कठिन है परन्तु यह निश्चित है कि इनकी संख्या में अच्छी खासी व द्धि हुई। साम्प्रदायिक द्वेष के कारण भी कुछ व्यक्तियों का अस्प श्य समझा जाने लगा जैसे ब्रह्मपुराण में बौद्ध, पाशुपत, जैन और कापालिकों को भी अस्प श्य समझा जाने लगा इस पुराण के अनुसार यदि ये किसी व्यक्ति का स्पर्श कर ले तो वह सवस्त्र स्नान करके ही शुद्ध हो सकता था। कालिदास, बाराहमिहिर बाण आदि ने इन पर लगाए गए प्रतिबन्धों का रोचक विवरण किया है जैसे उन्हें शहर से बाहर रहना पड़तर था। अत्रि के अनुसार यदि चर्मकार, नट, व्याध आदि जातियाँ किसी द्विजाति के किसी अंग को छू जाए तो वह अंग धोकर पवित्र संस्कृत जल आचमन करना चाहिए।

छुआछूत से सम्बन्धित इतने कठोर नियमों के बावजूद कुछ परिस्थितियों में छूआछूत का कोई विचार नहीं किया जाता था जैसे अछूत द्वारा गाय दुहने पर दूध की बाल्टी या दूध पर जाति स्पर्श दोष नहीं लगता था। विवाह, देवयात्रा, यज्ञोत्सव, आक्रमण के समय सेना निवेश में छुआछुत का कोई परहेज नहीं होता था।

### दास प्रथा

पूर्वमध्यकाल में दास प्रथा में व द्धि हुई। केवल राजा, सामंत और ग हस्थ के यहाँ ही नहीं वरन् अब बौद्ध मठों, वैष्णव, शैव शाक्त मंदिरों में भी दास रहते थे। इस युग में दास प्रथा के विषय में जानकारी हमें धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त जैन ग्रंथों, शिलालेखों तथा विदेशी मंत्रियों के वर्णन से प्राप्त होती है। साहित्यक स्त्रोतों के विवरण से स्पष्ट होता है कि अब युद्ध में हारे हुए लोगों को बड़ी संख्या में दास बनाने की परम्परा विकसित हुई। ऐसे दासों की संख्या हजारों में थी। महमूद गजनवी ने *50* हजार युद्ध कैदियों को दास बनाया। इसी प्रकार मोहम्मद गोरी ने अजमेर के बहुत से नागरिकों को बंदी बना कर दास बना लिया था। कुतुबद्दीन ने कांलिजर के युद्ध में *50* बंदियों को दासों में परिवर्तित कर दिया था। युद्धों के अतिरिक्त अकाल, गरीबी तथा महामारियों ने भी दासों की व द्धि में योगदान दिया। दासों को ब्राह्मणों को दान में देने की परम्परा थी। विज्ञानेश्वर ने *15* प्रकार के दासों का वर्णन किया है। समकालीन लेखों में दासों की खरीद के सम्बन्ध बताया गया है कि इस खरीद की घोषणा सारे नगर में ही गई। जैनग्रंथ समराइच्दकहा तथा प्रबन्ध

ाचिन्तामणि में दास व्यापार की बहुत सी कथाएँ हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि दास व्यापार आम बात थी जिनका निर्यात भी होता था। लेख पद्धति के अनुसार वस्तुओं के विनिमय में दासों का निर्यात समुद्री मार्ग से पश्चिमी देशों को होता था। लेखपद्धति से ही राजस्थान और गुजरात में प्रचलित दास प्रथा की जानकारी प्राप्त होती है। दास-दासियों को दान में देने की प्रथा इस युग में बहुत प्रचलित हो गई थी। पुराणों से इस बात का पता चलता है कि दासों को दान में देने की प्रथा बहुत व्यापक थी। बौद्ध मठों और मंदिरों को दास दान के रूप में दिए जाते थे और इन दासों से मंदिर की सफाई आदि के साथ-साथ अनेक प्रकार की परिचर्या करवाई जाती थी।

बहुत से लोग ऋण चुकाने के लिए अपने को दास रूप में बेच देते थे। मेघातिथि की टीका से पता चलता है यह प्रथा अधिक प्रचलित थी, हालांकि देश, धर्म और राजा द्वारा बनाए गए नियम के अनुकूल होते हुए भी, शास्त्र इसके विरूद्ध था। विज्ञानेश्वर ने अपनी **मिताक्षरा** में इस प्रथा का अनुमोदन किया है। ऋण न चुका सकने के कारण ऋणी स्वयं को ऋणदाता का दास बना लेता था। **लेखपद्धति** में एक लड़की द्वारा संभवतः ऋण चुकाने के लिए अपने को बेचने का उल्लेख है। धर्मशास्त्रों के अनुसार ऊँचे वर्ण के लोग नीचे वर्ण के लोगों द्वारा दास नहीं बनाए जा सकते किंतु यहाँ नियम का व्यतिक्रम है। पूर्व काल की भांति इस युग में भी दास प्रायः घरेलू कामों में ही लगाए जाते थे। भ त्य ओर दास में बहुत कम भेद था। इस काल में रचे गए कोशों में दास और भ त्य में कोई भेद नहीं दिखाया गया। भट्टोत्पल ने दास और कर्मकर को एक ही अर्थ में लिया है। किंतु मेघातिथि और विज्ञानेश्वर ने परिचारक और दास में भेद दिखाया है। दास को निकृष्ट कर्म भी करना पड़ता था, जैसे मलमूत्र साफ करना।

एक कृषिप्रधान समाज में यह स्वभाविक है कि जमीन-जायदाद वाले संपन्न भूस्वामी के घर में भ त्य तथा दास खेती के काम में भी लगाए जाएँ। किंतु साहित्य तथा लेखो में ऐसा संकेत नहीं मिलता कि दास बड़े पैमाने पर किसी बड़े भूस्वामी द्वारा खेती के काम में लगाए जाते हों जैसा कि हमें बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। हाँ, मठों और मंदिरों द्वारा दास बड़ी संख्या में कृषिकार्य के लिए उपयोग में लाए जाते थे।

इस काल के नियामकों ने दासों के जान-माल के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई नियम नहीं दिए हैं, जिससे स्पष्ट है कि उनकी दशा पूर्व काल की अपेक्षा अधिक गिरी हुई थी। **त्रिषष्टिशलाकाचरित** में कहा गया है कि सामान्यतः दासों को खच्चर की तरह पीटना चाहिए, उनहें भारी बोझ ढोना चाहिए और भूख-प्यास सहन करनी चाहिए। लेखपद्धति से पता चलता है कि दासियों को खरीदते समय उनसे यह स्वीकारोक्ति ली जाती थी कि भागने, चोरी करने, मालिक की निंदा करने, अथवा मालिक और उसके संबंधियों की आज्ञा की अवहेलना करने पर स्वामी को उसे पीटने तथा बाँधने का पूरा-पूरा अधिकार था। यदि दासी इन शारीरिक यातनाओं से दुःखित होकर आत्मघात करे तो वह दूसरे जन्म में नीच योनि में पैदा होगी और मालिक द्वारा यातना दिए जाने से वह मर जाए तो मालिक का दोष न माना जाएगा और इसके लिए मालिक दण्डित न होगा। स्पष्ट है कि स्वामी का दास के जीवन पर पूरा पूरा अधिकार था। इन लेखों में दास-दासियों को मुक्त करने का कोई उल्लेख नहीं है। अतिरिक्त परिश्रम अथवा स्वामी की कृपा से दासत्व से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं था। लेखपद्धति में कहा गया है दासी के भाई और पिता धन देकर उसे वापस नहीं ले सकते।

## स्त्रियों की स्थिति

इस काल के दौरान स्त्रियों की स्थिति में क्रमशः पतन देखने को मिलता है। यद्यपि स्त्रियों की गिरती हुई स्थिति के कई कारण थे परन्तु इसका मुख्य कारण संभवतः बाल विवाह

रहा है। इस काल की स्म तियों के अनुसार स्त्री का विवाह 8 से दस वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिए। आदर्श विवाह आठ वर्ष का माना जाता था। आठ वर्ष की लड़की को गौरी कहा जाता था और दस वर्ष की लड़की को 'कन्या'। अधिक से अधिक कन्यावस्था में लड़की का विवाह हो जाना चाहिए।

## लड़कियों की शिक्षा

बाल विवाह का लड़कियों की शिक्षा पर भी असर पड़ा जैसा कि कामसूत्र तथा मध्यकालीन साहित्य से प्रकट होता है। राजघराने, उच्चाधिकारियों और सम द्ध वैश्य परिवारों की लड़कियां ही शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। कुछ ब्राह्मण वर्ण की लड़कियाँ भी शिक्षित एवम् विदुषी हुई हैं जैसे मंडन मिश्र की पत्नी ने शंकराचार्य को तर्कशास्त्र में पराजित किया। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी प्रकांड विदुषी थी। इन्द्रलेखा, मल्लामोरिमा, विज्जिमा, शीला, सुभद्र, पदमश्री, लक्ष्मी आदि संस्कृत की प्रसिद्ध कवित्रियाँ थी दक्षिण के सोलंकी राजा विक्रमादित्य की बहन अक्कादेवी कुशल योद्धा एवम् प्रशासक थी। किन्तु साधारणतया स्त्रियाँ अशिक्षित होती थी। टीकाकार असहाय के अनुसार स्त्रियों की अभिभावकता इसलिए आवश्यक है कि शास्त्राध्ययन के अभाव में उनकी बुद्धि विकसित नहीं होती थी। स्त्रियों के प्रति यह धारणा ही महिलाओं के प्रति समाज की सोच को दर्शाती है। महिला और सम्पत्ति को एक ही श्रेणी में रखा गया जिसका उसकी सामाजिक स्थिति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सामान्यतः उसे सम्पति के अधिकार से भी वंचित रखा गया। परन्तु विधवाओं के मामले में सम्पत्ति में कुछ सुधार हुआ। महिलाओं की समाज में दुर्दशा को स्पष्ट करना है उसे बहुत से यज्ञों तथा उत्सवों में लेने से मना कर दिया गया। विवाह के पश्चात महिला के गोत्र में परिवर्तन भी पांचवी शताब्दी से आरम्भ हुआ। यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था क्योंकि इसकी अन्तिम परीणिती उनके पैत क घर की सम्पत्ति से बेदखल कर दिया गया।

## सती प्रथा

भारतीय इतिहास में सती प्रथा का सर्वाधिक प्रचलन इसी युग में था। सती प्रथा को भी सामाजिक मान्यता मिल गई। इस युग में सती प्रथा को 'जौहर' प्रथा का नाम दिया गया था। राजपूतों में विशेषतः इस प्रथा का अधिक प्रचलन था। इस प्रथा के मूल में विदेशियों से नारियों की रक्षा करने का भाव निहित था। युद्ध में राजपूतों की म त्यु के पश्चात् स्त्रियाँ विदेशी आक्रान्ताओं के हाथ में न पड़ें, इसीलिए वैधव्य प्राप्त स्त्रियाँ रक्षाभाव से सती हो जाया करती थीं। चेदि लेख में गांगेयदेव की 100 पत्नियों के एक साथ सती होने का वर्णन मिलता है। ईश्वरीप्रसाद के अनुसार राज-परिवारों में काफी संख्यां में स्त्रियाँ समय-समय पर सती हुआ करती थीं। यह प्रथा इतनी प्रचलित थी कि साधारण घरों की स्त्रियाँ भी विवश होने पर सती हो जाती थीं। कभी-कभी स्त्रियाँ स्वेच्छा से इस व्रत का पालन करती थीं और कभी उन्हें समाज सती होने के लिए बाध्य भी करता था।

## कन्या-बालहत्या

राजपूत युग में कन्या का जन्म बहुत ही अशुभ माना जाता था। कुछ कन्याएँ तो पैदा होते ही मार डाली जाती थीं। कन्या जन्म को अशुभ इस कारण माना जाता था कि नारी जीवन बहुत ही कठिन समझा जाता था। नारी को जीवन पाने के क्षण से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक विदेशी आक्रान्ताओं के हाथ में पड़ने का भय बना रहता था, अतः स्त्रियों का जीवन कुण्ठित होकर रह गया था। इसी कुण्ठा के फलस्वरूप कन्या जन्म दुःख का कारण माना जाता था। समाज में स्त्रियों की संख्या कम करने का प्रयास किया जाता था, इसी कारण कन्या-बालहत्या

के अनेक प्रमाण इस युग में मिलते हैं।

## दक्षिण भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा

दक्षिण भारतीय समाज में भी स्त्रियाँ उच्च स्थान प्राप्त थीं। वे जीवन की समस्त सुविधाओं, स्वतन्त्रता एवं अधिकारों से सम्पन्न होती थीं। उच्च कुलों में स्त्रियाँ आर्थिक अधिकारों का पूर्ण उपभोग करती थीं। दक्षिण समाज में स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं। वे स्वेच्छा से सम्पत्ति बेच सकती थीं। दक्षिण भारतीय समाज में साधारणतः एक पत्नी-प्रथा ही प्रचलित थी, परन्तु राजघरानों में बहु-पत्नीत्व का भी चलन था।

दक्षिण भारत में भी सती प्रथा का चलन था। परान्तक द्वितीय की रानी वन्वन महादेवी ने सतीत्व प्राप्त किया था। फिर भी सती प्रथा का दक्षिणी समाज में उत्तर भारतीय समाज की अपेक्षा कम चलन था। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में सती प्रथा का यदा-कदा ही उल्लेख मिलता है।

## देवदासी प्रथा

राजपूत युगीन दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा का बहुत चलन था। ये कन्याएँ मन्दिरों में रहती थीं और देवताओं के सम्मुख गायन, वादन एवं नर्तन प्रस्तुत किया करती थीं। समस्त देवदासियाँ इन ललित कलाओं में पारंगत होती थीं। ये न त्यादि से जन साधारण का भी मनोरंजन करती थीं। मंदिरों में रहते हुए भी ये विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। सम द्विशलिनी होने के कारण अनेक देवदासियाँ ब हद् मात्रा में दान भी दिया करती थीं। देवदासियाँ अपनी दानशीलता एवं परोपकारिता के लिए प्रसिद्ध थीं। कुछ देवदासियाँ थोड़े दिन नर्तकी का जीवन जीकर फिर ग हस्थ बसा लेती थीं। मुस्लिम यात्रियों ने देवदासियों में व्याप्त व्यभिचार का भी संकेत दिया है। मुस्लिम यात्रियों के विवरण एक पक्षीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि तद्युगीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि तमिल समाज में देवदासियों का स्थान उत्कृष्ट एवं आदरणीय था। वे व्याभिचारिणी नहीं होती थीं। मुस्लिम यात्रियों ने संभवतः अपनी धर्मान्धता के फलस्वरूप ही इस हिन्दू प्रथा को कलंकित करने का प्रयास किया था।

यद्यपि सामान्यतः पर्दा प्रथा विशेष रूप से साधारण परिवारों में लागू नहीं थी परन्तु उच्च घराने में प्रचलित थी विधवाओं का जीवन बड़ा ही कष्टमय होता था। नारी की पवित्रता पर सख्त अनुशासन था।

## विवाह

पूर्व मध्यकाल में विवाह एक संस्कार के रूप में महत्वपूर्ण हो गया था विवाह की आयु लगातार घट रही थी। क्षत्रिय वर्ण को छोड़कर ब्राह्मण वैश्य वर्णो $8$ वर्ष की उम्र में विवाह करने का विधान था। लेकिन क्षत्रिय वर्ण में यौवनावस्था प्राप्त कर लेने पर लड़की की शादी के संदर्भ हैं। अनुलोम प्रतिलोम विवाह प्रतिबन्धित होने के बावजूद व्यवहार में लागू थे। विवाहों के वही आठ प्रकार प्रचलित थे। विधवा विवाह पर रोक थी परन्तु कुछ परिस्थितियों में विधवा विवाह की अनुमति थी ।

परिवारिक संगठन (*Family organisation*)- ग्रामीण समाज के विकास ने संयुक्त परिवार प्रणाली पर निर्णायक प्रभाव डाला। संयुक्त परिवार अब मजबूत हो गए थे परन्तु इनमें कहीं कहीं विखंडन भी दिखाई देता है। विज्ञानेश्वर ने परिवारिक सम्पत्ति में पुत्र को बँटवारा करने का अधिकार दिया परन्तु दूसरी तरफ जीमूतवाहन पुत्र को पिता के रहते बँटवारे का अधिकार नहीं देते परन्तु व्यवहार में परिवारों में बंटवारा हो रहा था।

## भोजन

राजपूती समाज में शाकाहार एवं मांसाहार दोनों प्रकार के भोजनों का प्रचलन था। तद्युगीन साक्ष्यों में गोधूम, चावल एवं फल आदि के संकेत बराबर मिलते हैं। उत्तर भारतीय समाज में मांस, मत्स्य एवं मदिरा का बहुत चलन था। बंगाल में शाक्त मत के प्राबल्य के कारण मांस एवं मदिरा के प्रयोग का अतिरेक हो चुका था। अल्हणदेवी के एक लेख से ज्ञात होता है कि तद्युगीन ब्राह्मण भी मांस खाते थे। पर यह तथ्य समस्त ब्राह्मणों पर लागू नहीं होता। प्रतिहार-वाहक अभिलेख से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण मांस नहीं खाते थे। क्षत्रियों में सुरापान बहुत प्रचलन था। तद्युगीन समाज में सूरा बेचने का कार्य स्त्रियाँ भी करती थीं। राजपूतों में अफीम एवं पान खाने का भी बहुत प्रचलन था।

## वस्त्राभूषण

तद्युगीन मूर्तियों से ही वस्त्रों का ज्ञान होता है। तद्युगीन मूर्तियों में समूचे शरीर ढके नहीं मिलते। इस युग में चादर का प्रयोग कम हो गया था। परन्तु, मूर्तियाँ तो कला का प्रतीक होती हैं। वैसे वस्त्रों का चलन समाज में होगा, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शरीर को वस्त्राभूषणों से ढका जाता था। इस युग में आभूषणों का चलन बहुत अधिक था। दक्षिण भारतीय समाज में मोतियों के प्रति विशेष अनुराग मिलता है। उस युग में व्यक्तियों को प्रायः समस्त धातुओं एवं रत्नों-उपरत्नों का ज्ञान हो चुका था

## आवास

इस युग के धनाढ्यों एवं गरीबों के घरो में गहरा अन्तर था। धनाढ्यों के घर कलापूर्ण होते थे। ये चूने एवं ईटों से बनाये जाते थे। घरों पर देवताओं एवं शुभ पशुओं आदि के चित्र अलंकृत किये जाते थे। घर के चारों ओर उद्यान लगाये जाते थे। गरीब लोग झोपड़ी में रहते थे। साधारण जनों के घर भी साधारण होते थे।

## मनोरंजन के साधन

तद्युगीन समाज में मनोरंजन का महत्व भली प्रकार समझा जाता था। धार्मिक अवसरों पर रथयात्रा निकाली जाती थी। शतरंज, द्यूतक्रीड़ा, खेलकूद, आखेट आदि मनोरंजन के प्रिय साधन माने जाते थे। संगीत एवं न त्य के आयोजनों में समस्त वर्गो की रूचि थी। दक्षिण भारतीय समाज में मल्ल-युद्ध मनोरंजन का विशेष लोकप्रिय साधन था।

## वैयक्तिक चरित्र

इस युग में व्यक्ति विशेष के गुणों पर विशेष बल दिया जाता था। वैयक्तिक गुणों के आधार पर ही जाति का निर्धारण होता था। तद्युगीन राजपूतों में वीरता का अपूर्व गुण विद्यमान था। राजपूतों को अपने शौर्य पर गर्व रहता था। उनमें छल-कपट का अभाव रहता था। वे ईमानदार एवं वचन-पालन के पक्के होते थे। वचन एवं प्रतिज्ञा पालन का गुण राजपूतों का आभूषण माना जाता था। इस युग में संयम को अत्यधिक महत्व दिया जाता था, इसी कारण काम-वासना की पूर्ति के हेतु अनेक विवाह करनेवाला व्यक्ति समाज में घ णित द ष्टि से देखा जाता था। विलासिता का प्रभाव राजघराने तक ही सीमित था। राजपूत-युगीन समाज का प्रमुख गुण अतिथि-सत्कार माना जाता था। व्यक्ति विशेष के गुणों के विकास का ही परिणाम था कि तद्युगीन समाज शक्तिशाली एवं स्वस्थ था। परन्तु राजपूती समाज दोषों से भी रहित नहीं था।

## शिक्षा

इस युग में शिक्षा-व्यवस्था विशेष उन्नत एवं संगठित हो चुकी थी। शिक्षा का अत्युत्तम

प्रबन्ध इस युग में परिलक्षित होता है। राजपूती प्रभाव के कारण इस युग में बौद्ध मठों का ह्रास होने लगा था और राजपूतों तथा गैर-राजपूतों में राजा नये सिरे से शिक्षा की उच्च व्यवस्था के क्रियान्वयन में संलग्न थे। विशेषकर राष्ट्रकूट राजाओं के काल में शिक्षा एवं साहित्य की अभूतपूर्व प्रगति हुई थी। शिक्षा सम्बन्धी कार्यो के लिये राजा खुले दिल से दान देते थे। अमोघवर्ष प्रथम के शासन काल में भद्रविष्णु ने कन्हेरी के बौद्ध विहार को पुस्तकें खरीदने के हेतु विशाल द्रव्य दान दिया था। साल्तोगी (बीजापुर) के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वहाँ पर एक विद्यालय था, जिसमें निवास के हेतु *27* छात्रावास थे। उस विद्यालय के प्रधानाचार्य को वेतन के रूप में साठ एकड़ भूमि की आय दी जाती थी। इस विद्यालय को राजा, नगर के सम द्ध व्यक्तियों एवं साधारण जनों से आर्थिक सहायता मिलती थी। इस विद्यालय के अतिरिक्त उस युग में अनेक अन्तरराष्ट्रीय स्तर के विश्वविद्यालय भी विकसित हुए थे। इन विद्यालयों में नालन्दा, विक्रमशिला एवं उदंतपुरी के विश्वविद्यालय उल्लेखनीय थे। इन विश्वविद्यालयों में ज्योतिष, दर्शन, आयुर्वेद, गणित, चिकित्सा-शास्त्र, युद्ध-विद्या एवं व्यायाम आदि की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ चीन, लंका एवं तिब्बत आदि से अनेकानेक विद्यार्थी ज्ञानार्जन हेतु आते थे। अरबवालों ने भी इस युग में यहाँ के विश्वविद्यालयों से अनेक विद्याएँ सीखी थीं।

पल्लवों ने दक्षिण में संस्कृत को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। पल्लवों की राजधानी कांची संस्कृत विद्या के विशिष्ट केन्द्र के रूप में विख्यात थी। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने कांची विद्या-केन्द्र से ही विद्या प्राप्त की थी। मयूर शर्मन को भी अपनी वैदिक शिक्षा में पूर्णता प्राप्त करने के निमित्त कांची में निवास करना पड़ा था। मदूरै-अभिलेख से ज्ञात होता है कि वैदिक विद्यालय को आर्थिक सहायता के हेतु राज्य की ओर से तीन ग्राम प्रदान किये गये थे।

इस युग में भी शिक्षण पद्धति का आधार मूलतः वैदिक शिक्षा पर ही आधारित था। बंगाल एवं बिहार में अभी भी मठों की प्रथा विद्यमान थी। अब हम यहाँ पूर्वमध्यकाल में विकसित होने वाले विश्वविद्यालयों का पर्यवेक्षण करेंगें।

### (1) नालन्दा विश्वविद्यालय

नालन्दा विश्वविद्यालय के संगठन, व्यवस्था एवं शिक्षण पद्धति पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। हर्ष के समय में चरमोत्कर्ष पर पहुँचने वाला नालन्दा विश्वविद्यालय पूर्व मध्यकाल में भी शिक्षा का अप्रतिम केन्द्र बना रहा। उत्तरी भारत के राजाओं ने इस विश्वविद्यालय की गरिमा बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान किये थे। परन्तु बारहवीं शताब्दी में बख्तियार खिज्जी के बर्बरतापूर्ण आक्रमण ने नालन्दा विद्या केन्द्र का नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

### (2) विक्रमशिला विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय की स्थापना सम्राट धर्मपाल ने आठवीं शताब्दी में की थी। विक्रमशिला विहार मगध में गंगा नदी के तट पर एक पहाड़ी के ऊपर स्थित था। इस विहार में एक महाबोधि का मन्दिर तथा *102* अन्य मन्दिर थे। सम्राट धर्मपाल ने इस विहार में एक विशाल शिक्षण-कक्ष बनवाया। इसी कक्ष में शिक्षण-कार्य सम्पन्न होता था।

इस विश्वविद्यालय का प्रबन्ध करने के हेतु एक प्रबन्ध-समिति गठित की गयी थी। इस समिति के कई विभाग थे। प्रत्येक विभाग का एक स्वतंत्र अधिकारी होता था। विश्वविद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति यही समिति उत्तरदायी थी। कुछ लोगों का विचार है कि यही समिति नालन्दा विश्वविद्यालय की भी व्यवस्था करती थी।

इस विश्वविद्यालय के शिक्षक अपने-अपने विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् एवं उद्भट ज्ञानी होते थे। दीपशंकर, श्रीमान् एवं श्रीभद्र आदि इस विद्या-केन्द्र के ज्योतिर्मय दीप थे। यहाँ विदेशों

से भी विद्यार्थी ज्ञानार्जन के हेतु आते थे। विश्वविद्यालय के द्वारों पर द्वार-पण्डित प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी की परीक्षा लेते थे। यहाँ व्याकरण, तर्कशास्त्र, तन्त्रवाद एवं दर्शन आदि विषयों की शिक्षा मुख्य रूप से दी जाती थी। प्रथम बार इस विश्वविद्यालय ने परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर विद्यार्थी को लिखित रूप से प्रमाणपत्र देने की प्रथा प्रारम्भ की थी। इस अत्युच्च विद्याकेंद्र का दयनीय अन्त तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बख्तियार खिल्जी के हाथों हुआ। इस निर्दयी आक्रामणकारी ने इसका विशाल पुस्तकालय जलवा डाला एवं विद्वान् भिक्षुओं और ब्राह्मणों की हत्या करवा दी। विक्रमाशिला विश्वविद्यालय पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ में ही पनपा और इसी युग के अन्त में क्षत-विक्षत भी हो गया।

### (3) वलभी शिक्षा-केन्द्र

बलभी विश्वविद्यालय पश्चिमी भारत का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था। इस शिक्षा केन्द्र की परंपरा अत्यन्त पुरातन थी, परन्तु इसका समुचित विकास सातवीं शताब्दी के उपरान्त ही आरम्भ हुआ था। यह केन्द्र मुख्यतः बौद्ध धर्म की हीनयानी शाखा का उल्लेखनीय ज्ञानागार था। इसके अतिरिक्त यहाँ राजनीति, राजनियम, अर्थशास्त्र एवं चिकित्सा शास्त्र आदि का अध्ययन भी कराया जाता था। यहाँ के शिक्षित विद्यार्थियों का राजदरबारों में उच्च पद प्राप्त होता था। यहाँ के प्रशिक्षित विद्यार्थी राजनीति के पण्डित माने जाते थे। इस विद्या केन्द्र का विनाश बाहरवीं शताब्दी के अन्त में बाह्य आक्रामकारियों के हाथों ही हुआ था।

### (4) ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय की स्थापना तो पाल सम्राटों के राज्यकाल से पूर्व हो ही चुकी थी, परन्तु इसकी प्रगति पाल नरेशों के सहयोग से ही हुई थी। पाल नेरशों ने इसमें एक पुस्तकालय की स्थापना की थी। इस पुस्तकालय में ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों का अद्‌भुत संग्रह था। इस विश्वविद्यालय में *1000* भिक्षुओं के रहने की व्यवस्था थी। यहाँ तिब्बत के विद्यार्थी अधिक संख्या में आते थे। इसी विश्वविद्यालय के आधार पर तिब्बत में प्रथम बौद्ध विहार की स्थापना की गयी थी।

### (5) नदिया या नवद्वीप शिक्षा-केन्द्र

इस शिक्षा केन्द्र की स्थापना *11*वीं शताब्दी में सेन सम्राटों ने की थी। यह हिन्दू शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र था। नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के पतन के पश्चात इस शिक्षा केन्द्र का महत्व अधिक बढ़ गया था। जयदेव के सुप्रसिद्ध काव्य 'गीतगोविन्द', उमापति की कविताओं एवं शूलपाणि के 'स्म तिविवेक' की संरचना इसी केन्द्र में हुई थी। सम्पूर्ण देश में शिक्षा प्रसार कार्य में नदिया शिक्षा केन्द्र ने उत्कृष्ट योगदान दिया था।

### (6) गगद्दला शिक्षा-केन्द्र

सम्राट रामपाल ने *11*वीं शताब्दी में गंगा के तट पर रामवली नगर में गगद्दला नामक शिक्षा केन्द्र की स्थापना की थी। यह विहार तर्कशास्त्र एवं तन्त्रवाद का महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस केन्द्र का अस्तित्व लगभग एक सौ वर्षो तक अक्षुण्ण बना रहा। यहाँ मुख्यतः तिब्बती विद्यार्थी ज्ञानार्जन के निमित आया करते थे। कुछ विद्यार्थियों ने इस विद्या केन्द्र में रहकर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया था। इस केन्द्र के आलोक-स्तम्भ मुख्यतः विभूतिचन्द्र, दानशील, शुभंकर एवं मोक्षकर आदि विद्वान थे। *1203* ई० में मुस्लिम आक्रान्ताओं ने इस केन्द्र को विनष्ट कर दिया था।

### (7) मिथिला शिक्षा-केन्द्र

मिथिला शिक्षा केन्द्र की सुरभि *12*वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत में व्याप्त रही। यह वैदिक शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इस विश्वविद्यालय में समस्त प्रकार के वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं ललित कलाओं के विषय पढ़ाए जाते थे। मिथिला न्याय एवं तर्कशास्त्र की शिक्षा के लिए विशेष रूप से विख्यात थी। यहीं गंगेश उपाध्याय ने 'नव्य न्याय' नामक न्यायशास्त्र की एक अभिनव शाखा को जन्म दिया था। इनकी 'तत्वचिन्तामणि' नामक रचना विशेष उल्लेखनीय मानी जाती है। कवि विद्यापति इसी केन्द्र की देन थे। इसी केन्द्र के ज्योतिर्मय दीप जगहार ने 'मेघदूत', 'गीतगोबिन्द' तथा 'मालती माधव' ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी थीं। इस शिक्षा केन्द्र में अध्ययन के पश्चात विद्यार्थियों की अन्तिम परीक्षा ली जाती थी। यह परीक्षा 'गलका परीक्षा' के नाम से जानी जाती थी। उत्तीर्ण विद्यार्थियों को स्नातक ही उपाधि से विभूषित किया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का जेा रूप आज विद्यमान है, उस रूप का निर्धारण पूर्व मध्यकाल में ही हो चुका था। प्राचीन भारतीय समाज इतिहास में शिक्षा का इतना संगठित एवं व्यवस्थित रूप प्रथम बार परिलक्षित होता है। पूर्व मध्यकाल में विशेषकर उच्च शिक्षा पर अधिक बल दिया गया था। साहित्य-स जन, शैक्षिक अभ्युत्थान एवं अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की द ष्टि से यह युग अनुपम एवं अपूर्व था।

### प्राचीन समाज का मध्यकालीन समाज में प्रवेश की तैयारी का काल (Transitional Phase)

यह काल एक *Transition* का काल था। इस काल में मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था आकार ले रही थी क्योंकि इस काल में हुए परिवर्तन बाद के कालों में चलते रहे। यह काल निरन्तरता और परिवर्तन का काल रहा है। इस काल की सारांशतः निम्न विशेषताएँ रही हैं।

#### कट्टर जाति-व्यवस्था

इस युग से पूर्व, बौद्ध धर्म के प्रभाव ने समाज को समानता एवं सार्वभौमिक भ्रात त्व के भाव से प्रभावित कर दिया था। बौद्ध मतावलम्बियों के बाहुल्य ने जाति-व्यवस्था में शिथिलता लाकर अपनी उदारता से भारतीय जनगण को एकीकृत करने में अनुपम योगदान दिया था। जाति सम्बन्धी भेदभाव अथवा विषमता तिरोहित हो चली थी। परन्तु राजपूत युग में ब्राह्मणों के पुनर्जागरण ने वर्ण-व्यवस्था एवं जातिगत भेदभाव को पुनः सूद ढ़ कर सामाजिक विषमता को पुनरूज्जीवित कर दिया।

जाति व्यवस्था की कठोरता एवं रूढ़िवादिता परवर्ती राजपूत युग में पनपी थी। प्रारम्भिक राजपूत काल में अन्तर्जातीय विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। *861* ई० के प्रतिहार अभिलेख में ब्राह्मण हरिशचन्द्र का क्षत्रिय कन्या मद्र से विवाह करने का उल्लेख मिलता है। परन्तु परवर्ती राजपूत युग में जाति व्यवस्था इतनी अधिक कट्टर हो चुकी थी कि अन्तर्जातीय विवाह का चलन बहुत कम हो गया था। अब तो विवाह तय करने में न केवल वर्ण एवं जाति का, वरन् प्रवर एवं गोत्र का भी ध्यान रखा जाने लगा था। इस युग में यह भी निश्चित हो गया था कि ब्राह्मण के किस गोत्र का विवाह किस गोत्र में होगा और ब्राह्मण के किस प्रवर का विवाह किस प्रवर में होगा। विवाह के साथ-साथ खान पान सम्बन्धी नियम में भी कठोरता एवं संकीर्णता आ गयी थी। अब गोत्र एवं प्रवर के आधार पर ही रोटी एवं बेटी का सम्बन्ध तय होता था। समाज का द ष्टिकोण अब अत्यंत संकुचित हो उठा था। और इस युग में जाति वर्ण तथा आति की शुद्धि पर बल दिया जाने लगा। जातियों तथा उपजातियों में अविश्वसनीय रूप से व द्धि हुई

(*Proliferation of Castes*)। सातवीं शताब्दी से जातियों में अविश्वसनीय बढ़ोतरी इस काल की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। लगभग सातवीं शताब्दी में लिखे गए ब्रह्मव त पुराण में *100* जातियों का विवरण हैं जबकि आठवीं शताब्दी में लिखे गए विष्णुधर्मोत्तर पुराण हजारों की संख्या में उदित हुई। वर्णसंकर जातियों का उल्लेख करता है। जातियों के संवर्द्धन का प्रभाव ब्राह्मण तथा राजपूत तथा इन वर्णो से कहीं ज्यादा शूद्रों तथा अस्प श्यों पर पड़ा।

ब्राह्मणों में उदित विभिन्न जातियाँ आगे असंख्य उपजातियों में विभाजित हो गई उदाहरण के लिए हम मैथिली ब्राह्मणों को ले सकते हैं। आर. एस. शर्मा ने चौदहवीं शताब्दी के हरिसेन को उद्द त करते हुए बताया कि मैथिली ब्राह्मण *180* उपजातियों में बंट गए और धीरे-धीरे इन उपजातियों की संख्या *1500* हो गई। इसी प्रकार इस काल में क्षत्रियों की भी अनेकों जातियाँ उदित हुई। इनमें जातियों के संव द्धि का कारण मुख्यतयाः राजपूतों का उदय रहा है। संभवतः चालुक्य चन्देल तथा पाल ही स्थानीय कबीले/वंश थे जिन्हें ब्राह्मणों ने वास्तव में क्षत्रिय वंशावली का बताया है। क्षत्रिय जातियों तथा उपजातियों की संव द्धि मध्य एशियाई जातियाँ जैसे हूण एवम् गुर्जर के भारत आने से *5-6* शताब्दी में प्रारम्भ होती है। संभवत सोलंकी, परमार एवम् तोमर आदि की उत्पति मध्य एशियाई है। और इस प्रकार क्षत्रियों में भी *36* जातियां एवं अनेकों उपजातियां बन गई जो सभी अपनी उत्पत्ति चन्द्र या सूर्य से बताकर जातिय गर्व महसूस करते थे।

पूर्वमध्यकाल में जातिय संव द्धि सबसे ज्यादा शुद्र जाति में देखने को मिलती है। प्रथम शताब्दी के एक रिकार्ड में *61* वर्ण संकर जातियों का उल्लेख मिलता है और ब्रह्मवैव त में दी गई सूची को मिला लिया जाए तो यह संख्या बढकर *100* हो जाती है। हेमचन्द्र की अभिचिन्तामणि में शुद्रों की उपजातियों में भारी बढ़ोतरी का जिक्र मिलता है।

विभिन्न पिछड़े कबिले जैसे भील, अभीर, पुलिन्दा आदि जो जंगलों में रह रहे थे उनका ब्राह्मणिकल धर्म में परिवर्तित कर शुद्र जाति की विभिन्न उपजातियों के रूप में ब्राह्मणिकल जाति व्यवस्था का हिस्सा बना लिया।

शुद्रों की उपजातियों में व द्धि का दूसरा कारण विभिन्न शिल्पों/व्यवसायों का जातियों में परिवर्तित होना है। इसी प्रकार विभिन्न पंथों जैसे शैविज्म, जैनिज्म वैशणविज्म आदि ने भी जातियों की बढ़ोतरी में योगदान दिया। जैसे बुद्ध धर्म *18* पंथों में विभाजित हो गया और धीरे -धीरे इन पंथ ग्रुपों (*Sects*) ने जाति की तरह व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया तथा पूर्वमध्यकाल के अन्तिम चरण के आते-*2* पूर्णरूप से जातियों में तबदील हो गए। जैसे कर्नाटक में वीरशैव तथा लिंगायत।

### धार्मिक सहिष्णुता

इस काल की एक अन्य विशेषता थी धर्मसहिष्णुता। लोगों तथा राज्य अधिकारियों को बिना राज्य के हस्तक्षेप के किसी भी धर्म को अपनाने की स्वतन्त्रता थी। वीरशैविज्म पंथ को पुजारियों, व्यापारियों, कृषक और शिल्पियों सभी ने अपनाया। हरिहर की मूर्ति पूर्व मध्यकालीन धार्मिक सहिष्णुता का सुन्दर उदाहरण है। इस काल के कलाकार ने शिव तथा विष्णु का भेद मिटाने के लिए आधा शिव और आधा विष्णु को मिलाकर एक मूर्ति बनाई। बहुत से समकालीन अभिलेखों में बुद्ध धर्मावलम्बी तथा हिन्दू धर्मावलम्बीयों को एक दूसरे के देवताओं के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए दिखाया।

## क्षेत्रियता का उभार

छठी तथा सातवीं शताब्दी के मध्य क्षेत्रिय सांस्कृतिक इकाईयां जन्म लेती हुई नजर आती हैं जैसे आंध्र, आसाम, बंगाल, गुजरात, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान तथा तमिलनाडू आदि। जैसे छठी शताब्दी में राजपूतों ने राजस्थानी, गौड तथा वेग ने बंगाली संस्कृति के उदय होने में सहायता दी। मुद्राराक्षम् में विभिन्न क्षेत्रों का वर्णन किया है जिसमें रीतिरिवाज, भाषा, पहनावा आदि सभी कुछ भिन्न था।

## भाषा तथा साहित्य का विकास

छठी शताब्दी ईसवी भाषा तथा साहित्य के विकास के लिए भी महत्वपूर्ण शताब्दी रही है। इस समय प्राग हिन्दी, प्राग बंगाली, प्राग राजस्थानी, प्राग गुजराती तथा प्राग मराठी आदि क्षेत्रिय भाषाओं की उत्पति हुई। इसकी पुष्टि हमें वज्रायन बुद्धिष्ट साहित्य से हो जाती है। इसी प्रकार जैन धर्म के ही प्राकृत साहित्य से भी इस काल में प्राग गुजराती, प्राग राजस्थानी भाषा के उदय का विवरण मिलता है। छठी तथा सातवीं शताब्दी के मध्य क्षेत्रिय भाषाओं का इतनी तीव्रता से विकास होने का कारण मुख्यतः इन क्षेत्रों में स्थानांतरण (*Mobility*) तथा आपसी संवाद (*Communication*) की कमी रहा है। ब्राह्मणों के स्थानांतरण ने क्षेत्रिय भाषा के शब्द कोश की व द्धि में सहायता दी। एक बात जो ध्यान रखने की है वह है कि यद्यपि क्षेत्रिय भाषाओं का विकास भले ही इस काल में हुआ हो परन्तु इनकी व्याकरण का निर्माण संस्कृत पर आधारित था।

## सम्पूर्ण भारत में एक लिपि का न होना (लिपि विविधता)

इस प्रकार की क्षेत्रिय विभिन्नता में एक लिपि का न होना भी स्वाभाविक है। ये अन्तर मौर्य, सातवाहन, कुषाण तथा गुप्तों की लिपियों में भलि भाँति देखा जा सकता है। इसी प्रकार मूर्तिकला तथा भवन निर्माण कला में भी क्षेत्रिय अन्तर स्पष्ट झलकता है। विशेष रूप से आठवीं शताब्दी के बाद के दक्षिण भारत में। गुप्त व गुप्तोत्तर काल में कला के विभिन्न स्कूलों तथा भवन निर्माण विशेष रूप से मन्दिर निर्माण में विभिन्न स्टाइलों का विकास हुआ।

समाज के स्तरीकरण की भाँति देवी देवताओं में भी इस काल में सोपान नजर आता है जैसे विष्णु शिव तथा दुर्गा सर्वोच्च देवता रहे हैं जिनके अधीन अनेक अन्य छोटे छोटे देवी देवता थे। स्तरीकरण में असमानता की झलक शैव जैन एवम् तान्त्रिकों के मठ तथा मोनास्ट्रीज के प्रबन्धीकरण में भी साफ झलकता है। इनमें कम से कम *5* (पांच) स्तरीकरण (*Pyramidical*) साफ उल्लखित है। सभी धार्मिक कृत्य (*Ceremomies*) आचार्य, जो कि स्तरीकरण में उच्चत्तम हों, द्वारा ही किए जाते थे।

इस समय जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, स्त्रियों की दशा में भी गिरावट आई। सैद्धान्तिक तौर पर उसे समाज में सम्मानित दर्जा प्राप्त था। वह घर की मालकिन समझी जाती थी। कोई भी धार्मिक कृत्य उसके बिना पूर्ण नहीं समझा जाता था। परन्तु व्यवहार में स्थिति भिन्न थी। बाल विवाह, सती प्रथा प्रारम्भ हो गया था विधवा विवाह प्रतिबन्धित हो गया था। तुर्कों के आगमन से हरेक का साईज भी बढ़ गया था लड़की का पैदा होना दुर्भाग्य समझा जाने लगा।

यद्यपि इस काल में जादूटोना तथा अन्धविश्वास आदि का भी बोलबाला हो गया था परन्तु साथ ही जैसा कि इब्नबतूता और राजशेखर कहते हें लोगों में सामाजिक तहजीब थी, व्रत, त्योहार तथा धार्मिक यात्राओं का शौक लोगों में इस काल में काफी तेजी से बढ़ा।

इस प्रकार की सामाजिक रचना का मुख्य कारण अर्थात यदि एंकाकी कारण कहा जाए तो अतिश्योक्ति न होगी, भू अनुदान देने की प्रथा थी।

# UNIT-II

# अध्याय - 7
# पारिवारिक जीवन
# (Family Organisation)

सामाजिक संगठनों में परिवार का मुख्य स्थान है तथा व्यक्ति व समाज के विकास और उत्थान में परिवार का बहुत योगदान रहा है। मनुष्य जब जन्म लेता है तब वह सामाजिक प्राणी के रूप में में नहीं होता किन्तु सम्पर्क और संगति से वह सामाजिक प्राणी बनता है। परिवार ही वह पहली व महत्वपूर्ण संस्था है जो उसे सभ्य बनाती है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहन परिवार के मुख्य सदस्य हैं जिनमें एक सामान्य सांस्कृतिक भावना पायी जाती है।

सभ्यता के साथ साथ परिवार का भी धीरे विकास हुआ। परिवार का सामाजिक संस्था के रूप में उदगम सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ। आरम्भ में पुरूष को रति सुख के लिए स्त्री की आवश्यकता पड़ी। यह रति सुख धीरे धीरे विवाह बन्धन में में परिणत हो गया। पुत्र प्राप्ति के लिए भी मनुष्य को परिवार की आवश्यकता का अनुभव हुआ क्योंकि बिना सन्तान के परिवार का अस्तित्व नहीं रह सकता। धार्मिक व सामाजिक कार्यो के लिए परिवार की स्थापना की गई।

वैदिक समाज में जीवन के पाँच आधार स्तम्भ थे - पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्ण चतुष्ट्य। इनमें पारिवारिक जीवन सबसे पहले तथा महत्वपूर्ण आधार स्तम्भ था। और यह पारिवारिक आधार स्तम्भ ग हस्थाश्रम पर आधारित था जहाँ इन ग हस्थियों को अपना जीवन इस प्रकार बनाना पड़ता था जिससे कि वे मानव जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुँच सकें। इसमें एक छोटी ग हस्थी का निर्माण होता है जिसमें पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री और भाई बहन एक दूसरे से अंतः क्रियाएँ करते तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण और देखरेख करते हैं। अतः परिवार के अंतर्गत सभी सदस्यों का दूसरे से सीधा और प्राकृतिक सम्बन्ध होता है। यह एक ऐसा समूह है जो संबंधों पर आश्रित है तथा इतना छोटा और शक्तिशाली है कि संतान के जन्म और पालन-पोषण की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है। किग्सले डेविस के अनुसार परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें एक दूसरे का सम्बन्ध सगोत्रता पर आधारित होता है और इस प्रकार उनका एक दूसरे से रक्त सम्बन्ध होते हैं। परिवार में पति-पत्नी, सन्तान और निकट सम्बन्धी सम्मिलित रहते हैं जहाँ विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि कार्य सम्पन्न होते हैं इसीलिए परिवार का प्रधान आधार विवाह है जिसमें स्त्री-पुरूष विवाह के माध्यम से पति-पत्नी बनते हैं तथा एक-दूसरे के साथ जीवन व्यतीत करते हैं।

### संयुक्त परिवार प्रणाली

व्यक्तिवादी कुटुम्ब प्रणाली के स्थान पर भारत में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का आदर्श देखने को मिलता है। पूर्व वैदिक काल से ही भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रमाणित होती है तथा वैदिक काल में परिवार का विकास बहुत कुछ इसी आधार पर हुआ है जिससे संयुक्त परिवार भी आबद्ध

रहा है। संयुक्त परिवार में जैसा कि वेदों से स्पष्ट है, चार पीढ़ियों तक के सदस्य रहते रहे हैं और सामान्य सम्पत्ति में भागीदार होते रहें हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर पुरोहित विवाह के समय वर-वधु को आशीर्वाद देते हुए कहता है ''तुम यहीं घर में रहो, वियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते और आनन्द मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो'' यह भी कहा गया ''तु सास, ससुर, ननंद और देवर पर शासन करने वाली रानी बन'' यही कथन इस बात को मान्यता देते हें कि पूर्व वैदिक काल में संयुक्त परिवार था जिसमें माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री सभी रहते थे और बाद में होने वाला उनका परिवार भी निवास करता था। इस प्रकार संयुक्त परिवार में एक ही रक्त सम्बन्ध के सदस्य सम्पत्ति में समान अधिकार रखते थे। धर्म पूजा करते थे तथा सभी इक्ठ्ठा भोजन करते थे। इस तरह से कई पीढ़ियाँ रहती थीं जो कि एक दूसरे को अधिकारों तथा दायित्वों के माध्यम से बान्धे रखते थे। उत्तर वैदिक काल में भी हिन्दू परिवार संयुक्त प्रणाली पर ही आधारित थे। इसे हम पित पक्ष प्रधान परिवार प्रणाली भी कह सकते हैं, जिसमें परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च होता था व परिवार के अन्य सदस्यों को उसके आश्रय में रहना पड़ता था। आदर्श परिवार में कुटुम्ब के नायक पिता सहित सभी पुत्र-पौत्र रहते थे और उनकी व द्धावस्था में सम्पत्ति के बंटवारे की माँग किए जाने के विवरण भी मिलते हैं। कभी-कभी पुत्र अपने पिता के जीवन काल में ही सम्पत्ति के बंटवारे का प्रयास करने लगते थे जैसे तैतिरय संहिता में उल्लेख मिलता है कि मनु के पुत्रों ने अपने पिता की जीवितावस्था में ही सम्पत्ति को बँटवा लिया था। जैमिनीय ब्राह्मण में भी विवरण मिलता है कि कभी-कभी भाई अपने में स्वयं अपने पिता की सम्पत्ति का बँटवारा कर लेते थे। इस प्रकार पित सत्तात्मक परिवार प्रणाली में भी स्वयं पुत्रों ने ही आघात करना प्रारम्भ कर दिया था। ऋग्वेद काल में पिता का परिवार पर अंकुश था तथा कुटुम्ब की धन-सम्पत्ति पर उसका एकनिष्ठ अधिकार था। इससे उनकी सन्तान, विशेषकर वयस्क पुत्र उनके बँटवारे के लिए उत्सुक होने लगे। इस तरह से पिता का जो अधिकार परिवार पर होता था वह धीरे धीरे कम होने लगा। पिता अपने किसी प्रिय पुत्र को सम्पत्ति में अधिक हिस्सा भी दे सकता था। इसीलिए कुछ धर्मशास्त्रों ने यह कहा कि पिता के जीवित रहते सम्पत्ति का बंटवारा नही होना चाहिए। पूर्व वैदिक काल में जहाँ संयुक्त परिवार व पित सत्तात्मक प्रणाली साफ दिखाई पड़ती है वहीं दूसरी तरफ उत्तर वैदिक काल में कभी कभी परिवार की स्त्रियों के भेदभाव अथवा मत वैभिन्य के कारण भी कभी कभी ये संयुक्त परिवार टूटे हुए दिख पड़ते हैं। परिवार के टूटने की जानकारी भ्रात व्य शब्द के अर्थ परिवर्तन से भी होती है इस शब्द का अर्थ भतीजा (भाई का लड़का) होता है परन्तु ब्राह्मण काल में इसका अर्थ पापी एवं शत्रु के रूप में हो गया। शतपथ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण एवम् पंचविश ब्राह्मण में इस शब्द को शत्रु के रूप में प्रयुक्त किया गया है। परिवार के टूटने के इन सब कारणों के साथ साथ उस युग में परिवार को बनाये रखने के भी उदाहरण हमें मिलते हैं। रात्रि में परिवार के माता-पिता आदि सभी के सोने का विवरण अथर्ववेद में दिया गया है।

ब्राह्मणों के पश्चात बौद्ध युग में संयुक्त कुटुम्ब के उदाहरण जातकों में मिलते हैं। ऐसे भी कुटुम्बों का उल्लेख मिलता है जिनके सदस्य अपने कुटुम्ब को छोड़कर बौद्ध धर्म को स्वीकार करके उसमें दीक्षित हो गये थे। गौतम, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, ब हस्पति ने संयुक्त परिवार का उल्लेख किया है। शंख और कौटिल्य भाईयों को सलाह देते हैं कि उन्हें इक्ट्ठज्ञ रहना चाहिए जिनसे उनकी व द्धि हो। परन्तु तत्कालीन समाज ने परिवार का विघटन होता जा रहा था। इस विघटन और विभाजन का उल्लेख भी हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा किया गया। इस समय पिता अपनी सम्पत्ति का बंटवारा कर देता था। यह स्वीकार किया जाने लगा कि पैत्रिक सम्पत्ति में पिता के साथ

पुत्रों का भी समान रूप से अधिकार है। पित -प्रधान परिवार की जगह साझेदारी वाली कुटुम्ब प्रणाली का सूत्रपात हो गया। वानप्रस्थ व्यवस्था के प्रचलन से भी विघटन की प्रव ति को बल मिला। गौतम, ब हस्पति आदि शास्त्रकारों के अनुसार संयुक्त परिवार में विघटन से धर्म की व द्धि होती है। संयुक्त परिवार में जहाँ एक ही ग ह में धर्म कार्य होता है वहाँ विभाजन होते ही समस्त उत्तराधिकारियों में यह धर्मकार्य प्रचलित हो जाता है। व्यक्ति नियन्त्रण से मुक्त होना चाहता था और निजी सम्पत्ति रखने की इच्छा रखता था। यह संयुक्त परिवार में सम्भव नहीं था। व्यापार में विकास होने से संयुक्त परिवार के अनेक सदस्य बाहर जाने लगे, यह भी संयुक्त परिवार के विभाजन का एक कारण बना। बौद्ध काल के बाद अलग-अलग श्रेणियों के बन जाने से लोग व्यापार और धर्म के प्रचार हेतु विदेशों की यात्रा करने लगे। उन पर पश्चिमी प्रभाव पड़ने लगा और संयुक्त परिवार विघटित परिवार में बदलने लगे। नारद ने सम्पत्ति के बँटवारे के विषय में कहा कि यह बँटवारा पिता की म त्यु के बाद किया जाना चाहिए। इस तरह ऋग्वैदिक काल में जिस संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का सूत्रपात हुआ था, वह धीरे-धीरे समयानुसार विघटित परिवार के रूप में विभाजित होने लगा। परन्तु इतना होते हुए भी हिन्दू समाज में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली समाज में बनी रही। सम्पत्ति के बँटवारे की बात अवश्य उठायी गयी, लेकिन समाज में पित सत्तात्मक कुटुम्ब का महत्व पहले जैसा बना रहा।

पूर्व मध्य युग में आकर पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन को दो द ष्टिकोणों से देखा गया। एक मत के अनुसार सम्पत्ति पर सहसम्बन्धियों, यहाँ तक कि गर्भस्थ बालक को भी सम्पत्ति का जन्म जात अधिकार प्रदान किया गया है। इस अधिकार को जन्मना स्वत्त्व का अधिकार कहा गया है और इस विचारधारा के प्रवर्तक विज्ञानेश्वर थे। धर्म के आधार पर इस विचारधारा के अर्न्तगत एक अंकुश अवश्य लगाया गया कि जो पिता के जीवनकाल में इस प्रकार के अधिकार की करे उसे पिता की श्राद्ध में न बुलाया जाये। इस तरह कानूनी द ष्टिकोण से बालक गर्भ में आते ही पिता की सम्पत्ति का कानूनी हकदार हो जाता था और कभी भी अपने हिस्से की मांग कर सकता था। दूसरी विचारधारा के प्रवर्तक जीमूत वाहन थे और इस विचारध ाारा की 'उमयस्वत्व' की संज्ञा के सम्बोधित किया गया। इसके अनुसार सम्पत्ति का अधिकारी परिवार का सबसे बड़ा व्यक्ति था। इस तरह पिता का सम्पत्ति का पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया और उसकी म त्यु के बाद ही पुत्र को सम्पत्ति का अधिकार मिलता था।

जहाँ तक संयुक्त परिवार से लाभ और हानियों का सवाल है, यह कहना गलत न होगा कि प्रारम्भ में परिवार ही शिक्षणालय की भांति था जहाँ बच्चे का मानसिक विकास होता था। वह प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ परिवार में ही पढ़कर सभी प्रकार के धार्मिक क्रियाओं से अवगत होता था। सभी सदस्यों में अनुशासन की भावना होती थी और परिवार के मुखिया की जिम्मेदारी होती थी कि वह पूरे परिवार का संचालन करे। इसके लिये वह अपने विवेक का सहारा लेता था। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का उसे ध्यान रखना पड़ता था। परिवार के सदस्यों में भी सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना होती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को समझता था और उसको पूरा करने की कोशिश करता था। परिवार पर यदि कोई संकट आता था तो सब मिलकर उसका सामना करते थे। सदस्यों के मध्य स्वार्थ की भावना नहीं होती थी। इससे स्वस्थ मस्तिष्क के विकास में मदद मिलती थी। एक ऐसा वातावरण बनता था जिसमें प्रेम और त्याग की भावना प्रबल रूप से निहित होती थी। संयुक्त परिवार द्वारा जिन धार्मिक कार्यो का सम्पादन किया जाता था उसका पुण्य सदस्यों को मिलता था। सबसे मुख्य बात यह थी कि कोई सदस्य बेकार भी रहता था तो संयुक्त परिवार में उसे आश्रय मिल जाता था। व द्ध, विधवा, अपंग और अनाथ भी संतोषप्रद ढंग से संयुक्त परिवार में गुजारा कर लिया करते थे।

दूसरी ओर संयुक्त परिवार प्रणाली में कुछ हानियों का भी संकेत मिलता है। सदस्यों के मध्य काम करने की उत्सुकता के स्थान पर शिथिलता का वातावरण भी पैदा हुआ होगा। काम में रूचि ने रखने वाले व्यक्ति को भी भोजन की कमी का अहसास नहीं होता था। भोजन का सवाल जब अपने कन्धों पर होता है तो व्यक्ति उसमें उत्सुकता दिखाता है, श्रम करता है और आर्थिक स्थिति को सुधारने का हर संभव प्रयास करता है, लेकिन जब काम न करने पर भी भोजन मिल जाये तो काम में रूचि क्यों ली जाये। इस तरह बेकार सदस्यों के पोषण हो जाने से आर्थिक समस्या को भी बल मिला होगा। समस्त सदस्यों, विशेषकर स्त्रियों में सौहार्द की भावना न होने पर भी किसी भी बात को लेकर युद्ध का ऐसा वातावरण तैयार होता होगा जिसके कारण संयुक्त परिवार टूटने लगता होगा। इस प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली में जहाँ एक ओर अनेकानेक लाभ दिखते हैं वहीं दूसरी ओर इस प्रणाली से हानियों का भी पता चलता है। यही कारण था कि हिन्दू समाज में धीरे धीरे पारिवारिक विघटन की भावना प्रबल होती गयी और संयुक्त परिवार विघटित परिवार में परिवर्तित होने लगे।

संयुक्त परिवार के ऐतिहासिक विवेचन के बाद अब हम परिवार में पिता, पुत्र, पत्नी, पुत्री आदि के अधिकारों और कर्तव्यों के साथ उसी स्थिति पर प्रकाश डालेंगे :

**पिता**

हिन्दू परिवारों में प्राचीन काल से पिता का स्थान सर्वोच्च रहा है। कुटुम्ब के सदस्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने, समस्त सदस्यों की रक्षा करने, भरण-पोषण की जिम्मेदारी उसी पर होती थी। परिवार के सदस्यों और सम्पत्ति पर उसका नियन्त्रण होता था। उसे असाधारण अधिकार प्राप्त थे। ऋग्वेद में पिता को समस्त भलाइयों और दयालुता का प्रतीक माना गया है। पिता परिवार के सदस्यों को दण्ड देने की स्थिति में था। ऋजाश्व के पिता ने उसकी आँखें इसलिये निकलवा ली थीं कि उसने एक सौ भेड़ें एक भेड़िये को खिला दी थीं। इस तरह लापरवाही बरतने के आराप में उसे दण्डित किया गया था। इससे पिता द्वारा पुत्र पर अधिकार की पुष्टि होती है। ऋग्वैदिक काल में निश्चित रूप से पिता की स्थिति परिवार में सर्वोच्च थी और वह अपने पुत्र को गलत आचरण के परिणामस्वरूप साधारण दण्ड देता था। ऋग्वेद में एक अन्य उल्लेखनुसार एक पिता ने अपने जुआरी बेटे को दण्ड दिया। साधारणतयः ऋग्वैदिक काल का पिता अपने परिवार के प्रति दयालु होता था। पुत्र को अन्धा बनाने का उल्लेख केवल एक अपवाद कहा जा सकता है।

पिता अपने पुत्र की शिक्षा पर ध्यान देता था। आवश्यकता पड़ने पर वह उसे शिक्षित करता था। ब हदारण्यकोपनिषद् से पता चलता है कि आरूणेय श्वेतकेतु ने अपने पिता से समस्त वेदों का अध्ययन *24* वर्षो में कर लिया था। तैतिरीय उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि समावर्तन संस्कार के अवसर पर शिक्षक स्नातकों को उपदेश देते हुए कहता था वह पिता और माता को देवताओं के समान समझे। रामायण में भी पिता को देवताओं से श्रेष्ठ बताया गया है और उनकी आज्ञा को देवज्ञा कहा गया है। महाभारत में भी पिता को धर्म, स्वर्ग और तप बताया गया है जिसके खुश रहने से देवता खुश रहते हैं। मनुस्म ति में उल्लेख मिलता है कि 'पिता मूर्तिः प्रजापते' जिसका सीधा अर्थ है कि पिता अपने सन्तान के लिए एक आर्दश है। मत्स्य पुराण में कहा गया है कि पिता की भक्ति से मध्यम लोक की प्राप्ति होती है।

प्राचीन साहित्य के कुछ उल्लेखों से इस बात की जानकारी मिलती है कि पुत्र को बेचा अथवा त्यागा भी जा सकता था। पुत्र को जब कोई व्यक्ति खरीदता था, उसे 'क्रीत' कहा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के *33* वें अध्याय में पुत्र बेचने से सम्बन्धित कथा का उल्लेख मिलता है।

एक लालची पिता ने *100* गौवों के लालच में अपने एक पुत्र को बेच दिया था। इस प्रकार की घटना की निंदा होती थी। मनु ने माता पिता द्वारा त्याग दिये गये पुत्र को 'अपविद्व' कहा है। गौतम ने पुत्र और पत्नी का विक्रय करने वाले के लिए दण्ड का प्रविधान किया है तथा नारद ने भी इसे निन्दनीय बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में इस पर प्रतिबन्ध लगने लगा था।

इस प्रकार केवल कुछ अपवादों को छोड़कर परिवार में पिता की सम्मानजनक स्थिति थी। वह परिवार पर अपना अधिकार रखते हुए अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करता था। परिवार के सदस्यों के साथ उसका प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रहता था। परिवार के सदस्यों को पालने उसका भरण-पोषण करने की उसकी नैतिक जिम्मेदारी समझी जाती थी। समयानुसार हिन्दू परिवार विघटन की ओर अवश्व उन्मुख हुए लेकिन बालक का शारीरिक और मानसिक विकास माता-पिता की ही संरक्षता में होता था पिता और पिता की इसमें अहम् भूमिका होती थी, लड़कियों का संरक्षण पिता अपने घर स्वयं करता था। दूसरों के साथ उचित व्यवहार करने की शिक्षा का पाठ पिता द्वारा ही पढ़ाया जाता था। इस सम्दर्भ में रामायण का यह उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वनगमन के अवसर राम द्वारा सीता को उपदेश देते समय सीता ने कहा कि बचपन में ही उन्हें अपने माता-पिता द्वारा दूसरों के साथ उचित व्यवहार ही शिक्षा मिल चुकी है। केवल राजवंश में ही नहीं, साधारण परिवारों में भी इस तरह की शिक्षा मिलती थी। पुत्र और पुत्री के विवाह की सम्पूर्ण जिम्मेदारी पिता की होती थी।

**माता**

हिन्दू परिवार में माता भी पिता की भांति पूज्यनीय थी। बालक को जन्म देने के कारण उसे 'जननी' भी कहा गया है।

ऋग्वेद में माता को सबसे घनिष्ठ और प्रिय सम्बन्धी कहा गया है। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि माता एक मात्र गुरु है, इनके समान दूसरा गूरु नहीं है। बालक का पालन पोषण माँ के द्वारा ही होता था। बौधायन और वसिष्ठ ने भी माता की स्थिति को सर्वोच्च माना है। वसिष्ठ ने तो यहाँ तक कहा है कि पिता पतित होने की स्थिति में छोड़ा जा सकता है लेकिन माता नहीं। सूत्रकारों ने माता की स्थिति और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में कहा है कि दस उपाध्यायों से आचार्य श्रेष्ठ है, सौ आचार्य से पिता श्रेष्ठ है और सहस्त्र पिता से माता श्रेष्ठ है। मनु ने भी माता को गुरु और पिता से ऊँचा स्थान दिया है।

मत्स्य पुराण में माता की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पतित होने पर गुरुजन भी त्याज्य हो सकते हैं, किन्तु माता नहीं छोड़ी जा सकती है। गर्भकाल में धारण-पोषण करने के कारण माता का गौरव गुरुजनों से भी अधिक है।

इस तरह हिन्दू शास्त्रकारों ने माता के मर्यादा और प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में व्यापक प्रकाश डाला है। कुटुम्ब के संचालन में उसका योगदान पिता की ही भांति था। पारिवारिक सदस्यों की सुरक्षा आदि से जुड़े कर्तव्यों में वह पिता की सहभागी होती थी जिसकी उपस्थिति में पिता को बल मिलता था। वह परम् गुरु थी। उसको क्लेश देने वाले व्यक्ति का किसी प्रकार से कल्याण सम्भव नहीं था।

**पति**

हिन्दू परिवार में पति को पत्नी का परमेश्वर कहा गया है। पत्नी को उसकी अधीनता में रहते हुए उसके आदेश का पालन करना पड़ता था। वैदिक युग में पति और पत्नी दोनों को सखा के रूप में स्वीकार किया जाता था। धीरे-धीरे समाज में पति का महत्व बढ़ने लगा।

रामायण में पति को देवता तुल्य बताया गया है। अल्प आयु में स्त्रियों का विवाह होने के कारण परिवार में उनकी स्थिति पति की तुलना में कम हो गयी। उनका दायरा केवल आंगन तक ही सीमित रह गया। शास्त्रकारों ने स्त्री को अपने पति को देवता तुल्य आराधना करने को कहा है। स्त्री की आजीविका का प्रबन्ध करने के कारण उसे 'भर्ता' कहा गया है।

प्राचीन काल में पति द्वारा पत्नी को बेचने के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं लेकिन यह प्रथा समाज में ज्यादा अंशों में प्रचलित नहीं थी। महाभारत में द्रौपदी को दांव पर लगाने का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि स्त्री को बेचा भी जा सकता था। मदन्ती के दान देने का वर्णन महाभारत में चार स्थानों पर किया गया है। परन्तु इस प्रकार की प्रथा की निन्दा की गयी है। नारद ने इस सम्बन्ध में कहा है कि ऐसा करने वाला दण्ड का भागीदार होता है।

पत्नी-हत्या को महापाप बताते हुए इसकी निन्दा की गयी है। महाभारत में वध को ब्रह्म हत्या और गोहत्या के रूप में स्वीकार किया गया है। इस तरह पति को पत्नी की हत्या का अधिकार नहीं था। कहीं-कहीं यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि पति अपनी पत्नी को पीट सकता था। मनुस्म ति में उल्लेख मिलता है कि अपराध करने पर स्त्री को रस्सी से अथवा बहुत छोटी हल्की बांस की लकड़ी से ताड़ना दे सकता है परन्तु देह के प ष्ठ भाग पर ताड़ना दी जानी चाहिए न कि सिर पर।

जहाँ तक पत्नी को तलाक देने या परित्याग देने की बात है, हिन्दू शस्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में कड़ा निर्देश दिया है। साध्वी स्त्री के परित्याग के सम्बन्ध में नारद ने व्यवस्था दी है कि इस प्रव त्ति का पुरूष गवाही देने लायक भी नहीं होता है। केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही शास्त्रकारों ने स्त्री के परित्याग की बात स्वीकार की है। पत्नी के कुलटा, रोगिणी, अपव्ययी आदि होने की स्थिति में पति उसे त्याग सकता था। परिवर्ती काल के टीकाकारों ने परित्यक्ता पत्नी के रहने और भोजन के प्रबन्ध की व्यवस्था का भार पति पर ही छोड़ा है। यह भी व्यवस्था की गयी कि बिना पर्याप्त कारणों के यदि पति पत्नी को त्यागता है तो राजा की ओर से उसे चोर की भांति दण्ड मिलना चाहिए।

## पत्नी

ऋग्वैदिक काल में पत्नियाँ ग हस्थी का मूल समझी जाती थीं। वह पति के साथ समस्त धार्मिक कार्यो में हिस्सा लेती थीं। विवाह परिपक्व आयु में सम्पन्न होते थे और पत्नियाँ अपने अधिकारों से अवगत रहती थीं। महाभारत में पत्नी की स्थिति पर विचार करते हुए कहा गया है कि पत्नी पति की अर्धागिनी है और वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का स्त्रोत है। परिवार के समस्त व द्धों को उससे प्रेम करना चाहिए क्योंकि वह सन्तान को जन्म देती है जिस पर समाज कल्याण निर्भर है।

समाज में आगे चलकर बाल-विवाह का प्रचलन होने तथा उनका उपनयन बन्द होने के कारण धीरे-धीरे उनके अधिकारों में कमी आने लगी। पति सेवा धर्म मानकर याज्ञवल्क्य ने यह स्वीकार किया कि स्त्री परम् धर्म अपने पति की आज्ञाओं का पालन करना है। मेधातिथि के अनुसार पत्नी को एक सेवक की भांति पति की सेवा करनी चाहिए। शुक्रनीतिसार में भी पत्नी के कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि स्त्रियों को स्वतंत्र पूर्वक धर्म, अर्थ और काम के लिए धन व्यय करने का अधिकार नहीं है। परिवार में माता की अपेक्षा पिता को अधिक महत्वपूर्ण स्थान देते हुए कहा गया है कि माता कि अपेक्षा पिता की आज्ञा का अधिक महत्व होता है।

स्त्रियों के अधिकारों में कमी आने पर भी शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर उनके साथ

सद्व्यवहार करने और उनकी सुरक्षा करने का ही निर्देश दिया है। उदाहरण के लिए याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट कहा है कि पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों से मनुष्य को स्वर्ग मिलता है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को स्त्रियों का आदर और उसके साथ उचित व्यवहार करते हुए उनकी सुरक्षा करनी चाहिये। मेधातिथि और विज्ञानेश्वर के अनुसार पति को चाहे सौ पाप करने पड़े, पत्नी का भरण-पोषण करना उसका परम् कर्तव्य है। पति के विदेश जाने की स्थिति में पत्नी के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करना पति का कर्तव्य माना गया है। इस प्रकार पत्नी के भरण-पोषण और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी पति पर ही छोड़ी गयी है। यह पत्नी के अधिकारों की प्राप्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त माना जा सकता है।

यदि किसी पुरूष के कई पत्नियाँ होती थीं तो सबको समान अधिकार नहीं प्राप्त थे। विष्णु धर्मसूत्र से इस सम्बन्ध में कुछ विशेष नियमों की जानकारी मिलती है। यदि सभी पत्नियाँ एक ही वर्ण की हों, तो सबसे पहले बनने वाली पत्नी अर्थात सबसे पहले जिससे विवाह हुआ हो उसी के साथ धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये जाते थे। यदि कई वर्णो की पत्नियाँ हों तो पति के वर्ण वाली पत्नी को प्रधानता दी जाती थी। चाहे उनका विवाह बाद में हुआ हो। यदि अपने वर्ण की पत्नी न हो तो अपने से बाद वाली वर्ण की पत्नी को अधिकार प्राप्त थे, लेकिन व्यक्ति को शूद्र पत्नी के साथ धार्मिक कृत्य करने ही अनुमति नहीं थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्म ति और व्यास स्म ति में शूद्र पत्नी को केवल आमोद-प्रमोद का साधन बताया गया है न कि धार्मिक कृत्यों की अधिकारिणी।

पति के विदेश चले जाने पर पत्नी के रहन-सहन से सम्बन्धित कुछ नियमों का प्रतिपादन हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा किया गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व के अनुसार विदेश गये हुए पुरूष की पत्नी को अंजन, रोचन, नैयमिक स्नान, पुष्प, अनुलेपन एवं आभूषणों को त्याग देना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने इस विषय पर चर्चा करते हुए कहा है कि जिस स्त्री का पति विदेश गया हो, उसे शरीर-सज्जा, क्रीड़ा-कौतुक, समाजों एवं उत्सवों में भागीदारी, अपरिचित के घर में जाना आदि त्याग देना चाहिए। व्यास स्म ति कें अनुसार विदेश गये हुए पति की पत्नी को अपना चेहरा पीला एवं दुखी बना लेना चाहिए तथा उसे अपने शरीर का श्रंगार नहीं करना चाहिए, पूरा भोजन न करते हुए उसे अपने शरीर को सुखा लेना चाहिए। इस तरह उसे पति परायण होना चाहिए।

इस तरह हिन्दू समाज में पति और पत्नी दोनों एक दूसरे के सहयोगी थे। सहयोग के सिद्धान्तों पर अग्रसर होते हुए दोनों मिलकार अपने कर्तव्यों के पालन में तल्लीन रहते थे। हमारे शास्त्रकारों ने पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों में समान माना है। जीवन पर्यन्त मतैक्य का होना ही दाम्पत्य जीवन का अन्तिक उद्देश्य स्वीकार किया गया है। यह माना गया है कि जिस परिवार में स्त्री से पुरूष और पुरूष से स्त्री सन्तुष्ट हो उस घर में कल्याण निश्चित है। पति-पत्नी के बीच मधुर सम्बन्धों के परिणामस्रूप ही परिवार की उन्नति होती थी।

## पुत्र

हिन्दू समाज में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना गया। विवाह का प्रमुख कारण सन्तानोत्पत्ति था। सन्तान प्राप्त करने की अभिलाषा प्राचीन समाज में काफी तीव्र थी। विवाह के समय पति देवताओं से वरदान मांगता था कि उसकी पत्नी के पुत्र उत्पन्न हो। यह स्वीकार किया जाता था कि पूत्र से बढ़कर आनन्द का और कोई दूसरा स्त्रोत हो ही नहीं सकता। महाभारत के उल्लेखनुसार पुत्र के जन्म से एक मनुष्य समस्त संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनु का भी मत था कि मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पुत्र-प्राप्ति का प्रयत्न करना

चाहिए। कुटुम्ब में सम्भवतः बड़े पुत्र की स्थिति अन्य पुत्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती थी। मनु ने बड़े पुत्र को ही धर्म से उत्पन्न पुत्र बताया है। अन्य पुत्रों को उसने कामेच्छा की सन्तान कहा है। बड़े पुत्र के जन्म होने पर पिता अपना पैत क ऋण उसे देकर अमर हो जाता है।

## पुत्र के प्रकार

हिन्दू समाज में पुत्र को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पुत्र के उत्पन्न होने से वंश कायम रहता है और पिता अपने ऋण को अदा करने में सक्षम हो जाता है। पितरों के लिए पित दान देने के लिये भी पुत्र की आवश्यकता को महसूस किया गया। जब किन्हीं विशेष कारणों से माता-पिता सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते थे तो कुछ रीतियों से दूसरों के पुत्रों को अपना पुत्र बना लिया करते थे। हमारे हिन्दू धर्मशास्त्रों में पुत्रों की संख्या *12* मानी गयी है। इन पुत्रों में केवल 'औरस' पुत्र को श्रेष्ठ माना गया है। औरस पुत्र होने से अन्य पुत्र की आवश्यकता महत्वहीन थी। अन्य पुत्रों की धार्मिक क्रियाओं का पुण्य पिता को नहीं प्राप्त होता था। धर्मशास्त्रों में वर्णित *12* प्रकार के पुत्रों का उल्लेख इस प्रकार है-

### 1. औरस

जो पुत्र विधि सम्मत विवाह संस्कार द्वारा समान वर्ण की पत्नी के द्वारा जन्म ले उसे 'औरस' कहा गया है। मनु ने समस्त प्रकार के पुत्रों में औरस पुत्र को ही श्रेष्ठ बताया है। यही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। अन्य प्रकार के पुत्रों को केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार था। गौण पुत्र मिता का सच्चा उत्तराधिकारी नहीं हो सकता था। आपस्तम्ब और बौधायन ने औरस पुत्र के लिये सवर्णा पत्नी की आवश्यक बताया है। विज्ञानेश्वर और अपरार्क ने ब्राह्मण का क्षत्रिय, वैश्यादि स्त्रियों से अनुलोम विवाह के कारण उत्पन्न पुत्र को भी 'औरस' माना है, लेकिन शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र को औरस की श्रेणी में नहीं रखा है। इस प्रकार जहाँ आपस्तम्ब और बौधायन ने औरस पुत्र के लिये जाति का बंधन लगाया वहीं दूसरे शास्त्रकारों ने इस तरह के बन्धन को मान्यता नहीं दी है।

### 2. क्षेत्रज

नियोग प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र को 'क्षेत्रज' की संज्ञा दी गयी है। यह प्रथा वैसे तो वैदिक कालीन थी लेकिन बाद में कुछ निम्न जातियों में यह किसी न किसी रूप में प्रचलित रही। मनु ने मरे हुए, नपुंसक या रोगी पति की पत्नी के द्वारा शास्त्र प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार नियुक्त पुरूष के वीर्य से उत्पन्न पुत्र को 'क्षेत्रज' कहा है। महाभारत के कई पात्रों का जन्म नियोग द्वारा हुआ था। हिन्दू शास्त्रकारों ने 'क्षेत्रज' पुत्र को दूसरा स्थान दिया है। कौटिल्य एवं वसिष्ठ ने भी इसका समर्थन किया है। आपस्तम्ब के अनुसार 'क्षेत्रज' पर पति का अधिकार नहीं बल्कि जिस पुरूष ने पैदा किया, उसका अधिकार होगा।

### 3. दत्तक

अपने ही जाति के किसी व्यक्ति को सुरूचि से जब माता-पिता अपना पुत्र प्रदान करते थे तो वह दत्तक पुत्र कहलाता था। मनु ने इस प्रकार के पुत्र का उल्लेख किया है। पुत्र उसी को प्रदान किया जाता था जिसके पास अपना पुत्र नहीं होता था और वह दूसरे के पुत्र को अपनाने को तैयार रहता था। आज भी समाज में पुत्र को गोद लेने की प्रथा प्रचलित है। दत्तक पुत्र का प्रचलन सातवीं-आठवीं शताब्दी में ज्यादा हुआ।

### 4. कृत्रिम

जब दूसरे परिवार अथवा व्यक्ति के लड़के को बिना विधिवत् गोद लिये अपना पुत्र स्वीकार कर लिया जाता था तो ऐसे पुत्र को कृत्रिम पुत्र कहा जाता था। मनु ने कृत्रिम पुत्र के सम्बन्ध में कहा है कि गुण-दोषों पर विचार करने के पश्चात् जब अपनी जाति के किसी पुत्र का अपना बनाया जाता तो वह कृत्रिम पुत्र होता था।

### 5. गूढ़ज

किसी भी स्त्री का विवाह हो जाने के बाद भी दूसरे पुरूष से प्रेम और शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण उत्पन्न पुत्र को 'गूढ़ज' कहा गया है। ऐसा पुत्र संदिग्ध पित त्व वाला माना जाता था। उसके बारे में यह निश्चित करना कठिन होता था कि किसके वीर्य से उत्पन्न हुआ है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्म तिकारों ने ऐसे पुत्र की चर्चा करते हुए कहा है कि संदिग्ध अवस्था में ऐसा पुत्र स्त्री के पति का ही स्वीकार किया जाता है। यदि दम्पत्ति को सन्तान न उत्पन्न हुई हो तो इस प्रकार के पुत्र को औरस पुत्र की तरह अपना सकता था। पुत्र होने कि स्थिति में उसका अधिकार केवल भरण-पोषण तक ही सीमित हो जाता था।

### 6. अपविद्व

जब किन्हीं विशेष परिस्थितियों में माता-पिता परिवार से बालक को भगा देते थे और उसी बालक को दूसरे किसी व्यक्ति द्वारा अपना लिया जाता था तो वह अपविद्व पुत्र कहलाता था। परिवार की दरिद्रता, माता की हीन अवस्था, बालक दुराचरण ऐसे कारक थे कि माता-पिता पुत्र को परिवार से अलग करने के लिये विवश हो जाते थे और समाज के निःसन्तान माता-पिता खुशी से ऐसे पुत्र को स्वीकार कर लेते थे। मनु ने ऐसे पुत्र का उल्लेख किया है।

### 7. कानीन

अविवाहित कन्या जब किसी पुरूष से यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कारण गर्भवती हो जाती थी और उसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होता था, वह 'कानीन' कहलाता था। मनु के अनुसार अविवाहित अवस्था में गुप्त पिता से जन्मा व्यक्ति 'कानीन' कहलाता था। महाभारत के कुन्ती के पुत्र कर्ण को इसी प्रकार का पुत्र माना जा सकता है। याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ के मतानुसार इस प्रकार का पुत्र अपने नाना की सम्पत्ति का अधिकारी होता है तथा उसको पिण्ड देता है। कुछ शास्त्रकारों ने ह व्यवस्था दी है कि 'कानीन' पर उस कन्या से विवाह करने वाले का अधिकार होता था। यदि कन्या अविवाहित रहती और उसके पिता के कोई अन्य पुत्र न होता, 'कानीन, ही अपने नाना की सम्पत्ति का अधिकारी होता था, लेकिन पुत्र होने की स्थिति में उसे केवल भरण-पोषण से सम्बन्धित अनुरक्षण ही प्राप्त हो पाता।

### 8. सहोढ़

विवाह के पूर्व ही किसी पुरूष द्वारा कन्या के गर्भवती हो जाने और बाद को उसी पुरूष के साथ विवाह होने पर उसका जो पुत्र उत्पन्न होता था उसे 'सहोढ़' कहा जाता था। मनु के अनुसार अनजाने या जानबूझकर गर्भवती कन्या से विवाह संस्कार होने के बाद उस कन्या से उत्पन्न पुत्र का 'सहोढ़' कहा जाता था। एक तरह से यह पुत्र 'औरस' की ही श्रेणी में आता है, लेकिन विवाह संस्कार के पूर्व कन्या द्वारा गर्भ धारण करना विधिसम्मत नहीं माना जा सकता। इसी कारण 'सहोढ़' की स्थिति 'औरस' से निम्न हो जाती है।

### 9. क्रीतक

माता-पिता को मूल्य देकर जब पुत्र का क्रय किया जाता था तो वह क्रीतक कहलाता था। मनु का इस सम्बन्ध में मत था कि सजातीय अथवा असजातीय पुत्र जब क्रय कर लिया

जाता था तो वह क्रीतक पुत्र होता था। मनु से पूर्व भी प्राचीन समाज में यह प्रथा प्रचलित थी और इसका उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। शुनः शेष को सौ पण पर अजीगर्त ने विक्रय किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्रहीन होने की स्थिति में जब माता-पिता को अन्य रीतियों से पुत्र की प्राप्ति नहीं हो पाती थी तो क्रय करके वे अपने वंश को जारी रखने का प्रयास करते थे। सम्भवतः एक से अधिक पुत्रों के होने अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण माता-पिता पुत्रों को बेच देते थे।

### 10. पौनर्भव

पति द्वारा छोड़ी गयी अथवा विधवा स्त्री जब दूसरे को पति बनाकर पुत्र अत्पन्न करती थी तो वह पुत्र 'पौनर्भव' कहलाता था। इस तरह स्त्री के पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र को शास्त्रकारों ने 'पौनर्भव' की संज्ञा दी है। मनु ने इस प्रकार के पुत्र की चर्चा की है।

### 11. स्वयंदत्त

कुछ विशेष परिस्थितियों से मजबूर होकर जब बालक अपने घर को छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति का आश्रय ग हण करता था तो वह आश्रयदाता का अपविद्व पुत्र कहलाता था। मनु ने ऐसे पुत्र के सम्बन्ध में कहा है कि जिस बालक के माता-पिता म त्यु को प्राप्त हो गये हों अथवा वह उनके द्वारा त्याग दिया गया हो, स्वयं किसी के पास जाकर उसका पुत्र बन जाता था तो वह 'स्वयंदत्त' कहा जाता था। 'स्वयंदत्त' के शाब्दिक अर्थ से ही इस तरह के पुत्र का बोध होता है।

### 12. पारशव

जब ब्राह्मण काल के वशीभूत होकर किसी शूद्र स्त्री के साथ समागम करके पुत्र उत्पन्न करता था तो वह 'पारशव' कहलाता था। ऐसे पुत्र की काफी निन्दा की गयी है। मनु ने तो ऐसे पुत्र को जीता रहने पर भी मरे हुए के समान बताया है। समस्त प्रकार के पुत्रों में 'पारशव' सबसे निम्न कोटि का पुत्र माना जाता था। यही कारण है कि उसे सबसे नीचा स्थान दिया गया है।

हिन्दू समाज के अन्तर्गत औरस पुत्र के न होने पर अपने वंश की परम्परा को कायम रखने के लिये पिता द्वारा लड़की के लड़के को पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। इस तरह का पुत्र 'दौहित्र' कहलाता था। इसे 'पुत्रीकापुत्र' भी कहा जाता था। अपने दामाद से पिता यह समझौता कर लेता था कि उससे उत्पन्न सन्तान उसकी होगी। इस प्रकार के पुत्र का उल्लेख ऋग्वेद और महाभारत में हुआ है। मनु ने तो औरस और दौहित्र पुत्र में कोई अन्तर नहीं माना है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद दत्तक ही प्रथा के प्रचलन से दौहित्र पुत्र की व्यवस्था कम होती गयी।

## पुत्री

प्राचीन हिन्दू समाज में आधुनिक समाज की भांति पुत्री का स्थान पुत्र से निम्न होता था। पुत्री के सम्बन्ध में यह धारणा है कि जन्म से लेकर विवाह के समय तक किसी न किसी रूप में दुख देती है। उसकी यौवनावस्था प्रत्येक अभिभावक के लिये समस्या मानी जाती थी। महाभारत में इसी कारण पुत्र को परिवार का भविष्य और पुत्री को कष्टदायिका कहा गया है। पुंसवन नामक संस्कार का आयोजन पुत्र प्राप्त करने की कामना से ही सम्पन्न होता था। परन्तु इतना होते हुए भी समाज में उनका समुचित आदर होता था। पिता की सम्पत्ति पर उसका अंश स्वीकार किया गया और कहा गया कि अविवाहित कन्या को विभाजन का चतुर्थ अंश मिलना चाहिए। पुत्र के अभाव में कन्या को दायाद माना जाता था।

इस प्रकार परिवार के प्रत्येक सदस्य के अधिकार एवम् कर्तव्य निर्धारित थे तथा प्रत्येक सदस्य से निर्धारित नियमों के अनुसार ही व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी ताकि परिवार सुव्यवस्थित तथा संगठित हेा विभिन्न उत्तरदायित्वों को सुचारू रूप से निभा सके।

**परिवार के कार्य**

परिवार मनुष्य की हर जरूरत को पूरा करता है उन जरूरतों को भी पूरा करता है जिनके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। व्यक्ति के बचपन की आवश्यकताओं से बुढ़ापे तक हर जरूरत को पूरा करता है।

**जैविकय कार्य**

एन्डरसन एवम् पारकर के अनुसार परिवार का मुख्य कार्य परिवार की निरन्तरता को बनाए रखना व आन्तरिक प्रव तियों को सन्तुष्ट करना है जैसे सन्तानत्पोति की व्यवस्था करना व सदस्यों को शारीरिक सुरक्षा प्रदान करना है।

**सामाजिकरण का कार्य**

प्रो. एस एस शर्मा के अनुसार परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला मानी जाता है। क्योंकि बच्चा पहली शिक्षा परिवार से ही ग्रहण करताहै जैसे अच्छा बुरा नैतिक, अनैतिक कार्य आदि।

**आर्थिक कार्य**

जैसा कि जी. के. अग्रवाल कहते हैं परिवार सदैव आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र रहे हैं क्योंकि उपभोग से लेकर उत्पादन विनिमय व वितरण तक सभी कार्य परिवार पूरी की जा सकती है।

**सांस्कृतिक कार्य**

परिवार संस्कृति को निरन्तरता प्रदान करने, उसे स्थायी रखने व प्रभाव पूर्ण बनाने में परिवार का योगदान सबसे अधिक होता है प्रत्येक पीढ़ी को संस्कृति का संचरण करने का महत्वपूर्ण कार्य करना है।

**धार्मिक कार्य**

परिवार ही बच्चे को धर्म, धार्मिक विश्वासों कर्मकांडों तथा त्योहारों की शिक्षा देता है।

**राजनैतिक कार्य**

परिवार एक स्थानीय इकाई है जिसके कर्ता सबसे बड़ी प्रभुसत्ता होती है। यही कर्ता सभी के व्यवहार को नियन्त्रित करता है व नियमों की अवहेलना करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है।

इस प्रकार मानव को सभ्य बनाने और जीवन को सुचारू रूप से संचालित करने में परिवार का प्राचीन काल से ही योगदान रहा है। परिवार के सदस्यों के बीच स्नेह, ममता और करूणा के मध्य पलते हुए ही बच्चा नागरिकता का पाठ पढ़ता है और अपने चरित्र का निर्माण करता है क्योंकि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रारम्भिक पांच वर्ष की अवस्था में बालक अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेता है। परिवार सामाजिक जीवन की अनिवार्य पाठशाला है।

भले ही पिता के जीवन काल में पुत्रों द्वारा सम्पत्ति के बंटवारे, परिवार की महिलाओं के आपसी मनमुटाव, मनुष्य की निरंकुश तथा नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहने की प्रव ति व्यापार क्षेत्र बढ़ने से संयुक्त परिवार से प थक हो जीविका अर्जन के लिए बाहर जाना आदि कारणों अर्थात

समय और परिस्थितियों वश संयुक्त परिवार प्रणाली में विभाजन की रेखा खिंची हो परन्तु उसका पूर्ण रूप से लोप नहीं हो पाया और संयुक्त परिवार की धारणी किसी ना किसी रूप में हिन्दू समाज की आधारशीला रही जिसके द्वारा व्यक्ति, समाज व देश के विकास की दिशा निर्धारित हुई।

# अध्याय - 8

# वर्ण व्यवस्था

# (Varna System)

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण आधारित समाज था। प्राचीन भारतीय स्म तिकारों तथा अन्य विद्वानों ने भारतीय समाज को चार वर्णो में विभाजित करके प्रत्येक वर्ण के अधिकार एवम् कर्तव्य भी निर्धारित किए ताकि समाज बिना आपसी संघर्ष के सुचारू रूप से विकास की ओर अग्रसर रहे। कार्यो को आधार मानकर समाज को चार वर्णो में बांटा गया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र और प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुणों और रूचि के अनुरूप वर्ण अर्थात कार्य चुनने की व्यवस्था की। जो अध्ययन अध्यापन, धार्मिक कर्मकांड का अनुष्ठान करे और धर्म की रक्षा तथा संपोषित करे, उन्हें ब्राह्मण कहा गया। समाज में शांति, बाहरी तथा आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने वाले को क्षत्रिय, कृषि, पशुपालन, शिल्प एवम् वाणिज्य अर्थात मुख्य उत्पादक को वैश्य कहा गया और तीनों वर्णो की सेवा करने वाले को शूद्र कहा गया। कार्य द ष्टि से सभी वर्ण एक दूसरे पर ने केवल निर्भर हैं परन्तु एक दूसरे के सहायक भी हैं। प्राचीन स्म तिकारों के अनुसार हर एक व्यक्ति को अपने अपने धर्म पालन में तल्लीन रहना चाहिए तथा वर्णधर्म की रक्षा करना राज्य का भी परम कर्तव्य माना गया।

'वर्ण' शब्द की उत्पत्ति 'वरी' धातु से हुई है जिसका अर्थ है वरण करना। वर्ण उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है। **वर्ण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है**। ऋग्वेद के समय में भारतीय आर्य सम्भवतः चार वर्णो में विभक्त नहीं हुए थे। यही कारण है कि पुरूष सूक्त के अलावा ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णो का उल्लेख नहीं मिलता। पुरूष सूक्त को प्रायः विद्वानों द्वारा बाद के समय का माना जाता है। इसीलिए यह निष्कर्ष निकालना तर्क संगत नहीं होगा कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में ही वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पुरूष सूक्त का छोड़कर शेष ऋग्वेद में 'वैश्य' और 'शूद्र' शब्द का प्रयोग तक नहीं हुआ है। ब्राह्मण या क्षत्रिय हो सकता था। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्य और अनार्य (दास) की अनेकता और भिन्नता वर्ण के रूप में दर्शित की गयी है। आर्य और दास दो प्रतिपक्षी वर्ण थे जो शारीरिक और सांस्कृतिक द ष्टिकोणों से नितान्त भिन्न थे। ऋग्वेद में रंग के आधार पर इन दोनों वर्गो में से एक को आर्य वर्ण पुकारा गया ओर दूसरे को अनार्य अर्थात दास वर्ण। आर्य गौर वर्ण और अनार्य कृष्ण वर्ण। इन दोनों वर्णो में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक भिन्नताऐं भी थीं। इस तरह ऋग्वेद की सर्वप्रथम स्थिति में समाज में दो वर्ण परिलक्षित होते हैं। इस ग्रंथ मे एक स्थान पर स्वयं उल्लेख मिलता है कि 'उग्र' प्रकृति के ऋषि (अगस्त्य) ने दोनों वर्णो का पोषण किया।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते आर्य और अनार्य का विरोध और द्विवर्ण का स्वरूप समाप्त हो गया और इनके स्थान पर चार वर्णो का उल्लेख प्रारम्भ हो गया। यजुर्वेद और अथर्ववेद में

अनेक मंत्रों का उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण भेद भलीभांति विकसित हो चुका था। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त की भांति यजुर्वेद में भी चारों वर्णो को ब्राह्मण के चारों अंगों से उत्पन्न माना गया है। अथर्ववेद भी राजन्य, वैश्य, शूद्र और आर्य इन चार सामाजिक विभागों पर प्रकाश डालता है। वाजसनेयी संहिता भी चारों वर्णो- ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और आर्य का वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य शब्द समस्त आर्य-समुदाय (विश) के लिये प्रयोग किया गया है। उत्तर वैदिककाल में वैश्य वर्ण को 'अन्यस्य बलिकृत' कहा गया है जिससे स्पष्ट होता है कि वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय से नीचा था। ऐतरेय ब्राह्मण उनके महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि देवकर्म या याज्ञिक कर्म में वैश्य समुदाय का सहयोग आवश्यक है। इस युग के प थक्-प थक् नियमों से भी आभास मिलता है कि वर्ण भेद धीरे-धीरे द ढ़ होते जा रहे थे। प्रत्येक वर्ण की पहचान के द ष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यह व्यवस्था की गयी थी कि ब्राह्मण वर्ण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करें। उनके अग्निहोत्र करने के के उचित समय भी अलग-अलग थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण को बसन्त में, क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शीत में और रथकार को वर्षा काल में अग्निहोत्र करना चाहिये।

महाकाव्य कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित थी। ऋग्वेद की भांति रामायण में चारों वर्णो की उत्पत्ति परम् पुरूष से बतायी गयी है। चारों वर्णो में श्रेष्ठता के अनुसार भेद था। ब्राह्मण की श्रेष्ठता पूर्ववत् विद्यमान थी। महाभारत काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादि के कर्तव्यों का निर्धारण मिलता है। महाभारत के अनुशासन पर्व और महाभारतीय गीता भाग में वर्ण व्यवस्था सम्बन्धित उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उस काल तक वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित तथा व्यवस्थित हो चुकी थी।

स्म तियों और पुराणों में भी वर्ण की चर्चा मिलती है। मनुस्म ति में प्रत्येक वर्णो के अलग-अलग कर्मो का निर्धारण करते हुए ब्राह्मणों का स्थान सभी वर्णों में श्रेष्ठ बताया गया है। मनु और याज्ञवल्क्य का मत है कि चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त और कोई पंचम वर्ण नहीं है। पुराणों में भी स्म तियों की भांति वर्ण-व्यवस्था के निर्माण के साथ उसके संगठन पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। वायु, विष्णु तथा मत्स्य पुराणों में वर्णों का विभिन्न अंगों से उद्भूत होना बताया गया और चारों वर्णों के कर्म निर्धारित किये गये हैं।

अभिलेखों से भी विदित होता है कि वर्ण व्यवस्था को स्थिर रखने का प्रयास किया गया था। बौद्धकाल में वर्ण व्यवस्था जो विकृत रूप प्राप्त कर चुकी थी, शुंगों, के शासन काल में इसे एक नवीन जीवन प्राप्त हुआ। नासिक अभिलेख से विदित होता है कि गौतमी पुत्र शातकर्णी द्वारा वर्ण व्यवस्था की पुर्नस्थापना हुई थी। उसने वर्ण-संकरता को भी रोका था। गुप्तों, वाकाटकों, मौखरियों, परिव्राजकों, शलंकायनों, वल्लभी और मालवा के नरेशों के लेख सामाजिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए वर्णाश्रम-धर्म के नियमन का भी उल्लेख करते हैं। हर्ष कालीन अभिलेखों से विदित होता है कि प्रभाकर वर्धन ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का स्थिर रखा था।

विदेशी यात्रियों के विवरणों में सामाजिक व्यवस्था के चित्रण में वर्णाश्रम धर्म का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल की भांति यह व्यवस्था भारतीय समाज का मूलाधार थी। फाहियान के अनुसार चारों वर्ण अलग-अलग नियमों के अनुसार रहते थे और अपने वर्ण में ही विवाह करते थे। राजा वर्णो एवं आश्रमों का रक्षक था और वर्णों की सीमाओं का अतिक्रमण न करने वाला माना गया है। अरब लेखकों मे अबूजैद सराफी, अलमसूदी, अलइदरीसी और अलबीरूनी ने भी भारतीय वर्ण-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इन लेखकों के विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन का मूलाधार थी और समाज की रचना में राजा का योगदान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था।

वर्ण-व्यवस्था के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। दुर्भाग्यवश इस सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत मत अभी तक प्राप्त नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों में से बैनफे, म्योर और जिमर ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। सेनार्ट ने भी लगभग यही मत प्रस्तुत किया गया है। लेकिन लुडविग और ओल्डनवर्ग इस मत से सहमत नही प्रतीत होते। उनके मतानुसार ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था की सत्ता निश्चित रूप से विद्यमान थी। वर्ण व्यवस्था पर विचार प्रकट करते हुए मैक्समूलर महोदय ने कहा है कि निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का वही स्वरूप प्रचलित था जो आजकल सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार बना हुआ है। गेरेट ने प्राचीनतम भारत में परम्परागत वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया है और उनका मत है कि वेदों में वर्ण-व्यवस्था का कोई उदाहरण देखने को नहीं मिलता। किन्तु बेबर का कहना है कि इस युग में वर्ण-व्यवस्था का वही स्वरूप प्रचलित था जो कि आजकल सामाजिक व्यवस्था का रूप अवश्य विद्यमान था। भारतवर्ष में उस पुरातन काल में वर्ण-व्यवस्था अवश्य थी लेकिन जन्म से न होकर गुण-कर्म पर आधारित थी। नेसफील्ड ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि कर्म के बल पर और कर्म की नींव पर भारतीय वर्णों की व्यवस्था हुई। पाश्चात्य विचारकों की चाहे जो धारणा हो, लेकिन यह निश्चित है कि यजुर्वेद और ब्राह्मण साहित्य के युग में वर्ण-व्यवस्था का विकास हो चुका था और 'वर्ण' शब्द का प्रयोग सामाजिक संस्था के अर्थ में किया जाने लगा था।

वैदिक काल के परवर्ती साहित्य में समाज को जाति विभाजित भी पाते हैं तथा अक्सर वर्ण एवम् जाति एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किए जाते रहे हैं जिससे ऐसा भ्रम हो जाता है कि वर्ण एवम् जाति एक ही व्यवस्था कें दो पर्यायवाची शब्द हैं और इनमें कोई अन्तर नहीं है परन्तु इन दोनों को एक दूसरे के पर्यायवाची शब्दों के रूप में लेना भ्रामक होगा अतः वर्णो या जातियों का वर्णन करने से पूर्व वर्ण और जाति से हमारा क्या अभिप्राय है और दोनों में क्या भिन्नता हे जानना आवश्यक हो जाता है।

## वर्ण एवम् जाति में अन्तर (Difference between Caste & Varna)

परम्परागत भारतीय समाज का अध्ययन करने का प्रयत्न यद्यपि *18*वीं शाखाओं (*disciplines*) से सम्बन्धित विद्वानों अर्थात समाजवेत्ता, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, धर्मवेत्ता, राजनीतिज्ञ तथा *Anthropoligists,* ने इसके बारे में काफी कुछ लिखा परन्तु सामाजिक पक्ष के इस पहलू अर्थात वर्ण एवम् जाति विभाजन पर गम्भीर अध्ययन कार्य कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हुआ।

प्राचीन हिन्दू समाज वर्ण विभाजित समाज था। पश्चिमी विद्वानों अर्थात मिशनरीयों तथा प्रशासनिक इतिहासकारों आदि ने ना केवल अपने अनुभावों का वर्णन किया है अपितु इसकी उत्पत्ति के कारण ढूढने का भी प्रयत्न किया है। जैसे नेसफिल्ड (*Nesfield*) के अनुसार जाति प्रथा की उत्पत्ति का मुख्य कारण **व्यवसायों का वंशानुगत विशेषीकरण है**। विभिन्न श्रेणियों का जातियों में स्तरीकरण हो गया जितना पुराना व्यवसाय था उतनी ही निम्न जाति व्यवस्था में उसका स्तरीकरण (ranking) हो गया। दूसरी तरफ **रिजले** (*Risley*) के अनुसार जाति विभाजन *race* (अर्थात आंख, नाक व चेहरे की बनावट) पर आधारित था सेनार्ट (*Senart*) भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण विभिन्न व्यवसायों को मानता है। उसके अनुसार वर्ण का अभिप्राय वर्ग से है जबकि कास्ट ( *Caste*) का अर्थ जाति से है। उसके अनुसार जाति तथा वर्ण मूलतः एक दूसरे से भिन्न थे परन्तु बाद में दोनों का प्रयोग एक रूप में ही होने लगा। तथा अपनी समाज में सर्वोच्चता कायम रखने के लिए ब्राह्मणों ने जाति रूपी कलम वर्ण पर चढा दी। परन्तु वर्ण व्यवस्था कभी, सेनार्ट के अनुसार, वास्तविकता नहीं रही और जाति व्यवस्था की उत्पत्ति

इन्डो यूरोपियन (*Indo-European*) की रक्त सम्बन्धी ग्रुपों (*Kin grouping*) में निहित है परन्तु बाद के समाजशास्त्रियों द्वारा सेनार्ट के इस मत की काफी आलोचना हुई।

भारतीय जाति व्यवस्था के एक अन्य विचारक ( *Celestin Bougle*) के अनुसार भी वर्ण व्यवस्था एक आदर्श के अतिरिक्त कुछ नही रही। जाति ही से जो कि तीन मौलिक सिद्धान्तों अर्थात वंशानुगतता, स्तरीकरण तथा एक ग्रुप का दूसरे ग्रुप से अलगाववाद पर आधारित थी, समाज का वास्तविक आधार थी। बोगले (*Bougle*) ने *18*वीं शताब्दी कृत्रिमतावादियों की आलोचना करते हुए कहा है कि उन्होंने हिन्दू सभ्यता पर धर्म की शक्ति पर अनावश्यक बल दिया है। इसके विपरित यदि हम सही रूप से हिन्दू समाज के ढाँचे के निर्माण में जिन शक्तियों का हाथ रहा उनका अध्ययन करना चाहते हैं तेा हमें आर्थिक जीवन का अध्ययन करना होगा। उसके अनुसार जातियों का स्तरीकरण उसके व्यवसाय की उपयोगिता पर निर्भर ना होकर उस जाति की पवित्रता या अपवित्रता पर निर्भर करता है। **केतकर** (*Ketkar*) भी जाति व्यवस्था की उत्पति के बारे में पवित्रता तथा अपवित्रता के विचार पर ही बल देता है। **इब्टसन** (*Ibbetson*) जाति की उत्पत्ति कबीलों से मानता है। *Hutton* के अनुसार यद्यपि जाति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों व मतों का इस विषय को समझने में महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं लेकिन ये सभी जाति प्रथा के कारणों की बजाय *phenomena* पर ही बल देते हैं और केवल **सरतचन्द्ररोय** (*S.R.Roy*) ने जाति प्रथा की उत्पत्ति में नैतिकता (*taboo*), मन तथा आत्मा के तत्वों के योगदान पर बल देता है। *Hutton* स्वयं इसकें विकास में ऐसे **15 तत्वों** जैसे कुछ शिल्पों से सम्बन्धित उनके *magical beliefs, ecological isolation* तथा *tribal concepts of taboos, mana, pollution ceremonial purity, beliefs in doctrine of Kerma etc.* महत्वपूर्ण योगदान पर बल देता है।

हटन प्रशासकीय विद्वानों (*administrator Scholars*) की परम्परा में अंतिम था तथा इसके जाति सम्बन्धी सिद्धान्त की *Social anthropologists* ने काफी आलोचना की। उनके अनुसार **हटन** ने जाति की परिभाषा देते हुए केवल *cultural behavioural traits* (सांस्कृतिक व्यवहारिक तत्वों) पर ही जोर दिया है और अन्य महत्वपूर्ण पक्षों को छुआ तक नहीं।

थोड़े से परिवर्तन के साथ रिजले की *racial theory* को आर. पी चंदा (*R.P. Chanda*), एन. के. दत्त (*N.K. Dutt*), डी. एन. मजूमदार (*D.N. Mazumdar*) तथा जी. एस. घुर्ये (*G.S. Ghurye*) न भी बल दिया। उनके अनुसार विजेता आर्यों ने यहां के मूल निवासियों से अपनी *racial* पवित्रता को बनाऐ रखने का प्रयत्न किया और घुर्ये (*Ghurye*) के अनुसार ऐसा करने के लिए ब्राह्मणों ने जाति प्रथा का विकास किया। लेकिन जैसा कि सुविराजायसवाल (*SuviraJayaswal*) व बी. एस. गुहा (*B.S. Guha*) का मत है कि शारीरिक अथवा नैन-नक्श की समता जाति की बजाय क्षेत्रियता के आधार पर अधिक सही बैठती है जैसा कि डी. एन. मजूमदार ( *D.N. Mazumdar*) ने कहा कि यू. पी में *ravial division* के आधार पर किसी भी जाति को नहीं जोड़ा जा सकता।

ट्राटमैन (*Trautman*) उनकी आलोचना करते हैं कि वर्ण को 'जाति' से जोड़ते हैं। इनके अनुसार वर्ण एक पवित्र सिद्धान्त है जो कि मध्य कालीन यूरोप के *'estate'* से जोड़ा जा सकता है क्योंकि 'वर्ग' अधिक *Objective* व *Scientific* शब्द है। इसकें अनुसार वर्ण दैविक रचना है परन्तु जाति उपजातियों में विभाजित की जा सकती हैं नई जातियां बनाई जा सकती हैं। **मैक्स वैबर** (*Max Weber*) के अनुसार भी वर्ण का अर्थ *'Status group'* अर्थात *'estate'* से था हांलाकि **वैबर** ने 'वर्ण' के लिए 'जाति' शब्द का प्रयोग बड़ी ही स्वतन्त्रता के साथ किया है। और इस ढंग से इसका प्रयोग लगभग सभी इतिहास की अच्छी पुस्तकों में अर्थात *Cambridge History of India (Vol. I) to the comprehensive History of India (Vol. II)* तक होता

रहा है। समाज शास्त्रीयों के अनुसार प्राचीन भारतीय समाज व संस्कृति का अध्ययन मुख्यतः प्राचीन संस्कृत रचनाओं पर आधारित है तथा वैदिक कालीन चर्तुवर्ण व्यवस्था से ही अनेकों जातियों का विकास हुआ है। उन्होंने **जाति तथा वर्ण** में अन्तर करने का प्रयत्न भी किया है उनके अनुसार जाति स्थानीय *level* पर *operate* करती है जबकि वर्ण सम्पूर्ण भारत में एक जैसा था। सैद्धांन्तिक तौर पर वर्ण कार्यो के आधार पर विभाजित था लेकिन जाति प्रथा का स्तरीकरण तुलनात्मक पवित्रता तथा अपवित्रता पर आधारित था।

यह सही है कि वर्ण एक विशाल *Category* है जिसमें कि विभिन्न जातियां, हांलाकि बड़े ही ढीले ढंग से *(in loose mannar)*, समाहित की जा सकती हैं। यद्यपि ट्राटमैन कें अनुसार संस्कृति साहित्य में वर्ण तथा जाति में बड़े ही *scruplously* अन्तर कर रखा है परन्तु इस साहित्य का यदि ध्यान से अध्ययन किया जाए तो सांराश कुछ ओर ही निकलता है। जैसे **अष्टाध्यायी** में जातियों के लिए दो स्थानों पर वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है तथा ब्राह्मण वर्ण के लिए जाति शब्द का प्रयोग किया गया है ब हतसंहिता में **जाति तथा वर्ण** शब्द का प्रयोग समाज के अध्ययन के पश्चात *Wagle* इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि *Jati was a concept which as wibed to status to birth : hence th text speak of excellent Jati and low Jatis.* कभी-*2* जाति शब्द का प्रयोग वर्ण के लिए भी किया गया है लेकिन अक्सर कबीलों जैसे चन्डाल जाति, वेम जाति, निषाद जाति के लिए किया गया है। *D.C.* सरकार के अनुसार इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार *Indo-Aryan* सामाजिक ढाँचे में विभिन्न कबीलों को शामिल किया गया।

**रोमिला थापर** के अनुसार *Caste* जाति व्यवहारिक पहलू है जबकि वर्ण सैद्धान्तिक पहलू। परन्तु **सुविराजायसवाल** के अनुसार इसकी पुष्टि के लिए प्रमाण प्राप्त नहीं है। जैसा कि **Wagle** ने कहा है कि *Pali* साहित्य में *Jati is not used to emphasise bonds of kinship bu to indicate Status position.* **वर्ण व जाति** में एक अधिक तर्क पूर्ण अन्तर *Dumout* ने किया है। उसके अनुसार वर्ण व्यवस्था व्यवसायों पर आधारित थी जबकि जाति व्यवस्था जाति की (*function*) तुलनातमक पवित्रता/अपवित्रता (*Relative Purity/Imputity*) पर बल है। जैसा कि सुवीराजायसवाल ने कहा है कि *notion of purity and impurity described as characteristic of the Jati system was infact further elaboration of Varna ideology reflecting a deterioration and hardening of class relations.*

इस प्रकार मोटे तौर पर वर्ण की संख्या चार है जातियाँ हजारों की संख्या में हैं कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जिन्हें किसी वर्ण में नहीं रखा जा सकता। वर्णों का उदय समाज में पहले हुआ जातियाँ बाद में आई। जाति के नियम कठोर हैं एक जाति के लोग रोटी-बेटी का सम्बन्ध सबसे नहीं करते। दूसरे वर्ण का व्यवसाय अपनाने पर भी जाति वही जन्म के आधार पर रहती है। वर्ण व्यवस्था आज सैद्धान्तिक ज्यादा है और जातियाँ वास्तविकता है, व्यवहारिक है।

## वर्ण-व्यवस्था के उद्भव से सम्बन्धित सिद्धान्त

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धित प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस व्यवस्था का विकास धीरे-धीरे हुआ जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से था। इसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त अनेक रूपों में विकसित होते गये जिनका विवेचन इस प्रकार है -

### 1. दैवी सिद्धान्त

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित सबसे पुरातन मत दैवी उत्पत्ति का है। वेद में विराट् पुरूष कें मुखबाहु आदि के द्वारा वर्णों के स जन की कथा मिलती है। सबसे प्राचीन वेद ऋग्वेद के 'पुरूष सूक्त' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की उत्पत्ति क्रमशः विराट् पुरूष के

मुख, बाहु, जंघा और पैर से हुई, ऐसा उल्लिखित है। पुरूष सूक्त में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि अन्य स ष्टि भी इसी विराट् पुरूष के द्वारा ही की गयी है। उल्लेखनीय है कि शरीर व्यवस्था में मुख, बाहु, जंघा और पैर के कार्य व स्थान भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कार्य और स्थान भिन्न-भिन्न हैं। मुख का स्थान सर्वोपरि है। समाज व्यवस्था में ब्राह्मण शीर्षस्थ हैं। जिस तरह मुख से बोलने का कार्य सम्पन्न होता है, उसी प्रकार ब्राह्मणों के कार्य मुख कार्य के सद श हैं। शिक्षा और विद्या प्रदान करने के साथ यज्ञों को कराना उनके मुख्य कार्य हैं। जिस प्रकार मुख के बाद स्थान बाहुओं का आता है और उनका कार्य शक्ति प्रदर्शित करने और शरीर की रक्षा करना है उसी तरह समाज में क्षत्रिय का स्थान ब्राह्मण के बाद है और समाज की रक्षा करना उसका परम् कर्तव्य है। बाहु के पश्चात् जंघा का स्थान है जिसका प्रतीकात्मक अर्थ पेट (उदर) से लिया गया है। पेट का कार्य खायी हुई समस्त सामग्री का पचाकर रक्तादि में परिवर्तित करके समस्त शरीर को पोषित करने का है। इसी कारण कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्य के कार्य हैं। शरीर में पैरों का स्थान सबसे निम्न है। पैर बिना किसी ईर्ष्या-द्वेष के समस्त शरीर की सेवा करते हैं। इसी तरह शूद्र भी समाज के तीनों वर्णों की सेवा में तल्लीन रहते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के स्थान व कार्य शरीर के जिन अंगों से वे उत्पन्न हुए हैं, उनके तुल्य हैं।

महाभारत के शन्तिपर्व में वर्ण-व्यवस्था के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स ष्टा के अंगों से भिन्न-भिन्न वर्णों के उत्पन्न होने का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मा जी के मुख से ब्राह्मण, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय तथा दोनों उरूओं से वैश्य की स ष्टि हुई। इन तीनों वर्णों की सेवा के लिये ब्रह्मा जी ने दोनों पैरों से शूद्र वर्ण की स ष्टि की। प थ्वी पर धर्म कोष की रक्षा, शासन और दण्ड धारण, धनधान्य द्वारा तीनों वर्णों की सेवा के लिये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति की दैवी कथा की एक झलक मनुस्म ति में भी मिलती है। मनु वर्णों की उत्पत्ति के प्रसंग में कहते हैं कि संसार की प्रगति और विकास के लिए मुख, बाहु, उरू और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय , वैश्य तथा शूद्र को बनाया गया।

पुराण भी वर्णों की उत्पत्ति से सम्बन्धित दैवी सिद्धान्तों का सहारा लेते हैं। कुर्म, मत्स्य, वायु, विष्णु और ब्रह्माण्ड आदि पुराण एक स्वर से चारों वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः मूल पुरूष चाहे वह ब्रह्मा हो, चाहे विष्णु या फिर वामदेव- के मुख, बाहु, उरू और पाद से ही मानते हैं।

उपरोक्त प्रसंगों के अतिरिक्त दैवी उत्पत्ति से मिलता जुलता एक अन्य प्रसंग हमें ब हदारण्यकोपनिषद् में मिलता है। इसके अनुसार दैवी वर्णों से पार्थिव संसार के वर्णों की उत्पत्ति हुई। इसमें उल्लेख हुआ है कि आरम्भ में ब्रह्मा ने केवल ब्राह्मणों को ही उत्पन्न किया। वह क्षत्रियादि पालनकर्ता से शून्य था। इसी कारण विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। तब उन्होंने इन्द्र, वरूण, सोम, रूद्र आदि देवताओं के प्रतिमान से क्षत्रिय की रचना की। वह भी विभूति कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ और समाज का कल्याण सम्भव न हो सका। अतएव उसने वसु, रूद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत के सहयोग से वैश्य की रचना की। फिर भी जब वह विभूतियुक्त कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ तो उसने पूषन् नामक देवता के सहयोग से शूद्र वर्ण की रचना की। इस तरह ब हदारण्यकोपनिषद् के अनुसार दैवी वर्णों से पार्थिव संसार को इन वर्णों की उत्पत्ति में सहयोग मिला। डॉ रानाडे के अनुसार 'मानवीय जगत का यह विभाजन दैवी जगत के ही आधार पर था।' इस प्रकार प्राचीन काल के हिन्दू समाज में दैवी वर्ण-व्यवस्था को परम्परागत रूप में स्वीकार किया गया।

### 2. गुण का सिद्धान्त

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति गुणात्मक सिद्धान्त के आधार पर भी स्वीकार की जाती है।

मनु ने तीन प्रकार के गुणों की चर्चा करते हुए वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप को गुणों के आधार पर स्वीकार किया। अपने गुणों के अनुरूप ही रहकर मनुष्य समाज के कार्य क्षेत्र में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए आगे बढता था। ये गुण ही समाज को चार भागों में विभाजित करते और गुण धर्म कहलाते थे। मोटे तौर पर तीन प्रकार के गुण निर्दिष्ट किये गये हैं- सत्व, रज और तम। ब्राह्मण का सत्व गुण, क्षत्रिय का रजोगुण, वैश्य का रजोगुण और शूद्र का तमोगुण माना जाता है। सत्वगुण धर्म का द्योतक है, रजागुण काम का और तमोगुण अर्थ का द्योतक है। सत्वगुण की तुलना में रजोगुण निम्न होता है। तमोगुण अज्ञान की स ष्टि करता है। वर्णों के सम्बन्ध में प्रथम वर्ण (ब्राह्मण) पुराकृत सत्वगुण का परिचायक है तथा उस वर्ण के व्यक्ति प्रारम्भिक सत्वगुण की वासना से युक्त होकर जन्म लेते हैं। द्वितीय और त तीय (क्षत्रिय और वैश्य) वर्ण पूर्णकृत रजोगुण के तारतम्य से शरीर धारण करते हैं तथा अन्तिम शूद्र वर्ण तमोगुण के कारण तदनुरूप शरीर प्राप्त करता है। इस तरह गुण के आधार पर वर्णोत्पति का आभास मिलता है।

### 3. रंग का सिद्धान्त

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर रंगों के आधार पर आर्य और दास की भिन्नता का उल्लेख मिलता है। वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक मत यह भी है कि इसका उद्भव रंग से हुआ था। महाभारत के शन्तिपर्व से ज्ञात होता है कि चारों वर्णों के चार अलग-अलग रंग थे। ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला था। इस ग्रन्थ में भ गु और भारद्वाज के संवाद द्वारा वर्णों की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। प्रारम्भ में केवल एक वर्ण था। कर्म-क्रिया के विभेद के आधार पर चारों वर्णों की स ष्टि हुई। जो ब्राह्मणोचित कर्मों को त्यागकर विषय भोग में आसक्ति रखने लगे तथा जो तीखे स्वभाव, क्रोध और साहस आदि से युक्त थे, जिनके शरीर का रंग लाल हो गया वे क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गए। जिन्होंने पशुपालन, खेती आदि की व त्ति को अपना लिया तथा जिनके रंग पीले पड़ गये थे वे वैश्य कहलाये। जो जीविका के लिए समस्त प्रकार के निन्दनीय कार्यों का अपनाने लगे, काले रंग से युक्त हो गए, शूद्रत्व को प्राप्त हो गए। चारों रंग चार गुणों के प्रतीक हैं अर्थात् श्वेत रंग सत्वगुण का, लोहित रजोगुण का, पीला रजो और तमों की मिश्रित अवस्था का एवं काला तमोगुण का। इस तरह चारों वर्णों का रंग प थक्-प थक् मानकर उनको गुणों की द ष्टि से विभाजित किया गया। चारों वर्णों के लिये अलग-अलग रंग निश्चित करके सदस्यों में एक दूसरे से विशिष्टता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। इस तरह रंगों और गुणों के तारतम्य से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई।

### 4. कर्म का सिद्धान्त

प्राचीन हिन्दू समाज में विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कर्म निर्धारित किये गये थे। किसी भी व्यक्ति के वर्ण को उसके कर्मों से जाना जा सकता था। गीता के इस वाक्य- 'चतुर्वर्ण्य मया स ष्टं गुण-कर्म विभागशः' से यह निश्चित है कि वर्ण का आधार कर्म है। द्रोणचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि कौरव की सेना के सेनापति थे और जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी अपने-अपने कर्मों से क्षत्रिय कहलाये। मुद्गल क्षत्रिय से उत्पन्न मुदगल परिवार के लोग ब्राह्मण बन गये। इससे स्पष्ट होता है कि वर्ण का आधार कर्म था। वशिष्ठ स्म ति में उल्लेख है कि- 'प्रकृति विशिष्टं चातुर्वर्ण्य संस्कार विशेषाच्च'। अर्थात् चातुर्वर्ण्य प्राकृतिक और जन्म सिद्ध है किन्तु इसकी उत्पत्ति संस्कार विशेष या कर्म विशेष से भी है। छान्दोग्योपनिषद् में भी उल्लेख मिलता है कि जो रमणीय अर्थात् शुभ कर्म करने वाले हैं, वे ब्राह्मण योनि में उत्पन्न होते हैं जो पापाचरण करने वाले हैं, वे कुत्ता, शूकर अथवा चाण्डाल की योनि में उत्पन्न होते हैं। प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि पूर्व जन्मों के कर्मों के परिणाम स्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न होते हैं। महात्मा बुद्ध भी कर्म को प्रधान मानते हुए स्वीकार करते थे कि मनुष्य का अगला जन्म

पिछले जन्म के कर्मों के ही आधार पर होता है। इस तरह वर्णों की उत्पत्ति में कर्म का विशेष योगदान रहा है।

### 5. जन्म का सिद्धान्त

प्रारम्भ में वर्ण का निर्धारण शील और व्यक्तिगत उपलब्धियों एवं प्रतिभा के आधार पर कर लिया जाता था, लेकिन बाद में वर्ण का आधार जन्म हो गया। वर्णों की उत्पत्ति जन्म से मानते हुए यह व्यवस्था दी गयी कि उच्च परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति, चाहे वह अज्ञानी ही क्यों न हो, श्रेष्ठ है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा गया है कि 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मण तेषाम् पूर्यः पूर्वा जन्मतः श्रयान।'' अर्थात ब्राह्मण परिवार में जन्म पाने वाला व्यक्ति अयोग्य होकर भी पूज्नीय है और चारों वर्णों में श्रेष्ठ है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण का आधार आनुवंशिक हो गया और जन्म के आधार पर चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाने लगे। द्रोणाचार्य का कर्म क्षत्रिय का था किन्तु जन्म से वे ब्राह्मण थे और ब्राह्मण माने गये। युधिष्ठिर सात्विक कर्म के लिये विख्यात थे लेकिन वे क्षत्रिय ही कहलाते थे। शुंग, कण्व, सातवाहन और वाकाटक वंशों के संस्थापक ब्राह्मण थे। क्षत्रिय कर्म करते हुए वे ब्राह्मण ही कहलाये, क्षत्रिय नही। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था जन्म के आधार पर संचालित थी।

जन्म से वर्ण निश्चय होने पर भी वर्णोचित सम्मान हेतु कर्म आवश्यक था। ब्राह्मण के यहाँ जन्म ले लेने पर कोई व्यक्ति ब्राह्मण जैसा सम्मान तभी पा सकेगा जब वह ब्राह्मणों के लिये निर्धारित किये गये कर्मों का करे। भागवत पुराण में इसीलिये कहा गया है कि जन्म के आधार पर नहीं वरन् कर्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता है। समस्त वर्णों के अपने-अपने कर्म निर्धारित थे जिन्हें वर्ण धर्म कहा गया है। समाज को सुचारू रूप से संचालित करने और व्यक्ति के विकास हेतु विभिन्न वर्णों के अधिकारों, कर्तव्यों, विशेषाधिकारों और धर्म का निरूपण किया गया। चारों वर्णों के वर्ण-धर्म का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है-

#### ब्राह्मण

देवों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान लेना ब्राह्मणों के विशिष्ट धर्म बताये गये हैं। अपने धार्मिक कार्यों के कारण यह वर्ग अत्यन्त सम्मानीय समझा जाता था। सत्य, मनोनिग्रह, तप, शैचाचार का पालन आदि उसके सनातन धर्म थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनेक स्थलों पर ब्रह्म 'प्रार्थना', 'मंत्र' या 'आध्यात्म-शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक अन्य स्थान पर उल्लेख मिलता है कि विश्वमित्र का यह 'ब्रह्म' भारत के जन समुदाय की रक्षा करता है। एक अन्य स्थल पर ब्राह्मणों को सोम पान करने और वार्षिक यज्ञ में मंत्र पाठ करने वाला बताया गया है। ऋग्वैदिक काल में प्रार्थना, मंत्रोच्चारण और याज्ञिक अनुष्ठानों का विशेष महत्व था। इन कार्यों को सम्पादित करने वाले वर्ग को उच्चता प्राप्त थी। ऋग्वेद में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर ब्राह्मणों को जन्म-जात माना जा सके। कर्म के आधार पर ही उन्हें ब्राह्मण कहलाने का अधिकार प्राप्त था।

उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों का सम्मान काफी बढ़ गया था। वह प थ्वी पर प्रत्यक्ष देवता समझा जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि उसमें समस्त देवताओं का निवास है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है जन्म से नहीं। ब्राह्मणों के कार्य क्षेत्र में वेदों के पठन-पाठन, यज्ञादि का सम्पादन, धर्म अनुष्ठान तथा राजा को मंत्रणा देना था। तपस्वी और त्यागी पूर्ण जीवन के कारण वे श्रद्धा और आदर के पात्र थे।

सूत्र युग में ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। गौतम के अनुसार राजा अन्य वर्गों का शासक है, परन्तु ब्राह्मण वर्ण का नहीं। उसे किसी प्रकार शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता। ब्राह्मण की जीविका के तीन प्रमुख साधन बताये गये हैं- अध्यापन, याजन और

प्रतिग्रह। ऐसी व्यवस्था थी कि यदि इन साधनों से कोई ब्राह्मण अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह करने में असमर्थ हो तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य का भी व्यवसाय कर सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन समाज में अपने कार्य के अलावा अन्य व्यवसाय करने वाले ब्राह्मण थे। कुछ उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जीविका के अन्य साधन न होने के कारण ब्राह्मण शूद्र कर्म भी करते थे।

बौद्ध युग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर आघात लगा था। बुद्ध कर्म से ही किसी को ब्राह्मण मानने को तैयार थे। विद्वान् ब्राह्मण के लिये यह आवश्यक था कि वह तीनों वेद, इतिहास, व्याकरण आदि का ज्ञाता हो। जातकों में ब्राह्मण कृषि के साथ पशुपालन, आखेट, कर संग्रह करने वाले, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्यों को करते हुए दिखाये गये हैं।

रामायण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वेदों में पारगंत होते थे। उन्हें शास्त्रों में भी निपुण बताया गया है। महाभारत में भीष्म ने स्वकर्म से जीविका चलाना, यज्ञ और समस्त प्राणियों से मैत्री आदि का विधान ब्राह्मणों के लिये विशेष रूप से किया है। जिस ब्राह्मण में स्वाध्याय और तप नहीं होता वह दानादि ग्रहण करने के योग्य नहीं है। उसमें शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान और विज्ञान का होना आवश्यक बताया गया है। महाभारत के प्रसंगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्भवतः उद्यमविहीन और चरित्रविहीन ब्राह्मण अत्यन्त ही निम्नकोटि के कार्यों में सलंग्न रहते थे।

मनुस्म ति में ब्राह्मण का कार्य ज्ञान का प्रसार एवं शान्ति स्थापना बताया गया है। पढ़ना, पढाना, यज्ञ करना और कराना, दान देना और लेना ब्राह्मण के छः कर्तव्य बताये गये हैं। वर्णानुक्रम में उनका उच्चतम स्थान था और वे समाज की विचार शक्ति और मस्तिष्क थे। याज्ञवल्क्य ने उन्हें सम्पूर्ण स ष्टि का स्वामी और विष्णु ने प थ्वी पर प्रत्यक्ष देवता कहा है। कुछ अपराधों में ब्राह्मण अन्य वर्णों की तुलना में कम दण्डनीय थे। उदाहरणार्थ, यदि ब्राह्मण निम्न तीन वर्णों को कटु वचन कहे तो क्रमशः पचास, पचीस और बारह कार्षापण, वैश्यों को एक सौ पचास या दो सौ कार्षापण और शूद्रों को शारीरिक दण्ड भोगना पड़ता था। विष्णु और नारद ने तो ब्राह्मणों को शारीरिक दण्ड न देने की घोषणा की है।

पुराणों से भी हमें ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जो सूचना मिलती है उससे ज्ञात होता है कि समाज में उनकी सर्वोच्चता पहले जैसी थी। श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को निमन्त्रित करने की प्राचीन परम्परा का उल्लेख मिलता है। उन्हें वेद और शास्त्र का प्रवर्तक बताया गया है। यह कहा गया है कि एक ही परमेश्वर के शरीर से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई, परन्तु सबके धर्म और शौचाचार अलग-अलग हैं और ब्राह्मण उन समस्त वर्णों में श्रेष्ठ है।

मार्कण्डेय पुराण ने अवरूद्ध मार्ग पर गमन में ब्राह्मणों को राजा की अपेक्षा प्राथमिकता दी है। यह तर्क दिया गया कि सर्प एक को ही डँसता है, शस्त्र से भी एक ही व्यक्ति का वध होता है, परन्तु क्रोध में भरा हुआ ब्राह्मण समस्त राष्ट्र और नगर का भी नाश कर सकता है। जहाँ एक ओर चन्द्रा और ब्राह्मण में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण को रूद्र का शरीर बताया गया है।

साहित्यिक साक्ष्यों के अलावा कुछ अभिलेखिय साक्ष्य भी ब्राह्मणों की स्थिति पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा पाषाण शिवलिंग अभिलेख में ब्राह्मणों को स्वाध्यायी, तपस्वी, भाष्य और प्रवचन में पारंगत बताया गया है। इसी तरह कुमारगुप्त प्रथम और बन्धुवर्मन कें मंदसोर शिलालेख में दशपुर के स्वाध्यायी, विनयी और तपस्वी ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है। बुधगुप्तकाल के एरण पाषाण स्तम्भ लेख में ब्राह्मण इन्द्र विष्णु के लिये अपने कार्य में रत, यज्ञकर्ता वेदाध्येता जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

भारत में आने वाले अरब लेखकों ने भी ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का उल्लेख किया है। अबूजैद सराफी का कथन है कि 'भारत के ब्राह्मण कवि भी हैं, राजाओं के दरबार में रहने वाले हैं, ज्योतिष दार्शनिक फल विचारने वाले एवं इन्द्रजाल जानने वाले होते हैं।' दसवीं सदी का लेखक अलमसूदी भी हिन्दू जाति में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ बताता है और परवर्ती लेखक लअइदरीसी भी इसी तरह के विचार व्यक्त करता है।

## ब्राह्मणों के विशेषाधिकार

हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की स्थिति अन्य वर्णों की तुलना में श्रेष्ठ थी और उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के विकास में उनका विशेष योगदान था। उनका कार्य ज्ञान का प्रसार करना और समाज का पथ प्रर्दशन करना था। इन्हीं कारणों से उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये गये-

1. पतंजलि, मनु आदि के अनुसार ब्राह्मणों का परमधर्म वेदाध्ययन करना था। उन्होंने वेदाध ययन को जारी रखकर वैदिक साहित्य को जीवित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। ब्राह्मण जन्म से ही सभी वर्णों का गुरू माना जाता था। सम्भवतः ब्राह्मणों की योग्यता एवं विद्वता के कारण ही उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया।
2. हवन और यज्ञ सम्पादित करवाना ब्राह्मणों का पैत क अधिकार था। श्राद्ध एवं दैवकार्य में कुछ विशिष्ट ब्राह्मण ही आमंत्रित किये जाते थे। दैवज्ञ ब्राह्मण श्राद्धभोज में अग्रभुक, पंक्तिपावन और पूजित था।
3. उत्पातों की शान्ति हेतु उत्पात युक्त सम्पूर्ण क्षेत्र का दान कर देने की बात का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों को दी गयी दक्षिणा विपत्तियों की अनिष्टता को दूर करने में सक्षम है। विहित विधि द्वारा ब्राह्मणों को दिया गया दान दानकर्ता की मनोकामना को अवश्य पूरा करता है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि केवल श्रोत्रिय ब्राह्मण ही प्रतिग्रह का पात्र होता था।
4. मुकदमे में ब्राह्मण को कभी भी गवाह के लिये न बुलाने की बात कही गयी है। नारद ने इस सम्बन्ध में व्यवस्था दी है कि श्रोत्रिय ब्राह्मण को साक्ष्य के लिये नहीं बुलाया जा सकता है।
5. ब्राह्मणों को गुप्तधन के सन्दर्भ में भी विशेष सुविधा प्राप्त थी। याज्ञवल्क्य और विष्णु के अनुसार विद्वान ब्राह्मण को कहीं से गुप्तधन प्राप्त होने पर वह उसे ले सकता था। राजा स्वयं गुप्तनिधि से प्राप्त आधा भाग ब्राह्मणों को प्रदान करता था। इस तरह अन्य वर्णों को प्राप्त गुप्तधन राज्य को देना पड़ता था, वहीं ब्राह्मणों को इस सम्दर्भ में विशेषाधिकार प्राप्त था कि वह उसे अपने पास रख सकते थे।
6. न्याय प्रशासन के अन्तर्गत भी ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे। अन्य वर्णों की तुलना में उन्हें कम दण्ड मिलता था उदाहरणार्थ यदि कोई शूद्र ब्राह्मण को अपशब्द कहता था तो उसे *100* पण का जुर्माना अदा करना पड़ता था और यदि यह गलती ब्राह्मण द्वारा की जाती थी तो उसे केवल *12* पण का जुर्माना देने का प्रावधान था।
7. न्यायिक प्रशासन में राजा को सहायता देने का विशेषाधिकार ब्राह्मणों को मिला हुआ था। यह व्यवस्था की गयी थी कि स्वयं विवादों का निर्णय न कर पाने क स्थिति में राजा उस कार्य के लिए ब्राह्मणों की नियुक्ति करे जो न्यायालय के अन्य सदस्यों के साथ विवादों का निर्णय करता था।
8. ब्राह्मण का शरीर परम् पवित्र माना जाता था एवं ब्रह्म हत्या की गणना पांच महापातकों

में की गयी है। परन्तु आततायी ब्राह्मण को मारना पाप नहीं समझा जाता था।

9. श्रोत्रिय अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मण कर से मुक्त होते थे परन्तु अश्रोत्रिय ब्राह्मण कर मुक्त नहीं थे। राजा किसी भी व्यक्ति से सम्पत्ति का *1/6* भाग ले सकता था किन्तु ब्राह्मण से नहीं ले सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल श्रोत्रिय ब्राह्मण ही कर से मुक्त होते थे। अन्य ब्राह्मणों को कर देना पड़ता था।

10. उन व्यक्तियों की सम्पत्ति राजा की हो जाती थी जो सन्तानरहित होते थे। किन्तु ब्राह्मण यदि अपने पीछे सम्पत्ति छोड़कर मरता था तो उसका उत्तराधिकारी उसका सम्बन्धी और इसके भी अभाव में उसके शिष्य होते थे।

इस तरह ब्राह्मणों को अनेक सुविधायें और विशेषाधिकार मिले हुए थे। उन्हें न केवल अपने आर्थिक जीवन को सुचारू रूप से संचालित करने हेतु अनेक सुविधायें राज्य की ओर से मिली हुई थी वरन् उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी सर्वोच्च थी और अपने विशष्ट कार्यों को करने के कारण उन्हें समाज का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता था और प थ्वी पर देव तुल्य माना जाता था। वे धर्म की रक्षा करने में समर्थ थे और उनका मान सर्वत्र था। कुछ कार्यों पर उसका एकाधिकार समझा जाता था और राज्य का बौद्धिक उत्कर्ष उसी के प्रयास का परिणाम होता था। अपने विशेषाधिकार के कारण ही उनकी स्थिति अन्य वर्णों की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ थी।

## क्षत्रिय

समाज की रक्षा के लिए जो वर्ग सामने आता था, उसे क्षत्रिय कहा जाता था। शूर, आत्मसंयमी, दुष्टों का दमन करने में समर्थ, लोक की रक्षा करने में चतुर व्यक्ति अथवा वर्ग को क्षत्रिय कहा गया है। शस्त्रास्त्र धारण करना ही उसकी जीविका है। उसका कर्म यह बतलाता है प्रजा रक्षण ही उसका परम् कर्त्तव्य है। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में क्षत्रिय के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह वर्ग जन्मजात न होकर कर्ममूलक था।

ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वेद और ब्राह्मण का रक्षक होता था। कुछ उद्धरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि इस काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सामाजिक प्रतिष्ठा को लेकर प्रतिस्पर्धा चल रही थी। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ और दूसरे स्थान पर ब्राह्मण को क्षत्रिय से श्रेष्ठ कहा गया है। राजनैतिक प्रभुता के कारण क्षत्रियों को अपने पद का काफी गर्व था। यह माना जाता था कि यदि ब्राह्मणों के पास आध्यात्मिक क्षमता है तो क्षत्रियों के पास प्रशासनिक।

सूत्र युग में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। गौतम के अनुसार राजा और विद्वान दोनों संसार में धर्म की रक्षा करते हैं। इसका प्रधान धर्म चातुर्वर्णों की रक्षा करना था। ऐसा प्रतीत होता है समाज में क्षत्रिय आचार्य भी थे। आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी है कि आपद्काल में ब्राह्मण क्षत्रिय से विद्याध्ययन कर सकता है। क्षत्रिय का स्थान समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए भी उन्हें ब्राह्मणों की तुलना में अधिक दण्ड मिलता था। गौतम का मत है कि जहाँ तक कर लेने का प्रश्न है, राजा सभी से कर लेता था लेकिन ब्राह्मणों से नहीं।

बौद्ध काल में ब्राह्मणों के विरूद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप क्षत्रियों का स्थान सर्वप्रमुख रहा। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। इसका भी प्रभाव क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति पर पड़ा। बुद्ध ने स्वयं क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ कहा था। बुद्ध का काल धार्मिक क्रान्ति का था जिसमें वैदिक यज्ञों और पुरोहित वर्ग का कोई महत्व न था। इसके परिणाम ब्राह्मणों की स्थिति में परिवर्तन हुआ। क्षत्रियों ने अपने को समाज और राज्य की रक्षा के साथ शिक्षा से भी सम्बद्ध करके ब्राह्मणों से अपनी सर्वोच्चता का दावा किया।

महाकाव्य काल में इस बात के प्रयाय किये गये कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में किसी प्रकार की प्रतिद्वन्दिता न रहे। यही कारण था कि एक को राज्य का मस्तिष्क माना तो दूसरे को उसकी भुजा। रामायण में क्षत्रियों का प्रधान कर्तव्य दान देना, यज्ञ में दीक्षा लेना और युद्ध में शरीर को त्यागना था। महाभारत में क्षत्रियों के कर्म एवं अधिकारों पर विचार करते हुए कहा गया है कि उनका प्रथम धर्म प्रजारक्षण पालन है। उन्हें भी ब्राह्मणों की भांति अध्यापन का अधिकार था। परन्तु रामायण के उद्धरणों से स्पष्ट होता हे कि उन्हें अध्यापन अथवा याजन का अधिकार नहीं था।

गीता में भी क्षत्रियों के कर्मों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना दान देना-यह सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

कौटिल्य के अनुसार 'क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्रजीवो भूतरक्षणं च' अर्थात् अध्ययन, याजन, शस्त्र जीविका तथा भूतरक्षण क्षत्रिय के प्रधान कर्म हैं।

स्म तियों में भी क्षत्रियों का प्रमुख कार्य प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ और अध्ययन बताया गया है। यह कहा गया है कि प्रजा का संरक्षण ही उसका परम् धर्म था। शस्त्र धारण करने पर उसके दो प्रकार के कर्त्तव्य हो जाते हैं- प्रजा की रक्षा करना तथा शत्रुओं की सेनाओं का दमन करके धर्मानुसार प्रजा का भरण पोषण करना।

पुराणों में क्षत्रियों के प्रधान कर्म के रूप में प्रजा-रक्षण का ही विधान मिलता है। क्षत्रियों के अध्ययनशील प्रव ति के अनेक उदाहरणों का भी उल्लेख हुआ है। वायु पुराण के अनुसार राजा वसु ने यज्ञ विषयक विवाद के समझौते के लिये महर्षियों को परामर्श दिया था। विष्णु पुराण राजा धन्वन्तरि के आयुर्वेद को आठ भागों में विभक्त करने के वरदान का उल्लेख करता है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराण में राजा ब्रहदश्व के पुत्रों को सभी विद्याओं में निष्णात होने की कथा का उल्लेख मिलता है।

वायु, कुर्म, विष्णु एवं ब्रह्माण्ड पुराण युद्ध में पलायित न होन वाले क्षत्रिय के लिए इन्द्रलोक की प्राप्ति का फल बताते हैं। मत्स्य पुराण में कुलीन और शक्ति सम्पन्न क्षत्रियों को धनुर्विद्या तथा हस्ति एवं अश्व शिक्षा में प्रवीण होने के अलावा व्यूह-रचना में भी कुशल होना आवश्यक बताया गया है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों कें अनुसार क्षत्रिय लोग तो भगवान शिव की आराधन इसलिये करते हैं कि उन्हें युद्ध भूमि में विजय का लाभ हो। इस तरह शौर्य प्रदर्शन, युद्ध कौशल, अध्ययन, दान आदि क्षत्रियों के प्रधान गुण थे और इन्हीं प्रधान गुणों के रूप में उन्हें मान्यता प्राप्त थी।

क्षत्रिय वर्ण में चार स्तर द ष्टिगोचर होते हैं। प्रथम, वे क्षत्रिय जो सूर्य और चन्द्रवंशों से सम्बन्ध रखते हुए अपने शौर्य से युद्ध और शासन कार्य में तल्लीन रहते थे। द्वितीय वे क्षत्रिय जो केवल सैनिक कार्य करने वाल थे, शासन कार्य उनके हाथों में नहीं होता था। त तीय, प्रकार के वे क्षत्रिय होते थे जो युद्ध और शासन कार्यों को छोड़कर व्यापार आदि के द्वारा जीवनयापन करने लगे थे। क्षत्रियों का अन्तिम स्तर आचारच्युत क्षत्रियों का माना जा सकता है जिनके प्रति शूद्र का सा द ष्टिकोण अपनाया गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में द्रविड़, मेकलों, पौण्ड्रों, किरातों और यवनों आदि की गणना ऐसे ही क्षत्रियों में की गयी है।

## वैश्य

वर्ण-व्यवस्था के क्रम में तीसरा स्थान वैश्य का था। इनका उल्लेख ऋग्वेद के पुरूष सूक्त से हुआ है। इस सूक्त के अलावा शेष ग्रन्थों में 'विश' शब्द ही मिलता है। इसका सामान्य अर्थ 'समूह' होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द ब्राह्मणों, क्षत्रियों और शूद्र के अलावा समस्त जन साधारण के लिये प्रयोग हुआ है। कालान्तर में यह 'विश' वैश्य हो गया। इस वर्ग

के लोग कृषि, व्यापार, वाणिज्य कार्यों में रत थे और देश की आर्थिक व्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण स्थान था।

उत्तर वैदिक काल के साहित्य में वैश्य शब्द प्रयोग हुआ है। इस काल के साहित्य में इस वर्ण को 'अन्यस्य बलिकृत' कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस वर्ण का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के बाद ही था। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि इन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। राज्यों की आय का स्रोत यही वर्ण था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्य समुदाय का प्रमुख कार्य पशुपालन और अन्नोत्पति करना है। यद्यपि इस वर्ण को अपेक्षाकृत कम अधिकार प्राप्त थे लेकिन अपनी धनसम्पन्नता के कारण इनका उचित सम्मान था। ऐतरेय ब्राह्मण में भी उनकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। दैवकार्य अथवा याज्ञिक कर्मों में इस वर्ण का सहयोग आवश्यक बताया गया है।

सूत्र काल में वैश्य वर्ग को अध्ययन, यज्ञ और दान का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैश्यों में कुछ लोग अध्ययन के कार्य में लगे थे। व्यवहार में अधिकांश वैश्य कृषि और वाणिज्य के कार्य में ही संलग्न थे। बौधायन के अनुसार वेदाध्ययन और कृषि परस्पर विरोधी कार्य हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि वैश्य का मुख्य कार्य कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और कुसीद ही था।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि धन की प्राप्ति हेतु समयानुकूल विविध कर्मों को अपनाने के कारण समाज के तीसरे वर्ण को 'वैश्य' की संज्ञा दी गयी। वैश्यों को ग हपति, वणिक और महाशाल भी कहा गया है। इस युग में एक ओर जहाँ श्रेष्ठी और सार्थवाह जैसे धनी वैश्य थे, वहीं छोटे-छोटे व्यवसाय व व्यापार करने वाले वैश्यों की भी सत्ता थी। विभिन्न वाणिज्य कार्यों को अपनाने के कारण उन्हीं के अनरूप उन्हें काष्ठ वाणिज, फल वाणिज, त ण वाणिज, स्तंब वाणिज (अनाज का व्यापारी), शकर वाणिज और मूल वाणिज कहा गया है।

महाभारत में उल्लेख मिलता है कि कृषि कर्म और गो-पालन करने वाला वर्ण वैश्य था। सबसे अधिक धनी होने के कारण सर्वाधिक कर इसी वर्ण द्वारा दिया जाता था। यह वर्ण यज्ञों में भाग लेने के अलावा वेदाध्ययन और क्रय-विक्रय भी करते थे। दान, अध्ययन, यज्ञ तथा शुद्धातापूर्वक धन संचय वैश्यों का सामान्य कर्म कहा गया है।

गीता में वैश्यों के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य - ये तीनों वैश्यों के कर्म हैं।

स्म तियों में भी वैश्यों के कर्मों का उल्लेख मिलता है। मनुस्म ति के अनुसार वैश्यों का प्रमुख कर्म पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन, व्यापार एवं ब्याज द्वारा धनोपार्जन करना कहा गया है। अन्यत्र एक स्थान पर मनु ने व्यापार, पशुपालन और कृषि कर्म को वैश्य वर्ण का तप माना है। इसी तरह याज्ञवल्क्य वैश्यों के सामान्य कर्म के अर्न्तगत एक ओर यज्ञ, अध्ययन एवं दान की गणना करते हैं, वहीं कृषि, वाणिज्य और पशुपालना को भी उनके कर्मों में गिनते हैं, विष्णु स्म ति में यज्ञ और अध्ययन के अलावा पशुपालन को वैश्यों का कर्म बताया गया है। ब हस्पति स्म ति में वाणिज्य और पशुपालन को वैश्यों का कर्म स्वीकार किया गया है। पराशर ने ब्याज लेना, रत्नों का विक्रय, गोपालन, कृषि और व्यापार को वैश्यों के प्रमुख कायो ं में गिना है।

पुराणों से भी वैश्यों के सन्दर्भ में जानकारी मिलती है। वायु और कूर्म पुराणों में दान, अध्ययन, यज्ञ को ही वैश्यों का सामान्य कर्म बताया गया है। एक अन्य स्थल पर वायु पुराण का कथन है कि ब्रह्मा ने पशुपालन, कृषि और व्यापार का भार वैश्यों को सौंपा। इसी प्रकार कूर्म पुराण में कृषि को वैश्यों का प्रशस्त कर्म कहा गया है। विष्णु पुराण के अनुसार लोक पितामह ब्रह्मा द्वारा पशुपालन, वाणिज्य और कृषि वैश्यों को जीविका के रूप में प्रदान की गयी। वैश्य का वध करना नरक का भागीदार होना था। वायु पुराण इस वर्ण की हत्या करने पर दुर्गति प्राप्त

करने का उल्लेख करता है। विष्णु पुराण में उल्लेख मिलता है वैश्य का वध करने वाला व्यक्ति ताल नामक नरक का भागी होता है। इस तरह पुराणों में वैश्य की हत्या पर प्रायश्चित का विधान है।

वैश्यों के लिये प्रायः श्रेष्ठि, सार्थवाह, वणिक्, वणिजक्, वणिज्, अर्थपति आदि शब्दों का प्रयोग परवर्ती साहित्य में हुआ है। कुमारगुप्त प्रथम कालीन दामोदरपुर ताम्रमत्र लेख में धतिपाल नामक नगर श्रेष्ठि और बन्धुमित्र नामक सार्थवाह का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त का सुपिया पाषाण स्तम्भ लेख कैवर्ति श्रेष्ठिन् और उसके पुत्र हरि श्रेष्ठिन् का उल्लेख करता है।

वैश्यों वर्ण में सर्वोच्च स्थान उन लोगों को प्राप्त था जो नगरों आदि व्यापारिक केन्द्रों में रहकर अपनी जीविका का अर्जन करते थे। द्वितीय प्रकार के वैश्यों में वे लोग थे जो कृषि और पशुपालन का कार्य करते थे। तत्तीय प्रकार के वे वैश्य थे जो आश्रित कृषक् और वैतनिक के रूप में कार्य करते थे। चतुर्थ प्रकार के वे वैश्य थे जो शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित निषिद्ध वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। वैश्यों द्वारा विक्रय के अयोग्य वस्तुओं में सुरा, मांस, क्षीर, गन्ध, रस, लाख और तिल की गणना की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के काल में वैश्यों का प्रमुख कार्य कृषि और वाणिज्य हो गया था और अध्ययन कार्य से विमुख हो गये थे।

## शुद्र कौन थे, उनकी उत्पत्ति एवम् सामाजिक स्थिति (Origin and Social condition of Sudras) :

सर्वप्रथम *1847* में रौथ ने यह संकेत किया था कि शुद्र आर्यो के समाज से बाहर के रहे हैं। उस समय से सामान्यतया यह विचारधारा चली आ रही है कि ब्राह्मणकालीन चौथा वर्ण आर्येत्तर लोगों का था तथा उनकी ऐसी स्थिति आर्य विजेताओं ने बना रखी थी। सेनार्ट, घुर्ये तथा आर. सी भंडारकर आदि इसी मत के हैं।

परन्तु जैसा कि आर. एस. शर्मा *(R.S. Sharma)* ने कहा है कि यह मत भी उतना ही एकांगी तथा पक्षतापूर्ण लगता है जितना कि यह समझना कि इस वर्ण में मुख्यतः आर्य ही थे। वास्तविकता यह है कि आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के कारण आर्य और आर्येतर दोनों ही प्रकार की जनजातियों से इनका उदभव हुआ। हमें ऋग्वेद व वैदिक साहित्यों से बहुत से ऐसे वर्णन मिलते हैं जो ना केवल आर्यों के यहां के मूल निवासी अर्थात बाहरी संघर्ष की पुष्टि करते हैं अपितु आर्यो अर्थात आन्तरिक संघर्ष की भी पुष्टि होती है। अतः आंतरिक व बाहरी संघर्षो के कारण आर्य या आर्य पूर्व लोगों की स्थिति ऐसी हो गई। चूंकि संघर्ष मुख्यतयाः मवेशी के स्वामित्व को लेकर और बाद में भूमि को लेकर होता था अतः जिनसे ये वस्तुएं छीन ली गई जाती थी तथा अशक्त व निस्सहाय हो जाते थे, वे नए समाज में चतुर्थ वर्ण कहलाने लगते थे। फिर जिन परिवारों के पास इतने मवेशी हो गए और इतनी अधिक जमीन हो गई कि वे स्वयं संभाल नहीं पाते थे, तो उन्हें मजदूरों की आवश्यकता हुई और वैदिक काल के अन्त में ये शुद्र कहलाने लगे। साधारण तथा मान्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है (जैसे लैटमेन के अनुसार) कि वर्ग विभाजन बराबर संजातिय असमानताओं से मूलतया संबंद्ध होता है किन्तु जैसा कि आर. एस. शर्मा ने कहा है कि इस सिद्धान्त से शुद्रों और दासों की उत्पत्ति आंशिक प्रकाश ही पड़ता है। बहुत संभव है कि दासों और शुद्रों का नाम क्रमशः इन्हीं नामों की जनजातियों के आधार पर रखा गया है। जो भारतीय आर्यो के निकट संपर्क में रही हों। लेकिन कालक्रम से आर्यपूर्व आबादी के लोग व विपिन्न आर्य भी इन वर्गो में शामिल हो गए होंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि तीन उच्च वर्णो की सेवा करने वाले सामाजिक वर्ग के रूप में शूद्रों का सर्वप्रथम उल्लेख कब किया गया है? और इस वर्ण का शुद्र वर्ण नाम कैसे पड़ा। समाज के वर्ग के रूप में शुद्र का प्रथम और एकमात्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में आया है

जिसकी पुनराव ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में हुई है। इसी भाग के अन्य दो परिच्छेदों में भी चारों वर्णों का संकेत किया गया है परन्तु इससे पूर्व केवल एक प्रसंग आया है जिसे **व्हिटन** के अनुसार अथर्ववेद के प्रारम्भिक काल का कहा जा सकता है। किन्तु इसमें ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य का उल्लेख तो हुआ है परन्तु शुद्र को छोड़ दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद काल के अन्त में ही शुद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में चित्रित किया गया है। इसी अवधि में उनकी उत्पत्ति के संबंध में उल्लिख्ति उक्ति का समावेश ऋग्वेद के दशम मंडल में किया गया होगा जैसा कि आर. एस. शर्मा का मत है।

जैसे यूरोपियन शब्द *Slave* और संस्कृत शब्द 'दास' विजित जनों के नाम पर बने थे उसी प्रकार शुद्र शब्द उक्त नामधारी पराजित जनजाति के नाम पर बना था ईसा पूर्व *4* शताब्दी में शुद्र नाम की जनजाति थी। डियोडोरस के अनुसार सिकन्दर ने सोद्रई नाम की जनजाति पर हमला किया। *10*वीं शताब्दी की शुद्र जाति व *4* शताब्दी की शुद्र जनजाति में, आर. एस. शर्मा कें अनुसार साम्य देखा जा सकता है।

शुद्र एक जनजाति थी इसकी पुष्टि अथर्ववेद के आरंभिक भाग में आये तीन उल्लेखों से भी हो जाती है **व्हिटेन के अनुसार** ये अथर्ववेद के प्रथम खंड में आते हें इनमें से दो संदर्भो में पुजारी चाहता है कि हर किसी को, चाहे आर्य हो या शुद्र, जड़ी-बूटी की सहायता से परखे। यहां आर्य और शुद्र दो जनजातियों के प्रतीक हैं।

एक अन्य प्रश्न जो उभरकर आता है कि वह यह कि ये शुद्र आर्य थे या आर्यो के आगमन के पहले की जनजाति थी? और यदि वे आर्य थे तो भारत में कब आए? यद्यपि निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन परन्तु प्राप्त प्रमाणों से ऐसा आभास होता है कि वे जैसा कि **वेबर** ने कहा है, भारत में आने वाले आर्यो के किसी आरम्भ के दल के लोग थे। किंतु चूंकि ऋग्वेद में उनका उल्लेख नहीं हुआ है इसलिए संभव है कि शूद्र उन विदेशी जनजातियों में से थे जो कि ऋग्वेद काल का अन्त होते होते उत्तर पश्चिमी भारत में आई। *Stuart Piggot* के अनुसार पुरातात्विक प्रमाणों से स्पष्ट है कि *2000* ई.पू. के पश्चात हजार वर्षों तक लोगों का भारत में आना जारी रहा। अतएव संभवतः शुद्र ई.पू. दूसरे सहस्त्राब्द के अन्त में भारत आए जबकि उन्हें वैदिककालीन आर्यो ने पराजित किया और वैदिक काल के उत्तरवर्ती समाज ने उन्हें चतुर्थ वर्ण के रूप में अपनाया। यही कारण है कि परवर्ती वैदिक समाज में भी उनके अनेक जनजातिय अधिकार, खासकर धार्मिक अधिकार बन रहे। उत्पत्ति के समय शूद्रवर्ण की स्थिति दयनीय और उपेक्षित थी, यह बात ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णित समाज के चित्रण से शायद ही सिद्ध होती है। इन संहिताओं में कहीं भी न तो दास और आर्य के बीच और न शुद्र व उच्चवर्ण के बीच वैवाहिक प्रतिबन्ध का प्रमाण मिलता है। हांलाकि *N.N.Ghosh* के अनुसार ऋग्वेद काल में इस प्रकार का प्रतिबन्ध रहा है। परन्तु इस मत का कोई आधार नजर नहीं आता। वर्णों के बीच सामाजिक भेदभाव बताने वाला एकमात्र पूर्वकालीन संदर्भ **अथर्ववेद** में पाया जाता है जिसमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण को राजन्य और वैश्य की तुलना में किसी नारी का पहला पति बनने का अधिकार है और कई स्थानों पर ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों की चर्चा है परन्तु कहीं भी शुद्र की चर्चा नहीं मिलती। इसका भी कोई आधार नहीं उस समय दास और शुद्र अपवित्र समझे जाते थे। अपवित्रता का सारा ढकोसला बाद में खड़ा किया गया जब समाज कृषि प्रधान बन गया और वर्णो में बंट गया तथा ऊपर के वर्ण अपने लिए तरह-*2* की सुविधाएं और विशेषाधि ाकार मांगने लगे। प्रारम्भ (आदि वैदिक काल) में जिस प्रकार शुद्र को भी भारतीय राज्यव्यवस्था की निर्माणावस्था मं राजकाज में, रत्नों की सूची में रहकर (इसमें सभी वर्ण के लोग थे), हाथ बंटाने का मौका मिला, पासे का खेल जो कि राजसूय यज्ञ में एक तरह के धार्मिक कृत्य के रूप में विहित है, इसमें भी हिस्सा लेने का उसे जो अधिकार प्राप्त था (कृष्णा यजुर्वेद में बताया गया है कि ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शुद्र गाय को दाव पर रखकर पासा खेलते थे ओर उसमें राजा

जीतता था), उत्तरवर्ती वैदिक काल के पश्चात ये सब अधिकार धीरे-धीरे छिन गए और आशक्तताओं का शिकार हो गया। प्राक्मौर्य काल (*600-300 B.C.*) में वर्णाश्रित समाज पूर्णतः स्थापित होने पर तमाम आर्थिक, राजनैतिक, कानूनी, सामाजिक और धार्मिक आशक्तताऐं लाद दी गई। शुद्र को दास समझा जाने लगा। उनकी चाकरी कई प्रकार की थी। वे घरेलु नौकरों, दासों व कृषि दासों, भाड़े के मजदूरों तथा शिल्पियों के रूप में काम करते थे। अर्थात् उनका कार्य मोटे तौर पर उच्च तीन वर्णों की ताबेदारी करना हो गया।

उत्तर वैदिक काल के अंत में शूद्रों के विरूद्ध कठारे नियम बनाएं गए। यज्ञ के लिए अभिषिक्त व्यक्ति को शूद्र से बात करना भी अनुचित ठहराया गया। आपस्तम्भ के अनुसार जिस समय ब्राह्मण भोजन कर रहा हो, कोई शूद्र उसे छू ले तो उसे भोजन छोड़ कर उठ जाना चाहिए। क्योंकि शूद्र के स्पर्श से वह अपवित्र हो जाता है। बौधायन के अनुसार स्नातक को स्त्रियों या शूद्रों के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। गौतम धर्म सूत्र से ज्ञात होता है कि इस काल में ब्राह्मण और शूद्रों में भी वैवाहिक संबंध होते थे किंतु इस काल के अंत में यह कार्य अत्यंत निंदनीय समझा जाने लगा।

प्रारम्भ में शूद्रों को वैदिक साहित्य पढ़ने का अधिकार था किंतु बाद में उन्हें इससे वंचित कर दिया गया। आपस्तम्भ के अनुसार यदि वेद-पाठ के समय शूद्र खासतौर से चांडाल आ जाए तो तुरंत वेद-पाठ बंद कर देना चाहिए। जब शूद्रों को वैदिक साहित्य के पढ़ने का अधिकार न रहा तो उन्हें वैदिक यज्ञों और संस्कारों के करने का अधिकार भी न रहा क्योंकि यज्ञ और संस्कार वैदिक मंत्रों का पाठ करके ही किए जा सकते थे।

पाणिनि ने शूद्रों को दो वर्गो में विभाजित किया है निखसित और अनिखिसित। अनिखसित शूद्र वे थे जिनको भोजन करने से द्विजो के बर्तन अपवित्र नहीं होते थे और निखसित शूद्र वे थे जिनको अपने बर्तनों में भोजन कराने से द्विजों के बर्तन अपवित्र हो जाते थे। जिनके रहन सहन में स्वच्छता न थी और जो नगर के बाहर रहते थे। अश्वलायन श्रौत सूत्र में निखसित शूद्रों में यवन और कंबोजो की गणना की गई है। राजनीतिक अधिकार द्विजों का ही प्राप्त थे। शूद्रों का इनसे वंचित कर दिया गया था। आर्यो का विचार था कि शूद्रों को धार्मिक और सामुदायिक सभी कृत्यों से वंचित करके वे अपनी रक्त की पवित्रता रख सकेगे। शूद्रो को पवित्र करने वाले सभी संस्कारों को कराने का अधिकार न रहा। उनका विवाह संस्कार भी बिना वैदिक मंत्रों को पाठ से किया जाने लगा।

इस काल में शूद्रों को अपराधों के लिए द्विजों की अपेक्षा कठोर दंड दिया जाता था। गौतम के अनुसार यदि ब्राह्मण नर हत्या करे या चोरी करे तो उसे अंधा कर दिया जाए लेकिन शूद्र ऐसा करे तो उसे प्राण दंड दिया जाए। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को गाली दे तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाए किंतु यदि शूद्र किसी द्विज पर आक्रमण करे तो उसका वह अंग काटा जाए जिससे उसने द्विज पर प्रहार किया था।

किंतु इस काल में इन प्रतिबन्धों के बावजूद भी कुछ द्विजों के शूद्रों के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के प्रमाण मिलते हैं वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है कि शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से जन्मा पुत्र चांडाल कहलाएगा और उसके साथ जाति से बहिष्कृत व्यक्ति के समान व्यवहार करना चाहिए। आपस्तम्भ के अनुसार चांडाल के देखने और छूने से प्रत्येक वस्तु दूषित हो जाती है।

साधारणतः पुत्र का वही वर्ण होता था जो उसके पिता का हो। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण होता है चाहे उसकी माता क्षत्रिय हो या वैश्य हो। शूद्रों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह तीनों उच्च वर्णों की सेवा करें। शूद्रों को अनेक सामाजिक, धार्मिक तथा

वैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। समाज में उनकी स्थिति बहुत हीन हो गई थी।

मौर्यकाल : कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शूद्रों के निम्नलिखित कर्तव्यों का उल्लेख किया हैः

(1) द्विजाति शुश्रुषां - तीनों उच्च वर्णों के व्यक्तियों की सेवा और कृषि, पशुपालन के द्वारा जीवन निर्वाह करना।

*(2)* वार्ता - धनोपार्जन

*(3)* कारूकर्म - कला

*(4)* कुशीलकर्म - शिल्प

मौर्यकाल में भी शूद्रों की वही स्थिति थी जो सूत्रकाल के अंतिम दिनों अर्थात प्राक्मौर्यकाल में थी। तीनों उच्च वर्ण के व्यक्ति उनसे घरेलू या सामाजिक संपर्क रखना पंसद नहीं करते थे। उन्हें कोई सामाजिक धार्मिक अधिकार प्राप्त न थे। कानूनी द ष्टिकोण से भी उसे एक जैसे ही अपराध के लिए अन्य वर्णों की अपेक्षा अत्यंत कठोर दंड दिया जाता था।

कौटिल्य ने ऐस संघों का उल्लेख किया है जो कृषि, पशुपालन के द्वारा धनोपार्जन करके अपना निर्वाह करते थे। इन संघों में संभवतः वैश्य और शूद्र वर्ण के लोग ही होगें।

मौर्यकाल में राज्य ने उद्योगों का बहुत प्रोत्साहन दिया। कौटिल्य ने लिखा है कि सूती और गरम कपड़ा बनाने वाले जुलाहे तथा कवच बनाने वाले नगर के पश्चिमी भाग में शूद्रों के साथ रहे। इसका अर्थ यही है कि जुलाहों और कवच बनाने वालों में अधिकांश शूद्र थे।

प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस काल में वैश्यों के साथ कुछ शूद्र भी कृषि कार्य करते थे जैसा कि अर्थशास्त्र से ज्ञात हेाता है कि इस काल में किसानों में अनेक आदिम जातियों के व्यक्ति होगें जिनकी गणना शूद्रों में की गई थी। शूद्रों को भी विभिन्न प्रकार की सहायता का प्रलोभन राज्य द्वारा दिये जाने के प्रमाण है ताकि ज्यादा से ज्यादा शूद्र भी कृषि कर्म को अपनाए।

अशोक ने दासों और भ त्यों के साथ अच्छा व्यवहार करने का आदेश दिया है। इससे पता चलता है कि दासों और मजदूरों से उ़द्याोगों में काम कराया जाता था और उनमें साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था।

मौर्यकाल में रथकारों, वैणों, निषादों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। इस काल में केवल चांडालों को अस्प श्य समझा जाता था।

**मौर्यत्तर काल**

मनु के अनुसार शुद्र को अन्य तीनों वर्णों की सेवा करनी चाहिए। उसे संस्कार करने का, वेद मंत्रों को सुनने का अधिकार नहीं है। शूद्र का अपना विवाह कराने और श्राद्ध करने की अनुमति थी परन्तु शूद्रों को वैदिक ग्रन्थों के पढ़ने का अधिकार न था और न ही वे वैदिक यज्ञ कर सकते थे। मनु के अनुसार शूद्रों के कर्त्तव्यों तो बहुत थे लेकिन अधिकार कोई न थे। शूद्रों के अपराधों के लिए कठोर दंड देने के नियम बनाए गए थे। उसके अनुसार यदि शूद्र किसी ब्राह्मण की निंदा करे तो उसकी जीभ काट दी जाए। यदि शूद्र हाथ या पांव से किसी उच्च जाति के व्यक्ति पर प्रहार करे तो उसका वही अंग काट दी जाए।

मनु स्म ति और महाभारत से ज्ञात होता है कि इस काल में ब्राह्मण वर्ण शूद्र कन्याओं से विवाह करते थे किंतु समाज में ऐसे विवाहों को निंदनीय समझा जाता था।

मनु के अनुसार ब्राह्मण को ऐसे शूद्र का भोजन नहीं करना चाहिए जो श्राद्ध न करता हो। वह कहता है कि यदि ब्राह्मण शूद्र का भोजन कर ले तो वह ब्राह्मण की स्थिति से गिर जाता है। मनु का कथन हैकि स्नातक को शूद्र के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। इस काल में शूद्र

की सामाजिक और धार्मिक स्थिति हीन होने पर भी उसकी कानूनी तथा राजनीतिक अवस्था में कुछ सुधार द ष्टिगोचर होता है। कौटिल्य ने उन्हें कृषि तथा पशुपालन का अधिकार दिया है। मिलिन्दपन्हों से भी ज्ञात होता है कि इस काल में शूद्रों का वैश्यों की भांति ही कृषि, पशुपालन की शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार आमतौर से प्राचीन भारत में शूद्रों की स्थिति दयनीय थी उनको बहुत से आर्थिक सामाजिक धार्मिक एवम् अध्यात्मिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। शूद्रों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन पर लगी अयोग्यताओं की जानकारी होना आवश्यक है।

1. शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने, उनका श्रवण करने और कठंस्थ कर लेने पर उनके लिये कठोर दण्ड का प्रावध ाान किया गया था। वेद का अध्ययन उपनयन संस्कार के बाद ही शुरू होता था। उपनयन केवल द्विजों का हो सकता था। मनु जैसे स्म तिकारों ने जहाँ वेदाध्ययन को द्विजों का अधिकार बताया, वहीं शूद्रों को इससे वंचित रखा। याज्ञवल्क्य के अनुसार भी न केवल वेदाध्ययन वरन् वेद -श्रावण भी शूद्रों के लिये वर्जित था। हिन्दू समाज में वेद विरत व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता था। शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था, इसलिये यह निर्योग्यता भी उनमें थी। शूद्रों को धार्मिक भावनाओं की पूर्ति करने के लिए इतिहास, पुराण एवं महाभारत सुनने की अनुमति प्रदान की गयी।

2. शूद्र को पवित्र अग्नियाँ जलाने का अधिकार नहीं था। वे वैदिक यज्ञ के भी अधिकारी नहीं समझे जाते थे। गौतम, जैमिनी ने इस पर प्रकाश डाला है। वे सिर्फ पूत धर्म अर्थात् कूप, तालाब, मन्दिर, वाटिका आदि का निर्माण कर सकते थे। ग हण आदि अवसरों पर भोजन-दान आदि करने का उन्हें अधिकार था। कुछ स्म तिकारों ने उन्हें पंच महायज्ञों का साधारण अग्नि में करने का अधिकार दिया है। वे धार्मिक कार्य सम्पन्न कर सकते थे लेकिन इसमें वेद मंत्र का उच्चारण वर्जित था।

3. संस्कारों के विषय में धर्मशास्त्रकार एकमत नही हैं। कुछ के मतानुसार शूद्र संस्कारों के योग्य नहीं है। इन्हें धर्म पालन का अधिकार नहीं है। व्यास ने शूद्रों के लिए बिना किसी के उच्चारण के दस संस्कारों गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्णवेध एवं विवाह को करने का विधान किया है। ब हस्पति ने भी शूद्रों को कर्णवेध और चूड़ाकरण संस्कारों को करने का अधिकार दिया है।

4. शूद्रों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार से वंचित किया गया। महाभातर एवं मनुस्म ति के अनुसार शूद्रों की सम्पत्ति उसके स्वामी की सम्पत्ति थी। शूद्र सम्पत्ति संग्रह नहीं कर सकता था। उसे आर्थिक द ष्टि से हीन बनाया गया था। मनु के अनुसार ब्राह्मण अपने शूद्र दास के सामान को निर्भयता पूर्वक जब्त कर सकता हैं क्योंकि उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार नही है।

5. न्याय प्रशासन में भी वर्णविभेद की भावनाओं के फलस्वरूप भी शूद्रों की सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल देखने को मिलता है। किसी क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण की मानहानि करने पर उसे *100* पण और इसी अपराध हेतु वैश्य को एक सौ पचास या दौ सौ पण का जुर्माना देना का विधान था, किन्तु शूद्र के लिये शारीरिक दण्ड की व्यवस्था की गयी थी।

6. शूद्र की हत्या करने पर वही व त विहित किया गया था जो छोटे-छोटे पशु एवं पक्षियों को मारने के लिए विहित था। शूद्र की हत्या करने पर दस गाय और एक सांड का

वैरदेय चुकाना पड़ता था। इस जुर्माने का भुगतान ब्राह्मण को देने का विधान किया गया था।

7. शूद्र केवल ग हस्थाश्रम ही ग्रहण कर सकता था क्योंकि उसे वेदाध्ययन से वंचित रखा गया था। उच्च वर्णो की सेवा करते हुए वह सन्तानोत्पत्ति द्वारा चौथे आश्रम को छोड़कर सभी आश्रमों का फल प्राप्त कर सकता था।

8. अपवित्रता के सन्दर्भ में ब्राह्मण जहाँ केवल १० दिन ही अपवित्र रहता था, शूद्र के लिये यह अवधि एक माह निर्धारित की गयी थी।

9. बिना विशेष नियन्त्रणों के ब्राह्मण शूद्र से दान ग हण नहीं कर सकता था।

10. ब्राह्मण केवल उसी शूद्र के यहाँ भोजन कर सकता था जो उसका चरवाहा हो, खेत जोतने वाला हो, या वंशानुक्रम से मित्र हेा या अपना नाई या दास हो। आपस्तम्भ ने इस सन्दर्भ में कहा है कि अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन ग हण नहीं करना चाहिए। परन्तु उसका मत है कि यदि शूद्र द्वारा द्वारा ब्राह्मण के घर में तथ ब्राह्मण की संरक्षता में पकाया गया भोजन स्वच्छता से तैयार किया जाय तो ब्राह्मण उस भोजन को ग हण कर सकता है।

इस तरह शूद्र अपना जीवन यापन द्विजों की सेवा करके व्यतीत करता था। आवश्कतानुसार उसे कृषि, पशुपालन और व्यापार की अनुमति प्रदान की गयी जिसका उल्लेख परवर्ती साहित्य में मिलता है। शिल्प कार्य करके भी वह अपनी स्थिति को सुधार सकता था। समाज में उसकी गिरती हुई स्थिति को धीरे-धीरे सुधारने का प्रयास हुआ और उसके प्रति उदार द ष्टिकोण की भावना जाग त हुई। उसके अधिकारों में व द्धि करके उसे अनेक प्रकार के धार्मिक और व्यावसायिक अधिकार प्रदान करके उसकी स्वतंत्रता में व द्धि की गयी।

# अध्याय - 9
# प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था
# (Ashram)

भारतीय सामाजिक संघटन के दो मूल आधार, आश्रमव्यवस्था और वर्ण व्यवस्था है। आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी की ऐहिक और पारलौकि उन्नति था जबकि, वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी को समाज के लिए उपयोगी बनाना था। ये दोनों व्यवस्थाएं भारतीय जीवन दर्शन पर आधारित थी। आस्तिक हिन्दुओं की धारणा है कि प्राणी यदि ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करे तो वह फिर ईश्वर के निकट पहुंच सकता है। वे यह भी मानते है कि ईश्वर की इच्छा है कि व्यक्ति सब प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करे।
वर्ण और आश्रमव्यवस्था के द्वारा अपने सभी कर्त्तव्यों की पूर्ति करके व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवन के लक्ष्य की पूर्ति उन चारों पुरूषार्थी से होती है जो व्यक्ति समाज में रहकर ही पूर्ण कर सकता है। इन चारों पुरूषार्थी का निर्वाह, प्राचीन धर्मशास्त्रकारों के अनुसार, वर्णाश्रम धर्म का पालन करके ही किया जा सकता है।

आश्रम शब्द संस्क त की 'श्रम' धातु से बना है। इसके अन्तर्गत मनुष्य श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता है। अतः आश्रम का अर्थ उद्योग अथवा प्रयत्न से है। परम पद तक पहुंचने में ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप में कार्य करते हैं। इसीलिए साहित्यिक स्त्रोतों में आश्रम का अर्थ विराम या विश्रामदायक स्थान से भी लिया जाता है। प्रत्येक आश्रम की अपनी अलग स्थिति है, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य तत्सम्बन्धी कार्य करता है। यह कार्य ही उसका श्रम है जो उस आश्रम से आबद्ध रहता है। मनुष्य उस आश्रम को मूर्तिमान करने के लिए प्रयास करता है और लक्ष्य की प्राप्ति करता है। प्रत्येक आश्रम का अपना अलग महत्त्व है। यह महत्त्व उसकी विशेष स्थिति को स्पष्ट करता है। आश्रम की अभिव्यक्ति में व्यक्ति की निष्ठायुक्त क्रिया और सर्वोत्तम प्रयास सहायक होता है। आश्रम का पालन विधिपूर्वक किया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम की अर्थाभिव्यक्ति ज्ञान प्राप्ति से है। व्यक्ति इस आश्रम में संयम और नियम से शिक्षा और ज्ञान ग्रहण करता है। ग्रहस्थ आश्रम में वह ग हस्थ बनकर सांसारिक और ग हस्थय कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है। वानप्रस्थ आश्रम में ईश्वर का ध्यान करता है। सन्यास आश्रम में वह त्याग और तप का जीवन व्यतीत करता है। संन्यास आश्रम का चरम लक्ष्य परम ब्रह्म की प्राप्ति है। यह तभी संभव है जब मनुष्य सभी आश्रमों को कर्त्तव्यनिष्ठ होकर करता है। आश्रम व्यवस्था प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार-स्तम्भ थी। साधारणतया विद्वानों का मत है कि आश्रम व्यवस्था का विकास वैदिक युग में विशेषरूप से ऋग्वेद काल में नहीं हुआ था। किन्तु ऋग्वेद, अर्थववेद आदि के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त व्यवस्था के अस्तित्व का बोध होता है। जीवन के मर्म को भली-भांति समझकर ही आश्रम व्यवस्था का विकास किया गया था। प्राचीन भारत में इस जीवन को पवित्र यात्रा माना गया था। यात्रा में जिस प्रकार क्रम से अग्रसर होते हुए तथा विश्राम स्थलों पर ठहरते हुए अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाते है। और इस प्रकार संपूर्ण यात्रा कुछ भागों

में बंट जाती है, उसी प्रकार ये आश्रम है। वे मनुष्य को उसके अन्तिम ध्येय, मोक्ष प्राप्ति तक पहुंचते हैं।

आश्रम चार है - ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आयु साधारणतया 100 वर्ष की मानी गयी थी। उसके चार विभाग किये गए थे। प्रत्येक विभाग का नाम आश्रम रखा गया था। जीवन के 20-25 वर्ष के चार विभागों में से प्रथम ब्रह्मचर्य कहलाता था। किन्तु जन्म से 12 वर्ष तक बालक माता-पिता के घर ही रहता था। इसके पश्चात वह गुरू के घर भी कम से कम 12 वर्ष रहता था।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात ही प्रत्येक बालक को गुरूकुल में जाकर ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था वहाँ गुरू के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था। 'ब्रह्मचर्य' शब्द से ही इस आश्रम के महत्त्व का द्योतक है। ब्रह्मचर्य मे ऐसी जीवन चर्या का समावेश हो जाता है जो ब्रह्म की प्राप्ति करा सके। सत्यं वै ब्रह्म। 'सत्य की खोज' ब्रह्मचर्य जीवन का मूल मंत्र था। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियों के सम्यक विकास का पाठ सीखता था। इस आश्रम में प्रत्येक विद्यार्थी को अपना जीवन अत्यन्त सरल बनाना पड़ता था तथा विचार बहुत ही उदात्त रखने पड़ते थे। उसका सबसे बड़ा कर्त्तव्य अग्निचर्या था। यज्ञ की पवित्र अग्नि के लिए प्रातः काल व सांयकाल समिधा लानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उसे अपना दैनिक जीवन बहुत ही पवित्र बनाना पड़ता था।

यद्यपि वैदिक साहित्य में विकसित रूप से इस व्यवस्था का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है फिर भी चारों आश्रमों के सदस्यों का उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है। जिससे वैदिक युग में इस व्यवस्था के अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान होता है। ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में आता है। अर्थववेद मे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्याश्रम का विशद वर्ण आता है ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आचार्य उपनयन संस्कार के पश्चात ब्रह्मचारी को अन्तेवासी बनाता था। ब्रह्मचारी के समिधाहरण, मेखला, तप आदि का स्पष्ट उल्लेख है। तथा उसकी भेक्ष्य चर्या का भी वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद में ग हस्थाश्रम का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आया है। ग हपति, ग हपत्नी, गार्हपत्याग्नि आदि का उल्लेख बार बार आता है। ऋग्वेद में सोम व सूर्य के विवाह का सुन्दर वर्णन आता है, जिससे ग हस्थाश्रम के जीवन व कर्त्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है कि हे! ग हपत्नी अपने घर में जाओ। वहां प्रजादि द्वारा सम द्ध होकर अपने गर्हापत्य के प्रति जागरूक रही। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्नातक को विवाह संस्कार के पश्चात अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ ग हस्थाश्रम में प्रवेश कना पड़ता था। तथा उस आश्रम के कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था। प्रत्येक ग हस्थ को अपनी ग हपत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि को प्रज्जवलित कर प्रतिदिन उसने तीन बार हविष की आहुतिया प्रदान करनी पड़ती थी।

पूर्व आश्रम में तीन ऋणों को चुकाने की जो तैयारिया की गई थी। उन सबको कार्यरूप में प्रयुक्त करने का अवसर इसी आश्रम में रहता था। ग हस्थों को सच्चा नागरिक बनना पड़ता था। उन्हें अपना जीवन इस प्रकार का बनाना पड़ता था। जिससे कि मानव जीवन के उदात्त ध्येय तक पहुंच सके। पित ऋण से मुक्त होने के लिए उत्तम संतान उत्पन्न करनी पड़ती थी। साथ ही धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष वर्ग चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता था उस काल से ग हस्थ, धार्मिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक व राजनैतिक जीवन में भी भाग लेता था। ग हस्थ के भी कर्त्तव्य अत्युच्च थे।

ग हस्थ आश्रम के पश्चात प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना पड़ता था। इसकी आयु 50 से 75 वर्ष तक होती थी। इस आश्रम में प्रत्येक को तप आदि की साधना द्वारा

संयम प्राप्त करना पड़ता था। इस प्रकार आत्म विकास करके जीवन के चतुर्थ भाग में सन्यासाश्रम में प्रवेश किया जाता था। इस आश्रम में सांसारिक बंधनो का स्वरूप से तथा मन से भी त्याग करना पड़ता था। ये सन्यासी आत्मबल से युक्त होकर देश-देशान्तरों में घूम-घूम कर सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करते थे तथा समाज-सुधार करते थे। समाज सेवा ही इनका कार्य था।

वैदिक साहित्य मे वानप्रस्थान का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। किन्तु उसमें 'यति' 'मुनि' आदि शब्दों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यति के उल्लेखों से वानप्रस्थाश्रम का तथा मुनि के उल्लेखों से सन्यासाश्रम का तात्पर्य लिया जा सकता है। ऋग्वेद में यतियों का उल्लेख आता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों के समान व त्र का हनन किया। वैदिक साहित्य में मुनिक का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर आता है। ऋग्वेद में कुछ मंत्रों के द ष्ट भी ''मुनयो वातरशनाः'' है। उसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि मुनि अच्छे कार्यो के लिए देवताओं का मित्र है। इन्द्र को मुनियों का सखा भी कहा गया है।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मुनियों के जीवन का उद्देश्य समाज की सेवा तथा उसका उपकार करना था। वे सारे देश में विचरण करते थे। ये मुनि सन्यासी ही थे।

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद आदि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में आश्रम-व्यवस्था थी। यज्ञ, दान, तप तथा मोक्षचर्या वैदिक काल मे पूर्णतया प्रचलित थे। प्रव ति दोनों मार्गो के बीच सामंजस्य करने के लिए आश्रम व्यवस्था की गई थी। मनुस्म ति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में आश्रम व्यवस्था थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मनु के सिद्धान्तों पर ही आधारित रही। वर्णाश्रम व्यवस्था के लिये तत्कालीन समाज में 'मनु' आदर्श थे। मनुकालीन समाज के वेदकालीन समाज की आश्रम व्यवस्था, विकास होते होते गुप्तकाल तक इन आश्रमों में इतनी आस्था बढ गई कि ये चारों आश्रम चार प्रकार के यज्ञ के समान हो गए।

प्रथम आश्रम एक प्रकार का ज्ञान यज्ञ है। ग हस्थ का जीवन ज्ञान तथा कर्त्तव्य का एक अनवरत निर्झर है। जहां स्वार्थरहित सेवा, अनुराग, स्नेह तथा समाज के प्रति कर्त्तव्य का मधु प्रवाहित होता है। प्रथम आश्रम में उपार्जित ज्ञान का द्वितीय आश्रम प्रयोगात्मक स्थूल है। इस प्रकार यह एक कर्म यज्ञ है। त तीय आश्रम जीवन के अन्तिम यज्ञ की तैयारी है तथा चतुर्थ आश्रम में संपूर्ण अनुशक्तियों से विरक्त होकर आत्मा निश्चित उद्देश्य से प्रेरित होकर पूर्णता की ओर बढती है। इन दोनों आश्रमों को हम भक्ति यज्ञ कह सकते है।

गुप्तकाल तक आश्रम-व्यवस्था पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी। आश्रम व्यवस्था को उस काल में ईश्वर क त माना जाने लगा। वैदिक काल की भांति आश्रम चार ही - ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास ही थे। आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की व्यक्तिगत उन्नति करना था। मानव जीवन के चार फलों की कल्पना की गई थी - धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इनमें से तीन (अर्थ, धर्म व काम) का त्रिवर्ग कहा जाता था। धर्म का स्थान प्रथम था। शान्ति पर्व में धर्म क्या है ? इस सम्बन्ध में एक वाक्य में साररूप से कहा गया है कि इहलोक व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है। त्रिवर्ग का एक साथ उपभोग किया जाना चाहिए। यह तीनों अन्योन्याश्रित है। कहा गया है कि जिसकी भार्या धर्मानुकल हो, वह ग हस्थ धर्म, अर्थ व काम का एक साथ उपभोग कर सकता है। धर्म का उद्देश्य - आत्म तुष्टि, चितशुद्धि, लोकस्थिति तथा मोक्ष प्राप्ति था। महाभारत में धर्म की अनेक शाखाएं उल्लखित की है जैसे समाज धर्म, वर्णाश्रम धर्म, राजधर्म, कुल धर्म आदि। जीवन के सभी कार्यो में धर्म की प्रधानता रहती थी। धर्म से अर्थ लाभ होता है और धर्म कामनाओं की पूर्ति करने में सहायक होता है।

धर्म जिस प्रकार अर्थ प्राप्ति व काम पूर्ति में सहायक होता है उसी प्रकार वह मोक्ष प्राप्ति में भी सहायक होता है। जो लोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण चाहता हो उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिए। धार्मिक क त्यों का प्रधान लक्ष्य चितशुद्धि है। धर्माचरण से युक्त पुरूष अर्थ व काम को निभाते हुए मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता है। इस चर्तुवर्ग व्यवस्था में अर्थात पुरूषार्थ आश्रम-व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में तपस्या, गुरूसेवा व पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ-साथ वेदाध्ययन किया जाता था। ग हस्थाश्रम में विवाद करके, अतिथि सेवा एवं पर - हित-हानि किये बिना अपने वर्ण-धर्म का पालन करते हुए, सांसारिक सुख भोगे जाते थे। यही वास्तविक प्रधान आश्रम था। जिसकी योग्यता प्राप्त करने की पूर्ण तैयारी प्रथम आश्रम में की जाती थी। तत्पश्चात त तीय आश्रम में तथा चतुर्थाश्रम में कर्मो का तन एवम् मन से त्याग कर अनन्य ब्रह्म चिन्तन में लीन हो जाता है और इस प्रकार चारों फलों को प्राप्त कर लेता है। चारों पुरूषार्थो में सामंजस्य बनाये रखने हेतु गहन चिन्तन व मनन के पश्चात आश्रम व्यवस्था का प्रावधान किया जो अत्यन्त उपयोगी होने के कारण ही अनेकों सहस्त्राब्दियों तक चलती रही।

## ब्रह्मचर्य आश्रम

आश्रम व्यवस्था के नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार है और इन आधारों को ठीक से समझने के लिए पुरूषार्थ की धारणा को समझना आवश्यक है। चरम लक्ष्य, मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए विभिन्न आश्रम सोपान की भांति है। प्रथम ब्रह्मचर्य मे पवित्र जीवन तथा आचरण के द्वारा लोग अपनी बौद्धिक मानसिक शारीरिक तथा नैतिक शक्तियों का विकास करते थे। पुरूषार्थ की द ष्टि से इस काल में धर्म का विशेष महत्त्व था। प्रथम आश्रम को धर्म से सम्बन्ध कर देना उस काल के समाज का आध्यात्मिकता की ओर विशेष उन्मुख होना सिद्ध करता है। इस आश्रम का उद्देश्य नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं की व द्धि थी जिससे भावी जीवन धर्म के क त्यों के समुचित संपादन तथा आनन्द की प्राप्ति के योग्य बन सके। यह आश्रम चारों आश्रमों की नीव है। क्योंकि जीवन भवन का निर्माण इसी पर आधारित होता है। ब्रह्मचर्याश्रम को वर्तमान में विद्यार्थी जीवन कहते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात बालक को ब्रह्मचारी बनकर गुरू के घर निवास करना पड़ता था। कुछ राजा महाराजा नगर के समीप ही आश्रम बनवाकर आचार्य को अपने यहा रख लेते थे। यथा-भीष्म ने कौरव -पाण्डवों के शिक्षाण के लिए क पाचार्य एवं द्रोणाचार्य को अपने ही यहा रखा था एवं उनके रहने का व सुख-सुविधाओं का समुचित प्रबन्ध किया था। किन्तु जन-समुदाय में गुरू ग हवास की प्रथा ही प्रचलित थी।

बालक बाल्य काल से ही इस आश्रम में प्रवेश करता था। वेदकाल की भांति बारह वर्ष से कम उम्र वालों के लिए निषेध न था। ब्रह्मचर्य की शक्ति से देवत्व प्राप्त किया है। ऋषियों की ब्रह्मलोक प्राप्ति ब्रह्मचर्य के ही अधीन है। ब्रह्मचर्य आश्रम के चार चरण माने जाते थे। प्रथम-गुरू शुश्रुषा, वेदाध्ययन, अभिमान एवं क्रोध को जीतना। द्वितीय-आचार्य को स्मरण रखते हुए सदा उनके प्रतिश्रद्धा रखना एवं चतुर्थ - अभिमान त्याग कर विनित भाव से गुरू को भक्ति पूर्वक दक्षिणा देना।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्याकर्त्तव्यों के विषय में महाभारत में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। ''ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य था कि वह अकेला ही वेद मंत्रों का चिन्तन व अभिष्ट मंत्रों का जाप करता हुआ संपूर्ण कार्य सम्पन्न करे। एक मात्र आचार्य की परिचर्या में ही संलग्न रहे, किसी भी परिस्थिति में सेवा को तत्पर रहे। मन व इन्द्रियों को वश में रखते हुए व्रत एवं दीक्षा के पालन में लगा रहे। वेदों का स्वाध्याय करते हुए सदा कर्त्तव्य कर्मो के पालन पूर्वक गुरू ग ह में निवास करे। निरन्तर गुरू की सेवा में तत्पर रहकर उन्हें प्रणाम करे। जीवन निर्वाह के उद्देश्य के लिए

की जाने वाली यजन-याजन, अध्ययन, अध्यापन तथा दान-प्रतिग ह, इन छः कर्मो से वह अलग रहे और किसी असत्य कर्म मे प्रव त्त न हो। उसका कर्त्तव्य था कि वह अधिकार प्रदर्शन करते हुए कोई कर्म न करे और द्वेष करने वालों का संग न करे। एक स्थान पर ब्रह्मचारी की महिमा का गान इस प्रकार किया गया है उसमें ब्रह्मचारी के अनिवार्य कर्त्तव्य भी ध्वनित होते हैं - ''जो तपस्या करते कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्य के पालन में तत्पर रहते ओर विद्या और वेदों के अध यन सम्बन्धी व्रत को पूर्ण करके स्नातक हो चुके हैं वे ब्रह्मचारी संसार से तर जाते हैं।

शान्ति पर्व में ही एक अन्य स्थल पर वर्णन मिलता है जिसके अनुसार ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरूकुल वास को ही प्रथम आश्रम कहते थे। उसमें रहने वालों को, ब्रह्माभ्यन्तर शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा नियमों का पालन करते हुए मन को वश में रखना, प्रातः साय सन्ध्या बन्दन अग्निहोत्र, तन्द्रा व आलस्य त्याग कर प्रतिदिन गुरू को प्रमाण करना, वेदों के श्रवण व अभ्यास से आत्म-बुद्धि, त्रिकाल-स्नान और ब्रह्मचर्य पालन कर्म आवश्यक थे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांग कर लाते थे जो कुछ प्राप्त होता वह गुरू को अर्पण कर देते थे। गुरूजी जो कहे, जिसके लिए संकेत करे, उसके विपरीत आचरण नहीं करते थे। गुरू के क पाप्रसाद से मिले स्वाध्याय परायण रहते थे। वे किसी के दोषों पर द ष्टि नहीं डालते थे। इस प्रकार धर्म व अर्थ के ज्ञान में कुशल हो जाते थे। ब्रह्मचारी के लिए विधान था कि गुरू के सोने के पश्चात नीचे आसन पर सोवे। उनके जागने से पूर्व जग जावे। गुरू के घर में एक शिष्य या दास के करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे। गुरू जी जब भी आज्ञा दे उसके लिए सदा यही उत्तर दे कि ''भगवान अभी पूरा किया'' और वे सब कार्य करके उनके पास खड़े हो जाते, मेरे लिए क्या आज्ञा है? यह पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवक की भांति गुरू का संपूर्ण कार्य करने के लिए तैयार और सभी कार्यो के सम्पादन में कुशल हो अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को गुरू की सेवा टहल का संपूर्ण कार्य समाप्त करके, उनके समीप बैठकर अध्ययन करना चाहिए। वह सबके प्रति सदा उदार रहे और किसी को कोई कंलक न लगावें। गुरू सदा उदार रहे और शिष्य उनकी सेवा में उपस्थित हो जाए। बाहर-भीतर से पवित्र रहे। कुशल बने, गुणवान बने। भीतर से सद्भावना रखकर बीच-बीच में ऐसी बात बोले, जो गुरू को प्रिय लगने वाली हो। शान्त भाव से भक्ति भरी द ष्टि से गुरू की ओर देखे और इन्द्रियों को वश में रखे। आचार्य जब तक जलपान न कर ले तब तक स्वयं भी ना करे। उनके बैठने से पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोने से पहले स्वयं न सोवे। दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथ से गुरू का बाया चरण तथा बाए हाथ से गुरू का दाहिना चरण धीरे-धीरे स्पर्श करके प्रणाम करे। इस प्रकार अभिवादन के पश्चात हाथ जोड़कर गुरू से कहे, ''भगवान अब आप मुझे पढ़ाएं, मैने अमुक कार्य पूर्ण कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूंगा। इस प्रकार सब बातें विधिवत निवेदन करके, गुरू की आज्ञा लेकर फिर अन्य कार्य करे और उसे पूर्ण करके उनका संपूर्ण समाचार गुरू जी को निवेदन करे।

इस प्रसंग में महाभारत कलीन समाज में गुरू शिष्य के सम्बन्ध कैसे थे? इस विषय पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। शिष्यों में अपने गुरूओं के प्रति कितनी श्रद्धा कितना आदर -प्रेम व सद्भावना थी यह देखने योग्य है। आज के गुरू शिष्य के सम्बन्ध को देखते हुए एवं तत्कालीन सम्बन्धों को देखते हुए आकाश-पाताल का अन्तर प्रतीत होता है। तभी तो प्राचीन आर्य महान विद्वान बनते थे। गुरू अज्ञान रूपी तम या नरक में से निकाल कर शिष्य को नाना प्रकार का ज्ञान प्रदान करके ज्ञान रूपी प्रकाश या स्वर्ग में लाते है।

इसी अध्याय में ब्रह्मचारी के अन्य धर्मो के विषय में भी वर्णन मिलता है। जिन-जिन गंधो ओर रसो का ब्रह्मचारी को सेवन नहीं करना चाहिए, उनका वह ब्रह्मचर्य काल में त्याग करे। समावर्तन संस्कार के पश्चात ही वह उनका सेवन कर सकता है। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के लिए जो भी नियम विस्तारपूर्वक बताए गए है उन सबका वह पालन करे और गुरू के समीप रहे। प्रसन्न

करे ओर उन्हे उपहार देकर उनकी आज्ञा से अन्य आश्रमों में प्रवेश करे। जब वेदाध्ययन का व्रत और उपवास समाप्त हो जाए तब आयु के चतुर्थ भाग के समावर्तन संस्कार सम्पन्न करे, एक स्थान पर कहा है कि गुरू की सेवा मे तत्पर रहने वाला, ब्रह्मचर्य परायण द ढ़ निश्चय वाला तथा योग युक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है।

ऐसी मान्यता थी कि अनेक जन्मों से कर्म करते -करते जब संपूर्ण इन्द्रिया पवित्र हो जाती है तब शूद्ध अन्तकरण वाला मनुष्य प्रथम आश्रम में ही मोक्ष रूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इससे यह ध्वनित होता है कि ''बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं हो सकता तथा ज्ञान के बिना अन्तकरण की शुद्धि नहीं हो सकती तथा अन्तकरण की शुद्धि का उपाय भी वहीं वर्णित है। विद्वान लोक-मर्यादा की व कर्म मर्यादा की परम्परा करे। इस प्रकार क्रमश नाना प्रकार के कर्मो का अनुष्ठान करते हुए शुभारम्भ कर्मो की आसक्ति का परित्याग करने से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि कर्तव्य कर्मो का त्याग न करके उनका पालन करते हुए उनमें आसक्ति का न होना ही अन्तकरण की शुद्धि है ।

**ग हस्थाश्रम**

इन चारों आश्रम व्यवस्थाओं में ग हस्थ आश्रम को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व सर्वप्रधान माना गया है इसी द ष्टिकोण को प्रकट करने हेतु आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आश्रम संख्या को बताते हुए महत्ता के आधार पर ग हस्थ आश्रम को सर्वप्रथम रखा। ग हस्थाश्रम की महत्ता के अनेक कारण होते हुए भी पुत्र की प्राप्ति ही सर्वप्रथम उद्देश्य माना गया है। क्योंकि पित ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र ही मोक्ष का द्वार समझा गया है। अतः बोधायन धर्मसूत्रों में भी आश्रमों में सर्वप्रमुख आश्रम ग हस्थाश्रम को ही माना गया है इसी कथन की पुष्टि गौतम धर्म सूत्र में भी मिलती है। रामायण महाकाव्य में भी ग हस्थाश्रम को ही प्रमुख माना गया है।

ग हस्थ को बहुत ही सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ सूत्र में लिखा है जिस प्रकार सभी नदियां समुद्र में आ कर मिलती है, उसी प्रकार सब आश्रमों में मनुष्य ग हस्थ पर आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रक्षित होते हैं। वैसे ही सब भिक्षुक एवं सन्यासी ग हस्थों की ही रक्षा में रक्षित रहते है, माता-पिता और समाज के प्रति मनुष्य का जो ऋण है उसे ग हस्थाश्रम में प्रवेश करके अदा किया जा सकता है। ग हस्थ धर्म में सन्तानोत्पति करके अपने पित के वंश को जारी रखना व वशतन्तु को टूटने न देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था।

वानप्रस्थ और सन्यास को युधिष्ठिर श्रेष्ठ मानते हुए ग हस्थ जीवन को संग्रह-परिग्रह में लिप्त कर परमात्मा की अनुभूति से वंचित करने वाला बताते हैं। तब अर्जुन ग हस्थाश्रम को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहते हैं कि ग हस्थाश्रम में धर्मोपार्जन करने की असीम क्षमता होती है जिसके द्वारा लोक-परलोक दोनों को सुधारा जा सकता है। यति, मुनि अैर सन्यासी का जीवन याचक का जीवन है। परमुखापेक्षी जीवन कोई नहीं है अतः ग हस्थाश्रम में रहकर उसके अनुसार जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है न कि परावलम्बी होकर ईश्वरानुभूति करना।

ग हस्थ धर्म का पालन महान दुष्कर व्रत है। तप को श्रेष्ठ कहने वालों के लिए महाभारत में कहा गया है कि निःसन्देह तप श्रेष्ठ है, लेकिन ग हस्थ धर्म में ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है। ग हस्थाश्रम की विशिष्ठता का एक कारण यह है कि वहां भोग और अध्यात्म दोनों का समन्वय है। ग हस्थ धर्म का पालन करते हुए ग हस्थ पारलौकिक उन्नति से कभी वंचित नहीं हो सकता है। इस प्रकार तीनों अन्य आश्रमों में सबसे श्रेयस्कर ग हस्थाश्रम को ही बताया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या की समाप्ति के बाद ब्रह्मचारी जब घर लौटता है उसे समावर्तन कहते हैं। इसक

बाद वह ब्रह्मचर्य आश्रमों के व्रतों से मुक्त होने के लिए स्नान करता है और तब उसे स्नातक कहते हैं। स्नातक विवाह करके ग हस्थाश्रम में प्रविष्ठ होने का अधिकारी माना जाता है। इस आश्रम में प्रविष्ठ होकर वह सांसारिक सुखों का उपभोग करता है और पुत्रोत्पति करके अपनी वंश परम्परा को अक्षुण रखता है। वह अपने बच्चों, मित्रों, सम्बन्धियों, पड़ोसियों के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करता है और उपयोगी परिश्रमी और योग्य नागरिक बनने का कर्त्तव्य निभाता है।

ऋग्वेद में ग हस्थ के लिए 'ग हपति' शब्द का उल्लेख आया है ग हस्थ के तीन मुख्य कर्त्तव्य होते थे : यज्ञ, अध्ययन और दान। यज्ञ करके वह देवताओं का, सन्तानोत्पति करके पूर्वजों का और वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करके ऋषियों का ऋण चुकाता था। बौधायन सूत्र में दो प्रकार के ग हस्थों का उल्लेख है। शालीन : जिनका अपना घर या सम्पत्ति होती थी और मायावार जो सम्पत्ति इक्ट्ठा नहीं करते थे।

## संपत्ति अर्जन, आतिथ्य एवम् दान

ग हस्थ लोगों को सुख भोग की अनुमति थी। वे सम्पत्ति का अर्जन और संयम कर सकते थें परन्तु वह भी धर्म के अनुसार। वे धन अवश्य कमाते थे लेकिन उसका उपयोग केवल अपने लिए नहीं कर सकते थे। दान देना उनका प्रमुख कर्त्तव्य था। अन्य तीनों आश्रमों की आवश्यकताओं को ग हस्थों द्वारा ही पूरा किया जाता था, अतः ग हस्थ जो कमाते थे उसका उपयोग वे दूसरों के लिए भी करते थे। अन्य आश्रमों के लोगों का ही नहीं अपितु अन्य प्राणियों का पोषण भी ग हस्थी का कार्य समझा जाता था। मनु के अनुसार अतिथि यज्ञ के साथ - साथ भूत या बलि वैश्य देवी यज्ञ का विधान इसी प्रयोजन से किया जाता था। ग हस्थों से यह उपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी आय द्वारा पहले देवताओं, पितरों या समाज के सम्मानजनक व्यक्तियों, जिनमें वानप्रस्थ और सन्यासी भी सम्मिलित थे, अतिथि और भ्रत्यों का भलि - भांति भरण पोषण करें और उसके पश्चात जो शेष बचे उससे अपना निर्वाह करे।

ग हस्थी अपने समय और शक्ति का उपयोग धन के उपार्जन के लिए अवश्य करता था अपने परिवार के अतिरिक्त समाज के अन्य अंगों की आवश्यकताओं को पूरा करना होता था उसके अपने बच्चे 8, 11, 12 साल की आयु में गुरूकुलों में पढ़ने के लिए चले जाते थे उनके पालन पोषण का कोई भी उत्तरदायित्व अब उसके ऊपर नहीं रह जाता था। परन्तु जो भी ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए उसके घर-द्वार पर आए उनको यशशक्ति भिक्षा देना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। वह ब्रह्मचारी को प्रसन्नता पूर्वक भिक्षा देता था क्योंकि वह जानता था कि उसकी अपनी सन्तान भी इसी प्रकार किसी अन्य ग हस्थ के पास भिक्षा मांगने गई होगी।

## ग हस्थों के प्रकार

प्राचीन स्म तियों में ग हस्थों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। याज्ञवल्क्य स्म ति के अनुसार ग हस्थों के चार वर्ग हैं। कुसूल धान्य : जो अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए 12 दिनों का भोजन संचित करके रखे। कुम्भ धान्य : जो अपने परिवार के लिए छः दिनों का भोजन रखे। त्र्याहिक : जो केवल तीन दिनों का भोजन अपने पास रखें। अश्वस्तनिक : जिसके पास केवल आज के योग्य भोजन ही हो और जो कल का भोजन संचित करने का कोई प्रयत्न न करें। ग हस्थों के ये प्रकार सामान्यतः ब्राह्मण ग हस्थों के लिए थे क्योंकि त्याग और अपरिग्रह का आदर्श ब्राह्मणों के लिए बड़े महत्त्व का था परन्तु प्राचीन भारतीय विचारक धन के अपरिग्रह को (धन को संचित करके न रखना) बहुत आवश्यक समझते थे। अहिंसा, सत्य, असतेय ब्रह्मचर्य के समान अपरिग्रह भी 'यम' था जिसका पालन सबके लिए आवश्यक था मनुष्यों में धन को संचित करने की जो प्रव त्ति है, प्राचीन विचारक उसे अनुचित मानते थे। ग हस्थ जो भोजन सामग्री उत्पन्न करे और जिस धन का उपार्जन करे वह उसके अपने कुटुम्ब के साथ साथ सम्पूर्ण समाज के

लिए है और यह भावना प्राचीन काल में बहुत प्रबल थी।

वैशाणस धर्मसूत्र (तीसरी ई०) में ग हस्थ के चार भेद बताए गए हैं। वार्ताव्रति वाले ग हस्थ क षि, गोपालन और वाणिज्य से जीविका कमाते थे। शालीन व्रति वाले यज्ञ और अध्यापन करते थे और दान देते थे उनमें संग्रह करने की प्रव त्ति नहीं होती थी। धोराचारिक ग हस्थ स्वयं यज्ञ करता था किन्तु दूसरों के लिए यज्ञ नहीं करता था स्वयं अध्ययन करता था किन्तु अध्यापन नहीं करता था। दान देता था किन्तु दान लेता नहीं था।

### पंचमहायज्ञ

ग हस्थ व्यक्ति कि लिए शतपथ ब्राह्मण में पांच महायज्ञ का विधान है। प्राचीन भारतीयों का यह मन्तव्य था कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और अपने साथ के मनुष्यों का ऋणी होता है। इन ऋणों से उऋण होना सब मनुष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य था तथा पांच महायज्ञों का विधान इसी प्रयोजन से किया जाता था। देवयज्ञ, पित यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ - ये पांच महायज्ञ थे।

### देवयज्ञ

सूर्य, वायु, अग्नि, प थ्वी और प्राक तिक शक्तियों व प्रक ति के विभिन्न तत्त्वों को प्राचीन भारतीय देवताओं के रूप में मानते थे। मनुष्य इन देवताओं का ऋणी होता हैं, क्योंकि सूर्य से उसे प्रकाश, अग्नि से उष्मा, वायु को प्राणों का आधार मानकर व प थ्वी से जीवन के आवश्यक तत्त्व - जल व अन्न प्राप्त करता है। मनुष्य इन ऋणों को देवयज्ञ द्वारा उतार सकता है। प्रतिदिन प्रातः व सांय अग्निहोत्र का अनुष्ठान करके ग हस्थ अग्निकुंड में अग्नि का आवधान करता है और घी के साथ अन्य सामग्री की आहुति देता है। प्राक तिक शक्तियों से मनुष्य जो ग्रहण करता है देवयज्ञ द्वारा आंशिक रूप से उसका प्रतिदान करता है। तैतिरीयारणयक में इन के नाम और सरल परिभाषाएं उल्लिखित हैं।

### पित यज्ञ

पित यज्ञ में पितरों के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है और उनकी सेवा की जाती है। मनुष्य अपने पूर्व पुरूषों का ऋणी होता है, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा जीवन प्राप्त करता है। इस ऋण से उऋण होने का एक उपाय है कि वह भी स्वयं भी सन्तान उत्पन्न करके वंश रूपी धागे को टूटने न दें और अपनी वंश परम्परा कायम रखें। प्रत्येक मनुष्य के लिए ग हस्थ आश्रम में प्रवेश इसी कारण या अपने पूर्व पुरूष या पुरखे पितर नहीं कहलाते थे वानप्रस्थ और सन्यासी लोग भी ग हस्थ के लिए पितर थे जिनका सम्मान और भौति आवश्यकताओं की पूर्ति पित यज्ञ द्वारा की जाती थी।

### न यज्ञ

मनुष्य यज्ञ को न यज्ञ और अतिथि यज्ञ भी कहते थे। अतिथियों का समुचित रूप से सम्मान करना ग हस्थ का अति आवश्यक कर्त्तव्य था। जो कोई भी अतिथि ग हस्थ के घर में आ जाए, वह किसी भी जाति का हो, चाहे परिचित हो या अपरिचित हो, सबको अपने घर ठहराना और भोजन करना ग हस्थ का परम धरम था। बौधायन धर्म सूत्र में लिखा है कि अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, ग हस्थ को उसकी सेवा करनी चाहिए। प्राचीन समय में सन्यासी या परिव्रातक किसी एक स्थान पर न ठहरकर सदा भ्रमण करते रहते थे। 'उनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। उनका एक मात्र कार्य परोपकार और हर किसी को सन्मार्ग का प्रदर्शन कराना होता था' जब कोई सन्यासी घर जाता, तो उन्हें घर में ठहरना और उनके भोजन की व्यवस्था ग हस्थ का कर्त्तव्य था।

## भूतयज्ञ

भूतयज्ञ या बलिवेश्य यज्ञ द्वारा सब प्राणियों के पालन - पोषण का मनुष्य पशुओं व अन्य प्राणियों का अपने सुःख के लिए उपयोग करता है, तो उसके प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य भी हो जाते हैं। इन्हीं कर्त्तव्यों का स्मरण कराने कि लिए भूतयज्ञ का विधान किया गया था। ग हस्थ के घर में जो भी भोजन बने, उसका अंश विविध प्राणियों के लिए अलग रख दिया जाता था, और उन्हें अर्पित करके ही ग हस्थ भोजन करता था। याज्ञवल्क्य स्म ति में कुत्तों, चाण्डालों और कौओं के लिए प थ्वी पर बलि देने का विधान मिलता है।

## ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मचर्य आश्रम मे रहकर मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता या उसे ग हस्थ होकर भुला देता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णो के स्वधर्म मे अध्ययन को भी सम्मिलित किया गया है। ग हस्थ के लिए आवश्यक है कि वह वेदशास्त्रों के अध्ययन में निरन्तर तत्पर रहे और स्वाध्याय से कभी प्रमोद न करें, इसी को ब्रह्मयज्ञ कहते थे। इसके लिए दैनिक अनुष्ठान से जहां ग हस्थ वेदशास्त्रों की शिक्षाओं का स्मरण करता था, वहां सांय ही वह धर्माचरण तथा धर्मानुकूल ढंग से धन का उपार्जन के लिए भी प्रव्रत होता था।

ग हस्थ के लिए इन पांच महायज्ञों की महत्ता इतनी है कि वैवाहिक संस्कारों के समय स्थापित ग्रहाग्नि से ही आरम्भ हो जाते थे। मनु ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि वर और वधू दोनों विवाह के समय स्थापित हुई अग्नि में यथाविधि होम करें एवं ग ही को चाहिए कि वह नित्य पंच महायज्ञ करता रहे। पंच महायज्ञ का प्रयोजन सर्वथा नैतिकता, आध्यात्मिकता और उन्नतशीलता से ओत प्रोत दिखाई देता है। पंच महायज्ञों का सम्बन्ध ग हस्थ जीवन में अज्ञानता में होने वाली हिंसा के साथ है। ग हस्थ के लिए चुल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखल-मूसल, पानी का घड़ा ये पांच हिंसा के स्थान बताए है। ग हस्थ जीवन में ये आवश्यक है और अनजाने में व्यक्ति पाप का भागी होता रहता है। महर्षियों ने इन पापों के पश्चाताप में पांच यज्ञों का उपदेश दिया है।

## तीन ऋण

देवऋण, ऋषिऋण, पित ऋण से उत्तीर्ण होने के लिए ग हस्थ को तीन ऋणों का सिद्धान्त बनाया गया है। हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार व्यक्ति का जीवन त्यागमय माना जाता है। लेकिन त्यागी जीवन व्यतीत करने के लिए कुछ आधार तो होना चाहिए। सामान्यतः मनुष्य प्रव्रति बिना किसी उद्देश्य के किसी कर्म को करने में तैयार नहीं होती। इसके अतिरिक्त मनुष्य जब पैदा होता है, उसी समय से ऋणी हो जाता है। हमारे माता-पिता ने हमें शरीर दिया, हमारा पालन पोषण किया, इसके पश्चात् अध्ययन में गुरू का योगदान जो हमें सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाता है। यह सम्पूर्ण प्रक ति जिसमें हम जीवन व्यतीत कर रहे हैं, इसके लिए हम देवताओं के ऋणी हो जाते हैं। अतः प्राचीन शास्त्रकारों ने तीन ऋणों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

### देवऋण :

मनुष्य तथा प्राणी के सुखी जीवन और सुविधा के लिए जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदि की रचना ईश्वर की देन है। अतः देवशक्तियों के निमित अन्नादि का दान, यज्ञ करके ऋण से उऋण हुआ जा सकता है। यज्ञ करने के लिए उसकी विधि,कर्मकाण्ड, वेदांग, शास्त्र और स्म ति का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। मंत्रोंच्चारण का यज्ञ में अत्यन्त महत्त्व है।

### ऋषिऋण :

हमारे पूर्वज ऋषियों ने अपनी तपस्या अपने अनुभव, प्रयोग और अध्ययन से हमारे लिए

जो अगाध ज्ञान संचित किया है और निरन्तर हम उसी द्वारा लाभान्वित हो रहे हैं इस प्रकार निश्चय ही हम उनके ऋणी हैं। विधिपूर्वक वेदादि का अध्ययन का ज्ञान का विस्तार फैलाने से ऋषियों को सन्तुष्ट किया जा सकता है। यही ऋषि ऋण से उऋण होने का साधन हैं। यह ज्ञान, दान व ब्रह्मचर्य से सन्यास आश्रम तक चल सकता है।

**पित ऋण :**

मनुष्य के जीवित रहते और म त्यु पश्चात् भी वंश परम्परा आवश्यक हैं। जिसके माध्यम से पिण्डदान, दाह श्राद्धादि कर्म करने होते हैं इनको किए बिना म त आत्मा की सद्गति नहीं होती, ऐसा हमारे शास्त्रकारों का कथन है। यह अधिकार पुत्र को ही होता है। इसीलिए हमारा धर्म है कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील संस्कार की कन्या से शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें अर्थात् ग हस्थाश्रम का पालन करे।

ग हस्थाश्रम में प्रवेश करने की अवस्था और ग हस्थ जीवन व्यतीत करने की कुछ अवधि निश्चित होती है। सन्तानोत्पत्ति के लिए ग हस्थाश्रम में प्रवेश आवश्यक है। धार्मिक संस्कारों के अनुसार विवाह कर ग हस्थाश्रम में प्रवेश तथा प्रजोत्पति ही सब तरह के ऋण, यज्ञ पूर्ण करने का साधन है। इस कारण भी भारतीय संस्क ति में विवाह एक धार्मिक कर्त्तव्य है। ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कर अपने को जीविका साधन के योग्य बनाकर ही ग हस्थाश्रम में प्रवेश अथवा विवाद करना उचित है। सभी प्राचीन ग्रन्थों में विवाह अवस्था के विषय में कोई एक द ढ़मत द ष्टिगोचर नहीं होता, एक ही ग्रन्थ में विवाह की विभिन्न अवस्थाओं में अनुमति दी हुई है। अति प्राचीन काल से अब तक सर्वमान्य विवाह कर ग हस्थ आश्रम में प्रवेश की आयु लगभग 25 वर्ष रही और 16 वर्ष की आयु में कन्या शारिरिक और मानसिक रूप से सन्तानात्पति के योग्य हो जाती है और तभी उनका विवाह संस्कार किया जाना चाहिए। ग हस्थ आश्रम के लिए जीवन के प्रथम भाग में (ब्रह्मचर्याश्रम) में तैयारी कर उसके पश्चात् ही ग हस्थ आश्रम में प्रवेश करना उचित है। ब्रह्मचर्य मे त्याग की भावना को उत्पन्न करना ही उद्देश्य था।

ग हस्थाश्रम संसार को भोगने का आश्रम था। इस आश्रम में व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य श्रम और ऐच्छिक सुखों की प्राप्ति होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह धर्म और मोक्ष के महत्त्व को पूर्णतया समझ लेता था। अर्थ और काम भी केवल व्यक्ति के ऐच्छिक सुख के लिए नहीं थे। उनके द्वारा वह समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करता और साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता था।

## वानप्रस्थ आश्रम

महाभारत में स्थान स्थान पर वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन मिलता है। जिससे हमें उस काल में इस आश्रम की स्थिति का ज्ञान होता है।

**वानप्रस्थ का काल :**

ग हस्थ जब पुत्र-पौत्र वाला होकर आनन्द से संसार यात्रा कर रहा हो तभी उसे संसार से निःस्पह हो जाना चाहिए। जीवन के त तीय भाग में वानप्रस्थ आश्रम के कार्य कलाप करने का विधान है। शरीर में व द्धावस्था की सूचना मिलते ही ग हस्थ को सम्पत्ति आदि पुत्र के हाथों में सौंपकर संसार से विमुख होकर जीवन यापन करना चाहिए। ईश्वर मनन मे समय बिताने के निमित ग हस्थ को वन की शरण लेनी चाहिए। घर छोड़कर वन में रहना पड़ता है इसीलिए इसका नाम वनप्रस्थ है।

**सपत्नीक वानप्रस्थ :**

पत्नी भी यदि पति के साथ वनगमन करने की इच्छुक हो तो पत्नी को साथ लेकर

ग हस्थ वन की ओर प्रस्थान करे, नहीं तो पत्नी को पुत्रादि के भरोसे छोड़ जाये।

**वानप्रस्थी के कर्त्तव्य**

वानप्रस्थ लेने के बाद उपनिषद् आदि आरण्यक शास्त्रों को अध्ययन करने का नियम था। वानप्रस्थी तीर्थ क्षेत्रादि में अथवा नदी के उद्गम जैसे जंगल में जाकर तपस्या करते हुए काल यापन करते थे। साधारण जन समाज के साथ उनके आचार व्यवहार खान-पान, पहनने-ओढ़ने में कोई मेल नहीं था ? ग हस्थोचित वस्त्राभूषण व खाद्य उनके लिए सर्वथा वर्जनीय था। वन्य औषधि, फलमूल व शुष्क पत्र आदि उनकी क्षुधा निवारण करते थे। भूमि, शिलातल, बालू आदि उनकी शय्या होती थी। कास, कुश, चर्म एवं वल्कल उनके वस्त्र होते थे। हजामत बनाना उनके लिए निषिद्ध था। एकमात्र धर्मानुष्ठान उनके शरीर धारण का उद्देश्य था। सर्वभूत में मैत्री रखना ही वानप्रस्थ धर्म का मर्म है। यथाकाल में स्नानादि से निव त होकर होम का अनुष्ठान करना, समिधा, कुश पुष्प आदि आनुष्ठानिक द्रव्यों का संग्रह करना एवं परमतत्व के साक्षात के अनूकूल चिन्ता में निमग्न होकर कालयापन करना ही वानप्रस्थ धर्म है। जो इस प्रकार त तीय आश्रम के कर्मो का अनुष्ठान करते हैं वे अनायास समस्त कलुषताओं से निष्क ति पा जाते हैं। समस्त कलभषताओं से मुक्त, स्वावलम्बी, दाता, परोपकारी सर्वभूतहित में रत, आहार विहारादि में संयमी, आरण्यक ऋर्षि उत्क ष्ट सिद्धि लाभ करते हैं। अग्निहोत्री ग हस्थ अग्नि के साथ अरण्य की ओर गमन करे, आहार-विहार आदि में संयत चित्त होकर दिवस के छठे भाग में शरीर पोषण के निमित फलमूलादि ग्रहण करे। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास एवं चातुर्मास आदि में जो हवि व्यवहार करे। वह अनायास लभ्य एवं अरण्य जात होनी चाहिए।

**चार प्रकार का वानप्रस्थ**

वानप्रस्थ आश्रम में भी चार प्रकार की व त्तियों का उल्लेख है - संधसंचय, मासिक संचय, वार्णिक संचय एवं द्वादशवर्षिक संचय जो एक साल या बारह साल की उपयोगी खाद्य सामग्री का संग्रह करते थे उनका उद्देश्य अतिथि सेवा व यज्ञानुष्ठान था।

**वानप्रस्थधर्म का उद्देश्य :**

अत्यंत कष्ट साधना द्वारा चित शुद्धि करना वानप्रस्थ धर्म का प्रधान उद्देश्य है। परमात्दर्शन के निमित स्वयं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ग हस्थ को वानप्रस्थ का अवलम्बन लेना पड़ता है।

**ध तराष्ट्रादि का वानप्रस्थ ग्रहण :**

ध तराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती, विदुर व संजय के वानप्रस्थग्रहण का चित्र आश्रमवसिक पर्व में चित्रित ओर ध तराष्ट्र ने वल्कल व चर्मवस्त्र धारण कर गांधारी के साथ वन की ओर प्रस्थान किया था भागरथी के तीर पर जंगल में तपस्वी ध तराष्ट्र आदि वानप्रस्थावलम्बी कुशशय्या पर शयन करते थे।

**केकयराज शलयूप :**

अरण्य में और भी अनेक वानप्रस्थी थे, जो उन्ही की तरह आरण्यक धर्माचरण में कालयापन कर रहे थे। केकयराज शतयूप कुरूक्षेत्र के किसी आश्रम में रहकर वानप्रस्थ धर्म का पालन कर रहे थे, उनके साथ ध तराष्ट्र आदि का साक्षात हुआ था।

**ययाति :**

ग हस्थाश्रम में जी भर कर विषय करने के बाद ययाति ने वानप्रस्थ का अवलम्बन किया था। फलमूल द्वारा शरीर का पोषण करते हुए शास्त्रानुसार धर्मानुष्ठान करके वे स्वर्ग जाने में समर्थ हुए थे।

**पांडु का अवध वानप्रस्थ :**

महाराज पाण्डु के वानप्रस्थ का उल्लेख भी मिलता है। उन्होने सपत्नीक प्रवज्या ग्रहण की थी। म गरूपधारी किन्दम् मुनि की छया करने पर उन्हें वैराग्य हुआ, सामयिक वैराग्य ही उनके ग हत्याग का कारण था। शास्त्रीय समय के अनुसार उन्होंने वानप्रस्थ नहीं किया था।

**राजर्षियों के नियम :**

अन्तिम जीवन में वन में वास राजर्षियों के आवश्यक कर्त्तव्यों में गण्य था।

**सन्यास आश्रम**

जीवन के अंतिम भाग में वानप्रस्थ का काल यापन करने के बाद सन्यास ग्रहण का विधान था। शरीर जब नितान्त जराग्रस्त हो, नाना प्रकार की व्याधियों से अक्रान्त हो, उस वक्त प्राजापत्य का अनुष्ठान करके सब कुछ त्याग करने का विधान बनाया गया है। शास्त्रीय विधान में विहित कर्म का त्याग करना ही सन्यास है। अगर इच्छा हो तो सन्यास ग्रहण के पूर्व अपने श्रद्धादि स्वयं ही सम्पादित किये जा सकते हैं।

**सन्यासी का क त्य :**

सन्यास आश्रम में स्त्री-पुरूष परिजन किसी को भी साथ नहीं रखा जाता था। केश दाढी-मूछ आदि का भी मुड़न करने का नियम है।

गार्हस्थ्य एवं वानप्रस्थ इन दोनों आश्रमों के समस्त अनुष्ठानों द्वारा स्वयं को सन्यास के लिए तैयार करना एक विशिष्ट साधना है। यथार्थ आश्रम कर्मो के प्रात्याहिक अनुष्ठान द्वारा ही चित्त की शुद्धि पैदा होती है। चित्त शुद्धि ही परमतत्व के साक्षात्कार में प्रधान सहायक होती है। भिक्षु के धर्माचरण में दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। विधिपूर्वक अग्नि का परित्याग करके सर्वत्यागी योगी को थोड़े से उदरात्र के लिए ग हस्थ से भिक्षा लेनी चाहिए। भिक्षा-पात्र व गैरिक वस्त्र ये दो वस्तुएं ही उनके लिए प्रयोजनीय है। उनका निर्दिष्ट वासस्थान नहीं होता। मान-अपमान दोनों उनके लिए समान हैं। एकमात्र ईश्वर चिन्तन के अलावा और सब विषयों के प्रति उदासीनता ही सन्यासी का यथार्थ लक्षण है। सभी प्राणियों के प्रति समताभाव व मैत्री सन्यासी के हृदय में सदा रहनी चाहिए। आत्म चिन्तन के साथ-साथ सन्यासी को सर्वभूत की कल्याण कामना भी करनी चाहिए। हृदय अगर अपवित्र हो तो देहधारण, मुंडन, उपवास, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य वनवास आदि सब कुछ निष्फल हो जाता है।

**चार प्रकार के सन्यासी :**

भिक्षुओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ( क ) कुटीचक, ( ख ) बहूदक, ( ग ) हंस, ( घ ) परमहंस। ( क ) कुटीचक सन्यासी एक स्त्री पत्रादि से भी भिक्षा ग्रहण करने में इन्हें कोई आपत्ति नही होती (ख) बहुदक सन्यासी सत्यनिष्ठ ब्राह्मण ग हस्थ से भिक्षा ग्रहण करते हैं और दंड़, कमंडल, शिखा, यज्ञोपवीत, काषायवस्त्र आदि का परित्याग नहीं करते। कुटीचक व बहुदक सन्यासी त्रिदंड धारण करते है। ( ग ) हंस सन्यासी भी शिक्षा आदि तो रखते है लेनिक किसी भी स्थान पर एक रात्रि से अधिक व्यतीत नहीं करते। ये केवल एक दंड-धारण करते हैं। ( घ ) परमहंस समस्त विधि-निषेधों से ऊपर होते हैं। इन्हें शौच का विचार न हो तो भी कोई बात नहीं हैं। ये भी एक दंडधारी होते हैं। सत्व, रंज, तम से तीनों गुण इनकी तश्यतः स्वीकार कर लेते हैं।

**सन्यासाश्रम का फल :**

शास्त्रों के अनुसार सन्यासाश्रम धर्म के पालन का फल ब्रह्मत्व प्राप्ति है।

**सन्यासाश्रम की परहितैषणा :**

बहुदक सन्यासी तीर्थयात्रा प्रसंग में समाज के लिए अनेको तरह से कल्याण साधना करते थे। काम्पक वन में युधिष्ठिर आदि के साक्षात होने पर ऋर्षि मैत्रेय से मित्रता करने के लिए ध तराष्ट्र से अनुरोध किया था। वनपर्व में मार्कण्डेय व हदश्त, लोमेश आदि ऋर्षियों की परहितैषणा स्पष्ट रूप से चित्रित हुई है।

**योगविभूति का अप्रकाश्य :**

भिक्षु उदरात्र के लिए साधु ग हस्थों के द्वार पर भिक्षापात्र हाथ में लिए उपस्थित होते थे, किन्तु किसी भी प्रकार के पाण्डित्य या योगशक्ति का प्रदर्शन करके भिक्षा प्राप्त करना बिल्कुल वर्जित था।

**आश्रम धर्म पालन की परिणति :**

आश्रमधर्म के अनुष्ठान से मनुष्य का जीवन एक नियन्त्रित पथ पर चल पाता था, इसमें कोई संदेह नहीं है। कर्मठ ग हस्थ बनने के लिए ब्रह्मचर्य की उपयोगिता कितनी अधिक है वह उस काल के समाज के परिचालक अच्छी तरह समझा सकते थे। विहित कर्मो के अनुष्ठान से गार्हस्थाश्रम को सर्वोपेक्षा मधुर बनाया जा सकता है, यह भी महाभारत में स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है। यह उसमें की हुई गार्हस्थ की शतमुखी प्रशंसा से अच्छी तरह समझा जा सकता है। सब आश्रमों में एक ऐसा अच्छेद्ययोग सूत्र देखने का मूल सुर ठीक से झंकृत नही होगा और मानव जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो जाएगा। जीवन के एक-एक स्तर को एक-एक आश्रम के नियमाधीन करने में हम उस युग की सामाजिक स्थिति के एक महत परिणाम की कल्पना कर सकते हैं। आश्रम धर्म उज्जवल भविष्य को लक्ष्य में रखकर परिचालित होता था, इस विषय में किसी को भी संदेह करने का मौका शायद नहीं मिल सकता। महाभारत में उल्लिखित व्यक्तियों के जीवन पर ध्यान देने पर पता लगता है कि सबके जीवन में शास्त्रानुसार आश्रमधर्म का पालन नहीं हुआ। द्रोणाचार्य व द्धावस्था तक ग हस्थ ही थे। ध तराष्ट्र, विदुर, क ष्ण इनमें से किसी ने भी यथा समय वानप्रस्थ का अवलम्बन नहीं लिया था। भीष्म की बात आलोच्य नहीं है वे थे नैष्ठिक ब्रह्मचारी इन सब व्यतिक्रमों को देखकर यही मानना चाहिए कि महाभारत काल मे आश्रम धर्म शिथिल हो गया था। इसमें प्रत्येक किसी विशेष घटना वंश ठीक वक्त पर कर्त्तव्य-पालन नही कर पाये थे अथवा आश्रमान्तर ग्रहण की अपेक्षा उस काल के महायुद्ध के योग देना ही उनके लिए कर्त्तव्य बन गया होगा। आश्रम धर्म के गुणगान में कहा गया है ब्रह्मचारी, ग हस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासी यदि निष्ठापूर्वक अपने अपने कर्म का पालन करेगें तो वे परमगति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होगे।

# अध्याय - 10
# संस्कार
# (Sanskaras)

### परिचय

प्राचीन काल में हिन्दु समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व के उत्थान एवं सर्वागीण विकास के उद्देश्य से संस्कारों का संयोजन किया गया। मनुष्य जीवन का दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और अनुशासित करने के निमित संस्कारों की अभिव्यक्ति की गई। धर्म, यज्ञ और कर्मकाण्ड संस्कारों का मूल आधार है। प्राचीन काल से आज तक अनेक परिवर्तनों के बावजूद आज भी संस्कारों का हिन्दु समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। आन्तरिक और बाह्य शुद्वता, नैतिकता और आध्यात्मिकता तथा जीवन की पवित्रता संस्कारों के माध्यम से प्राप्त होती है, ऐसा धर्मशास्त्रों ने माना है। क्रमिक रूप में मनुष्य के जन्म के पहले ही प्रारम्भ हो जाते हैं और उसकी म त्यु तक निरन्तर बने रहते हैं। इन्ही के माध्यम से मनुष्य का समाजीकरण होता है। वस्तुतः संस्कारों में अनेक देवी-देवताओं का स्मरण किया जाता है, अग्नि के सम्मुख, मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है तथा धार्मिक अनुष्ठानों से अपने को परिशुद्ध किया जाता है। इन कार्यो से मनुष्य पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि वह संस्कारों द्वारा सौंपे गए दायित्वों को कर सकने में समर्थ है और उस पर देवी-देवताओं की अनुकम्पा भी है। संस्कारों का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से रहा है। मानव जीवन एक महान रहस्य है संस्कार इसके उद्‌भव, विकास और ह्याय की समस्याओं का समाधान करते हैं उनको एक धार्मिक तर्क प्रदान करते हैं। स्म तिकारों के अनुसार संस्कार पशुता को भी संस्कृत मनुष्यता में परिणत कर देते हैं।

जीवन एक चक्र माना गया है यह वहीं आरम्भ होता है जहाँ उसका अन्त होता है। जन्म से म त्यु पर्यन्त जीवित रहने, विषय भोग तथा सुख प्राप्त करने, चिन्तन करने तथा अन्त में इस संसार से प्रस्थान करने की अनेक घटनाओं की श्र ंखला ही जीवन है। संस्कारों का संबंध जीवन की इन सभी घटनाओं की श्र ंखला से है।

व्यक्ति का समाज का सदस्य बनना, अपने व्यक्तित्व का विकास करना, परिवार या कुटुम्ब के माध्यम से समाज का उत्थान करना, अपना नैतिक और शैक्षणिक विकास करना आदि इन्हीं संस्कारों के माध्यम से ही सम्भव रहा है। कहने का अभिप्राय है कि ये संस्कार ही मनुष्य को समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बनाते है।

### संस्कार का अर्थ

संस्कार के अनुपालन से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और और वैयक्तिक उत्कर्ष ही नही होता बल्कि सामाजिक और धार्मिक जीवन भी उन्नत होता है। 'संस्कार' शब्द 'कृअ' धातु में 'ध' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ शुद्धता अथवा पवित्रता से है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कार को 'ceremony' या 'rites', 'rituals' से जोड़कर 'संस्कारों' को समझाने का

प्रयत्न किया है परन्तु ये भ्रामक शब्द हैं। संस्कार अंग्रेजी का सैक्रामेन्ट (Scrament) शब्द के सबसे नजदीक है बजाय के ceremony या rites शब्दों के क्योकिं Scrament शब्द का अर्थ धार्मिक विधान से है और संस्कार का अर्थ भी आमतौर से यहीं लिया जाता है। हालाकिं मींमासा के अर्न्तगत इसका अर्थ विधिवत् शुद्धि है।

मनुष्य के अभीष्ट की प्राप्ति और उसके परियोजन की सिद्धि संस्कारों के माध्यम से मानी गई है। देवताओं को प्रसन्न करने तथा अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न संस्कारों की प्रतिष्ठा की गई है। जीवन में नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रव तियों के निर्माण और उनसे अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करना भी संस्कार सम्मत मनुष्य का अभिलक्षित लक्ष्य रहा है। प्रतयेक मनुष्य, स्म तिकारों के अनुसार, अपवित्र उत्पन्न होता है और उसे पवित्र होने के लिए शुद्धि अथवा संस्कारों की आवश्यकता होती है। संस्कृत साहित्य में संस्कार के अनेक अर्थ मिलते हैं जैसे धार्मिक विधि-विधान, शुद्धि, परिष्कार, शिक्षा, प्रशिक्षण, सौजन्य, धारणा, पवित्रता, अनुष्ठान आदि।

संस्कारों का उदय वैदिक काल में हो चुका था, जैसा कि वेदों के विशेष कर्मकाण्डीय मन्त्रों से विदित होता है किन्तु वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का प्रयोग उपलब्ध नही होता। ब्राह्मण साहित्य में भी इस शब्द का उल्लेख नही है, यद्यपि इसके विशेष प्रकरणों में उपनयन, अन्तेष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अंगों का वर्णन किया गया है।

मींमासक इस शब्द का व्यवहार वैयक्तिक शुद्धि के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों के लिए न कर अग्नि में आहूति देने से पूर्व यज्ञिय सामग्री के परिष्कार के लिए करते हैं।

### संस्कारों का प्रयोजन (उद्देश्य)

मौटे तौर पर हम संस्कारों के प्रयोजन को दो वर्गो में विभाजित कर सकते हैं।

### 1. लोकप्रिय एवं अंधविश्वास पूर्ण

### 2. कर्मकाण्डीय तथा सांस्कृतिक

पहला वर्ग सरल विश्वास तथा अकृत्रिम मन की सहज सादगी से उदि ष्ट हैं। दूसरा वर्ग उद्भव सामाजिक विकास और उन्नति के कारण हुआ है।

### लोकप्रिय प्रयोजन

प्राचीन समय में लोगों का विश्वास था कि वे चारों ओर से ऐसे अतिमानुष प्रभावों से घिरे हुए हैं, जो बुरा एवं भला करने की शक्ति रखते हैं। अतः अमंगलजनक प्रभावों को दूर करने तथा हितकर प्रभावों की प्राप्ति के लिए संस्कारों का सम्पन्न आवश्यक है। जिससे मनुष्य बिना किसी बाह्य विघ्न के अपना विकास और अभिव द्धि कर सके तथा देवों और दिव्य शक्तियों से सामयिक निर्देश और सहायता प्राप्त कर सके।

### संस्कारों का भौतिक उद्देश्य

हिन्दुओं का विश्वास है कि आराधना और प्रार्थना के माध्यम से उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को देवता जान लेते है और पशु, सन्तान, अन्न, स्वास्थ्य तथा सुन्दर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि के रूप में उनकी इच्छा की पूर्ति करते हैं। पुरोहित सदा जनसाधारण की इन भौतिक आकांक्षाओं को प्रश्रय देता रहा है।

### संस्कार : आत्माभिव्यक्ति के माध्यम

दुःख तथा सुख को व्यक्त करने के लिए संस्कारों का अनुष्ठान किया जाता था। संतान के जन्म के समय पिता को अत्यंत आनन्द होता था, विवाह मनुष्य जीवन के सबसे बड़े उत्सव का अवसर था, शिशु के प्रगतिशील जीवन का प्रत्येक चरण परिवार को सन्तोष और हर्ष से पूर्णतः

भर देता था। म त्यु शोक का अवसर था जो चारों ओर करुणा ही करुणा का द श्य उपस्थित कर देता था। उसके शोक की अभिव्यक्ति अन्तेष्टि कृत्य में होती थी। इसी प्रकार श्राद्ध के द्वारा व्यक्ति शोक की अभिव्यक्ति करता है। इस तरह संस्कार एक प्रकार से आत्माभिव्यक्ति का साधन है।

**सांस्कृतिक प्रयोजन**

अनेक प्रकार के संस्कारों को करने से शरीर की अपवित्रता दूर होती है ऐसा विश्वास था। उत्पन्न होते समय प्रत्येक व्यक्ति शुद्र होता है इसलिए उसका संस्कार व परिमार्जन आवश्यक है, ऐसी प्रचलित मान्यता थी। उपनयन से ही वह द्विज कहलाता है। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति तथा ग हस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए संस्कारों का अनुष्ठान करना आवश्यक समझा जाता था। संस्कारों का प्रयोजन बच्चे की शुद्धिकरण भी था। याज्ञवालक्य के अनुसार संस्कार द्वारा बीज गर्भ जनित दोषों का निवारण सम्भव है। मनु के अनुसार भी द्विजातियों में गर्भाश्य के दोषों को गर्भादान काल के होम एवं जातकर्म के साथ चौलादि संस्कारों के माध्यम से दूर किया जा सकता है।

**नैतिक प्रयोजन**

संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति अपने दायित्वों की पूर्ति नैतिकता के आधार पर करता है। वास्तव में संस्कारों के भौतिक स्वरूप से उसके नैतिक स्वरूप के विकास में सहायता मिलती है। संस्कारों को अपने आप में कभी साध्य नही माना गया। उनके माध्यम से नैतिक सद्गुणों के परिपक्व हो जाने से व्यक्ति का नैतिक उत्थान संभव था। यद्यपि इनमें अनेक बातें धार्मिक तथा अन्धविश्वास पूर्ण हैं किन्तु व्यक्ति के नैतिक विकास के प्रयत्न भी प्रत्यक्ष रूप से द ष्टिगत होते हैं।

**वयक्तित्व का निर्माण एवं विकास**

संस्कारों का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास भी था। ये संस्कार इस प्रकार व्यवस्थित किये गये हैं कि जीवन के आरम्भ से ही व्यक्ति इनके प्रभाव में आ जाता है। संस्कार मार्गदर्शक का कार्य करते हैं जो आयु के बढ़ने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं फलतः एक व्यक्ति के लिए अनुशासित जीवन व्यतीत करना आवश्यक है ताकि उसकी शक्तियाँ सुनियोजित व सौद्देश्य धारा में प्रवाहमान रहे और वह न केवल अपने जीवन को ही सुचारु रूप से संचालित करने में सक्षम हो अपितु दूसरों के लिए भी पथ प्रदर्शक बन सके। संस्कारों को अनिवार्य बनाने का उद्देश्य यह था कि संस्कृति तथा चरित्र की द ष्टि से समाज का स्वरूप विकसित हो तथा उसे समान आदर्श से अनुप्राणित किया जा सके।

**आध्यात्मिक महत्व**

आध्यात्मिकता हिन्दु धर्म की प्रमुख विशेषता है और इस विचार धारा ने संस्कारों को भी साधना के रूप में परिणत कर दिया। हिन्दु धर्म का अंग-प्रत्यंग आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत रहा है। उन आध्यात्मिक भावनाओं के विकास और पोषण में संस्कारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओं के बीच मध्य मार्ग का कार्य करते थे। व्यक्ति के मन में यह भावना रहती थी कि उसका सम्पूर्ण जीवन संस्कारमय हो। संस्कार ही मनुष्य के सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मेल-जोल स्थापित करते हैं। इसकी पुष्टि यजुर्वेद के उल्लेख से हो जाती है। यजुर्वेद के अनुसार जो व्यक्ति विद्या अथवा अविद्या दोनों को जानता है वही अविद्या से म त्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

हिन्दु संस्कारों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इसके दो रूप होते हैं-एक ब्रह्म और दूसरा आन्तरिक। एक ओर जहाँ इनके द्वार व्यक्ति के बाहरी विकास को संगठित करने

में यथासंभव मदद मिलती है, वहीं दूसरी ओर उसके आन्तरिक गुणों को भी पुष्ट किया जाता है। समस्त संस्कारों का आधार सरल विश्वास तथा सादगी कहा जा सकता है।

स्वाध्याय, जप, यज्ञ, महायज्ञ आदि विधिपूर्वक करने से मानव शरीर ब्रह्मीय शरीर हो जाता है। इस तरह स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की मानसिक और शारिरीक शुद्धि हेतु जो क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं उनको ऋषि-मुनियों ने संस्कार नाम दिया है। संस्कारों की सम्पन्नता द्वारा इस लोक तथा परलोक में पवित्रता की प्राप्ति होती है और यह शरीर ब्रह्म शरीर कहलाने योग्य हो जाता है। संस्कारों द्वारा हिन्दु संस्कृति का विकास होता था। हिन्दुओं को यह परम् विश्वास था कि साविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बन्धन से मुक्त होकर म त्यु के सागर को पार कर लेते हैं।

संस्कारों के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि इनका प्रचलन हिन्दु समाज में कब से प्रारम्भ हुआ? यद्यपि संस्कार शब्द वैदिक साहित्य में नही मिलता, लेकिन प्रसंगवश कुछ धार्मिक कृत्यों का उल्लेख अवश्य हुआ है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में गर्भाधान, विवाह और अन्त्येष्टि जैसे धार्मिक कार्यो के सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। इसी तरह सामवेद में उपनयन संस्कार, शतपथ ब्राह्मण में उपनयन के साथ अन्त्येष्टि और गोपथ ब्राह्मण में केवल उपनयन का उल्लेख मिलता है। इस तरह संस्कारों का एक व्यवस्थित क्रम यहाँ देखने में भले ही न आता हो परन्तु विभिन्न संस्कारों के संदर्भ अवश्य ही वैदिक साहित्य में इधर-उधर उपलब्ध हैं।

ग ह्यसूत्रों के समय से संस्कारों का एक व्यवस्थित क्रम हमारे सामने उपस्थित होने लगता है। ग ह्यसूत्र साधारणतयः विवाह से आरम्भ कर समावर्तन संस्कार तक का निरुपण करते हैं। इनमें संस्कारों की संख्या 12 से 18 तक है। अधिकांश ग ह्यसूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख नही मिलता। सम्भवतः इसे शुभ संस्कारों की श्रेणी में नही रखा जाता था। संख्या की द ष्टि से आश्वलयान ग ह्यसूत्र में 12, पारस्कर, बौधायन एवं वाराह ग ह्यसूत्र में 13 तथा वैखानय ग ह्यसूत्र में 18 संस्कारों का वर्णन है। मनुस्म ति में 13 संस्कारों का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य स्म ति में केशान्त को छोड़कर मनुस्म ति के शेष बारह संस्कारों का उल्लेख है। मन स्म ति में पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन संस्कारों तथा याज्ञवल्क्य स्म ति में केशान्त संस्कारों का उल्लेख नही हुआ है। परन्तु परवर्ती स्म तियों में संस्कारों की संख्या सोलह मिलती है। इन संस्कारों के नाम इस प्रकार हैः- (i) गर्भाधान (ii) पुंसवन (iii) सीमान्तोन्नयन (iv) जातकर्म (v) नामकरण (vi) निष्क्रमण (vii) अन्नप्राशन (viii) चूड़ाकर्म (ix) कर्णवेध (x) विद्यारम्भ (xi) उपनयन (xii) वेदारम्भ (xiii) केशांत (xiv) समावर्तन (xv) विवाह (xvi) अन्त्येष्टि।

उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में विद्यारम्भ को वेदारम्भ के अर्न्तगत तथा केशान्त व गोदान को समावर्तन में ही मानकर वानप्रस्थ एवं संन्यास इन दो संस्कारों को भी उल्लिखित किया है। प० भीमसेन शर्मा की 'षोडस संस्कार विधि' में भी केवल स्वामी दयानन्द स्वीकृत सोलह संस्कारों का उल्लेख हुआ है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू संस्कार' में सोलह संस्कारों का वर्णन इस प्रकार किया है- गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोंन्नयन, नामक तीनों संस्कार जन्म से पूर्व सम्पन्न किये जाते हैं। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध नामक छः संस्कारों का आयोजन बाल्यावस्था में होता है। विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त अथवा गोदान और समावर्तन नामक पाँचों संस्कार शैक्षणिक संस्कार हैं। विवाह नामक शिक्षोपरान्त संस्कार है और अन्त्येष्टि जीवनोपरान्त सम्पन्न किया जाने वाला अन्तिम संस्कार है। प्रायः संस्कारों की संख्या सोलह ही स्वीकार की जाती है जिसका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है :-

### 1. गर्भाधान-संस्कार

गौतम और बौधायन आदि व्यवस्थाकारों ने इस संस्कार का सर्वप्रथम उल्लेख किया है।

इस संस्कार के द्वारा पुरूष विवाह के पश्चात् स्त्री में अपना वीर्य स्थापित करता है। वैखानस के अनुसार गर्भाधान नामक संस्कार का आयोजन ऋतु-संगमन (मासिक प्रवाह के पश्चात् विवाहित जोड़े के सम्भोग) के पश्चात् किया जाता है और वह गर्भाधान को द ढ़ करता है। इस तरह पुरूष और स्त्री के शारिरीक सम्बन्ध-स्थापन को ही गर्भाधान की संज्ञा दी जा सकती है। इस सम्बन्ध में बताया गया है कि विवाह की चौथी रात्रि को यह संस्कार करना चाहिए। इसके लिए रात्रि का समय ही उपयुक्त कहा गया है। मनु और याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार को 'निषेक' शब्द द्वारा भी सम्बोधित किया है मनुस्म ति में कहा गया है कि-

वैदिकः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम

अर्थात वेद में कहे हुए मंत्रयोग आदि शुभ कर्मो को करने के बाद द्विजों को गर्भाधान संस्कार करना चाहिए।

मनु और याज्ञवल्क्य ने यह व्यवस्था दी है कि लड़के की उत्पत्ति हेतु मासिक धर्म के चौथे दिन के उपरान्त सम दिनों में तथा लड़की हेतु विषम दिनों में सम्भोग करना चाहिए। पाराशर का मत था कि जो व्यक्ति ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ सम्भोग नही करता, वह भ्रूण हत्या का दोषी होता है। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य संतान उत्पन्न करना था, जो एक तरह से धार्मिक कृत्य समझा जाता था।

मत्स्यपुराण में गर्भधारण करने वाली गर्भिणी स्त्री के सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिये गये हैं, उदाहरणार्थ गर्भिणी स्त्री को संध्याकाल में भोजन नही करना चाहिए, उसे व क्ष के मूल पर नही बैठना चाहिए, न उसके निकट जाना चाहिए, जल में घुसकर स्नान नही करना चाहिए, मन को उद्विग्न नही होने देना चाहिए, सदा नींद में अलसाई हुई नही रहना चाहिए, कठिन परिश्रम का कार्य नही करना चाहिए, शरीर को तोड़ना-मरोड़ना नही चाहिए, अमंगलसूचक वाणी का प्रयोग नही करना चाहिए, नित्य मांगलिक कार्यो में तत्पर रहना चाहिए इत्यादि। जो गर्भिणी स्त्री विशेष रुप से इन नियमों का पालन करती है, उसका गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह शीलवान एवं दीर्घायु होता है।

### 2. पुंसवन-संस्कार

'पुंसवन' शब्द अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है 'लड़के को जन्म देना।' इस प्रकार इस संस्कार का आयोजन पुत्र प्राप्ति के लिये किया जाता था। पारस्कर ग ह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण करने के द्वितिय या त तीय मास में होना चाहिए जबकि गोभिल, काठक और मानव ग ह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार गर्भधारण करने के क्रमशः तीसरे , पाँचवें और आठवें मास में सम्पन्न होना चाहिए। आपस्तम्बग ह्यसूत्र, हिरण्यकेशिग ह्यसूत्र एवं भारद्वाजग ह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार सीमान्तोन्नयन के पशचात् सम्पन्न होता है। याज्ञवल्क्य तथा पारस्कर का मत है कि जब भ्रूण हिलने लगे तब यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। इस तरह इस संस्कार के उचित समय को लेकर व्यवस्थाकारों में मतभेद है। सामान्य धारणा यह कि गर्भ स्पष्ट होने पर ही इसे सीमान्तोन्नयन के पूर्व आयोजित करना चाहिए। इस संस्कार को सम्पन्न करने में उन देवताओं को आराधना द्वारा प्रसन्न किया जाता था जिनकी कृपा से पुत्री के स्थान पर पुत्र उत्पन्न हो। हिन्दु समाज में पुत्र प्राप्ति की लालसा का एक प्रमुख कारण यह था कि श्राद्ध और पिण्डदान का अधिकार केवल पुत्र को ही था। वंश और कुल की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए अति प्राचीन युग से पुत्र की कामना होती रही है। अथर्ववेद तथा सामवेद में इस प्रकार की प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं कि पुत्र जन्म देने वाली प्रशंसनीय है। बहुत से ग ह्यसूत्रों में नये पत्तों को कूटकर स्त्री के दायें नथुने में निचोड़ने का निर्देश दिया गया है। सम्भवतः यह पुत्र प्राप्ति के जन्म के निश्चय के उद्देश्य से ही छोड़ा जाता था।

### 3. सीमान्तोन्नयन-संस्कार

आश्वलायन, बौधायन, भारद्वाज, गोभिल, वैखानस आदि ग ह्यसूत्रों में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार को 'सीमन्त' शब्द से सम्बोधित किया है। यह संस्कार गर्भकाल का तीसरा संस्कार था। इसमें गर्भवती स्त्री के केशों को उठाने का विधान था। गर्भाधान के चौथे मास में इस संस्कार का आयोजन किया जाता था। इस संस्कार को सम्पन्न करने में मन्त्रों के साथ होम होता था। इस संस्कार का केवल सामाजिक एवं औत्सविक महत्व था, क्योकिं यह केवल गर्भिणी को प्रसन्न रखने के लिए था। जनसामान्य के मन में यह आस्था थी कि गर्भिणी स्त्री को अमंगलकारी शक्तियाँ दुःखित कर देती हैं, इसलिए उनके निवारण हेतु एक विशेष संस्कार की आवश्यकता होती है। आश्वलायनग ह्यसूत्र में इस विश्वास का उल्लेख हुआ है जहाँ यह लिखा है कि राक्षसियाँ नारी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं, इसलिए इन अमंगलकारी शक्तियों को भगाने के लिए इस संस्कार को आयोजित किया जाना चाहिए। इस प्रकार स्त्री को प्रसन्न रखने के साथ दुष्ट शक्तियों और समस्त बाधाओं से गर्भवती स्त्री की रक्षा हेतु इस संस्कार को आयोजित किया जाता था।

### 4. जातकर्म-संस्कार

पुत्र जन्म के उपरान्त यह संस्कार सम्पन्न होता था। पारस्करग ह्यसूत्र के अनुसार नाल काटने से पूर्व इस संस्कार को सम्पन्न कर लेना चाहिए। आश्वालयान के मतानुसार भी यह संस्कार पुत्र उत्पन्न होते ही तुरन्त सम्पन्न कर लेना चाहिए। उस समय जब जननी के पूर्व अन्य किसी भी व्यक्ति ने उसे न देखा हो। मनु के अनुसार यह संस्कार नाभि-छेदन के पूर्व सम्पन्न करना चाहिए। ब हदारण्यकोपनिषद् में जातकर्म संस्कार के निम्नलिखित भाग बताये गये है-

(1) दही एवं घ त का मंत्रों के साथ होम करना, (2) बच्चे को दाहिने कान में से 'वाक' शब्द को तीन बार उच्चारित करना, (3) सुनहले चम्मच या श्लाका से बच्चे को दही, मधु या घ त चटाना, (4) बच्चे को एक गुप्त नाम देना (5) बच्चे को माता के स्तन के पास ले जाना, (6) माता को मंत्रों द्वारा सम्बोधित करना। शतपथ ब्राह्मण में एक बात और जोड़ दी गई है जिसके अनुसार पाँच ब्राह्मण या केवल पिता शिशु के ऊपर सांस लेता है। पारस्कर ने भी यही मत प्रकट किया है। मनु का भी मत है कि इस संस्कार में नवजात बालक को स्वर्ण, ध त, मधु को मंत्र द्वारा प्राशन कराया जाना चाहिए। वैज्ञानिक द ष्टिकोण से इस संस्कार को सम्पन्न करने का प्रमुख प्रयोजन बालक को स्वस्थ और तीव्र बुद्धि के साथ विकसित मस्तिष्क वाला बनाना था।

### 5. नामकरण-संस्कार

इस संस्कार में शिशु का नाम रखा जाता था। इसको 'नामधेय' भी कहा जाता था। आपस्तम्बग ह्यसूत्र, आश्वलायनग ह्यसूत्र, बौधायनग ह्यसूत्र, गोभिलग ह्यसूत्र में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है। ब हदारण्यकोनिषद्, आश्वलायनग ह्यसूत्र, महाभाष्य आदि के अनुसार जन्म के दिन ही नाम रखने की व्यवस्था की गई है। आपस्तंम्ब, बौधायन, भारद्वाज एवं पारस्कर ने नामकरण के लिए दसवां दिन बताया है। मनु ने नवजात शिशु के 10वें अथवा 12वें दिन इस संस्कार को आयोजित करने की सलाह दी है। याज्ञवल्क्य ने जन्म के 11वें दिन इस संस्कार को आयोजित करने की सलाह दी है। बाण ने कादम्बरी में उल्लिखित किया है कि तारापीड ने अपने पुत्र चन्द्रापीड का नाम दसवें दिन रखा था। आधुनिक हिन्दु समाज में साधारणतया यह संस्कार जन्म के 12वें दिन ही सम्पन्न होता है और जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में इसे 'बरही' के नाम से पुकारा जाता है। समस्त ग ह्यसूत्रों में यह नियम प्रतिपादित किया गया है कि पुरूष का नाम दो या चार अक्षरों का या सम संख्या वाला होना चाहिए। शांखायन ने छः एवं बौधायन ने छः अथवा आठ अक्षरों वाले नामों का भी समर्थन किया है। ब हस्पति ने 'वीर मित्रोदय

संस्कृत-प्रकाश' में नामकरण की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि समस्त नाम समस्त लौकिक व्यवहारों और भाग्योदय का हेतु हैं। मनुष्य अपने नाम के आधार पर ही कीर्ति प्राप्त करता है। अतः नामकरण संस्कार प्रशंसनीय है-''नामाखिलस्य व्यवहार हेतु शुभा वहं कर्म सुभाग्य हेतु नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यः ततः प्रशस्तं खलु नाम कर्म।'' मनु ने वर्णो का बोध कराने वाले नामों का संकेत दिया है-

शर्म वद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षा समन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसयुतम्।।

अर्थात ब्राह्मण का नाम शर्मा अर्थात् मांगलिक सूचक, क्षत्रियों का नाम वर्मा अर्थात शक्ति सूचक, वैश्यों का धनपति सूचक और शूद्रों का दास सूचक होना चाहिए।

स्त्रियों के नाम के सम्बन्ध में भी मनु का कहना है कि उनका ऐसा नाम रखना चाहिए जो सुख से बोलने योग्य हो, जिसका अर्थ क्रूर न हो, अर्थ स्पष्ट हो, मंगलवाची हो, नाम के अंत का स्वर दीर्घ हो और कल्याण के कहने वाले शब्द युक्त हों-

स्त्रीणां मुखोद्यम क्रूरं विस्पष्टार्थ मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादभिधानवत्।।

नामकरण संस्कार में विभिन्न देवताओं की पूजा का प्रावधान था। इस संस्कार को सम्पन्न करने में देवताओं, अग्नि, सोम आदि की आहुतियाँ दी जाती थीं।

### 6. निष्क्रमण-संस्कार

सन्तान को पहली बार विधि-विधान के साथ घर से बाहर निकलने को निष्क्रमण कहा जाता था। पारस्करग ह्यसूत्र में उल्लेख मिलता है-

चतुर्थेमासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।
वहि निष्क्रमण चैव तस्य कुर्याच्छिशोः शुभम्।।

अर्थात् चतुर्थ मास निष्क्रमण का आयोजन होना चाहिए जिसमें पिता पुत्र को सूर्य की ओर दिखाकर मन्त्रोच्चारण करे। यम का कथन है कि त तीय मास में शिशु को सूर्य दर्शन तथा चतुर्थमास में चन्द्रदर्शन कराना चाहिए। इस संस्कार का आयोजन उन्नतिशील जीवन होने की आशा से किया जाता था। सूर्य के दर्शन द्वारा यह माना जाता था कि बालक अच्छे कर्मों के बल पर सूर्य की भाँति ही चमके और यशस्वी हो। मनु का भी मत है किः

चतुर्थेमासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं ग हात।

अर्थात् बालक के चौथे महीने में सूर्य के दर्शन के लिये घर से बाहर निकालना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार छठा माह इस संस्कार के लिये उचित है। इस प्रकार इस संस्कार में शिशु को स्नान कराकर, वेद मंत्रों के पाठ द्वारा उसे सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन कराया जाता था।

### 7. अन्न प्राशन-संस्कार

इस संस्कार में बच्चे को सर्वप्रथम अन्न खिलाया जाता है। यह प्रायः जन्म के छठे मास में होता था। माँ के दूध से शिशु की त प्ति न होने के कारण तथा माँ के शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से ही सम्भवतः इस संस्कार का उदय हुआ। बच्चे के शारीरिक विकास को ध्यान में रखते हुए उसको अन्न देना आवश्यक होता है और इस संस्कार द्वारा वह सर्वप्रथम अन्न ग्रहण करता था। सुश्रुत संहिता नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ में शिशु को षष्ठ मास में पथ्य भोजन देने का विधान किया गया है। मनु ने भी व्यवस्था दी है कि 'षष्ठे न्न प्राशनं मासि यद्वेष्ट मंगलम् कुले।' अर्थात् शिशु का छठे माह में अन्नप्राशन करना चाहिए लेकिन इसका आयोजन वंश परम्परानुसार भी हो सकता है। इस समय अन्न में घी और मधु के साथ खीर खिलाने का विधान था।

कहीं-कहीं दूध, घी आदि का और कहीं-कहीं दूध और भात खिलाने का विधान मिलता है। इस संस्कार को सम्पन्न करने में पिता द्वारा अग्नि में आहुतियाँ डालने का प्राविधान था और मंत्रों का उच्चारण भी आवश्यक माना जाता था।

### 8. चूड़ाकर्म-संस्कार

जन्म के पश्चात् शिशु के सिर के बाल जब सर्वप्रथम काटे जाते थे और उसके स्थान पर शिखा रखी जाती थी, ऐसे कृत्य को चूड़ाकर्म के नाम से जाना जाता था। आधुनिक हिन्दू समाज में भी यह संस्कार 'मुण्डन' के नाम से विख्यात है। यह काफी धूम-धाम के साथ सम्पन्न किया जाता है। बौधायन, पारस्कर, वैखानस के अनुसार इस संस्कार का आयोजन पहले या तीसरे वर्ष सम्पन्न करना चाहिए। मनुस्म ति में भी उल्लेख मिलता है कि सब द्विजातियों का चूड़ाकर्म पहले अथवा तीसरे वर्ष में वेद की आज्ञा के अथवा कुल के धर्मानुसार सम्पन्न करना चाहिए। इस संस्कार में होम, ब्राह्मण भोजन, दक्षिणादान आदि कृत्यों का भी सम्पादन होता था। कटे हुए केशों को गुप्त तरीके से इस तरह हटा दिया जाता था कि उन्हें कोई प्राप्त न कर सके। कौटिल्य के विचार में इस संस्कार के बाद बालक अक्षर लिखना और गिनती गिनना सीखते थे। व्यक्ति को दीर्घायु, सौन्दर्य और कल्याण को प्राप्त कराना ही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य कहा जा सकता है।

### 9. कर्ण वेध-संस्कार

यह संस्कार आभूषण पहनाने के लिए कानों के छेदने से सम्बन्धित होता था। इसका उद्देश्य व्यक्ति को अनेक प्रकार के रोगों से सुरक्षा प्रदान करना था। ब हस्पति के अनुसार यह संस्कार जन्म के 10वें, 12वें, 16वें दिन अथवा 7वें मास से सम्पन्न करना चाहिए। बौधायनग ह्यसूत्र के उल्लेखानुसार इसका आयोजन 7 या 8वें मास में होना चाहिए। मनुस्म ति में एक स्थान पर कहा गया है कि-

य आव णोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता च पिता ज्ञेयस्त न द्रुह्येत्कदाचन्।।

अर्थात जो ब्राह्मण वर्ण और स्वर की विगुणता से रहित सत्य रूप से दोनों कानों को छेदता है, वह माता और पिता के समान है और उससे कभी द्रोह नही करना चाहिए। यही मत विष्णुधर्म सूत्र में भी प्रकट किया गया है। कानों में सुवर्ण की बाली पहनना एक वहम के रूप में आंका जाता है।

### 10. विद्यारम्भ-संस्कार

बालक जब शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता था तो विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था। इसी को अक्षारम्भ भी कहा जाता था। महावस्तु से ज्ञात होता है कि इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए 7वां या 8वां वर्ष अधिक उपयुक्त समझा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस संस्कार के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है जिससे ज्ञात होता है कि राजकुमार को वेद, आन्वीक्षिकी (तत्वज्ञान), वार्ता (कृषि और पशुपालन) तथा दण्डनीति (शासन कला) का अध यन करना पड़ता था। बालक स्नानादि से पवित्र होता था, गणेश, सरस्वती आदि की स्तुति के साथ गुरु के सम्मुख बैठकर अक्षरों को तीन बार पढ़ता था। यह संस्कार साधारणतयः चौल संस्कार के पश्चात् ही सम्पन्न किया जाता था। इतिहासकार काणे के मतानुसार विद्यारम्भ संस्कार का सम्पादन ईसा की आरम्भिक शताब्दियों से होने लगा था।

### 11. उपनयन-संस्कार

यह वह संस्कार होता था जिसके द्वारा बालक आचार्य के पास ले जाया जाता था। हिन्दू समाज में इस संस्कार का सर्वाधिक महत्व था। आपस्तम्बधर्मसूत्र में उल्लेख मिलता है कि

उपनयन संस्कार उसके लिए सम्पादित किया जाता है जो विद्या सीखना चाहता है। अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है। कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, छान्दोग्यनिषद् में भी 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शूद्र को छोड़कर अन्य तीन वर्णों के लिए ही था। इस संस्कार के बाद बालक 'द्विज' कहलाता था। इसके सम्पन्न होने से बालक का दूसरा जन्म समझा जाता था।

आश्वलायन के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर आंठवें वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का 11 वर्ष की आयु में और वैश्य का 12 वर्ष की आयु में होना चाहिए, इसके साथ ही क्रम से 16वें, 22वें एवं 24वें वर्ष तक उपनयन का समय बना रहता है।

उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी बालक अधोवस्त्र और उत्तरीय ही धारण करता था। इसके बाद उसे यज्ञोपवीत दिया जाता था जो उपनयन संस्कार का सबसे महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया जाता था। आपस्तम्बधर्मसूत्र में उल्लेख मिलता है कि एक व्यक्ति को गुरुजनों, श्रद्धास्पदों, अतिथियों की प्रतीक्षा के समय या उनकी पूजा करते समय, जप करते समय, भोजन आचमन एवं वैदिक अध्ययन के समय यज्ञोपवीत होना चाहिए। मनु ने ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का ऊन का निर्मित तीन लड़ी का बताया है। बालक दण्ड मेखला भी धारण करता था। बौधायन ने मूंज की मेखला सबके लिए मान्य कही है। उपनयन संस्कार के पश्चात् एवं ग हस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व बालक को बहुत ही अनुशासित एवं नियमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

### 12. वेदारम्भ-संस्कार

इस संस्कार को उपनयन संस्कार का ही अंग माना जाता था। वैदिक अध्ययन को महत्वपूर्ण बनाने हेतु इस संस्कार को प्रयोग में लाया जाने लगा। उस युग में वेद और वेदागों की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। बालक के नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए वेदों के अध्ययन को शिक्षा के प्रमुख विषयों में जोड़ा गया। शिक्षा का लक्ष्य वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना था। परवर्ती काल में वेदों का महत्व कुछ कम हो गया और अन्य विषयों पर बल दिया जाने लगा। मनु और याज्ञवल्क्य ने केवल एक वेद के अध्ययन की बात कही है।

### 13. केशान्त या गोदान-संस्कार

इसमें विद्यार्थी के सिर के साथ दाढ़ी के केश बनाए जाते थे। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने 'केशान्त' शब्द का प्रयोग किया है। आश्वलायन, गोभिल ने इसके लिए 'गोदान' शब्द का प्रयोग किया है। सम्भवतः इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता था, इसलिए इसका नाम गोदान पड़ा। अधिकांश स्म तिकारों ने इस संस्कार को 16वें वर्ष सम्पन्न करने की सलाह दी है। मनु का मत है कि यह ब्राह्मणों का 16वें वर्ष, क्षत्रियों का 22वें वर्ष एवं वैश्यों का 24वें वर्ष में सम्पन्न होना चाहिए। यह संस्कार कालान्तर में समाप्त हो गया क्योंकि मध्य काल के साहित्य में इसका उल्लेख नही मिलता।

### 14. समावर्तन-संस्कार

ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर गुरुग ह से लौटते समय जो संस्कार सम्पादित किया जाता था, वह समावर्तन संस्कार कहलाता था। वीर मित्रोदय मे समावर्तन का अर्थ है- तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरम् गुरुकुलाद् स्वग हागमनम्, अर्थात् वेदाध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से घर को प्रत्यावर्तन का नाम 'समावर्तन' है। गौतम, आपस्तम्ब तथा याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार के लिए 'स्नान' शब्द का प्रयोग किया है। अध्ययन के पश्चात् गुरु को दक्षिणा दी जाती थी और उनका उपदेश होने बाद ही स्नान किया जाता था। इस प्रकार ब्रह्मचारी को स्नान कराने का भी विधान था। स्नान किए हुए ब्रह्मचारी को 'स्नातक' कहा जाता था। इस तरह विद्यार्थी द्वारा

विद्यासागर को पार करने, ज्ञान रूपी नदी में स्नान करने एवं विद्यार्थी आश्रम के अन्तिम संस्कार को समावर्तन की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

### 15. विवाह-संस्कार

हिन्दू समाज में सम्पन्न होने वाले समस्त संस्कारों में विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस संस्कार द्वारा व्यक्ति ग हस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने समस्त कर्तव्यों का भली-भांति पालन करते हुए अनेक प्रकार के ऋणों से उऋण होता था। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि विवाह का उद्देश्य ग हस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना था। ग ह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, उपनिषदों, पुराणों एवं स्म तियों में इस संस्कार के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। हिन्दू शास्त्रकारों की यह धारणा थी कि बिना पत्नि के कोई भी धार्मिक कार्य पूर्ण नही माना जा सकता। इसलिए विवाह के द्वारा ही व्यक्ति पत्नी के साथ धार्मिक कृत्यों को पूर्ण करने में सक्षम हो सकता था। पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति एवं धार्मिक कृत्यों के साथ पूर्वजों की स्वर्ग प्राप्ति निर्भर रहती है। इस प्रकार विवाह ग हस्थ जनों का महत्वपूर्ण संस्कार माना गया है।

### 16. अन्त्येष्टि-संस्कार

मनुष्य के जीवन का यह अन्तिम संस्कार था। परलोक में सुख एवं शान्ति की प्राप्ति हेतु यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार के अर्न्तगत शव को जलाने के लिए घी का प्रयोग होता था। वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में आहुतियाँ देने का विधान था। दाह कर्म से निव त होने के पश्चात् लोग नदी अथवा तालाब में स्नान करने के पश्चात् घर लौट आते थे। दाह संस्कार के तीसरे दिन म तक की अस्थियों एकत्र करके उनको किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था। अन्त्येष्टि क्रियाओं में व्यवहृत ऋचाएं ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में उपलब्ध होती हैं। ग ह्यसूत्रों में भी इस संस्कार को सम्पन्न करने से सम्बन्धित क्रियाओं का विशद उल्लेख मिलता है। आधुनिक युग में प्रायः सभी हिन्दू परिवारों में अन्त्येष्टि क्रिया का सम्पादन उपरोक्त विधि से होता है।

इस तरह प्राचीन भारत के हिन्दू जीवन में संस्कारों का अपना एक विशेष महत्व था और इनको सम्पन्न करने की अनूठी शैली थी। इन संस्कारों के समय-समय पर सम्पादित होने से व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ-साथ उसमें उत्तरदायित्व की भावना भी जाग त होती थी जो उसे समाज के निकट लाने में मदद करती थी। व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति का सुअवसर भी प्राप्त होता था। संस्कार ही वे माध्यम होते थे जिनके द्वारा व्यक्ति अपने समस्त सद्गुणों का विकास करता था और वह अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की सीढ़ी तक पहुँचने के योग्य बनता था।

ए०एल०बाशम ने ठीक ही कहा है कि संस्कार मानव जीवन को पूर्णतया आव त्त किये रहते हैं तथा जन्म से म त्यु तक उसे प्रभावित करते है। इसी प्रकार संस्कारों के महत्व को दर्शाते हुए R.B. Pandey ने अपनी पुस्तक 'Hindu Sanskaras' में कहा है कि ''..... the word 'sanskara has got its own peculiar association ..... it means religions purificatory rites and ceremonies for sanctifying the body, mind and intellect of an individual, so that he may become a fullfledged member of community.

# अध्याय - 11
# पुरुषार्थ
# (Purusharthas)

### परिचय

प्राचीन काल के भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक द ष्टि से उन्नत करने के लिए ''पुरुषार्थ'' के नाम से अपने दार्शनिक विचारों का नियोजन और व्याख्या की थी। हिन्दू विचारकों के मतानुसार जीवन के सुख के दो आधार है, एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक सुख के अर्न्तगत सांसारिक आकर्षण और ऐश्वर्य तथा आध्यात्मिक सुख के अर्न्तगत त्याग और तपस्या आते हैं। भौतिक सुख क्षणिक और अस्थिर है जो असत्य है तथा आध्यात्मिक सुख स्थायी और परमानन्द है, जो सत्य है। इसीलिए भारतीय जीवन दर्शन के मूल में भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच समन्वय और सन्तुलन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि दोनों का समन्वित और संतुलित रूप ग्रहण किया जाये। पुरूषार्थ इस प्रयास का परिचायक है। पुरूषार्थ में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्व निहित हैं।

पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ है 'उद्योग' साधारणतया पुरूषार्थ की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि ''पुरूषैरर्थ्यति पुरूषार्थ '' अर्थात पुरूष की इष्ट वस्तु ही पुरूषार्थ है। इसके अर्न्तगत मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है क्योकि हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार जीवन और म त्यु से छुटकारा पाना, संसार में आवागमन के चक्कर से मुक्ति पाना और ईश्वर के समीप पहुँचना ही मोक्ष है। जीवन के चार उद्देश्य माने गये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जिन्हें हिन्दू शास्त्रकारों ने चतुवर्ग कहा है। परन्तु 'मोक्ष' को जीवन का अन्तिम उद्देश्य मानकर तीन पुरूषार्थो (धर्म, अर्थ और काम) पर ही बल दिया गया हैं जिन्हें त्रिवर्ग कहा गया है। अतः धर्म, अर्थ और काम की एक निश्चितता एवं क्रंमिक व्यवस्था द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के इस विधान को ही पुरूषार्थ कहते हैं।

### पुरूषार्थ का महत्त्व

पुरूषार्थ मनुष्य का वह आधार है जिसके आधार पर वह अपना जीवन जीता है तथा विभिन्न कर्तव्यों का मनोनिवेशपूर्वक पालन करता है वह भौतिक पदार्थो, सन्तानों और सद्गुणों का भोग करने के बाद संसार की परिधि से बाहर आकर भक्ति का मार्ग अपनाता है और मुक्ति की ओर उन्मुख होता है। मन्युष्य का सर्वागीण विकास पुरूषार्थ के माध्यम से ही होता है।

मनु के अनुसार धर्म, अर्थ और काम के उचित समन्वय से ही मन्युष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए ये पुरूषार्थ साधन मात्र है न की लक्ष्य। धर्म, अर्थ व काम का महत्व उनके क्रम के अनुसार है। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित हैं। अर्थ

का अर्जन धर्मपुर्वक करना चाहिए और उसे दान आदि में देना चाहिए। काम का प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पति है। जिससे वंश परम्परा चल सके। धर्म, अर्थ, काम के सदुपयोग से इस लोक और परलोक में सुख मिलता है। अतः तीनों का ऐसा समन्वय करना चाहिए कि दूसरे के लिए ये घातक सिद्ध न हो।

चारों पुरूषार्थो का सम्बंध व्यक्ति विशेष और समाज दोनों से है। इन्ही के आधार पर व्यक्ति का समाज के साथ उचित सम्बंध निश्चित किया जा सकता है। पुरूषार्थ व्यक्ति और समाज दोनों पर नियन्त्रण रखते हैं और दोनों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करते हैं। सामूहिक रूप से पुरूषार्थ मनुष्य की पैत क सहजात यौन भावना, उसके धन और शक्ति के प्रति मोह, उसकी कलात्मक एंव सांस्कृतिक जीवन के प्रति त ष्णा तथा परमात्मा से पुनर्मिलन की इच्छा को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। पुरूषार्थ से ही मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और अध्यात्मिक उत्कर्ष करता है। मनुष्य लौकिक जीवन के प्रति भी सचेत रहता है। मनुष्य के अध्यात्मिक जीवन का उत्कर्ष और उसकी भौतिक जीवन के प्रति आस्था पुरूषार्थ के बिना सम्भव नहीं है। भौतिक और आध्यात्मिक सम द्धि के मध्य का संतुलित द ष्टिकोण ही पुरूषार्थ का सही स्वरूप है। इस प्रकार से पुरूषार्थ लोक और परलोक दोनों के निमित किये जाने वाले कर्म में आस्था रखता है तथा दोनों में सामंजस्य का सेतु बनता है। इस मध्यम मार्ग पर चलकर ही मनुष्य अपने जीवन का वास्तविक सुख और उद्देश्य को प्राप्त करता है तथा सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की और अग्रसर होता है।

हिन्दू विचारकों ने जीवन के उत्कर्ष के उद्देश्य प्राचीन काल में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था की थी, जिसके द्वारा मनुष्य अपने सभी कर्तव्यों की पूर्ति करके अमर हो जाता है अर्थात मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवन के इस लक्ष्य की सफलता पुरूषार्थ पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार से चारों पुरूषार्थों को हम आश्रमों का मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधार कह सकते हैं। आश्रमों में अपना कर्तव्य पूरा करके ही मनुष्य चारों पुरूषार्थों का उचित प्रशिक्षण प्राप्त करता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरूषार्थ से ही सम्भव रहा है। उसके जीवन के विभिन्न भागों में पुरूषार्थ का ही योग रहा तथा उसके संयोग से व्यक्ति आदर्श बनता रहा है। सांसारिक और आध्यात्मिक आधार का अनुसरण करके मनुष्य अपने को ऊँचा और आदर्श बनाता है। वह अपने विभिन्न कर्मो और कर्तव्यों का सम्पादन पुरूषार्थ के ही संयोग से करता है तथा इसी के माध्यम से अपने विविध उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक कर सकने में समर्थ होता है। संयम, नियम और अनुशासन का जीवन उसके कर्तव्यनिष्ठ पुरूषार्थ का ही प्रमाण है। अतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित पुरूषार्थ व्यक्ति के जीवन को गरिमा मण्डित बनाता है। जिसमें मनुष्य धर्म का अनुसरण करते हुए सांसारिक सुख और उपभोग को अनुपालित करता है तथा भक्ति का अनुगमन करके मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

## धर्म

हिन्दू समाज में धर्म का प्रयोग अनेक अर्थो में हुआ हैं। वैदिक कर्म काण्ड, नैतिक आचरण जाति के नियम और दीवानी और फौजदारी कानून धर्म के अर्न्तगत हैं। वास्तव में धर्म का अर्थ बहुत व्यापक है पुरूषार्थ प्राचीन हिन्दू समाज में जीवन के एक परम्परागत मूल्य के रूप में है और इसके अर्न्तगत 'धर्म' एक नियंत्रणकारी तत्व के रूप में सन्निहित रहा है। इससे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था निर्धारित होती है। वस्तुतः धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थिति, नियमित और नियंत्रित करता है तथा उसे स्वस्थ उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है।

धर्मशब्द की उत्पत्ति ध धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। श्री कृष्ण ने महाभारत में धर्म शब्द की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर की है। उन्होंने कहा कि जो भी कार्य मानव के कष्टों के निवारणार्थ किया जाए वह सभी धर्म है। वे कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्राणी मात्र की रक्षा करता है तथा उन्हें धारण करता है। इस प्रकार जनकल्याणकारी साधना ही धर्म की परिधि ज्ञात होती है। धर्म प्रजा को धारण करता है इस प्रकार से धर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है। जिसका आधार नैतिक नियम और सदाचरण है।

प्रारम्भिक वैदिक ऋत की अवधारणा आर्यों ने सप्तसिन्धु में विकसित की थी। उस समय सामाजिक और नैतिक विचारधारा ऋतु की अवधारणा से प्रभावित थी। ऋत का अर्थ सांसारिका, नैतिक और विधि और यज्ञ की अवस्था से सम्बन्धित था, जो कालान्तर में धर्म से सम्बन्द्ध हो गया। इस तरह धर्म का अभिप्रायः जीवन की विधि से है, जो नैतिक और सात्विक आचरण से संबंध हो।

ऋग्वेद में धर्म प्रायः धार्मिक विधि और क्रियाओं व संस्कारों के संबंध में प्रयुक्त हुआ है। नारद ने ईश्वर को ही धर्म कहा है जो सक्षम, परोक्ष और अतर्क्य है। इसी प्रकार आपंस्तक धर्म सूत्र में भी धर्म और अधर्म को अप्रत्यक्ष बताते हुए लिखा है कि न ही देवता, पितरों, गन्धर्वों ने घोषणा की कि यह धर्म है और यह अधर्म। वेदज्ञ आर्यों द्वारा जो प्रशसित है वही धर्म है और जिसकी उन्होंने भर्त्सना की वह अधर्म है। स्म तिवन्द्रिका में विश्वामित्र का कथन है आर्यों के आगम से जो प्रशसित और प्रतिपादित है वही धर्म है और जो विरुद्ध है वह अधर्म। ब हस्पति और कात्यायन के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवसायोपजीवी व धर्म सम्प्रदायों के अपने प थक समुदाय के जो व्यवहार नियमादि है उन्हें भी धर्म की संज्ञा दी है। अतः धर्म का शाब्दिक अर्थ है वे नियम जो समाज के विभिन्न अंगों को मिलाकर रख सके या जो समाज की रक्षा कर सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म का अर्थ वे सिद्धान्त है जिनके पालन करने से समाज में स्थायित्व रहता है। वैशेषिक सूत्र में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। धर्म वह है जिसके प्राणिमात्र की लौकिक उन्नति हो और परलौकिक कल्याण की रक्षा हो। इसका प्रमुख उद्देश्य मनुष्य का नैतिक उत्थान है, दूसरे अर्थ में धर्म को कर्तव्यों का संग्रह भी माना गया है जो समाज के संयत संगठन के लिए अपेक्षित है। ऐसे कर्तव्यों और नैतिक नियमों के पालन से व्यक्ति का व्यवहार विकसित होता है; जिससे उसे पारलौकिक और सुख की प्राप्ति ही धर्म है।

## धर्म के भेद

हिन्दू विचारकों ने सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के अर्न्तगत अनेक भेद किये हैं। साध ारण धर्म मनुष्य के मानवता युक्त नैतिक धर्म से संबंधित है। मानव मूल्यों का नियोजन साधारण धर्म के अर्न्तगत होता है जो प्रायः सभी के लिए अनुकरणीय हो। यह धर्म समस्त मानव जाति से संबंधित है इसलिए इसके कल्याण के लिए क्रियाशील होना जरुरी है। सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है मुक्ति प्राप्त करना, इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य का सद्गुणों का विकास करना भी आवश्यक था अतः सामान्य धर्म के अर्न्तगत सत्य, तप, दया, कष्ट-सहिष्णुता, इन्द्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, अंहिसा स्वाध्याय, सन्तोष, सरलता, सम्यक द ष्टि, सांसारिक त्याग, लौकिक सुख के प्रति उदासीनता, मौन, आत्मचिन्तन सेवा (ईश्वर सेवा, मानव सेवा, अतिथि सेवा) पूजा, यज्ञ शील, मधुरवचन, क्षमा अभिवादन, शरणागत-रक्षा आदि कहे गये हैं। सामान्य धर्म के रूप में आचार, सदाचार या नैतिकता का हिन्दू धर्म में महत्वपूर्ण स्थान था। यह धर्म का सार्वभौमिक स्वरूप था। मनु ने आचार को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। विशिष्ट धर्म में देश धर्म, कुलधर्म (पिताधर्म, माताधर्म, पतिधर्म, पुत्रधर्म, पत्नीधर्म, भ्रात धर्म आदि) वर्ण-धर्म, आश्रम धर्म, गुणधर्म, राजधर्म, स्वध ार्म, आपदधर्म (विपत्ति और परिस्थितियों के अनुकूल) आदि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार

से प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्म के विभिन्न प्रकारों की पुष्टि होती हैं।

मनु और गौतम ने धर्म के अर्न्तगत जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणी और कुलधर्म का उल्लेख किया है तथा मेघातिथि के इन धर्म प्रकारों की विस्तार से व्याख्या की है। कात्यायन और ब हस्पति ने भी इन प्रकारों की चर्चा की है। ब हस्पति के अनुसार राजा को प्राचीन समय से निर्मित देश जाति और कुलधर्म को संरक्षण देना चाहिए अन्यथा विद्रोह की सम्भावना होती है। पराशर माधवाचार्य ने भी देश, जाति, कुल, वर्ण, धर्म और आपदधर्म का उल्लेख किया है। इन प्रकारों के अतिरिक्त विज्ञानेश्वर और लक्ष्मीधर ने धर्म के उपादान वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रम धर्म, निमित धर्म और साधारण धर्म माना है।

प्राचीन भारत में धर्म की प्रमुख विशेषता यह थी समय, स्थान और सामाजिक वातावरण के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता था। जैसा कि धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा है कि धर्म वह है जो देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल हो। डा०पी०वी० काणे के अनुसार धर्म एक जीवन-पद्धति या आचरण संहिता थी जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण रखती थी। इस पद्धति का उद्देश्य मानव का भी विकास करना था जिससे कि वह जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सके। अतः मनुष्य का कर्तव्य, कार्य और स्वभाव धर्म से संचालित होता है।

## धर्म के आधार स्त्रोत

मनु के अनुसार धर्म के आधार स्त्रोत श्रुति (वेद), स्म ति (धर्मशास्त्र), सदाचार (अच्छे लोगों के व्यवहार) और आत्मतुष्टि है जो धर्म के साक्षात चार लक्षण हैं। धर्म सूत्रों में वेदों, स्म तियों तथा शीलगत व्यवहार को धर्म का मूल स्वीकार किया गया है। वेदों और संस्कृतियों में मनुष्य के लिए जो कर्तव्य निर्देशित हैं उनका निष्ठापूर्वक पालन ही धर्म है। याज्ञवल्क्य ने बीस स्म तियों का उल्लेख किया है मनु, अत्रि, विष्णु, हरीत, उशनस, यम, कात्यापान, ब्रहस्पति, व्यास, गौतम, वशिष्ठ आदि-आदि। धीरे-धीरे धर्म के स्त्रोत के रूप में स्म तियों की संख्या बढ़ती गई। स्म तिचन्दिग्रका ने पुराणों को भी धर्म का स्त्रोत माना है। भविष्य पुराण ने धर्म के प्रमाण स्वरूप अठारह पुराण, राम-चरित तथा महाभारत का भी उल्लेख किया है।

## अर्थ

पुरूषार्थ में दूसरा स्थान ''अर्थ'' का है। सामान्य रूप से अर्थ से अभिप्राय 'धन' से होता है। अर्थ का संबंध धन-सम्पति से होते हुए भी भौतिक जगत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है यही संसार का मूल है। व्यवहारिक रूप से अगर देखा जाए तो मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएं और उनकी भौतिक इच्छाएं अर्थ के माध्यम से ही पूरी होती हैं। अतः अर्थ से तात्पर्य सभी भौतिक वस्तुओं और साधनों से है जो व्यक्ति को सुख-सुविधा प्रदान करती हैं जिन्हें प्राप्त कर वह सम द्ध हो जाता है। कौटिल्य ने तो धर्म को भी अर्थ पर ही आधारित माना है। इसी लिए उन्होंने शासन व्यवस्था पर आधारित अपनी पुस्तक का नाम ''अर्थशास्त्र'' रखा। शुक्र के अनुसार धर्म, काम और मोक्ष तीनों ही अर्थ के आधीन माने गये हैं। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने भी धन की महत्ता बताते हुए श्री कृष्ण से कहा है कि धन ही सभी धर्मों का मूल है। इसी से सारी धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं। पर जब इसके संबंध में व्यापक रूप से विचार किया जाता है तो इसका क्षेत्र केवल धन तक ही सीमित नही रहता इसके साथ भौतिक वैभव सम्पति तथा शक्ति भी है, इस प्रकार से अर्थ सांसारिक वैभव की प्राप्ति का एक मात्र स्थान है। अतः भैातिक सुखों का स्त्रोत 'अर्थ' ही है।

भारतीय शास्त्रकारों ने अर्थ की महत्ता और आवश्यकता पर समान बल दिया है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है। ऋग्वैदिक युग के आर्य भी भौतिक सुख

के प्रति जागरूक थे। धन-सम्पति, गाय-अश्व इत्यादि की व द्धि के लिए वे भगवान से प्रार्थना करते थे। अर्थ के बिना जीवन यापन असम्भव है। ब हस्पति ने भी अर्थ की महता ज्ञापित की है। अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या आदि सभी गुण होते हैं, बिना धन के व्यक्ति निरर्थक और प्रभाव हीन हो जाता है। मनु के अनुसार त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) ही श्रेय है जिसमें अर्थ की अपनी विशेष महता है। दण्डी के अनुसार अर्थ से ही दण्ड और राज्य संमंधी कार्य सिद्ध होते हैं। मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर द्वारा कृत) में धर्म और अर्थ को परस्पर एक-दूसरे का स्त्रोत कहा गया है। सोमदेव ने अर्थ होने पर ही धर्म और काम का सम्पादन संभव बताया है। भौतिक और धार्मिक कार्यों के अर्थ की महता को निर्देशित करते हुए लक्ष्मीधर ने द्ररिद्रता को पाप का कारण माना है।

आश्रमों में ब्रह्मचर्य के बाद ग हस्थाश्रम का दुसरा स्थान है। इस आश्रम का प्रमुख पुरूषार्थ अर्थ और काम है क्योंकि यही मानव धन, शान्ति और वैभव की ओर झुकता है। व्यक्ति का जीवन अब अपने तक ही सीमित न रहकर परिवार और समाज के सम्पर्क में आता है। कुटुम्ब के पोषण एवं उसे सम द्ध और उन्नतिशील बनाने में अर्थ का महत्वपुर्ण योगदान है। ग हस्थ जीवन के विभिन्न धार्मिक कार्य और कर्तव्यों का पालन अर्थ के बिना सम्भंव नहीं है। अतः स्पष्ट है कि अर्थ सामाजिक लक्ष्य प्राप्ति का साधन है जिससे भौतिक सुख की प्राप्ति होती है।

परन्तु अर्थ इतना महत्वपूर्ण होने पर भी धर्म के पीछे ही माना गया है। क्योंकि धर्म के अनुशासन के अभाव में अर्थ अपना औचित्य खो सकता है। अतः आवश्यकता है कि धर्म के आध ार पर ही अर्थ का अर्जन किया जाए तथा इसी व्यवस्था में उसका व्यय किया जाए। लक्ष्मीध र (11वीं सदी) ने उचित रूप से धन का उल्लेख किया है। उसके अनुसार धन का दो तिहाई धर्म कार्य पर और एक तिहाई स्वयं पर व्यय करना चाहिए। महाभारत के अनुसार एक चौथाई धर्म पर, एक चौथाई मुखोपभाग पर तथा एक चौथाई धन को विवर्धित करने के लिए व्यय करना चाहिए। सोमदेव ने धार्मिक कार्यो पर अर्थव्यय न किए जाने पर उसके विनष्ट हो जाने की बात कही है। स्म तियों पूर्त अर्थात बावड़ी, कुआं, तालाब, देवमन्दिर का निर्माण और दान दक्षिणा से मोक्ष संभव बताया है। कलियुग में दान प्रधान धर्म निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार से अर्थ सामाजिक परिस्थिति का महत्वपूर्ण मापदण्ड था। धन का संग्रह धार्मिक आधार पर ही होना चाहिए। अधार्मिकता और अन्याय से अर्जित भौतिक सुख और धन सम्पति का फल दुखद होता है तथा धर्म विरूद्ध कार्यों में धन व्यय करना भी निन्दनीय माना गया है।

मनु ने अर्थ के सात स्त्रोत बताये, दान, लाभ, क्रीत, विजय से प्राप्त, प्रयोग (कुशीद कर्म) कर्मयोग (कृषि-वाणिज्य से प्राप्त) सत्यप्रतिग्रह (दान से प्राप्त)। इसी प्रकार दण्डी ने कृषि, पशुपालन, व्यापार और सन्धिविग्रह अर्थ का परिवार बताया है। लक्ष्मीधर ने नारद और विष्णु को उद्ध त करते हुए स्त्रोतों के आधार पर अर्थ के तीन प्रकार उल्लिखित किये हैं श्वेत, शबल (चितकबरा) तथा कृष्ण (कालाधन) श्वेत अर्थ में दाय भाग (पैत क सम्पति) मित्र से प्राप्त और उपहार के रूप में प्राप्त धन आता है।

शबल अर्थ में उतकोच, निपद्धि पदार्थ यथा नमक, लाख के व्यापार से प्राप्त धन का उल्लेख है तथा कालेधन में दूत क्रीड़ा, चोरी, डकैती, भीख, धोखे से कोई अन्य वस्तु दिखाकर उसका नकली प्रतिरूप बेचने आदि से आते हैं।

**काम**

पुरूषार्थ में त्रिवर्ग के अर्न्तगत तीसरा स्थान 'काम' का है। जिससे समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि से वासना का अभिप्रायः लिया जाता है। परन्तु इसका मात्र यही अर्थ पर्याप्त नही है

क्योंकि व्यापक रूप में अभिप्रायः मनुष्य के आनन्द और ऐन्द्रिक सन्तुष्टि की इच्छा से है। इसी के अर्न्तगत वासना भी सन्निहित है। व्यक्ति की समस्त कामनाएं वासनाजन्य प्रव तियों तथा आसक्ति मूलाकृतियाँ काम के अर्न्तगत आती हैं। कामना और वासना की ये दोनों प्रव तियों मनुष्य की स्वाभाविक और सहज स्थितियाँ हैं, जिनमें क्रमशः आकर्षण हैं तथा इन्द्रिय सुख और संबंध ी इच्छाओं की त प्ति हैं। काम का मुख्य उद्देश्य सन्तानोपत्ति के द्वारा समाज को आगे बढ़ाना है।

अतः काम का स्थान सबसे अन्तिम है किन्तु वह मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता है। इसके द्वारा मानव की कामेच्छा और सौन्दर्य प्रियता की त प्ति होती है। इन्ही मूल प्रव तियों की तुष्टि हेतु मनुष्य विवाह और सन्तानोपत्ति करता है।

हिन्दू तीवन में काम को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सोमदेव के अनुसार जो पुरूष काम और अर्थ की उपेक्षा कर केवल धर्माचारण में तत्पर होता है वह मानो अपने पके हुए खेत को छोड़कर जंगल को जोतने जाता है। काम को भगवान वैश्वानार का मूर्त स्वरूप कहा गया है। काम का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें धर्म तथा अर्थ दोनों को एक साथ समन्वित किया जा सकता है। मनु ने संकल्प जताया है कि संकल्प से कामोत्पत्ति होती है, यह काम इच्छाओं के रूप में अनेक प्रकार का होता है। जिसके वशीभूत होकर मनुष्य अनेक प्रकार से जन्म लेता है। वात्साययन ने भी इसी आधार पर 'कामसूत्र' कीरचना की है। विदेशी मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने काम को ही जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं कामूल उत्तेजक शक्ति माना है। कामन्दक के अनुसार धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुखफल का उदय होता है। कुट्टनीमतम में काम को पुरूषार्थ चतुष्टय का सार कहा गया है। प्रबोध चन्द्रोदय में अर्थ और काम ही पुरूषार्थ कहे गये है। मेघातिथि (9वीं सदी) ने चार्वाको का उल्लेख किया है। जिनकी द ष्टि में काम ही एक पुरूषार्थ है। अर्थ उसका साधन और धर्म उसके अर्न्तगत था।

मनुष्य की मानसिक, शारीरिक और इन्द्रियपरक आनन्दानुभूति काम के माध्यम से होती है यौन संबंधी सुख के अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति भी व्यक्ति का प्रधान उद्देश्य रहा है। काम से ही वशीभूत होकर व्यक्ति एक दूसरे से प्रेम और सम्भोग करता है तथा अपने प्रियजनों के प्रति आकृष्ट होता है। यह सही है कि हिन्दू विचारकों ने काम को अन्य पुरूषार्थों के क्रम में त तीय स्थान प्रदान किया है पर यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य जीवन में इसका उल्लेखनीय स्थान है। ग हस्थ जीवन की सार्थकता काम के माध्यम से सन्तान उत्पन्न करके मानी गई है। इससे स्वर्ग और ऐहिक सुख प्राप्त होता है। विवाह के माध्यम से पति-पत्नी के संबंध तथा प्रजनन के माध यम से पारिवारिक और सामाजिक निरन्तरता काम के सामाजिक आधार है। प्रेम, स्नेह, अनुराग, सौन्दर्यप्रियता से मनुष्य के मन और मस्तिष्क में कोमल भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं। इस सामाजिक प्रतिबद्धता में पति-पत्नी में प्रेम, अपनी सन्तानों के प्रति स्नेह होता है। आत्मीय और प्रियजन के अनुराग तथा स्त्री के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता है। अतः सन्तान प्राप्ति, परिवार और वंश की निरन्तरता तथा पित ऋण से मुक्ति काम के ही कारण होती है। ये व्यक्ति के समाजीकरण के स्तर है। जिनसे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

दूसरी ओर मनुष्य की इच्छाओं की त प्ति न होने पर मनुष्य में ग्रन्थियां, तनाव, आक्रोश और क्रोध का बीजारोपण होता है तथा निराशा की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मनुष्य का विकास अवरूद्ध हो जाता है। अतः इच्छाओं की संतुष्टि काम द्वारा होने से व्यक्ति का तनाव और क्रोध ा कम होता है। इन काम-प्रव तियों के अतिरिक्त मनुष्य अपनी कामजनित इच्छाओं के अनुसार सर्जनात्मक कार्य भी प्रारम्भ करता है, जिसके अर्न्तगत सौन्दर्य-बोध, आकर्षण और अभिव्यक्तिकरण, रचना अभिव्यक्ति है। जिससे कला का उदय होता है। प्राग्-ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक मनुष्य कला प्रेमी और सौन्दर्य प्रेमी रहा है। उसने गुहाओं, प्रस्तर खण्डों, भित्तियों आदि पर

अनेक चित्र उद्‌ध त किये हैं। जिनमें प्रेम, अनुराग, स्नेह और आकर्षण के चित्रण मानव आकृतियों आदि के माध्यम से किया है। उदाहरणर्थ चन्देलों के खजुराहों के मन्दिर में अनेक स्त्री-पुरूषों व अप्सराओं की कामजनित मूर्तियों की स्थापना की गई है।

पुरूषार्थ में काम को महत्वपूर्ण स्थान मिलने के उपरान्त भी यह मनुष्य समस्त उचित और अनुचित गतिविधियों के मूल में काम करता हैं। काम से अभिमान को प्रोत्साहन मिलता है। जो मनुष्य की समस्त गतिविधियों का कारण है, चाहे वह तप, दान, युद्ध या कोई दुष्कर कर्म हो। भारतीय दार्शनिक न्यायिकों के अनुसार काम से मोह, मोह से राग और द्वेष से क्रोध, ईष्या, द्रोह और लोभ उत्पन्न होता है। पत जलि ने सभी व्याभिचारों का कारण काम, क्रोध और लोभ बताया है। इसी प्रकार विष्णु ने भी काम, क्रोध और लोभ बताया है। अतः इसके महान दुर्गण भी हैं। अव्यवस्थित और अस्थिर काम परिवार और समाज के लिए विघ्नकारी और निन्दनीय रहा है। काम में अनुरक्त रहने वाले व्यक्ति की स्थिति अत्यंत दयनीय होती है। कामी या भोगी व्यक्ति में बुद्धि नही होती। इसीलिए काम की अतिवादिता और मनुष्य की कामुकता को अवरूद्ध करने के लिए उस पर धर्म का नियन्त्रण लगाया गया है ताकि मनुष्य अपने जीवन में नैतिकता, सदाचारिता और शुद्धता का निर्माण कर सके।

काम से वशीभूत होकर व्यक्ति को धर्म नही छोड़ना चाहिए। काम धार्मिक नियमों-संयमों के अनुरूप होना चाहिए। इसीलिए कौटिल्य ने काम को अन्तिम श्रेणी में रखा है तथा बिना धर्म और अर्थ को बाधा पहुचाएं इसका पालन करने के लिए निर्देश दिया है।

## मोक्ष

मनुष्य के पुरूषार्थ का अन्तिम चरण 'मोक्ष' है। त्रिवर्ग का सम्यक और सन्तुलित अर्जन एवं उपभोग करता हुआ मनुष्य जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर होता है। अपने जीवन के समस्त कार्य सात्विकता और सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के बाद मनुष्य व द्धावस्था में इस परम उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न होता है। मोक्ष शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'मुक' ६ ाातु से हुई है, जिसका अभिप्राय है मुक्त करना, स्वतन्त्र करना अर्थात छुटकारा पाना। सामाजिक बन्धनों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। जिससे मनुष्य जन्म और पुर्नजन्म के बंधन से छुटकारा पाता है, जो भारतीय जीवन का अंतिम लक्ष्य है। इसलिए मोक्ष का स्थान पुरूषार्थ की कोटि में सबसे अन्त में दिया गया है। यही धर्म, अर्थ और काम का गंतव्य है। सारी क्रियाएँ इसी की प्राप्ति के लिए की जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ तथा काम साधन हैं और मोक्ष साध्य। इसका संबंध केवल व्यक्ति से है, समूह से इसका कोई संबंध नही है। व्यक्ति समूह में रहकर धर्म के अनुसार अर्थ एवं काम की साधना करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता हैं।

मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम आदर्श माना गया है। मनुष्य में जब सहजता, स्वाभाविकता, आत्मचिन्तन, आध्यात्मिकता, बौद्धिकता का उदय होने लगता है तब वह निव ति मार्ग की और उत्कंठित होता है। निश्चय ही ये भावनाएं मनुष्य को मानवीय सुख से अलग करके आध्यात्मिक सुख की ओर उत्प्रेरित करती हैं। वह ऐहिक और सांसारिक सुख-ऐश्वर्य को त्यागकर पारलौकिक सुख की ओर अग्रसर होता है।

## मोक्ष प्राप्ति का आधार

मोक्ष प्राप्ति के तीन प्रधान आधार माने गए हैं कर्म, ज्ञान और भक्ति। शास्त्रकारों ने यह माना है कि मनुष्य अपने सामाजिक और धार्मिक कर्मों का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने के पश्चात् मोक्ष की ओर प्रव त होता है, इसी कर्म मार्ग से उसे परमगति (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। पुरूषार्थ की समुचित साधना के लिए ही आश्रमों का विभाजन किया गया है जिसके अर्न्तगत मनुष्य अपने

सभी कर्म यथोचित रूप से सम्पादित करने के बाद ही मोक्ष-प्राप्ति में लगता है। मनु के अनुसार तीनों ऋणों (देव ऋण, कृषि और पित ऋण) को पूरा करके ही व्यक्ति को अपने मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोधन किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है अतः बिना समाज के प्रति अपने ऋणों को चुकाए या अपने कर्मों व कर्तव्यों को पूरा किये बिना कोई व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही बन सकता। पुराणों में भी उल्लिखित है कि सभी आश्रमों के कार्य सम्पादित करने के बाद ही ब्राह्मलोक अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम दोनों ऐसे आश्रम बताए गये जहाँ एक में व्यक्ति मोक्ष की साधना करता हुआ दूसरे में उसको पा लेता है। वानप्रस्थ में वह सांसारिक बन्धनों से निव त होकर मोक्ष की साधना करता है जबकि सन्यास आश्रम में वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मनु ने उपनिषद् वर्णित ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख तत्व बताया है ज्ञान मार्ग का उल्लेख गीता के चतुर्थ अध्याय में भी है। मनुष्य जब प्रकृति की शोभा और सुन्दरता से आकर्षित होकर मोहबद्ध हो जाता है तब वह प्रकृति की स्वाभाविकता को नही पहचान पाता। इस अज्ञानता के कारण वह जगत के आवागमन के चक्कर में ग्रस्त रहता है और जो व्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक होकर ज्ञान-चक्षु से इस अन्तर को जानकर व्यवहार करता है वह कैवल्य प्राप्त करता है। उसके हृदयस्थल की अज्ञानता की ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और वह आत्म-संयम के मार्ग को अपनाकर निर्माण (मोक्ष) की ओर अग्रसर होता है। ब्रह्मा अथवा परमात्मा से आत्मा सम्मिलन ही मोक्ष है। इसके साथ ही अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियंत्रण रखने वाले को मोक्ष अपने आप ही मिल जाता है। इसीलिए शंकराचार्य की द ष्टि से ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। मेघातिथि ने कर्म और ज्ञान दोनों को ही महत्वपूर्ण माना है।

कर्म और ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्ति भावना की भी जरूरत थी। भक्ति मार्ग के अर्न्तगत मनुष्य ब्रह्मा के सगुण रूप की परिकल्पना करके उपासना करता है और अपने को पूर्ण रूप से ब्रह्म की सेवा में समर्पित कर देता है। रामानुजाचार्य ने कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को महत्व दिया।

पुराणों ने भक्ति मार्ग को अधिकाधिक आश्रय प्रदान किया है। देवी भागवतपुराण में देवी का यज्ञ और कथा का यत्न पूर्वक श्रवण मोक्ष प्रदायिनी कहा गया है। पुराणों ने ईश्वर की भक्ति, स्मरण और अभ्यर्थना से सभी के लिए मोक्ष सम्भव बताया है। पुराणों ने भक्ति के साथ ही तीर्थ यात्रादि कर्मों को भी महत्व दिया है और इसे मोक्ष प्राप्ति में सहायक माना है। वामन पुराण (15-77) में तीर्थ यात्रादि कर्मों के द्वारा शूद्र को भी मोक्ष प्राप्त करने में सक्षम कहा गया है। भक्ति मार्ग ने मोक्ष के लिए युगानुरूप सरल और व्यापक मार्ग प्रशस्त किया जो भारतीय संस्कृति की समन्वय और समायोजना की प्रव ति का परिचायक है। ब्रह्मपुराण (227-14) के अनुसार स्त्री, शूद्र और चाण्डाल सभी मोक्ष के अधिकारी थे।

निश्चय ही हिन्दू विचारकों ने पुरूषार्थ की विवेचना व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित और सन्तुलित आधार पर विकसित करने के लिए की थी। हिन्दू जीवन-दर्शन में भौतिकता और सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी है। लौकिक और परलौकिक जीवन के अन्तर को पुरूषार्थ द्वारा भरा गया था। इसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। अर्थ और काम भौतिक दर्शन है तथा धर्म एवं मोक्ष आध्यात्मिक जगत में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अतः पुरूषार्थ का द्वि-मुखी स्वरूप भौतिक एवं आध्यात्मिक है। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी मानव क्रिया में अर्थ और काम अगर उत्तेजक है तो धर्म उसका नियन्त्रक और मोक्ष की ओर ले जाने वाला है।

# अध्याय - 12
# विवाह संस्था
# (Institution of Marriage)

## परिचय

### प ष्ठभूमि

हिन्दू सामाजिक संरचना का प्रमुख केन्द्र ग हस्थ आश्रम वस्तुतः विवाह की परिणति है। गार्हस्थ्य जीवन का प्रारम्भ विवाह से ही माना गया है। अलबीरूनी ने भी लिखा है कि शिष्य आचार्य की आज्ञा से विवाह करके एक परिवार की स्थापना करता है। अतः विवाह संस्था महत्वपूर्ण संस्कार के रूप में धर्मश्शास्त्रकारों द्वारा उल्लिखित की गई है। मनु ने 'पुरूष' को स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान - तीनो से मिलकर 'पूर्ण' माना है। इस संदर्भ में कुल्लूक ने मनु का सर्मथन करते हुए बाजसनेय ब्राह्मण को साक्ष्य के रूप में उद्ध त किया है। मेधातिथि ने भी पति-पत्नी को एक, और सन्तान को पुरूष का ही प्रतिरूप मानते हुए इसे 'लोक व्यवहार ' की संज्ञा दी है। स्त्री-पुरूष का सम्बन्ध अटूट माना गया है। चाहे पति अपनी पत्नी का स्वयं विक्रय कर दे, अथवा निर्धनतावश उसका त्याग कर दे। यही नही पर-पुरूष से उत्पन्न संतान को भी पूर्वपुरूष की ही संतान माना गया है। मेधातिथि और कुल्लुक ने मनु के इस कथन की पुष्टि की है कि विवाह सम्पन्न करने से व्यक्ति धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एवं रतिसुख जैसे उद्देश्यों की पूर्ति करता है। धार्मिक कृत्य से उनका आशय अग्निहोत्र यज्ञादि था और साथ ही पत्नी के बिना व्यक्ति के सामाजिक जीवन का निर्वहन असम्भाव्य था।श्श

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया। फलस्वरूप विवाह संस्था को उपयोगी और प्रधान संस्था के रूप में निर्मित किया गया। यह एक विधि का बन्धन नही है, बल्कि एक धार्मिक बन्धन है, जिसे तोड़ना सामाजिक मूल्यों के विरूद्ध कार्य माना गया है। जिसका उद्देश्य उन विभिन्न पुरूषार्थो को पूरा करना है, जिनकी प्राप्ति में पति और पत्नि दोनो का सहयोग होता है। गार्हस्थ जीवन का प्रारम्भ ही विवाह से माना गया है। विवाहोपरांत ही मनुष्य जीवन के विस्त त क्षेत्र में पर्दापण करता है। सही रूप में परिवार का विकास और समाज का संयोजन इसी पर आधरित है। प्रत्येक समय समाज ने विवाह की आवश्यकता स्वीकार की है तथा इसे सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत सवरूप प्रदान करने का सतत् प्रयत्न किया है। अतः कुटुम्ब को स्थायित्व प्रदान करने में विवाह का उल्लेखनिय योग रहा है। धर्म का अनुसरण करना विवाह का एक प्रमुख उद्देश्य था। अपरार्क का कथन है कि सभी श्रुतियां सपत्निक अग्निहोत्र का विधान करती है। उसने ब्राह्मण के इस कथन का खण्डन किया है कि बिना पत्नि के भी अग्निहोत्र सम्भव है। पत्नि के रजसवला या सूतिका होने के सन्दर्भ में

ही उसने इस मत को माना है। काठक-ग्रह्यसूत्र को उद्ध त करते हुए अपरार्क ने यह कहा है कि पत्नी के अभाव में 'कुषमयी' या 'स्वर्णमयी' पत्नी को निर्मित करके यज्ञादि सम्पन्न करना चाहिए। जैसे श्री रामचन्द्र ने सीता की गैर-मौजुदगी में उसकी सोने की मूर्ति को बैठाकर यज्ञ पूर्ण किया था।

विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्रोत्पति कहा गया है। जिसका व्यापक धार्मिक व आध्यात्मिक महत्व था। विवाह का तीसरा उद्देश्य रति रहा है। अलबीरूनी के अनुसार व्यवस्थित वैवाहिक जीवन के बिना कोई जाति नही रह सकती क्योंकि इसके द्वारा वासना के उस ज्वार का विरोध होता है जिसे सुसंस्कृत लोग पसन्द नहीं करते। परन्तु हिन्दू जीवन दर्शन में यह उद्देश्य प्राथमिक नही था अन्यथा प्रथम पत्नी को धर्म पत्नी व दूसरी पत्नी को रतिवर्धिनी न कहा जाता। इस सन्दर्भ में मेघातिथि का द ष्टिकोण स्पष्ट है, उसका कथन है कि विवाह आध्यात्मिक कार्यो में सहायक होता है, यदि केवल काम ही विवाह का मुख्य उद्देश्य होता, तो क्या किसी ऐसी कन्या का विवाह सम्भव हो सकता था जिसने युवावस्था न प्राप्त कर ली हो? विष्णु ने द्वितीया पत्नी के साथ अग्निहोत्र आदि धार्मिक कार्य करना निष्फल बताया है। इस प्रकार ध र्म के अनुपालन, याज्ञिक कार्य, सन्तानोत्पती, वंशोत्थान, ग हस्थ तथा पितरों के लिए पिण्डदान आदि के निमित विवाह आवश्यक कहा गया है।

**विवाह का अभिप्राय और अर्थ :-**

विवाह का अभिप्राय एक ऐसी संस्था से है। जो स्त्री और पुरूष को कुछ विशेष नियम और विधि के अंर्तगत यौन संबंध स्थापित करने की अनुज्ञा प्रदान करती है और उनके विभिन्न अधिकारों को मान्यता प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है। किन्तु भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं और मूल्यों में अन्तर है। रार्बट ब्रिफाल्ट ने हिन्दू विवाह के लिए यौन संबंध को ही अधिक महत्व दिया है। जो हिन्दू विवाह के मानदण्डो से सर्वथा अलग है। हिन्दू विवाह के धार्मिक मानदण्ड का अत्याधिक महत्व है। विषय भोग को कम महत्व दिया है। वेस्टरमार्क के अनुसार, '' विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ जुड़ने वाला वह संबंध है जो ऐसी प्रथा अथवा कानून द्वारा स्वीकार किया जाता है। जिसमें दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तानों के अधिकार और कर्तव्य समाविष्ट होते है।''

इस परिभाषा से हिन्दू विवाह का सही अर्थ नही निकलता क्योंकि इसमें हिन्दू विवाह की केवल दो विशेषताएं दर्शित होती है। एक प्रथाओ का महत्व और दूसरा पति-पत्नी के अधिकार और कर्तव्य। वस्तुतः हिन्दू विवाह जीवन-पर्यन्त का धार्मिक बन्धन है जो अटूट है। **हॉबेल** का यह मत है कि, ''विवाह सामाजिक आदर्शो नियमों की एक समग्रता है जो विवाहित व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को उनके रक्त संबंधियों और उनके अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती है और उन पर नियंत्रण रखती है।'' इस कथन में आदर्श नियम को अधिक महता दी गई है तथा विवाह को नैतिक आधार प्रदान किया गया है। अतः हिन्दू विवाह में सामाजिकता, धार्मिकता, यौन-संबंध, आर्थिक संबंध, सन्तान के प्रति दायित्व, प्रथा-परम्परा के नियमों का पालन तथा नैतिकता समाविष्ट है।

साधारणतः 'विवाह' शब्द का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप में ले जाना अथवा किसी विशेष कार्य के लिए अर्थात् पत्नी बनाने के लिए ले जाना। विवाह के लिए संस्कृत साहित्य में और भी अनेक शब्द प्रचलित हैं जैसे- उद्वाह, परिणय, उपयमन्, पाणिग्रहण आदि।

'उद्वाह' का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से ले जाना, 'परिणय' का अर्थ है चारों ओर घूमना (फेरे लेना) यानि अग्नि की परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा करना, 'उपयमन्' का अर्थ है किसी

को निकट लाकर बनाना, तथा 'पाणिग्रहण' का अर्थ है वधू का हाथ ग्रहण करना। हेमचन्द्र ने 'उढायाम' सूत्र से 'पाणिग्रहण' का अर्थ लिया है जिसकी व्याख्या 'पाणिग्रहीति' शब्द से की है और लिखा है कि 'पाणिग्रहण' के द्वारा पुरूष स्त्री का वरण करता है। विवाह सम्पन्न हो जाने पर पत्नी को 'पाणिग्रहीता' कहा जाता है। संस्कार की विधि के अनुसार 'पाणिग्रहीता' शब्द परिणीता स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है।

**विवाहों के शास्त्रीय स्वरुप**

हिन्दू धर्मशास्त्रों ने हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों की चर्चा की है, जो किसी न किसी रुप में समाज में प्रचलित रहे हैं- ब्राह्म, दैव, आर्य, प्रजाप्तय, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आदि नाम से जाने जाते हैं।

ब्राह्मे दैवस्तथैवार्ष प्राजापत्यस्तथासूरः।

गांधर्वराक्षसौ चान्यो पैशाचाष्टमो मतः।।

आश्वलायन, गौतम, बौधायना, विष्णु, नारद और कौटिल्य बहुत साधारण अन्तर के साथ इसी वर्गीकरण को स्वीकार करते हैं। वशिष्ठ और आपस्तम्भ प्राजापत्य और पैशाच की गणना नहीं करते हैं। किन्तु ग्रह्म-सूत्रकार इन भेदों से अपरिचित मालूम होते हैं। मानव ग्रह्मसूत्र में केवल ब्राह्म और सुअर विवाहों का ही उल्लेख मिलता है। बराह-ग्रह्मसूत्र में दो ही प्रकार के विवाह बताये गए हैं।

स्म तिकारों द्वारा बताये गए विवाह के आठ भेदों को दो वर्गो में विभक्त किया गया है -

(अ) प्रशस्त विवाह (मान्य विवाह)

(ब) अप्रशस्त विवाह (अमान्य विवाह)

प्रशस्त विवाह के अन्तर्गत ब्राह्म, दैव, आर्य और प्रजापत्य आते हैं और अप्रशस्त के अन्तर्गत आसुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच आते हैं। इनमें प्रशस्त विवाह भेद हिन्दू समाज में अत्यन्त सम्मानित प्रकार के विवाह थे और अप्रशस्त विवाह निन्दित प्रकार के। इन विवाह प्रकारों के स्वरुप का विकास समय और परिस्थिति के अनुसार होता गया। इन विवाह प्रकारों से यह दर्शित हेाता है कि समाज में विभिन्न प्रकार के लोग थे जो अपनी परिस्थितियों से प्रेरित होकर इच्छा के अनुरुप विवाह करते थे। जिनका विस्त त विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

## (अ) प्रशस्त विवाह प्रकार

### 1. ब्राह्म :-

हिन्दू धर्मशास्त्र में यह विवाह उत्तम कोटि का माना गया है। जिसके अन्तर्गत पिता वर की विद्या, बुद्धि वंश आदि के बारे में विशेष रूप से पता लगाकर सद्वंशज, सच्चरित्र वर को कन्या का सरंक्षक मानकर, यदि कन्या सम्प्रदान करे, तो वह विवाह 'ब्राह्म' होता है, कन्या को वस्त्र एवं आभूषण से सज्जित करके दान करता था।

इसकी व्याख्या करते हुए मनु ने कहा है कि -

आच्छाद्द चार्चयित्वा च श्रुतिशीलते स्वयम्।

आहुप दानं कन्या या ब्राह्मेधर्मः प्रकीर्तिते।।

वस्त्र देकर तथा आदर करके विद्वान एवं शीलवान पुरूष को स्वयं बुलाकर कन्या का

दान करे तो इसे ब्राह्म विवाह कहते हैं। वह कहते हैं कि ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र दस पीढी आगे का और दस पीढी पीछे का तथा इक्कीसवें अपने नरक से उद्धार करता हैं। यह विवाह श्रेष्ठ इसलिये माना जाता है क्योंकि इसमें कामुकता, बल प्रयोग, अर्थ आदि को महत्व नहीं दिया जाता तथा सामाजिक, शालीनता और धार्मिकता का पूर्ण रुप से पालन होता है।

इस सम्बंध में आपस्तम्भ का कथन है कि ब्राह्म विवाह में कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर पिता अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा का उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म-कर्म करने के प्रयोजन से कन्या प्रदान करे।

### 2. दैव विवाह :-

यह विवाह ब्राह्म विवाह से नीचे स्तर का है, क्योंकि इसमें गुण सम्पन्न वर की खोज नहीं की जाती थी बल्कि जो पुरोहित यज्ञ कराने आता था उसे ही कन्या दे दी जाती थी, तथा इस प्रकार स्वतन्त्र कन्यादान पुरोहित का यज्ञ का पारिश्रमिक हो जाता था। **मनु के अनुसार** ज्योतिषटोमादि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ज्ञत्विज के लिए वस्त्र और अलंकार-युक्त कन्या का दान दैव विवाह है। मनु ने कहा है कि दैव विवाह से उत्पन्न पुत्र सात पहले की तथा सात बाद की पीढ़ियों का उद्धार करता है।

वैदिक युग में अधिकतर ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे, अतः विवाह के लिए कन्या पक्ष के ब्राह्मण ऐसे यज्ञीय ब्राह्मण की अपेक्षा करते थे तथा दक्षिणा के रुप में उन्हें अपनी कन्या प्रदान करते थे। प्रायः दोनों पक्ष याज्ञिक क्रियाओं के उत्साही समर्थक थे। **आपस्तम्भ के अनुसार** इस विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज को प्रदान करता था जो श्रौत यज्ञ करा रहा होता था।

**डा० राजबली पाण्डेय** का मत है कि यह वास्तविक विवाह नहीं प्रतीत हेाता है, तथा उसे समाज के सम द्ध और शक्तिशाली वर्गों में प्रचलित बहु-विवाह प्रथा के साथ रखेल प्रथा समझना चाहिए। लेकिन मनु ने इस विवाह के बारे में कहा है कि-

यज्ञे तु वितते सम्यग त्विजे कर्म कुर्वते।
अंलकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते।।

### 3. आर्ष विवाह

जब कन्या का पिता धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए वर से बैल और एक गाय अथवा इनकी जोड़ी लेकर सविधि कन्यादान करता था, तब वह आर्ष विवाह कहलाता है।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्।
गोमिथुनं दत्वोपयच्छेत स आर्षः।।

वर द्वारा ससुर से प्राप्त यह उपहार कन्या के मूल्य के रुप में भी था। जैमिनी, शबर और आपस्तम्भ ने इस उपहार को वधू के मूल्य के रुप में नहीं स्वीकार किया है। **मनु कहते हैं कि** आर्ष विवाह में गाय, बैल का जोड़ा युक्त लेने को जिस किसी ने कहा है, वह मिथ्या ही है।

किन्तु **वीर मित्रोदय** के अनुसार वह कन्या का मूल्य नहीं है, क्योंकि उसकी मात्रा सीमित होती है तथा वह कन्या के साथ वर को वापस कर दिया जाता है -

महाभारत से विदित होता है कि शल्य ने अपनी बहन माद्री के विवाह के लिए

कुल-प्रथा के अनुसार अत्यंत संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य ग्रहण किया था। किन्तु यह कन्या-विक्रय नहीं था, बल्कि पूर्वगामी प्रथा का निर्वाह मात्र था। चौथी सदी ई० पू० के लेखक **मेगस्थनीज** के विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में विवाह के अवसर पर वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को एक गाय और बैल भेंट में दिए जाते थे। यह विवाह दैव विवाह से हीन माना जाता है, क्योंकि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र केवल तीन पहले की और तीन पीछे की पीढ़ियों का उद्धार करता है।

### 4. प्राजाप्त्य विवाह :-

'तुम दोनों एक साथ धर्म का आचरण करो' यह कह कर तथा पूजन कर के जो कन्यादान किया जाता है, वह 'प्रजापत्य' विवाह कहलाता है। आश्वालायन के अनुसार 'विवाह का वह प्रकार जिसमें तुम दोनों धर्म का साथ-साथ आचरण करो, यह आदेश दिया जाता है, प्राजापत्य विवाह कहलाता है।' इस विवाह प्रकार के अन्तर्गत वर की विधिपूर्वक पूजा करके कन्या दान किया जाता है और वर-वधू को यह निर्देश दिया जाता था कि ग हस्थ जीवन में दोनों मिलकर यावज्जीवन व्यतीत करे। जीवनपर्यन्त पत्नी के साथ धर्म की अभिव द्धि की कामना, बिना पत्नी की आज्ञा के दूसरा विवाह न करना तथा पारिवारिक जीवन की स्वस्थता प्राजापत्य विवाह का आधार थी। प्राचीन काल में हिन्दू समाज में प्रायः यही विवाह प्रथा अधि ाक प्रचलित हुई थी। 'प्रजापत्य' शब्द से ही 'प्राजापत्य' बना है, जो इस बात का प्रमाण है कि वर-वधू प्रजापति के प्रति अपने जीवन में सन्तान उत्पन्न करने और उसके पालन पोषण के उत्तरदायित्व का भले प्रकार निर्वाह करने में रुची ले।

इस विवाह को कुछ लोग निम्न समझते हैं, क्योंकि इसमें वर स्वयं कन्या से विवाह करने की याचना करता है। तब उससे इस शर्त पर विवाह किया जाता है कि जब तक उसकी पत्नी जीवित रहेगी, तब तक वह दूसरी स्त्री को ग्रहण नहीं करेगा तथा ग हस्थ धर्म का समुचित रुप से पालन करेगा और दान में शर्त का होना ठीक नहीं होता है।

उपयुक्त चारों विवाह-प्रकारों में माता-पिता द्वारा कन्या का दान किया जाता था तथा धन और आभूषण से अत्यन्त सुसज्जित करके वर को प्रदान किया जाता था। ये विवाह-प्रकार प्राचीन काल में आदर्श और अत्यधिक सम्मानित थे। आज हिन्दू-समाज में जो विवाह अन्तर्गत वर और वधू दोनों पक्षों के लोग एक-दूसरे का आदर और सम्मान करके अपना बनाते और स्वागत सत्कार करते हैं।

## (ब) अप्रशस्त विवाह प्रकार :-

### 5. आसुर विवाह :-

कन्यादाता को बहुत सा धन देकर या कन्या के परिवार वालों को नाना प्रकार से प्रलोभित करके यदि कन्या ग्रहण की जाये तो उसे 'आसुर' विवाह कहेंगे।

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बांधवान्।

**मनु का कथन** है कि जातिवालों (कन्या के पिता, चाचा आदि) को कन्या के लिए यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छा से कन्या स्वीकार करना आसुर विवाह है। **महाभारत** में कहा गया है कि प्रायः धन से कन्या खरीदकर और उसके सम्बन्धियों को धन का प्रलोभन देकर जो विवाह सम्पन्न किया जाता है, विद्वान उसे आसुर विवाह कहते हैं। भीष्म ने कुरु राजकुमार के लिए खरीद कर पत्नियां उपलब्ध की थी।

संहिता में निर्दिष्ट है स्त्री क्रय की जा सकती थी। किन्तु शबर और आपस्तम्भ ने

स्त्रियों के क्रय-विक्रय की बात नहीं कही है। उनके अनुसार उपहार-स्वरुप कन्या के पिता को गाय और रथ प्रदान करना कर्त्तव्य मात्र ही था। **बौद्ध साहित्य** में भी इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसी पत्नी के लिए बौद्ध साहित्य में 'कितो धनेन बहुना- अथवा 'भरिया धनकीता' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

प्राचीन साहित्य के ऐसे उदाहरण अत्यंत अल्प ही है। साधारणतः ऐसी विवाह-पद्धति हिन्दूओं में आद त और सुरुचिपूर्ण नहीं मानी जाती थी, इसलिए समाज में इसका मान भी नहीं था।

### 6. गान्धर्व विवाह :-

वर व कन्या के परस्पर प्रणय के फलस्वरुप जो विवाह सम्पादित हो उसका नाम 'गान्धर्व' विवाह है। दूसरी जगह कहा गया है कि जब युवक-युवती परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता-पिता की उपेक्षा करके विवाह कर ले तब वह प्रथा गान्धर्व विवाह कही गयी। **मनु** ने कन्या और वर के इच्छानुसार कामुकतावश संयुक्त हेाने को गान्धर्व विवाह कहा है-

इच्छया न्योन्य संयोगः कन्याश्च वरस्य च।

गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।।

वैदिक साहित्य में इसका विवरण मिलता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व प्रकार का विवाह था। बौद्ध साहित्य में भी गान्धर्व विवाह के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। महात्मा बुद्ध के समकालीन उदयन और वासवदता की प्रेमकथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। पुरुरवा और उर्वशी का प्रणय विख्यात है। शतरुपा ने प्रेम के वशीभूत होकर मनु को पति के रुप में स्वीकार किया था। बाण ने 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड़ और कादम्बरी तथा पूण्डरीक और महाश्वेता के प्रणय-विवाह का वर्णन किया है। भवभूति-लिखित 'मालतीमाधव' नाटक में माधव और मालती के गान्धर्व विवाह का विस्त त चित्रण है। मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह सभी वर्णों के लिए धर्म-सम्मत था और वात्स्यायन के मत के अनुसार तेा यही विवाह अनुरागमय, सुखद और सर्वश्रेष्ठ था।

कुछ शास्त्रकारों ने गान्धर्व विवाह को त्याज्य माना है और कुछ इसका समर्थन करते हैं। बौधायन का कथन है कि यह विवाह हेय नहीं था। इसे अनुचित नहीं माना है। वास्तव में गान्धर्व विवाह में कामेच्छा की अधिक प्रबलता होती है जो कि हिन्दू आदर्श के विपरित है, इसीलिए कुछ लोग इसे अप्रशस्त मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनका मत था कि काम संयोग पर आधारित विवाह अधिक स्थायी नहीं होते है। अतः इस द ष्टि से भी यह अवांछनीय है।

### 7. राक्षस :-

शक्ति या बल-प्रयोग द्वारा युद्ध और संघर्ष के माध्यम से किसी कन्या का अपहरण करके विवाह करना राक्षस विवाह था। इसमें क्रुरता के साथ कपट और बल-पूर्वक कन्या का अपहरण किया जाता था। इसलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया। **मनु के अनुसार** कन्या-पक्ष वालों को मारकर अथवा उनको घायल करके, ग ह के द्वार आदि को तोड़कर तथा रोती-चिल्लाती कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस-विवाह है। यह विवाह-प्रकार सम्भवतः आदिम जातियों में प्रचलित था, जो बाद तक चलता रहा है। चूंकि यह विवाह क्रूरता और निर्दयता पर आधारित था, इसलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया। शक्ति और बल का प्रदर्शन केवल क्षत्रिय ही कर सकते थे, अतः यह विवाह उन्हीं के लिए सुखद था। महाभारत में स्त्रियों को बलपूर्वक

हर ले जाना क्षत्रियों के लिए उत्तम-मार्ग माना गया है। अपह त कन्या को पूर्णतः अविवाहित कहा गया है और दूसरे के साथ उसका विवाह होना समुचित माना गया है। राक्षस विवाह के प्राचीन कालीन उदाहरण मिलते हैं। श्री कृष्ण ने रूक्मि को पराजित कर उसकी पुत्री रूक्मिणी से शादी की थी। अर्जुन ने कृष्ण की बहन सुभद्रा का बलात हरण करके विवाह किया था जिसमें श्रीकृष्ण की पूर्व संहमति थी।

बौद्ध साहित्य में भी राक्षस विवाह के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। एक राजा ने अपने शत्रु राजा को मारकर उसकी पत्नी से स्वयं विवाह कर लिया था। इस प्रकार पराक्रम और शौर्य प्रदर्शित करके कन्या का अपहरण कर विवाह करने के उदाहरण प्राचीन काल के प्रत्येक युग में मिलते हैं। पूर्वमध्य युग में थी प थ्वीराज चौहान और संयोगिता का विवाह इसी आधार पर हुआ था।

**8. पैशाच :-**

हिन्दू समाज में यह विवाह अत्यन्त निन्दनीय और गर्हित माना जाता रहा है। मनु का मत है कि सोती हुई, मदहोश, उन्मत्त, मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर अपनाता है तब वह विवाह-प्रकार पैशाच कहा जाता है।

आश्वालायन, गौतम तथा विष्णु भी इसी प्रकार की परिभाषा करते हैं। स्म तियों ने इस विवाह की भर्त्सना की है। **याज्ञवल्क्य** ने भी इसे छल और कपट पर आधारित बताया है। **धर्मशास्त्रकारों** ने इस विवाहभेद को अत्यन्त जघन्य, अप्रशस्तश अधर्म्य, गर्हित, निन्दित और अध ाम माना है। ब्राह्मणों के लिए यह विवाह सर्वथा अनुपयुक्त और वर्जित था। केवल क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र के लिए ही ऐसा विवाह विहित बताया गया। वस्तुतः यह विवाह प्रणाली आदिकालीन है। यह सही है कि ऐसे विवाह का सम्बन्ध असभ्य और असंस्कृत जातियों से अधिक था, किन्तु बाद में शक्तिशाली और पराक्रमी जातियों ने इसे अनुसरित किया। पराक्रम, युद्ध और शौर्य प्राचीन काल से क्षत्रिय जाति का प्रधान गुण रहा है, इसलिए यह विवाह-प्रथा को अप्रशस्त अवश्य माना किन्तु विवाह प्रकारों में इसे ग्रहण कर लिया। आपस्तंब और वशिष्ठ जैसे लेखकों ने अपने धर्मसूत्रों में इस विवाह-भेद को स्थान नहीं दिया है। ऐसा लगता है कि कुछ धर्मशास्त्रकार ऐसे विवाह के बिल्कुल विरूद्ध थे। इसलिए विवाह-प्रकारों में इसका उल्लेख उनके द्वारा नहीं किया गया है।

अतः प्राचीन भारत में हिन्दू संस्कृति में विवाहों का शास्त्रीय स्वरुप को हम दो भागों में अध्ययन कर सकते हैं।

(अ) प्रशस्त विवाह (धर्म्य विवाह)

(ब) अप्रशस्त विवाह (अधर्म्य विवाह)

जिसमें से प्रशस्त विवाह प्रणाली को आदर और सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था। लेकिन फिर भी समाज में अप्रशस्त विवाह अमान्य होते हुए भी विशेष परिस्थितियों में विशेष वर्ण के लिए मान्य हो जाते थे और इस प्रकार के विवाहों के अनेकानेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में मिल जाते हैं। धर्म्य तथा अधर्म्य विवाहों का प्रभाव स्त्री धन पर भी पड़ता था। याज्ञवल्क्य कें अनुसार यदि किसी स्त्री का विवाह धर्म्य विवाह हुआ है और उसके कोई संतान न होने की सूरत में उसका स्त्रीधन पति को मिलना चाहिए और यदि अधर्म विवाह है तो स्त्री के पिता को। कौटिल्य के अनुसार भी धर्म्य विवाह में विशेष परिस्थितियों में पति स्त्री धन का प्रयोग कर सकता है यदि अधर्म्य विवाह हो तो पति को पत्नी का धन ब्याज सहित लौटाना पड़ता था।

**वर का चुनाव -**

विवाह के लिये वर चुनाव उसके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर किया जाता था। आश्वलायनग ह्यसूत्र के अनुसार बुद्धिमान वर के साथ ही अपने पुत्री का विवाह सम्पन्न करना चाहिये। आपस्तम्बग ह्यसूत्र की भी मान्यता है कि वर का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अच्छे कुल का हो, अच्छे चरित्र वाला हो, ज्ञानवान हो और स्वस्थ एवं सुन्दर हो। यम के अनुसार भी वर के कुल, शील, शारीरिक स्वास्थ्य, यश, विद्या, धन पर विचार करने के पश्चात् ही उसे कन्या सौंपनी चाहिए। वर के चुनाव में उसके व्यक्तिगत गुणों के अलावा उसके कुल पर विशेष ध्यान देने की बात प्रायः सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार की है। मनु ने कुल को सर्वोपरि स्थान दिया है। उसके अनुसार अच्छे कुल वाला और कुल की उन्नति चाहने वाला, विद्या, जन्म आदि से उत्कृष्ट पुरुषों के साथ ही व्यक्ति को कन्यादान करना चाहिए। मनु ने एक अन्य स्थान पर दस प्रकार के कुलों से विवाह सम्बन्ध जोड़ने का निषेध किया है। उसके अनुसार जातकर्म आदि क्रियाओं से रहित, जहां स्त्रियां ही उत्पन्न होती हों, वेदों का अध्ययन न होता हो, सदस्यों के शरीर पर केश अधिक मात्रा में हों, जहां लोग बवासीर रोग युक्त, क्षयरोग युक्त, मन्दाग्नियुक्त, मिर्गी युक्त, शुष्क कुष्ठ युक्त और गलित्कुष्ठता हो-इन कुलों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये।

स्म तिकार याज्ञवल्क्य ने भी कुल की प्रसिद्ध और आनुवंशिक रोगों से मुक्ति पर विशेष बल दिया है। वात्यायन का भी यह मत है कि कुष्ठता, नपुंसकता, स्वगोत्रता, बहरापन, मिर्गी और अपराधी आदि दोषों से युक्त व्यक्ति के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करना चाहिये। इस तरह हिन्दू शास्त्रकारों ने वर के कुल, उसकी योग्यता और पुरूषत्व पर विशेष बल दिया है। मत्स्य पुराण में भी उल्लेख मिलता है कि विवाह की यह प्रथा है कि जो वर उत्तम कुल, जन्म, अवस्था, रूप, ऐश्वर्य और सम्पत्ति से युक्त हों, उसे अपने घर बुलाकर कन्या प्रदान करनी चाहिये, किन्तु कन्या की याचना करने वाले को नहीं।

हिन्दू शास्त्रकारों ने एक ओर नंपुसकों को विवाह के लिये अयोग्य घोषित किया है, लेकिन दूसरी ओर विशेष परिस्थितियों में उनके विवाह को न्यायोचित भी माना है। ऐसे वरों के नियोग से उत्पन्न पुत्रों को औरस पुत्रों की ही तरह धन सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार किया गया है।

**वधू का चुनाव**

वर की भांति वधू के चुनाव में भी हिन्दू शास्त्रकारों ने अपना ध्यान आकृष्ट किया है। प्रायः समस्त शास्त्रकारों ने सुन्दर, शीलवान, बुद्धिमान, गुणवान और विलक्षण प्रतिभाओं से युक्त कन्या को ही वधू बनाने की सलाह दी है। वसिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्म ति, नारद स्म ति, विष्णु पुराण आदि ग्रन्थों में कन्या को वधू के रूप में चुनने हेतु उसके विशिष्ट गुणों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ आश्वलायनग ह्यसूत्र में ऐसी कन्या से विवाह की सलाह दी गयी है जो बुद्धिमान हो, सुन्दर हो, सच्चरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली एवं स्वस्थ हो। भारद्वाज का मत है कि कन्या से विवाह करते समय चारों बातों- धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। मानवग ह्यसूत्र में विद्या को कन्या का पांचवा गुण स्वीकार किया गया है और इसे सौन्दर्य के बाद और बुद्धि से पूर्व रखा गया है। मनु के अनुसार भूरे बालों वाली, अधिक अंगों वाली अर्थात् छः अंगुलियों वाली, नित्य रोगी रहने वाली, बहुत अधिक बोलने वाली एवं भूरी आंखों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए।

मनु ने नक्षत्र, पेड़, पहाड़, नदी, पक्षी, सर्प या दासी के नामों वाली एवं भयंकर नामों वाली

कन्या से विवाह न करने की सलाह दी है। जिसके अंग में कुछ व्यंग न हो, जो मधुर नामवाली हो, हंस अथवा हाथी के समान गमन करने वाली हो, जिसके केश बारीक हों, जो कोमल दांत वाली हो, जिसका शरीर सुन्दर हो, ऐसी कन्या विवाह के लिये सर्वथा उपयुक्त बतायी गयी है। विष्णु पुराण के अनुसार कन्या की ठोढ़ी पर बाल नहीं होने चाहिये, उसका स्वर कौए की भांति कर्कश नहीं होना चाहिये, उसके घुटनों एवं पैरों पर बाल नहीं होना चाहिये, हंसने पर उसके गालों पर गड्ढ़े नंहीं पड़ने चाहिये, उसका कद न तो बहुत तो बहुत छोटा और न ही बहुत लम्बा होना चाहिये।

अधिकांश हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार कन्या की आयु वर की आयु से थोड़ी कम होनी चाहिये। मनु और याज्ञवल्क्य ने उस कन्या से विवाह न करने की सलाह दी है जिसका कोई भाई न हो। विष्णु धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य और नारद् के अनुसार समान गोत्र और समान प्रवर वाले लोगों में विवाह नही होने चाहिये। इस प्रकार हिन्दू समाज में एक ही गोत्र और प्रवर वाले लोगों में विवाह नहीं होते। इस तरह विवाह में गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। कुछ धर्मशास्त्रकारों के मतानुसार पिता की सात पीढ़ी तक और माता की पांच पीढ़ी तक रक्त सम्बन्ध सपिण्ड होता है। मनुस्म ति में उल्लेख मिलता है कि बुआ, मौसी व मामा की कन्याएं सपिण्ड-बहिन होने के कारण विवाह योग्य नहीं है। इनका गमन सगी बहन के समान निषिद्ध है और उनसे गमन करने वालों को चन्द्रायण व्रत करना चाहिये।

सगोत्र विवाह वैसे तो समाज में सम्पन्न नहीं होते थे, लेकिन प्राचीन राजवंशों में इसके कुछ अपवाद अवश्य देखने को मिलते हैं ज्ञातव्य है कि कोशल-नरेश प्रसेनजित की बहन कोशलदेवी का विवाह मगध सम्राट बिम्बसार के साथ हुआ था। बिम्बसार की म त्यु के बाद जब अजातशत्रु मगध सिंहासन पर बैठा तो उसके सम्बन्ध कोशल-नरेश प्रसेनजित से बिगड़ गये और दोनों में संघर्ष छिड़ गया। अन्त में दोनों नरेशों में सन्धि हो गयी और प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अपने ही भांजे अजातशत्रु के साथ कर दिया। इसी प्रकार का एक विवाह दक्षिण भारत के चोल राजवंश द्वारा सम्पन्न किया गया था। राजराज प्रथम के पुत्र राजेन्द्र चोल प्रथम ने अपनी पुत्री अमंगादेवी का विवाह अपने ही भांजे राजराज, जो कि पूर्वी चालुक्य नरेश था, के साथ किया था। उल्लेखनीय है कि अर्जुन ने अपने मामा की कन्या सुभद्रा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। मामा की पुत्री से विवाह करने की प्रथा दक्षिण भारत में आज भी प्रचलित है। बौधायन धर्मसूत्र से ज्ञात होता है कि मामा और फूफा की पुत्री के साथ विवाह धर्मविहित स्वीकार किया जाता था, लेकिन उत्तरी भारत में यह प्रथा विद्यमान् नहीं थी। इस तरह कुछ अपवादों को छोड़कर रक्त सम्बन्ध पर आधारित विवाह समाज में प्रचलित नहीं थे।

प्रायः समस्त शास्त्रकारों द्वारा सप्रवर विवाह की भी भर्त्सना की गयी है। प्रवर का अर्थ उन प्राचीन ऋषियों से होता है जो गोत्र संस्थापक ऋषियों के भी पूर्वज थे। प्रवर का सम्बन्ध ा रक्त से न होकर मनुष्य की पांरपरिक, धार्मिक और सामाजिक प्रक्रियाओं से था। प्रवर के सम्बन्ध में नारद का मत था कि कन्या असामान्य प्रवर की होनी चाहिये। याज्ञवल्क्य ने प्रवर का पर्यायवाची शब्द 'आर्षेय' माना है।

इतिहासकार काणे के अनुसार भारत में सपिण्ड विवाह पर प्रतिबन्ध संभवतः दो कारणों से था- (1) यदि सन्निकट सम्बन्धी आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लें तो उनके दोष कई गुने रूप में उनकी सन्तानों में बढ़ जायेंगे और (2) यदि सन्निकट लोगों में विवाह सम्बन्ध

ा स्थापित होंगें तो गुप्त प्रेम की परम्पराओं का सूत्रपात हो जायेगा और समाज में अनैतिकता का राज्य बढ़ जायेगा। उन कन्याओं के लिये जो एक ही घर में कई सन्निकट एवं दूर के सम्बन्धियों के साथ रहती हैं। वर पाना कठिन हो जायेगा।

## वर और कन्या के विवाह की आयु

विवाह के सन्दर्भ में पुरूष के लिये कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गयी। प्राचीन भारत में प्रायः 12 वर्षों तक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। इस तरह ब्राह्मणों में 20 वर्ष की अवस्था विवाह के लिये उपयुक्त मानी जाती थी। मनु के अनुसार तीस वर्ष का पुरूष 12 वर्ष की लड़की से अथवा 24 वर्ष का पुरूष का 8 वर्ष की लड़की से विवाह कर सकता था। इस तरह कन्या और वर की विवाह अवस्थाओं का अनुपात 1/3 रखा गया था। महाभारत के अनुशासन पर्व में वर एवं कन्या की विवाह की अवस्थायें क्रम से 30 तथा 10 या 21 तथा 7 है। पुरूषों के लिये विवाह की अधिकतम् आयु निश्चित नहीं थी और ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में कुछ कन्यायें 60 वर्ष पुरूष से भी विवाह नहीं करती थी। महाभारत के समापर्व के वनपर्व में एक ऐसी लड़की की उपमा दी गई जो 60 वर्ष के पुरूष के साथ विवाह नही करना चाहती।

ग ह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के अध्ययन से विदित हेाता है कि कन्यायें युवावस्था के बिल्कुल पास पंहुचने अथवा उसके प्रारम्भ होने के पश्चात् विवाहित हो जाया करती थीं। गोभिल, शांखायन, पारस्कर, आपस्तम्ब आदि ग ह्यसूत्रों में चतुर्थी कर्म का उल्लेख मिलता है। चतुर्थी कर्म का तात्पर्य विवाह के चार दिन बाद सम्भोग करने से है। इससे यह स्पष्ट होता है कि युवती कन्याओं का विवाह सम्पन्न होता था। बौधायन ग ह्यसूत्र में उल्लेख मिलता है कि यदि विवाह से सम्बन्धित क्रियाओं के मध्य में कभी मासिक धर्म प्रकट हो जाये तो प्रायश्चित करना चाहिये। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में कन्याओं का विवाह युवावस्था में ही सम्पन्न होता था।

युवती हो जाने पर यदि पिता कन्या का विवाह सम्पन्न नहीं कर पाता था तो कन्या को स्वयं अपना विवाह करने की अनुमति थी। मनुस्म ति में उल्लेख मिलता है कि लड़की युवती हो जाने पर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे और तीन वर्ष के उपरान्त अधिक गुणयुक्त घर वर न मिलने पर वह अपने गुणों के अनुरूप वर का वरण कर सकती है। ई० पू० 600 से ईसा की आरम्भिक शताब्दी तक कन्या का युवती होने के कुछ मास आगे-पीछे हेाने पर विवाह कर देना किसी भी प्रकार की गलती का सूचक नहीं समझा जाता था लेकिन 200 ई० के लगभग कन्या के युवती होने के पूर्व ही विवाह कर देना आवश्यक हो गया था। उस समय तक कन्याओं का पठन-पाठन कम हो गया था, अतः निरर्थक रूप से उन्हें अविवाहित रखना सम्भवतः समाज को मान्य नहीं था। कन्याओं का विवाह ही उपनयन संस्कार माना जाने लगा था। उपनयन संकार की अवस्था आठ वर्ष निर्धारित की गयी थी। अतः इस अवस्था तक कन्या का विवाह सम्पन्न हो जाया करता था। समाज की यह भी धारणा बन चुकी थी कि कन्या के अंगों में किसी भी तरह के परिवर्तन के पूर्व ही विवाह कर देना अधिक उचित है। पराशर के अनुसार 8 वर्ष की लड़की गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या और उसके ऊपर रजस्वला कही जाती है। यदि कोई व्यक्ति 12 वर्ष के पश्चात् अपनी कन्या का विवाह न करे तो उसके पूर्वज प्रति माह उसका ऋतु प्रवाह पीते हैं। रजस्वला कन्या को देखने से उसके माता-पिता तथा ज्येष्ठ भाई नरक के भागीदार होते हैं। इस तरह स्म तिकार पराशर ने रजोदर्शन के पूर्व ही कन्या का विवाह करने की सलाह दी है। स्त्री की कामुकता भी इसका एक सर्वमान्य कारण कहा जा

सकता है। किसी भी कन्या के युवावस्था प्राप्त होने पर उसके सतीत्व के नष्ट हो जाने का खतरा बना रहता था और किसी भी तरह का अनुचित कदम उठाने पर माता-पिता को ही समाज में अपमान का घूंट पीना पड़ता था। अविवाहिता कन्या का भार भी उन्हें अनिश्चित समय तक उठाना पड़ता था। इन समस्त कारणों से बचने के लिए ही यह उचित रहा होगा कि युवावस्था प्राप्त होने से पूर्व की कन्या का विवाह कर अपने बोझ को हल्का किया जाये। इन्हीं समस्त कारणों के कारण बाल-विवाह को समाज में प्रोत्साहन मिला होगा।

**सवर्ण और सजातीय विवाह**

धर्मसूत्रों में अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह करने की बात कही गयी है। मनुस्म ति में भी इसी बात पर बल दिया गया है। सवर्ण स्त्री को श्रेष्ठ बताया गया है। स्म तिकारों के अनुसार सवर्ण विवाह ही श्रेष्ठ है, यद्यपि अन्य वर्णों की स्त्रियों से भी अतिरिक्त विवाह का विध ान था। मनु और याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण एवं शूद्रों के विवाह को मान्यत प्रदान की है और बताया कि उसकी संतान को पारख कहा जाता है। साधारणतया अपनी जाति से बाहर विवाह करना निन्दनीय समझा जाता था।

**अर्न्तजातिय विवाह (अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह)**

अर्न्तजातिय या अर्न्तवर्णीय विवाह सिद्धान्त निषिध होते हुए भी व्यवहार में इस प्रकार के विवाह होते रहे हैं। वैदिक काल में यद्यपि अनुलोम विवाहों को अनुमति थी किन्तु शुद्र वर्ण की स्त्री के साथ सम्बन्ध को अच्छा नहीं समझा जाता था।

धर्म-सूत्र युग में ब्राह्मण अधिकतर अपने वर्ण में ही विवाह करते थे। किन्तु वे अन्य वर्णो की कन्याओं से विवाह करने पर पूर्ण प्रतिबन्ध न लगा सके। अनुलोम विवाह में कोई भी ब्राह्मण अपने वर्ण तथा अन्य तीनों वर्णो की स्त्री से विवाह कर सकता था। कोई भी क्षत्रिय अपने वर्ण तथा अन्य दो निम्न वर्णो की स्त्रियों से विवाह कर सकता था और कोई भी वैश्य अपने वर्ण व शूद्र की स्त्री से विवाह कर सकता था। और वशिष्ट में अनुलोम विवाहों की अनुमति दी है।

बौधायन के अनुसार उच्च वर्ण के पुरूष और उससे निम्न वर्ण की स्त्री की सन्तान पिता के वर्ण की होती है। गौतम ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता की सन्तान को ब्राह्मण मानते हैं किन्तु यह स्थिति वैश्य पिता और शूद्र माता की संतान के लिए स्वीकार नहीं करते। गौतम के अनुसार शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र आज्ञाकारी होने पर भी अपने म त ब्राह्मण पिता की सम्पति से केवल भरण-पोषण प्राप्त कर सकता है, चाहे उसका अन्य कोई भी पुत्र न हो।

मनु के अनुसार शूद्र माता से उत्पन्न पुत्र का पैत क सम्पति में दसवां भाग प्राप्त होता है, चाहे दूसरे वर्ण की माताओं से उत्पन्न कोई भी पुत्र न हो। शेष सम्पति अन्य पुरूष उत्तराधि ाकारियों को प्राप्त होती है।

प्राचीन काल में अन्तर्जातीय विवाह का भी प्रचलन था। इसके अन्तर्गत अनुलोम विवाह और प्रतिलोम विवाह का प्रचलन था। इसका वर्णन इस प्रकार है।

**अनुलोम विवाह -**

अनुलोम विवाह में ऊंचे वर्ण का पुरूष होता था और निम्न वर्ण की स्त्री। वैदिक युग में वर्ण और जाति का कठोर बंधन नहीं था, इसलिए इस तरह के विवाह बहुत होते थे। इस प्रकार के विवाहों के वैदिक युगीन साक्ष्य हैं। भ गुवंशी ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या

से विवाह किया था। ब्रह्मर्षि श्यावश्य ने क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति से विवाह किया था। व ष्णिवंशीय शौरी की पत्नियों में से एक वैश्य की पूत्री थी।

याक्षुष और कक्षीवान् जैसे तपस्वियों का जन्म ब्रह्मर्षि और शूद्र की संयुक्यता से हुआ था। वशिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अद श्यन्ती से हुआ था। ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपा-मुद्रा क्षत्रिय थी।

वैदिक युग के बाद ऐसे विवाह नीच कहे गये तथा समाज में इनका मान कम हो गया। उच्च वर्ण की स्त्री की उपस्थिति में निम्न वर्ण की स्त्री को धार्मिक कार्य सम्पन्न करने से वंचित कर दिया गया। समाज में ऊंचे वर्ण की स्त्री प्रतिष्ठित और अभिशंसित मानी गई। ब्राह्मणों को सभी वर्णों की कन्याओं से परिणय करने का अधिकार प्राप्त था। शास्त्रों के अनुसार, अनुलोम विवाह से ब्राह्मण तीन (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कन्याओं से), क्षत्रिय दो (वैश्य और शूद्र कन्याओं से), वैश्य मात्र एक (शूद्र कन्या से) विवाह कर सकता था।

अनुलोम विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं। पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र का विवाह क्षत्रिय नरेश यज्ञसेन की पुत्री मालविका से हुआ था। ब्राह्मण वंशी वाकाटका नरेश रूद्रसेन द्वितीय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से विवाह था। रविकीर्ति ब्राह्मण ने वैश्य कुल में उत्पन्न भानुगुप्ता से विवाह किया था। वाकाटक राज-देवसेन के मंत्री सोमनाथ नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय स्त्री से भी विवाह किया था। बाणभट्ट के सौतेले भाई चन्द्रसेन और मात सेन शूद्रा से उत्पन्न हुए थे। ब्राह्मण कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी चौहान वंशी क्षत्रिय थी। राजतंरगिणी में उल्लेखित है कि संग्राम राजने अपनी पुत्री लोटिका का विवाह दिद्दामठ के अध्यक्ष प्रेमनामक ब्राह्मण से किया था कथा सरितसागर से यह विदित होता है कि अशोकदत्त नामक ब्राह्मण ने क्षत्रिय राजकुमारी से विवाह किया था। अलबरूनी भी लिखता है कि ब्राह्मण कभी अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह नहीं करते थे। लगता है कि पूर्वमध्य युग के ब्राह्मणों में विवाह सम्बन्धी कुछ कठोरता आ गई थी। उसके इस कथन के विपरित पूर्व मध्ययुगीन भाष्यकारों ने यह माना है कि ब्राह्मण अपने से नीचे वर्ण की कन्या से शादी कर सकते थे। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अनुलोम विवाह प्रथा समाज में प्रचलित थी, जो पूर्व मध्यकाल के समाज में भी बनी रही।

### प्रतिलोम विवाह

इस प्रकार के विवाह को हिंदू समाज में अत्यंत हीन माना जाता था इसलिए समाज में इसका प्रचलन नाम मात्र के लिए ही था। इस विवाह के अन्तर्गत ऊंचे वर्ण की कन्या होती थी और निम्न वर्ण का पुरूष होता था। इससे उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर, निकृष्ठ और अस्प श्य कहा जाता था। वैदिक युगीन समाज में प्रतिलोम विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण कन्या अंगिरसी क्षत्रिय भावयव्य की पत्नी थी। राज नीप ने कृष्ण द्वैपायन के पुत्र शुक्र की कन्या कृत्वी से विवाह किया था। ब्राह्मण ऋषि शुक्राचार्य की कन्या देवयानी ययाति की पत्नी थी। पुराणों में भी प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को धर्मच्युत कहा गया है।

समाज में साधारणतः निम्न वर्ण को अपने से ऊंचे वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार नहीं था। यद्यपि यदा-कदा ऐसे विवाह समाज में हो जाया करते थे परन्तु अलबरूनी भी प्रतिलोम विवाहों की भर्त्सना की है। भाष्यकारों और टीकाकारों ने भी ऐसे विवाह की निन्दा और आलोचना की है। प्रतिलोम विवाह को समाज किसी विवशता में ही स्वीकार करता था। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को समाज में हेय की द ष्टि से देखा जाता था। मत्स्य की मान्यता है कि ऐसी सन्तान धर्मच्युत होती है और उसका शीघ्र पतन होता है।

प्रतिलोम विवाह समाज में यदा-कदा होता होगा। इसमें कोई संदेह नही किन्तु सम्पूर्ण समाज के विचारों और कार्यो में प्रतिलोम विवाह का कोई स्थान नहीं था।

अन्तर्जातीय विवाह पर प्रारम्भ से ही प्रतिबन्ध लगाने शूरू हो गये थे। इस विवाह पर प्रतिबन्ध और नियन्त्रण करने के अनेक कारण थे जैसे :-

1. प्रत्येक वर्ण और जाति रक्त की शुद्धता की भ्रामक मान्यता पर विश्वास करके अपने-अपने वर्ण में ही विवाह करती रही, जिससे उसके रक्त की पवित्रता बनी रह सके।
2. प्रत्येक वर्ण और जाति का व्यवसाय बहुत पहले से ही निश्चित रहा है। ऐसी स्थिति में किसी भी जाति का व्यक्ति यह नहीं चाहता था कि उसका व्यवसायिक ज्ञान कोई दूसरी जाति जान सके।
3. ऐसा विश्वास था कि वर्णों और जातियों की उत्पत्ति दैवी आधार पर हुई है और इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप ठीक नहीं हैं। इसलिए अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया।
4. जातियों के प थक् रहने के कारण उसमें अनेक विभिन्नता आ गई। अन्तर्जातीय विभिन्नताओं के कारण पति-पत्नी विभिन्नताओं के साथ एक-दूसरे से सांस्कृतिक आधार पर संयोजित होने में कठिनाई का अनुभव करते थे।
5. जातियों के पारस्परिक भेद और विभाजन की शिक्षा के अभाव के कारण जाति व्यवस्था को समझा नहीं जा सका तथा उसकी कृत्रिमता को नहीं पहचाना जा सका और इस प्रकार दसवीं सदी के पश्चात् अपनी जाति और उपजाति के बाहर विवाह करना अपराध माना जाने लगा। धर्मसूत्रकारों ने शूद्र पत्नी के सहवास के लिए प्रायश्चित का विधान किया। मनु के वर्णन से स्पष्ट है कि उसने अपने समय में ब्राह्मण का शूद्र स्त्री से विवाह वैध तो माना परन्तु समाज ने ऐसे विवाह को प्रतिष्ठित तथा सम्मानीय नहीं माना। अर्न्तजातिय विवाह का खौफ आज भी देखने को मिल जाता है आज भी हमारे सामने अर्न्तजातिय विवाह करने वाले को जाति से बाहर निकाल देने तथा 'Honour Killing' के उदाहरण समक्ष है।

**बहुपत्नीत्व**

सामान्यतया हिन्दू समाज में एकपत्नीकता प्रतिष्ठित थी। एक पत्नी के रहते हुए मनुष्य दूसरा विवाह नहीं करता था। ज्ञातव्य है कि सीता को वनवास देने के बाद भी राम ने दूसरा विवाह नहीं किया था और एकपत्नीकता के आदर्श का उदाहरण समाज के समक्ष उपस्थित किया था। महाभारत के उल्लेख के अनुसार अपनी विशेष परिस्थितियों में बहुपत्नी विवाह की प्रथा भी समाज में प्रचलित थी। इस प्रथा के अन्तर्गत पहली पत्नी के अतिरिक्त व्यक्ति दूसरी पत्नी रख सकता था। तैतिरीय संहिता में उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार यूप पर दो रस्सियां होती हैं उसी तरह एक पुरूष की दो पत्नियां हो सकती हैं पर जैसे एक रस्सी से दो यूप नहीं बांधे जाते उसी तरह एक पत्नी के कई पति नहीं हाते हैं।

प्रायः राजा तथा सरदार एवं अधिक सम्पन्न व्यक्ति बहुपत्नीवादी होते थे। ज्ञातव्य है कि मगध सम्राट बिम्बसार की पांच सौ रानियां कही गयी हैं, जिसकी सूचना महावग्ग से होती है। हो सकता है कि इस कथन में अतिश्योक्ति हो लेकिन इतना निश्चित है कि उसकी एक से अधिक पत्नियां अवश्य थीं। इनमें कोशल नरेश प्रसेनजित की बहन कोसलदेवी, लिच्छिवियों के प्रधान चेटक की पुत्री चेलना और मद्र राजकुमारी खेमा विशेष उल्लेखनीय हैं। बाल्मीकि के

अनुसार भी रावण के पास बहुत सी रानियां थीं। राजा दशरथ, पाण्डु, अर्जुन और भीम बहुपत्नीक थे। इस प्रथा को धर्म्य घोषित करते हुए महाभारत में यह कहा गया है कि बहुविवाह अपराध नहीं है। मेगस्थनीज के अनुसार भी भारतीय कुछ स्त्रियों से आमोद-प्रमोद के लिये विवाह करते थे जबकि कुछ को सहधर्मिणी बनाने के लिये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी इस बात की पुष्टि होती है। शुंग वंशीय नरेश अग्निमित्र की तीन पत्नियां थीं-धारणी, इरावती और मालविका। गुप्त वंशीय नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने ध्रुवदेवी और नागवंशीय राजकुमारी कुबेरनागा से विवाह किया था। एक अभिलेखीय साक्ष्य के अनुसार चंदिवंशीय राजा गांगदेव ने अपनी सौ स्त्रियों के साथ प्रयाग में वट व क्ष के समीप मोक्ष को प्राप्त किया था। इस तरह बहुपत्नी विवाह का प्रचलन समाज में था। आर्थिक स्थित के सुद ढ़ होने पर यह सम्भव भी था। काम के वशीभूत होने के कारण लोग एक से अधिक पत्नियां रखने के शौकिन थे। हरिश्चन्द्र जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है, सौ पत्नियां थीं। वह अपुत्र थे। वात्स्यायन ने भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है कि पुत्र से विहिन पत्नी का यह धर्म है कि वह अपने पति को दूसरा विवाह करने के लिये प्रेरित करे। इससे यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि कभी-कभी सन्तान के सुख को प्राप्त करने के लिये लोग दूसरी स्त्री से विवाह करते थे। बौधायन धर्मसूत्र में यह उल्लेख किया गया है कि पुत्र न होने की स्थिति में पुरूष 10 वर्ष तक प्रतीक्षा करे। कभी-कभी पुत्रों के होते हुए भी लोग दूसरा विवाह सम्पन्न करते थे। मत्स्य पुराण में उल्लेख है कि गान्धारी और माद्री दोनों व ष्णि की पत्नियां थी। गान्धारी ने सुमित्र और मित्रनन्दन नामक दो पुत्रों को जन्म दिाय। एक अन्य स्थान पर इस ग्रन्थ में बताया गया है कि वसुदेव के संयोग से रोहिणी, जो उनकी चौबीस पत्नियों में प्रथम थीं, ने विश्वविख्यात ज्येष्ठ पुत्र बलराम को और तत्पश्चात् प्रिय पुत्र सारण, दुर्दम, दमन, सुभ्र, पिण्डारक और महाहनु को उत्पन्न किया। उनकी दूसरी पत्नी पौरवी के भी भद्र, सुभद्रदि नामक पुत्र हुए तथा उसी समय रोहिणी`क गर्भ से चित्रा और अक्षी नामक दो कन्यायें भी उत्पन्न हुई थीं। वसुदेव जी के देवकी नामक एक पत्नी से सुषेण, कीर्तिमान, उदार, भद्रसेन, भद्रवास, भद्रविदेह, श्रीकृष्ण, सूभद्रा, शूरी नामक सन्तानों का जन्म हुआ था। इसी प्रकार ताम्रा, देवरक्षिता, उपदेवी, शूद्रादेवी, सतनु और रथराजी नामक पत्नियों के नामों का उल्लेख हुआ है जिनके गर्भाधारण से अनेक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुए थे। एक अन्य स्थान पर इस ग्रन्थ से सूचना मिलती है कि श्री कृष्ण के सोलह हजार पत्नियां थीं जिनमें से रूक्मिणी, सत्यभामा, नाग्नजिती सत्या, सुभामा, शैव्या, गान्धार राजकुमारी लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, देवी कालिन्दी, जाम्बवती, सुशीला, भद्रराजकुमारी कौसल्या तथा विजया प्रमुख थीं। रूक्मिणी से ग्यारह पुत्रों का जन्म हुआ था जो सभी युद्धकर्म में निष्णात् थे जिनके नाम-महाबली प्रद्युम्न, रणशूर, चारूदेष्ण, सुचारू, भद्रचारु, सूदेष्ण, परशु, चारूगुप्त, चारूभद्र, सुचारूक और चारूहास थे। रूक्मिणी से चारूमती नाम की एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। जाम्बवती के साम्ब नामक एक पुत्र का उल्लेख हुआ है। श्रेष्ठ सुन्दरी मित्र विन्दा ने मित्रवान और मित्रविन्द को तथा नाग्नजिती सत्या ने मित्रबाहु और सुनीथा को पुत्र रूप में जन्म दिया था। इस प्रकार उन्य पत्नियों से भी हजारों पुत्रों की उत्पत्ति हुई थी। इस तरह वसुदेव नन्दन श्री कृष्ण के पुत्रों की संख्या एक करोड़ एक लाख अस्सी हजार बतायी गयी है जो विभिन्न पत्नियों के कारण सम्भव हुआ। इस तरह बहुपत्नी रखने की प्रथा प्राचीन हिन्दू समाज में प्रचलित थी।

### बहुपति विवाह

जिस प्रकार बहुपत्नीत्व विवाह में एक पति की एक से अधिक पत्नियां होती थीं, उसी तरह बहुपतित्व विवाह में एक पत्नी एक से अधिक पति होते थे। प्राचीन हिन्दू समाज में यह प्रथा कुछ जातियों व कुलों में अधिक प्रचलित थीं। एक स्त्री को पत्नी के रूप में सम्मिलित रूप

से उपभोग करने के उदाहरण प्राचीन भारत में देखने को मिलते हैं। 'महाभारत' प्रचीन भारत के बहुपतित्व के सम्बन्ध में एक प्रमाणिक आधार कहा जा सकता है जिसमें पांचों पाण्डवों के संयोग से द्रौपदी को समान रूप से अपनी पत्नी स्वीकार किया। विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि मारिषा के दस पति थे। मत्स्य पुराण भी पांचों पाण्डवों के संयोगे से द्रौपदी के गर्भ से पांच पुत्रों का उल्लेख करता है। इस ग्रन्थ के अनुसार द्रौपदी ने युधिष्ठिर के संयोग से ज्येष्ठ पुत्र प्रतिविन्ध्य को, भीमसेन के संयोग से श्रुतसेन को, अर्जुन के संयोग से श्रुतकीर्ति को, सहदेव के संयोग से श्रुतकर्मा का और नकुल के संयोग से शतानीक को जन्म दिया था। बहुपति विवाह लोकधर्म के विरूद्ध और निन्दनीय समझा जाता था और धर्मशास्त्रों में इसका समर्थन नहीं किया है।

## पुनर्विवाह

प्राचीन हिन्दू समाज में कुछ विशेष परिस्थितियों के अर्न्तगत स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति शास्त्रकारों ने दी है वैदिक काल में विधवा विवाह का प्रचलन समाज में था, परन्तु स्म तियों और धर्मसूत्रों के काल में इसको निषिद्ध ठहराया गया था। अथर्ववेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि स्त्री पुनर्विवाह करती थी। महाकाव्यों के उल्लेख से भी पुनर्विवाह की सूचना मिलती है। उल्लेखनीय है कि बालि की म त्यु होने पर उसकी विधवा पत्नी ने सुग्रीव से विवाह किया था। इससे स्पष्ट है कि विधवा होने की स्थिति में स्त्री पुनर्विवाह की अधिकारिणी थी। रामायण में एक स्थान पर सीता द्वारा लक्ष्मण पर क्रोध प्रकट किया गया है। सीता ने क्रोधवश लक्ष्मण से कहा था कि वे राम की रक्षा के लिये इसलिये नहीं जाना चाहते कि उनकी म त्यु के बाद वह मुझसे विवाह करके अपनी पत्नी बना सकें। यह विवरण अवश्य संकेत देता है कि समाज में विधवा विवाह की प्रथा थी।

महाभारत में दमयन्ती के द्वितीय स्वयंवर की घोषणा से यह कहना गलत न होगा कि अपने पति के दीर्घकाल तक अनुपस्थित रहने के कारण पत्नी दूसरा विवाह कर सकती थी। इरावत की पुत्रवधू द्वारा अर्जुन के साथ पुनर्विवाह का उल्लेख भी महाभारत में हुआ। दूसरी बार विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' कहा जाता था। कौटिल्य के अनुसार भी पति के विदेश चले जाने पर या संन्यास लेने पर अथवा म त्यु होने पर अपुत्रवती स्त्री को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। वसिष्ठ धर्मसूत्र का भी कथन है कि पति के विदेश से एक निश्चित अवधि तक न लौटने पर उसकी पत्नी दूसरा विवाह सम्पन्न कर सकती है।

स्म तियों ने स्त्रियों के लिये कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर पुनर्विवाह का निषेध ा किया है। मनुस्म ति में उल्लेखनीय है कि पति की म त्यु होने पर व्यभिचार की बुद्धि से स्त्री दूसरे पति का नाम भी ने ले, किन्तु पवित्र फलों से थोड़ा आहार करके शरीर को क्षीण करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु ने स्त्रियों को पुनर्विवाह की सलाह नहीं दी है और सम्भवतः उनके समय में स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगने लगा था। एक अन्य स्थान पर मनु का कथन है कि यदि किसी स्त्री का पति धार्मिक कर्तव्यों के कारण विदेश गया हो तो पत्नी को आठ वर्षो तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि वह ज्ञान अथवा यश की प्राप्ति के लिये विदेश गया हो तो पत्नी छः वर्षो तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि वह दूसरी स्त्री के प्रेम में वशीभूत होकर विदेश गया हो तो पत्नी को केवल तीन वर्षो तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। परन्तु मनु ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन अवधियों के पश्चात् पत्नी को कौन सा कदम उठाना चाहिए। सम्भवतः मनु का उद्देश्य एक निश्चित अवधि के पश्चात् पत्नी पुनर्विवाह करने की तरफ ही था। ऐसा विधान उन्होंने विशेष परिस्थितियों में निश्चित किया था। नारद ने भी पांच विपत्तियों में स्त्रियों के लिये दूसरे पति से विवाह करने की आज्ञा प्रदान की है। पति के नष्ट होने, मर जाने, सन्यासी होने,

नपुंसक होने या पतित होने की स्थिति में पत्नी दूसरा विवाह करने की अधिकारिणी है। पराशर स्म ति और अग्नि पुराण में भी यह उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि वैसे तो स्म तिकार स्त्री के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं थे, लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों का आंकलन करके उन्होंने परिस्थितिगत छूट मात्र प्रदान की है।

'पुनर्भू' दो प्रकार की होती थी- क्षता (क्षतयोनि) और अक्षता (अक्षतयोनि)। कुछ ऐसी स्त्रियां होती थी जो किसी पुरूष से विधिपूर्वक विवाह न करके स्वेच्छाचार से किसी के साथ रहने लगती थीं, उसे 'स्वैरिणी' कहा जाता था। उल्लेखनीय कहै जिसका विधिपूर्वक विवाह होता था, वह 'पुनर्भू' कहलाती थी। 'पुनर्भू' से उत्पन्न पुत्र 'पौनर्भव पुत्र' कहलाता था।

**नियोग**

प्राचीन भारत के हिन्दू समाज में नियोग-प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार विध वा स्त्री निःसंतान होने पर पुत्र प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी। देवर के ने होने पर विधवा स्त्री सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर एवं सजातीय पुरूष के साथ भी नियोग स्थापित कर सकती थी। ऋग्वेद, अथर्ववेद, मनुस्म ति, महाभारत, याज्ञवल्क्व स्म ति एवं नारद स्म ति में इसका उल्लेख मिलता है। नियोग से उत्पन्न सन्तान को 'क्षेत्रज' कहा जाता था। बौधायन सूत्र से स्पष्ट होता है कि पति के म तक, नपुंसक अथवा रागी होने की स्थिति में उसकी पत्नी नियोग प्रथा के द्वारा क्षेत्रज पुत्र प्राप्त कर सकती थी, परन्तु यह नियोग केवल दो पुत्रों की प्राप्ति तक ही रहता था।

इतिहासकार काणे ने नियोग की आवश्यक दशाओं पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार -

(1) नियोग के लिये जीवित या म त पति पुत्रहीन होना चाहिए।

(2) कुल के गुरूजनों द्वारा ही निर्मीत पद्धति से पति के लिये पुत्र उत्पन्न करने के लिये पत्नी को नियोजित करना चाहिए।

(3) नियोजित पुरूष को पति का भाई (देवर), सपिण्ड या पति का सगोत्र होना चाहिये।

(4) नियोजित पुरूष एवं नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्ण अभाव एवं कर्तव्य ज्ञान का भाव रहना चाहिये।

(5) नियोजित पुरूष के शरीर पर घ त या तेल का लेप लगा रहना चाहिये, उसे न बोलना चाहिये, न चुम्बन करना चाहिये और न स्त्री के साथ किसी प्रकार की रतिक्रीड़ा में संयुक्त होना चाहिये।

(6) यह सम्बन्ध केवल एक पुत्र उत्पन्न होने तक रहना चाहिए।

(7) नियोजित विधवा को अपेक्षाकृत युवा होना चाहिये, उसे बूढ़ी या वन्ध्या (बाँझ), अतीत प्रजनन शक्ति, बीमार, इच्छाहीन या गर्भवती नहीं होना चाहिये।

(8) एक पुत्र की उत्पत्ति के उपरान्त दोनों को एक दूसरे अर्थात् नियुक्त पुरूष को श्वसुर, सास एवं नियुक्त विधवा को वधु जैसा व्यवहार करना चाहिए।

प्राचीन हिन्दू समाज में नियोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुन्ती और माद्री ने नियोग के द्वारा क्रमशः 3 व 2 पुत्र प्राप्त किये थे। नियोग के द्वारा राजा व्युषिताश्व ने 7 पुत्र और राजा बलि ने 17 पुत्र प्राप्त किये थे। कहा जाता है कि जब परशुराम ने क्षत्रियों का संहार कर दिया तो उनकी विधवा स्त्रियों ने नियोग द्वारा ही सन्तानें प्राप्त की थीं। इस तरह नियोग द्वारा विध

ावा स्त्रियां सन्तान प्राप्त कर लिया करती थीं। यह प्रथा प्रारम्भिक काल में तो विद्यमान थी परन्तु बाद के धर्मशास्त्रकारों और स्म तिकारों द्वारा इसी भर्त्सना की गयी। आपस्तम्ब धर्म सूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, मनुस्म ति, आदि ग्रन्थों में इस प्रथा को अनैतिक ठहराकर इसकी निन्दा की है। इसे 'पशु धर्म' की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।

### विवाह-विच्छेद या तलाक

हिन्दू समाज में कुछ विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद की व्यवस्था थी। नीच, प्रवासी, घातक, राजद्रोही, पतित और नपुंसक पति-पत्नी को त्याज्य बताया गया है। मनु ने पति के नपुंसक, पतित, पापी और रोगी होने की स्थिति में पत्नी को दूसरे विवाह की अनुमति प्रदान की है। कौटिल्य के अनुसार भी पति-पत्नी की सहमति से तलाक दे सकता था। इससे स्पष्ट जाहिर है कि पति पत्नी के बीच विशेष परिस्थितियों में तलाक हो सकता था।

### वैवाहिक विधि

प्राचीन भारत के साहित्यिक ग्रन्थों में विवाह की वैवाहिक विधि के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि इस विधि के सम्बन्ध में यह कहना गलत न होगा कि विभिन्न कालों में और विभिन्न जातियों में यह विधियां अलग-अलग थीं, लेकिन कुछ सामान्य प्रचलित विधियां एक जैसी मिलती हैं शांखायन ग ह्यसूत्र से पता चलता है कि वर और वधू की खोज करने के पश्चात विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया जाता था जिसे 'वाग्दान' या 'वांगनिश्चय' कहा जाता था। विवाह में वर-पक्ष का जनसमूह कन्या के घर जाता था और वहां कन्या का पिता 'मधुपर्क' (मधु और दही मिश्रित शुद्ध पेय) से उसका स्वागत करता थां वह वर से इस बात का आश्वासन प्राप्त करता था कि वह धर्म, अर्थ तथा काम की पूर्ति में वह अपनी स्त्री का परित्याग नहीं करेगा। वर-वधू का अग्नि के समक्ष पाणिग्रहण होता था। आश्वलायन के अनुसार कन्या द्वारा तीन आहुतियां वर द्वारा मन्त्रों का उच्चारण करते समय अग्नि में डाली जाती थीं और आहुति मौन रूप से ही दी जाती थी। इसके पश्चात् वर अपनी वधू को वैवाहिक वेदी के पास उत्तर की ओर सात पद घुमाता था और प्रत्येक पद पर एक-एक श्लोक कहता था। सात श्लोक ग हस्थ धर्म के सात बातों के द्योतक होते थे। इस प्रक्रिया को 'सप्तपदी' के नाम से जाना जाता था। पहला पग अन्न के लिये, दूसरा बल के लिये, तीसरा सम्पत्ति की रक्षा के लिये, चौथा आनन्द की कामना के लिये, पांचवा सन्तान के लिये, छठा नियम पालन के लिये और सातवां पति का मित्र बनने के लिये था। इस सप्तपदी के बाद वर वधू के सिर पर जल छिड़कता था जिसे 'मूर्धाभिषेक' कहते थे। इसके बाद वधू को सूर्य की ओर देखने को कहा जाता था जिसे 'सूर्योदीक्षण' कहा जाता था। इन समस्त क्रियाओं के सम्पन्न होने पर वर वधू को अपने घर लाता था। जहां पारिवारिक हवन सम्पन्न किया जाता था।

इस प्रकार प्रचीन भारत में विवाह एक बहुत ही पवित्र संस्कार माना जाता था क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि की व्यवहारिकता विवाह प्रथा पर ही आधरित थी।

# अध्याय - 13

# जाति व्यवस्था

# (Caste System)

J.H. Hutton के अनुसार :- " भारत में केवल जाति-प्रथा ही एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसका अधिकार दैवी शक्ति से भी अधिक द ढ़ है ।

## भारतीय जाति व्यवस्था

हिंदू सामाजिक संगठन का एक विशिष्ट एंव निराला रूप है जो हिंदू समाज को अनेक भिन्न-भिन्न समूहों में बाँटता है इन जातियों के रहन-सहन, स्तर, व्यवहार और आचरण में काफी अंतर है। इस संस्था में अनेकानेक निषेध, प्रतिबंध , कठोरता व जटिलाताएँहै लेकिन फिर भी उस संस्था का तारतम्य व दबादब बराबर बना रहा है । समय-समय पर होने वाले परिवर्तन ,प्रादेशिक उलट-फेर विदेशी आक्रमण विभिन्न व्यवसायिक गतिविधियाँ पारस्परिक अतंरताएँ तथा अर्न्तजातिय विवाह आदि अनेक तत्वों ने इसके विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । यही धारणा है कि आज भारत में 3000 से भी अधिक जातियाँ और उपजातियाँ है जो व्यक्ति तथा समाज के हर पहलू को प्रभावित कर रही है व्यक्ति पर जाति का ञ्प्रभाव और नियन्त्रण जन्म से लेकर म त्यु तक लगातार बना रहता है। व्यक्ति का विकास ,शिक्षा विवाह खान-पान पारस्परिक संबध व्यवसाय आदि सभी कुछ के पीछे काफी हद तक उसकी जाति पर ही निर्भर करता है

## जाति का अर्थ

जाति शब्द की उत्पति संस्कृत के प्रजाति 'जन' धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ प्रजाति अथवा 'जन्म' से लिया जाता है। अंग्रेजी में जाति के लिए (कास्ट) शब्द का प्रयोग किया जाता है सबसे पहले पुर्तगालियों ने भारत की जाति श्रेणीकरण को स्पष्ट करने हेतु कास्ट शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ है 'नस्ल या प्रजाति से लिया जाता है। कास्टा को लेटिन शब्द कास्टस से निकला हुआ बताया जाता है । इस प्रकार इसका सम्बन्ध प्रजातिय अथवा जन्म जात आधार पर स्थित व्यवस्था से माना जा सकता है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भारतीय जाति प्रथा पर विभिन्न द ष्टियों से विचार किया है। इन विचारों के आधार पर निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि जाति जन्म से प्रभावित और वर्गगत ढाँचे पर आधारित ऐसी प्रथा है जिसमें आवद्वता भी है और गतिशीलता भी। इतनी आवद्धताओं के बावजूद जातियों की संख्या में प्राचीनकाल से सदैव व द्वि होती रही है। 1901 की गणना के अनुसार भारतवर्ष में 21000 प्रकार के तो केवल ब्राह्मण ही हो गए थे। इस प्रकार जाति व्यवस्था को केवल शुद्धता, अनुवांशिकता तथा आवद्वताओं आदि स्थित तत्वों के आधार पर ही नही ओका जाना चाहिए बल्कि साथ ही विकास के सिद्धान्त को

भी नकारा नही जा सकता अर्थात भारतीय जाति व्यवस्था में कठोरता व आवद्धताएं होने के बावजूद लचीलापन है।

आधुनिक समाजशात्रियों ने भारतिय जाति व्यवस्था को समझाने के लिए बहुत सी परिभाषाएं दी है जैसे :-

**हरबर्ट रिजले**

जाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संगठन है जो साधारण एक नाम के साथ एक काल्पनिक पूर्वज, मनुष्य या देवता से उत्पन्न होने का दावा करती है। एक ही वंशानुगत व्यवसाय करते रहने पर बल देती है जो सजातिय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होते है जिन्हे समुदाय बनाता है।

**ई. ए. एच. ब्लण्ट**

'' जाति एक अंर्तविवाही समूह अथवा अंर्तविवाह करने वालों समूहों का सम्मिलित रूप है, जिसका एक समान्य नाम है जिसकी सदस्यता वंशानुगत होती है, जो अपने सदस्यों के सामाजिक सम्पर्क पर कुछ प्रतिबन्ध लगाती है, एक सामान्य परम्परात व्यवस्था को अपनाती है अथवा एक सामान्य उत्पति का दावा करती है, जो एक सजातीय समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है। ''

**डॉ. एन. के. दत्त**

'' एक जाति के सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, अन्य जातियों के साथ भोजन करनें व पानी पीने के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के नियन्त्रण है, अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय है तथा मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है जब तक एक जाति का व्यक्ति निश्चित नियमों के भंग करने के कारण अपनी जाति से बहिष्क त न कर दिया जाए तब तक उसे अपने को किसी दूसरी जाति में बदलना संभव नही है। ''

**सी. एच. कूले**

'' कोई भी वर्ग जब पूर्णरूप से वंशानुगत होता है तब वह जाति कहलाता है ''

**श्री मदन और मजुमदार**

'' जाति एक बन्द व्यवस्था है, बन्द से यहां हमारा अभिप्रायः धनी, गरीब या ऊँच नीच से नही है। परन्तु एक जन्मजात व्यवस्था से है। ''

**एच. बी. केतकर**

'' जाति एक सामाजिक समुदाय वर्ग है। जिसकी दो विशेषताएं है, ( 1 ) इसकी सदस्यता उन्ही लोगों तक सीमित होती है जो इनमें उत्पन्न हुए है। ( 2 ) इनके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बन्धन में ही रहना पड़ता है। ''

**मार्चिण्डले और मोनाचोसी**

'' जाति व्यक्तियों का एक समूह है जिनके कार्य तथा विशेषाधिकारों का भाग जन्म से निश्चित होता है और इसे धर्म का समर्थन प्राप्त होता है। ''

**श्री सत्यव्रत सिद्वान्तालंकार**

'' जाति के विषय में किसी से पूछनें का अभिप्राय है इसके जन्म के सम्बन्ध में पूछना है। ''

इस प्रकार से उपरलिखित परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि विवाह और सामाजिक सम्पर्क की पाबंदिया, आनुवंशिकता और श्रेणीबद्धत्ता अपरिवर्तनशील मानी जाने वाली जातिप्रथा की प्रमुख विशेषताऐं है । जिसमें किसी जाति के सदस्य अपनी जाति से बाहर न वैवाहिक सम्बन्ध कर सकते है और न ही अपने से निचली जाति से भोजन ग्रहण कर सकते है। ऊँच-नीच का भाव जन्म और आनुवंशिकता से जुड़ा हुआ है ।

ब्राह्मण के रूप में किसी व्यक्ति के जन्म लेने मात्र से वह और उसके वंशज ब्राह्मण माने जाते है। चारों प्रमुख वर्ण के अन्तर्गत आती है । अधिकांशतः प्रत्येक जातियों के लोग कुछ परपरागत व्यवसायों को ही करते है जाति की संपूर्ण प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है ।

रोमिला थापर के अनुसार ,जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि व्यक्ति किसी एक जाति मे जन्म लेकर अन्य जाति की स्थिति को प्राप्त नही कर सकता । इससे व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता पर रोक लग गई । इस व्यवस्था का सम्बन्ध हिन्दूध ार्म की मूलभूत धार्मिक-दार्शनिक अवधरणा, अर्थात कर्म के सिद्धान्त से भी जुड़ गया ।

## जाति व्यवस्था की उत्पति सम्बन्धी सिद्धान्त

### परम्परागत या दैवीय सिद्धान्त :-

जाति प्रथा की उत्पति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन सिद्धान्त, ''पराम्परात्मक सिद्धान्त है। '' इस सिद्धान्त का आधार ,वेद, पुराण ,उपनिषद्, महाकाव्य, धर्मशास्त्र तथा स्म ति आदि ग्रन्थ है जिनमें ईश्वरीय संकेत स्पष्ट होते है । वेदो मे सबसे पहला और प्राचीन वेद ऋग्वेद माना हाता है । एन॰ के॰ दत्त, जी॰ एस॰ घुर्य आदि विद्वान इसमें जातिप्रथा की उत्पति का आधर खोजते है । उनके मतानुसार से ऋग्वेद के पुरूष -सूक्त में जाति व्यवस्था के मूलाध ार में वर्ण एक जति व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है । प्रमाण के लिए वे श्लोकउद्ध त करते है जिसके अर्थ है ''उस प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊर (पेट) से वैश्य और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए। परन्तु सीमर, कोल बुक, मेक्समूलर और पी॰ वी॰ काणें जैसे अधिकांश विद्वानो ने माना है कि ऋग्वैदिक समाज में वर्ण या जाति भेद की बात करना निरर्थक है । इसी प्रकार डा॰ कीथ का मत है कि ऋग्वेदीय युग में किसी प्रकार का जाति -भेद नही है तथा यजुर्वेद (उतरवैदिककाल) काल में तो जाति -भेद द ढ़ रूप से विद्यमान था। रोमिला थापर का मत है कि पुरूष सूक्त ऋग्वेद के १० मण्डल की बाद में जोडी गई रचना है ।

### ब्राह्मणवादी सिद्धान्त

जाति प्रथा के विकास में ब्राह्मण का विशेष स्थान रहा है । इस मत के समर्थको में अबे डुबायस, डा॰घुर्ये और डेन्जिल इब्टसन प्रमुख है । इन्होनें जाति प्रथा को ब्राह्मणो के लिए ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई राजनीति प्रेरित चतुर योजना के रूप में स्वीकार किया है अबे डुबायस ने जाति व्यवस्था को ब्राह्मणों की देन बताया है जो उनके द्वारा अपने हित में स्थापित की गई संस्था थी । यद्यपि डा॰ घुर्ये जाति प्रथा के जन्म के लिए प्रजातीय सिद्धान्त को मानते है किन्तु उनका मत भी है कि जाति के उद्भव में ब्राह्मण पुरोहित बहुत बड़ा योगदान और यह जातिय प्रणाली इण्डो आयन संस्क ति के ब्राह्मणों की उपज है। परन्तु हट्टन ने इस ब्राह्मणवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि '' जाति प्रथा जैसी सामाजिक व्यवस्था प्रशासकीय कार्यो के जिए आरोपित करना बहुत कठिन कार्य है

### धार्मिक सिद्धान्त

होकार्ट और सेनार्ट जैसे कई आधुनिक समाजशास्त्रियों ने जातिप्रथा का उद्भव धार्मिक क्रियाओं और कर्मकाण्डों के आधार माना है। होकार्ट के अनुसार जाति-प्रथा के उद्भव का आधार धर्म विभाजन था, जो पूर्णरूप से धर्म से प्रभावित था। सेनार्ट का मत है कि जाति प्रथा देवताओ को बलि प्रदान करने का सगंठन था, क्योंकि हिन्दू समाज व्यवस्था में देवताओ को भेट, चढ़ाने की क्रियाको एक धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकार किया गया है यह बलि का कार्य उच्च जाति के लोग स्वंय नही करते थे। बल्कि इसके लिए उन्होने निम्न अथवा दास वर्ग की योजना स्थापित की थी । अतः धार्मिक कार्यो से सम्बन्धित अलग-अलग कार्य करने वालों के प थक -प थक जातिय समूह बन गये।

### व्यावसायिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त

जाति प्रथा की उत्पति विभिन्न पेशों अथवा व्यवसायों के आधार पर भी मानी जाती है। नेसफील्ड ने व्यवसाय (पेशों) को ही जाति प्रथा के उद्भव का प्रधान कारण माना है उनके अनुसार ''व्यवसायगत उच्चता और निम्नता के आधार पर ब्राह्मणों ने पुरोहित पर अपना एकमात्र अधिकार कर लिया उससे कम महत्वपूर्ण व्यवसाय प्रशासन पर क्षत्रियों ने तथा इससे कम महत्वपूर्ण व्यवसाय व्यापार पर वैश्यों ने एकाधिकार किया जो जातिय विभाजन का कारण बना । विभिन्न जातियों में उँच-नीच की जो दूरी है वह व्यवसयों की प्रक ति से निश्चित हुई है। प्रत्येक जाति का नामकरण उनके व्यवसाय पर ही हुआ किसी की जाति के विषय में पूछना उसके व्यवसाय के विषय पूछना है ।

इस सिद्धान्त की आलोचना हट्टन ने की है उनका मत है कि यदि व्यवसाय के आध ाार पर ऊँच-नीच की भावना विकसित होती है तो क्या कारण है कि एक ही पेशे को अपनाने वाली विभिन्न जातियां विभिन्न स्थानों पर ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त है।

### प्रजातीय सिद्धान्त

जाति व्यवस्था की उत्पति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त, रिजले,घुर्ये, डी॰ एन॰ मजुमदार, सर्वपल्ली राधाक ष्णन और एन० के० दत्त ने दिये हैं। सर्वप्रथम हरबर्ट रिजले ने यह सिद्धान्त अपनी पुस्तक ''पीपुल्स आफ इण्डिया'' में दिया है। उनके मतानुसार-जातिय व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजातीय भावना और अनुलोम विवाह प्रथा से हुई है। इण्डों - आर्यन प्रजातीय प्रागैतिहासिक काल में पर्सिया (फारस) से भारत में आए और आक्रमिक अथवा धीरे-धीरे भू-भाग पर अधिकार करके यहां के लोगों को अपने अधीन कर लिया। विजेता होने के कारण उन्होंने यहां के पराजित लोगों की स्त्रियों व लड़कियों को पत्नियों या दासियों के रूप में ग्रहण किया जिससे अनुलोम विवाह प्रारम्भ हुए। इसके साथ ही अपने को यहां के मूल निवासियों से उच्च एवं श्रेष्ठ माना। परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न जातियां उत्पन्न हो गई जो कि प्रजातीय एवं सांस्क तिक विभिन्नताओं पर आधारित थी। आर्य लोग जिन्हें अपने अधीन नहीं कर पाये, वे अलग रह गये और तत्कालीन आर्यसमाज द्वारा स्वीकार नहीं किए गए जिससे कुछ अन्य जातियों का भी तत्कालीन समाज में उदय हुआ।

इसी प्रकार से डॉ. घुर्ये का कथन है कि इण्डो आर्यन प्रजाति के पूर्वज ईसा के 2500 वर्षो पूर्व यूरोप और एशिया के विभिन्न भागों से भारत में प्रवेश हुए और यहां के मूल निवासियों को पराजित किया तथा उन्हें अपना दास बनाया और उन्हें ''अनार्य'' कहकर सम्बोधित किया। आर्यो ने अपने को यहां पर स्थिर करने के बाद उन्हें (मूल निवासियों को) शूद्र की श्रेणी में रखकर

धार्मिक पूजन- अर्चन से वंचित कर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये।

डॉ० घुर्ये का यह भी मानना है कि आर्यो ने अर्न्तविहाही प्रथा भी समाज में प्रचलित की जो समाज की अन्य जातियों में भी फैली। यह अर्न्तविवाह प्रथा सबसे पहले गंगा के मैदान में ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित की गई।

डॉ० राधाक ष्णन ने भी जाति के उद्भव का आधार प्रजाति माना है। उनका कथन है कि यहां पर अनेक प्रजातीय समूह आ चुके है। जिनमें काली आदिम जातियां, द्राविड़, आर्य, पर्सियन, ग्रीक, शिथियन आदि प्रमुख है। जब विभिन्न प्रजातियां एक दूसरे के सम्पर्क में आती है तो प्रजातीय संघर्ष का समाधान शक्तिशाली प्रजाति द्वारा निर्बल प्रजातियों को सर्वनाश करके अथवा अपने अधीन करने या परस्पर आत्मसातकरण द्वारा होता है।

डॉ० डी० एन० मजुमदार के अनुसार-इण्डो-आर्यन प्रजाति और भारत के मूल निवासी प्राग-द्रविड़ व द्रविड़ प्रजातीय सकरतां के अनेक कारण थे, जैसे आक्रमणकारियों में स्त्रियों की कमी, अपने यायावरी जीवन में भारत के मूल निवासियों के स्थायी जीवन का आकर्षण तथा द्रविड़ संस्क ति का उन्नत जीवन आदि प्रमुख थे।

अतः दो भिन्न संस्क तियां आपस में टकरायी तथा प्रजातियों के संघर्ष के परिणामस्वरूप अन्तर्विवाही समूहों का नियोजन हुआ इन प्रजातीय समूहों ने अपनी रक्त की शुद्धता और सांस्क तिक जीवन्तता बनाएं रखने के लिए समाज में व्याप्त सम्मिश्रण से अपनी सुरक्षा का प्रयास किया। इस प्रयास में ब्राह्मण (श्वेत वर्ण (रंग)), क्षत्रिय (लोहित) वैश्य (पीत)। इन तीन वर्णो ने समाज में अपना स्थान ऊंचा रखा तथा यहां के मूलनिवासियों (श्याम वर्ण) को निम्न दर्जा दिया।

जे० एच० हट्टन ने इस प्रजातीय सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उल्लेख किया है कि यह सिद्धान्त भोजन सम्बन्धी निषेधों व ऊंच नीच की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करता। उन्होंने आगे तर्क दिया है कि यदि प्रजातीय और सांस्क तिक अन्तर तथा सम्पर्क ही जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण है तो भारत में बाहर से आये मुसलमान और ईसाई, जिनमें दोनों के भेद पाए जाते है क्यों नही जाति बन सके।

एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार डब्लू० एच० मिलबर्ट ने अपनी पुस्तक ''पीपुल्स आफ इण्डिया'' में लिखा है कि विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के कारण लोग भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने लगे। जो लोग जैसे व्यवसाय करने लगे, उनकी वैसी ही जातियां बन गई। इस प्रकार की परिस्थितियां जातियों के उद्गम के लिए उत्तरदायी है।

इस प्रकार हिन्दू जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने भी प्रचलित सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है उनमें से किसी को भी पूर्णरूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही किसी को पूर्णरूप से बहिष्क त। क्योंकि जाति प्रथा का जन्म या उत्पत्ति किसी एक निश्चित समय या स्थान पर नहीं हुई। यह धीरे धीरे विकसित हुई इसके विकास में बहुत सी शक्तियों का और परिस्थितियों का योगदान रहा है।

## जाति के प्रमुख लक्षण/तत्त्व

जाति व्यवस्था के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए एम. के. दत्त कहते हैं कि विभिन्न जातियों के लोग एक दूसरे के साथ वैवाहिक सम्पर्क नहीं रख सकते थे ऐसा केवल स्वजाति में ही कर सकता है, इस प्रकार के दूसरे प्रतिबन्ध भी है परन्तु वे इतने कटु एवम् विशिष्ट नहीं है। एक जाति के लोग दूसरी जाति के साथ बैठकर न तो भोजन और न ही कोई पेय ग्रहण

कर सकते है। अधिकतर जातियों का अपना निश्चित व्यवसाय होता है इनके साथ ही ऊंच नीच विभेद परस्पर जातियों में बने होते है। अतः जाति के प्रमुख लक्षण अर्थात् विशेषताएं निम्न है जिनके आधार पर हम जाति के स्वरूप को समझ सकते हैं।

### 1. जाति का आधार जन्म

जाति का आधार जन्म अधिकार किया गया है। इसकी सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है। किसी भी व्यक्ति के माता-पिता जिस जाति के होंगे वही उसकी जाति होगी। व्यक्ति की जाति का निर्धारण जीवन भर के लिये होता है। कोई व्यक्ति अपनी जाति नहीं बदल सकता। इसीलिये कहा गया है कि 'जाति एक बन्द वर्ग है'। नीची जाति का सदस्य ऊंची जाति की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार ऊंची जाति का सदस्य भी नीची जाति का सदस्य नहीं हो सकता। इस तरह वर्ण के विपरीत जाति का आधार जन्म है।

### 2. ऊंच नीच का भेद

जातियों में ऊंच नीच का भेदभाव पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी जातियों की सामाजिक स्थिति एक जैसी नहीं होती है। एक जाति का स्थान दूसरी जाति के तुलनात्मक द ष्टिकोण में या तो ऊंचा होता है या नीचा। निम्न जाति का ऊंची जाति के स्तर तक पहुंच पाना भी अत्यन्त दुष्कर होता है। इस ऊंच नीच की व्यवस्था में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च है।

### 3. अन्तर्विवाह

जाति-व्यवस्था के अनेक प्रतिबन्धों में सबसे कठोर विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध है। जाति की अपनी वैवाहिक सीमायें हैं। एक जाति के सदस्य अपनी जाति के ही अन्दर विवाह करते हैं और इस प्रथा का कठोरता से पालन किया जाता है। आधुनिक युग में भी जाति के समस्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व लगभग ध्वस्त हो गये है, परन्तु अधिकांश जातियों में इस प्रथा का पालन किया जाता है। अपने से भिन्न जाति में विवाह करने की अनुमति नहीं प्राप्त है। इस नियम का उल्लघंन करने वाले को जाति से बहिष्क त कर दिया जाता है। इस तरह किसी निश्चित वर्ग के अन्दर विवाह करना अन्तर्विवाह है जिसका प्रचलन रक्त की पवित्रता बनाये रखने के लिये किया गया है। प्रत्येक जाति अपनी रक्त शुद्धता बनाये रखने का पूरा प्रयास करती है। इसके अलावा इसका एक प्रमुख उद्देश्य जातिगण मिश्रण को रोककर उपजातियों की संख्या की व द्धि को रोकना भी था। इन्हीं कारणों से अन्तर्विवाह को जाति-व्यवस्था का सार कहा जाता है।

### 4. खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध

खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध जाति-व्यवस्था का अनुपम लक्षण माना जाता है। प्रायः यह पाया जाता है कि अपनी जाति की मर्यादा को व्यवस्थित रखने के लिये कोई भी जाति अपनी से नीची जाति के साथ बैठकर खान-पान नहीं करना चाहती। केवल अपनी से ऊंची जाति के साथ अथवा अपनी ही जाति के साथ भोजन करना उचित माना जाता है। इसके अलावा एक जाति के लोग सबके हाथ का बनाया भोजन स्वीकार नही करते हैं। हां, ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया भोजन लगभग सभी जाति के लोग स्वीकार करते हैं। ऊंची जाति का व्यक्ति अपने से नीची जाति के यहां भोजन स्वीकार करता है तो अपवित्र माना जाता है। इसके अतिरिक्त समस्त जातियों के हाथ का जल कुलीन जाति के लोग ग्रहण नहीं करते हैं। यही नही ब्राह्मणों का पात्र निम्न जाति के लोगों द्वारा स्पर्श कर लेने पर उसे त्याग दिया जाता है। इस तरह समाज में भाई-चारा बनाये रखने के लिये हुक्का पानी होता है। आधुनिक युग में इस प्राचीन परम्परा का धीरे-धीरे अन्त हो रहा है और अधिकांश ऊंची जातियो द्वारा समता की भावना को ध्यान में रखते

हुए इसे त्याग दिया गया है। आज का समाज समानता के सिद्धान्त पर आधारित है और इस तरह के भेद-भाव की कोई कल्पना नहीं की जाती है।

### 5. पैत क् व्यवसाय

जाति-व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण अपना पैत क् व्यवसाय था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही जाति का पेशा करने के लिये स्वतंत्र था। एक जाति के लोग दूसरी जाति के पेशे को नहीं अपनाते थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय में पूर्ण रूप से प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रवीण होता था और उसे किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। आधुनिक समाज में व्यवसायगत प्रतिबन्ध लगभग समाप्त हो चुके हैं और कोई भी जाति अपना मनचाहा व्यवसाय अपना सकती है।

### 6. जातियों के नागरिक और धार्मिक विशेषाधिकार तथा निर्योग्तायें

जातियों में उच्चता और निम्नता की भावना विद्यमान् होती है। यह भावना उसके सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकार के फलस्वरूप होती है। उल्लेखनीय है कि हिन्दू समाज में जहां एक ओर ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे वहीं शूद्रों की स्थिति निम्न होने के कारण वे इन विशेषाधिकारों से वंचित थे। कुछ संस्कार ब्राह्मण जातियों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लिये नहीं थे। ब्राह्मण जाति का व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति को प्रणाम् नहीं करता जो ब्राह्मण नहीं है। वह इस बात की अपेक्षा करता है कि अन्य उसे प्रणाम् करें। मराठा प्रदेश में एक अछूत को सड़क पर इसलिए थूकने की अनुमति नहीं थी कि कहीं उसकी थूक के स्पर्श से ब्राह्मण अपवित्र न हो जाए। उसे गले में मिट्टी का पात्र लटकाये रहना पड़ता था जिसमें वह थूकता था। इस तरह ब्राह्मणों को समाज में सर्वाधिक विशेषाधिकार मिले थे। कुछ जाति के लोग ब्राह्मण को इतने सम्मानित द ष्टि से देखते थे कि उसकी छाया तक नहीं लांघी जाती थी। तमिल और मलयालम क्षेत्रों में प्रायः विभिन्न स्थानों पर अलग अलग जातियों का कब्जा पाया जाता था और कभी-कभी गांव को तीन हिस्सों में विभाजित कर दिया जाता था। प्रमुख भाग ब्राह्मणों द्वारा अधिक त था और अन्य भाग शूद्रों और अछूतों के लिये सुरक्षित था। ब्राह्मण को न्यायिक क्षेत्र में भी विशेषाधिकार प्राप्त थे उन्हें म त्यु दण्ड से मुक्त रखा जाता था। अतः संक्षेप में हम कह सकते है कि जातियों की निम्न विशेषताएं है :-

1. किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके जन्म से होता है।
2. एक जाति का व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता है। जाति के बाहर उसे विवाह करने की अनुमति प्राप्त नहीं होती है।
3. खाद्य और पेय में एक जाति दूसरी जाति पर प्रतिबन्ध रखती है, अर्थात् दूसरी जाति वालों से खान-पान के सम्बन्ध में रुकावट आती है यद्यपि वह उतनी कट्टरता से नहीं होती है।
4. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते थे। प्रत्येक जाति के लोग कुछ परम्परागत व्यवसायों को ही करते हैं।
5. जातियों में ऊंच नीच का तारतम्य है। शिखर पर मान्यता प्राप्त स्थिति ब्राह्मणों की रहती है। जाति की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है।
6. प्रत्येक जाति के अपने नियम होते हैं। इनका पालन न करने वाले व्यक्ति को जाति से बहिष्क त कर दिया जाता है।

### जाति-भेद के उद्भव के कारण

जाति-भेद के उद्‌भव एवं विकास के सन्दर्भ में निम्नलिखित कारण बताए जा सकते हैं -

1. जाति-भेद के विकास का कारण प्राचीन भारत में शिल्पियों की श्रेणियों की सत्ता है। श्रेणियों के अपने स्वयं के कानून थे और उन कानूनों को राजसंस्था द्वारा वैधानिक मान्यता मिली हुई थी। विभिन्न प्रकार के शिल्पियों ने उस समय अपने को श्रेणियों में संगठित कर रखा था। प्रत्येक श्रेणी का एक उस्ताद होता था जिसकी आधीनता में अनेक शागिर्द कार्य करते थे। यह कहना गलत न होगा कि कालान्तर मे इन श्रेणियों ने जातियों का रूप ले लिया। लुहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा आदि के रूप में कितनी ही जातियां भारत में विद्यमान् है जिनका उद्‌भव श्रेणियों से माना जा सकता है। इस तरह जातियों के विकास में आर्थिक कारक काफी महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

2. कुछ जातियों का उद्‌भव उन 'दास' जातियों से हुआ है जिन्हें आर्यो ने जीतकर अपने अधीन किया था। इन्हें निम्नतम् प्रकार के कार्यों को करने के लिए बाध्य किया जाता था। भंगी, चमार, डोम आदि ऐसी ही जातियां थी। इन्हें अस्प श्य माना जाता था।

3. भारत में ऐसी अनेक जातियां हैं जिनका उद्‌भव उन विदेशी जातियों से हुआ हैं जो इस देश के कतिपय प्रदेशों में विजय प्राप्त करके वहां स्थायी रूप से बस गयी थी। इन्होंने यहां वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। इन्हें संकरजाति में स्वीकार किया गया।

4. प्राचीन भारत में गणराज्यों की भी सत्ता थी। ये गणराज्य दो प्रकार के थे - वार्ताशब्दोपजीवि और राजशब्दोपजीवि। इन गणराज्यों से भी अनेक जातियों का विकास हुआ। वर्तमान समय में भी अनेक जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यों से ढूंढ़ी जा सकती है। उदाहरणार्थ पंजाब के आरटूट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियों में परिवर्तित हो गये। बौद्धकाल में पिप्पलिवन के मोरिय इस समय के मोराई जाति में बदल गये। प्राचीन रोहतक गण इस समय रस्तोगियों के रूप में देखे जा सकते है। भारत की वर्तमान अनेक जातियों के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति किसी प्राचीन राजवंश से हुई है। वे किसी राजा की सन्तान है जिनका किसी समय प थक् एवं स्वतंत्र राज्य था। अग्रवाल जाति के लोग अपने को राजा अग्रसेन का वंशज स्वीकार करते हैं।

5. प्राचीन काल में अनेक जातियों का उत्कर्ष असवर्ण विवाह से भी हुआ। मनु के अनुसार ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान वर्ण संकर कही गयी। गीता के अनुसार स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। ब हस्पति ने भी अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों की वर्णसंकरता का कारण माना है। यही विचार मिताक्षरा से भी स्पष्ट है। नारद के अनुसार जो संतति वर्णों के उल्टे क्रम में संयोग से उत्पन्न होती है, वह वर्णसंकर कहलाती है। इस तरह मिश्रण से बनी हुई यह जातियां आपस में ऊंच-नीच की भावना से ग्रस्त थी।

6. जाति-व्यवस्था को एक क त्रिम संस्था मानकर यह तर्क दिया जाता है कि यह व्यवस्था जनता को स्थायी रूप से विभाजित करके अपने अधीन बनाने हेतु पुरोहितों की चतुर योजना है। इस तरह जाति-व्यवस्था का उत्कर्ष राजनीति से प्रेरित योजना के फलस्वरूप हुआ। फ्रांसीसी विद्वान् अबे डुबाय ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों के लिसे ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी एक चतुर योजना। डॉ० घुर्ये ने भी आंशिक रूप से इस स्वीकार किया है।

7. धार्मिक सिद्धान्तों तथा प्रथाओं के कारण जाति-व्यवस्था का उद्‌भव हुआ। होकार्ट और सेनार्ट के अनुसार जाति-व्यवस्था के उदय में कर्मकाण्डों का विशेष योगदान रहा है। कर्मकाण्डीय उद्देश्यों से चार वर्णों का विभाजन हुआ। एक कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के लिए अनेक कृत्यों को करना पड़ता था जिसके लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। इस कारण अलग-अलग कर्मकाण्डीय कार्यों को सम्पन्न करने के लिए धीरे-धीरे मनुष्यों के वर्गों का जन्म हुआ और ये वर्ग जातियों में परिवर्तित हो गए।

8. जाति-व्यवस्था के उद्‌भव के संदर्भ में व्यवासायिक और प्रजातीय उत्पत्तियों का सम्मिलित सिद्धान्त भी स्वीकार किया जाता है। स्लेटर (Slater) इस तथ्य पर जोर देते हैं कि उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में जाति अधिक प्रबल है। ऐसा तर्क दिया जाता है कि आर्यों के आक्रमण के पूर्व भारत में व्यवसायों के पैत क होने के कारण जाति का जन्म हुआ। व्यावसायिक रहस्य इस तरह सुरक्षित रहता था। आर्य आक्रमण ने जाति भेद को रेग भेद (प्रजाति भेद) के साथ जोड़ने की प्रव त्ति को द ढ़ बनाया और साथ ही साथ सामाजिक वरीयता के स्केल में जातियों के स्थान प्रदान करने की प्रव त्ति को बल प्रदान किया।

**जाति व्यवस्था के विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण :**

ऋग्वैदिक काल के समाज में जाति-व्यवस्था के किसी भी स्वरूप की जानकारी नही मिलती। इस युग में समाज के चार वर्ग व्यक्तिगत विशेषताओं पर आधारित थे। उस समय जन्म का कोई महत्व नही था। इस तरह जाति की उत्पत्ति सम्भवतः नही हुई थी। परन्तु उत्तर वैदिक युग में विभिन्न जातियों का अस्तित्व समाज में व्याप्त हो चुका था। तैतरिय संहिता में बढ़ई, रथकार, कुलाल, कुम्भकार, कर्मार, निषाद्, आखेटक नामक व्यवसायोपजीवियों का उल्लेख है। अथर्ववेद में सूत एवं रथकार के नाम मिलते हैं। वाजसेनयि संहिता में पौल्कसों तथा चाण्डलों का वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में निषाद् को पापकर्मों के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार वैदिक काल के अन्त होने के पूर्व अनेक जातियों का विकास हो चुका था। इनके निध ार्रण में व्यवसायानुसरण एक महत्वपूर्ण तत्व था। यह समस्त व्यवसाय निश्चित रूप से छोटी-छोटी श्रेणियों में संगठित हो चुके थे।

बौद्ध और जैन साहित्य में भी जाति-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था भली भांति प्रतिष्ठित हो चुकी थी। देश के विभिन्न उद्योग धन्धों के अनुसरण करने वाले व्यक्ति विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। जातकों में कुम्भकार, कर्मार, सुवर्णकार, रजक, नट, गन्धर्व, चाण्डाल, पुक्कस, नेषाद, वेण, रथकार, नापित आदि का उल्लेख हुआ है। विनयपिटक से भी ज्ञात होता है कि चाण्डालों, वेणों, निषादों, रथकारों ने उस समय तक अपनी अलग-अलग जातियाँ बना ली थी।

कौटिल्य के अर्थशात्र में भी अनेक व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। इन्ही व्यवसायों के आधार पर अनेक श्रेणियाँ संगठित हो चुकी थी। अर्थशास्त्र में इस प्रकार की 18 श्रेणियों का उल्लेख हुआ है। मेगस्थनीज के अनुसार भारत के लोग सात प्रजातियों में विभाजित थे-दार्शनिक, कृषक, गोपाल, एवं गडरिया, शिल्पकार, सैनिक, अवेक्षक, सभासद एवं करग्राही। उसके अनुसार भारतीय अपनी जाति में ही विवाह करती थी।

मनु ने अनेक जातियों की उत्पत्ति अर्न्तजातीय विवाहों के फलस्वरूप बतायी है। उसने निषाद, अंबष्ठ, सूत, उग्र, विदेह, मागध आदि 57 जातियों का उल्लेख किया है। महाभारत के अनुसार समाज में अनेक जातियों की उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप हुई

है। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक साक्ष्यों में अनेक जातियों की चर्चा हुई है।

**जातियों की संख्या में अभूतपूर्व व द्धि (प्रतिबद्धताएं एवं पाबंधियों के बीच गतिशीलता)**

लगभग सातवीं सदी से एक और नई सामाजिक प्रव ति उभरने लगती है वह है जातियों की संख्या में अभूतपूर्व व द्धि। सातवीं सदी की कृति ब्रह्मवैवर्त पुराण में लगभग 100 जातियों के नाम गिनाये गये हैं। जिनमें मनु द्वारा उल्लिखित 61 जातियाँ भी शामिल है। किन्तु लगभग 8वीं सदी की रचना विष्णु धर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि वैश्य स्त्रियों एवं निम्नत्तर जातियों के पुरूषों के समागम से हजारों वर्णसंकर जातियों का जन्म होता है।

पूर्वमध्यकाल में सर्वाधिक विस्मयकारी परिवर्तन जातियों की संख्या में व द्धि ही था। एक ओर तो परम्परागत चारों वर्ण अनेक जातियों में बँट गये और दूसरी ओर असंख्य कबीलों और जन-जातियों को उनमें शामिल कर लिया गया। शिल्पियों की श्रेणियों के अभिलेख पहली सदी से ही मिलने लगते हैं, किन्तु गुप्तोत्तर काल में गतिशीलता के अभाव में उनमें कड़ाई आने लगी और वे जातियों का रूप लेने लगी। वैसे तो राजपूतों और ब्राह्मणों में भी जातियों की संख्या बढ़ी, लेकिन सबसे अधिक अभिव द्धि शूद्र एवं अस्प श्य जातियों की संख्या में हुई। देश विजय और साथ ही बड़े पैमाने पर दिया जाने वाले धार्मिक भूमिदानों के माध्यम से कबायली लोगों को ब्राह्मणीय व्यवस्था में शामिल कर लिया गया।

7वीं शताब्दी से निश्चय ही सामन्तवाह का विकास और द ढ़ीकरण पूर्वमध्यकालीन भारतीय इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी, जिससे जाति-प्रथा का उद्‌भव एवं विकास सामन्ती समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में हुआ। सामन्तवाद के अर्न्तगत ही कबीले भी जातियों के रूप में पुष्ट हो गये। इस प्रकार से सामन्ती समाज असंख्य जातियों और उपजातियों में बंट गया।

जन्म का बढ़ता अभिमान और प्रादेशिक तथा व्यावसायिक गतिशीलता का अभाव सामन्ती समाज की विशेषताएँ है और इन दोनों प्रव तियों के कारण अनेक जातियों का जन्म हुआ।

पूर्वमध्यकालीन में सामन्ती समाज का श्रम विभाजन और अधिक विशिष्टिकरण के साथ हुआ। अर्न्तविवाह के नियम जो वर्णों तक ही सीमित ही थे प्रत्येक व्यावसायिक जातियों के ऊपर भी आरोपित किये गये।

अस्प श्यता, अभोज्यान्नता और सहजातिय विवाह की प्रव ति इस युग में अत्याधिक विकसित हुई। **जिनदत्त सूरी** (12वीं सदी का जैन लेखक) ने अपने कुल के बाहर विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

पूर्वमध्यकालीन भारत में जातिय संकीर्णता का प्रभाव तीव्र होता जा रहा था। मुस्लिम आक्रमणकारियों के आगमन के फलस्वरूप हिन्दू समाज की प्रतिरक्षात्मक नीति के कारण जातिय व्यवस्था को ओर अधिक द ढ़ तथा गतिहीन बनाया गया।

पूर्वमध्यकाल में भूमि अनुदानों और ब्राह्मणों के प्रवजन की उत्तरोतर बढती प्रक्रिया, अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों पर प्रतिबद्धता और इनकी कलिवर्ज्यता के आदर्शों ने निम्न वर्गों में गतिबद्धता और जाति के रूप में प्रेरक तत्व का कार्य किया।

पूर्वमध्ययुगीन धर्मशास्त्रकारों, स्म तिकारों व विदेशी लेखकों ने अनेक वर्णसंकर जातियों का उल्लेख किया है तथा इनके निर्माण और विस्तार का आधार मुख्यतः व्यवसाय को ही माना है। उशनस स्म तिकार ने कई वर्णसंकर जातियों को विभिन्न व्यवसायों में समायोजित कर लिखा कि जातियाँ व्यवसाय के अनुसार हो।

हेमचन्द्र (जैन लेखक 12वीं सदी) ने अपने शब्दानुशासन में कहा है कि विभिन्न जातियाँ भिन्न व्यवसायों से होती है। वैजयन्ती (11वीं सदी) में भी श्रेणी को एक जाति और पेशे से सम्बन्धित व्यक्तियों का समुदाय बताया है।

**डा० पी० वी० कार्णे** ने जातियों को व्यवसाय और भौगोलिकता का सूचक मानते हुए लिखा है कि स्म तियों के काम में जातियाँ विशेषतः विभिन्न व्यवसायों की ही परिचायक है। दामोदरन के अनुसार ग्राम-समुदायों के अर्न्तगत कई जातियाँ और उपजातियाँ पैदा हो गई जिनमें से प्रत्येक किसी धन्धे या व्यवसाय प्रतिनिधित्व करती थी। मनु के अनुसार जातियों का उद्‌भव वर्णों के पारस्परिक मिश्रण, अवैध सम्बन्ध और कर्त्तव्यों की उपेक्षा के कारण हुआ। मेघातिथि ने अनुलोम-प्रतिलोम जातियों के धीरे-धीरे विकास से अनेक वर्णसंकर जातियों की चर्चा की है। माधवाचार्य, कुल्लकभट्ट तथा वशिष्ठ आदि ने भी वर्णशंकर जातियों के विकास की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि अनुलोम-प्रतिलोम और सवर्ण जातियों के मिश्रण से वर्णशंकर जातियाँ उत्पन्न हुई और वर्णशंकर जातियों से अनेक जातियाँ बनी।

अनेक शिल्प व व्यवसायगत समूहों को इस काल में शूद्र वर्ण के अर्न्तगत जाति के रूप में हिन्दूसमाज में स्थान दिया गया। **हल्लायुद्ध, अभिधानचिन्तामणि और शब्दानुशासन** आदि पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में वर्णशंकर जातियों के साथ व्यासायिक वर्गों का शूद्रों के अर्न्तगत उल्लेख किया है जो जिससे इन ग्रन्थों से शूद्र जाति की संख्या में भारी व द्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः इस युग के सभी धर्मशास्त्रों में बढ़ती वर्णसंकर जातियों का उल्लेख, पुनः वर्णसंकर जातियों को असंख्य बताना और विभिन्न पेशों से उनकी पहचान करना तथा उन्हें शूद्र वर्ण के अर्न्तगत स्थान देना, हिदू सभ्यता के भौगौलिक विस्तार और अनेक व्यवसायों में संलग्न कबीलों या जन-जातियों के हिन्दू समाज में आत्म-सातकरण और संस्कृतिकरण प्रमाण है।

इस प्रकार से पूर्वमध्यकाल में अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास हुआ जो कि विभिन्न व्यवसायों तथा अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों आदि पर आधारित थी।

**अम्बष्ट :-**

हेमचन्द्र (12वीं सदी) और अपर्राक ने इसे ब्राह्मण पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न संतान माना है। ऐसा ही उल्लेख उशनस स्म ति में आया है। जबकि विष्णु पुराण में नदी तट की निवासी जातियों के संदर्भ में इसका वर्णन किया है।

**आयोगव :-**

हेमचन्द्र और अपर्राक ने इसे शूद्रपुरूष और वैश्य स्त्री के प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान बताया है।

**उग्र :-**

उशनस स्म ति ने इसे विप्र (ब्राह्मण) और शूद्र स्त्री से उत्पन्न तथा अपर्राक ने इसे क्षैत्रिय पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न बताया है।

**निषाद :-**

अपर्राक ने इसे ब्राह्मण पुरूष और शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न बताया है इसी प्रकार उशनस ने इसे ब्राह्मण पुरूष और शूद्र स्त्री की अवैध सन्तान माना है। जिसका कार्य मांस विक्रय और आखेट करना बताया है।

**मागध :-**

हेमचन्द्र इसे वैश्य पुरूष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न बताता है। अपर्राक व लक्ष्मीधर भी इसका समर्थन करते हैं। यह भी सम्भव है कि इस जाति का सम्बन्ध मगध प्रदेश से रहा हो, जिसके कारण यह मागध कहलाई और इसका प्रधान कार्य स्थल मार्ग से व्यापार करना था।

**रथकार :-**

हेमचन्द्र ने इसे क्षत्रिय पुरूष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न बताया यह जाति रथों का निर्माण करती थी जो कि युद्ध, आखेट, भ्रमण आदि अवसरों पर काम आता था।

**वैदेयक :-**

हेमचन्द्र, अपर्राक व लक्ष्मीधर ने इन्हें वैश्य पुरूष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान बताया है।

**बधतौ :-**

अलबेरूनी ने बधतौ नामक अन्त्यज जाति का भी उल्लेख किया है उसके अनुसार यह जाति का सबसे निम्न स्थिति में थी यह पशुओं का मांस खाती थी। संभव है कि ''वधिक'' से ''बधतौ'' बना जो राजदण्ड पाये हुए अपराधियों का वध करता था।

**सूत :-**

हेमचन्द्र व अपर्राक इसे क्षत्रिय पुरूष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न मानते है मनु इनका प्रधानकार्य कोचवानी अथवा अश्व, रथ हांकना बताते है।

**पुल्लकस :-**

उशनस इन्हें शूद्र पुरूष और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न मानते हैं और इन्हें मधु (शहद) विक्रयी कहते है। लक्ष्मीधर भी से प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न ही बताते हैं।

**पारशव या निषाद :-**

हेमचन्द्र व उशनस इसे ब्राह्मण पुरूष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान बताते है और इसका मुख्य कार्य मांस विक्रय और आखेट करना बताते है।

**क्षता :-**

हेमचन्द्र के अनुसार यह शूद्र पुरूष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान थी।

**श्वपाक :-**

हेमचन्द्र के अनुसार यह सत्ता पुरूष और उग्र से उत्पन्न हुए। सम्भवतः कुत्ते आदि का मांस खाने वाली ''श्वपाक'' नामक जाति अंत्यज थी।

**चाण्डाल :-**

पूर्वकालीन धर्मशास्त्रों की तरह ही हेमचन्द्र ने भी इसकी उत्पत्ति शूद्र और स्त्री से उत्पन्न सन्तान से की है। अनेक अरबलेखकों ने भी चाण्डाल की निम्न अवस्था का वर्णन किया है। 11वीं सदी का अरबलेखक अल्बेरूनी लिखता है कि उसका मुख्य कार्य गाँव की सफाई करना व शवों को ले जाना तथा अपराधियों को फांसी देना है। 7वीं सदी का चीनी लेखक ह्यूनसांग लिखता है कि चाण्डाल नगर व गावों की बस्तियों से बाहर रहता था और उसके घरों पर विशेष चिन्ह बने होते थे तथा वह बाजार व नगर में प्रवेश करताथा तो लकड़ियों का बाजा-बजाता चलता था। वह पशुओं का मांस भी बेचता था। हेमचन्द्र ने भी लिखा है कि वह लकड़ी की आवाज करते हुए चलता था ताकि उच्चवर्ग के लोग उससे छूने से बच जायें। कल्हण ने भी उसकी निम्न स्थिति का ही वर्णन किया है।

**डोम :-**

9वी सदी के अरब लेखक इबन खुर्दाब्बा ने भारत में जम्ब (डोम) जाति का उल्लेख किया है जिनका पेशा संगीत, वाद्य एवं न त्य आदि था। अल्बेरूनी के अनुसार वह बांसुरी बजाते और गीत गाते थे। राजतरंगणि में भी डोम जाति का उल्लेख मिलता है। यह अस्प श्य जाति प्राचीन काल से ही भारत में रहती आ रही थी।

**हाड़ी :-**

यह जाति भी पहले से ही भारतीय समाज में चली आ रही थी। अल्बेरूनी इसका उल्लेख अंत्यजों के दुसरे वर्ग एवं अस्प श्य जातियों में करता है।

**किरात :—**

पुराणों के अनुसार इसे नदी के किनारे रहने वाली जाति बताया गया है। वेदव्यास स्म ति में इसका कार्य निम्न श्रेणी बताते हुए शूद्र वर्ण के अन्तर्गत अत्यंजों में स्थान दिया है।

**भिल्ल :—**

हेमचन्द्र के अनुसार यह जाति धनुष बाण की प्रेमी थी और जंगलों, पहाड़ों, दुर्गम स्थानों पर रहती थी। व्यास स्म तिकार`ने भी अत्यंत हीन जातियों में इसका वर्णन किया है।

इसके साथ पूर्वमध्यकालीन व्यवस्थकारों ने अनेक व्यवसायिक जातियों का वर्णन किया है जो कि शूद्र समुदाय के अन्तर्गत ही जीवन व्यतीत करती है।

**रजक(धोबी) :—**

यह जाति वैदिक काल से ही भारतीय समाज में चली आ रही थी। किन्तु पूर्वमध्य काल में आकर यह अस्प श्य मानी जाने लगी। अल्बेरूनी ने इसे अस्प श्यों के वर्ग में गिना है इसका मुख्य कार्य कपड़ों की धुलाई करना था। उशनस स्म ति के अनुसार पुक्कस पुरूष और वैश्य स्त्री की सन्तान रजक थी। अत्री स्म ति और हेमचन्द्र ने भी इसका उल्लेख किया है।

**ततुंवाय(बुनकर):—**

यह वस्त्र बनाने वाली जाति भी भारतीय समाज में वैदिक काल से ही चली आ रही थी। उशनस स्म ति में इसे वैश्य पुरूष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान माना है। अल्बेरूनी भी इसी जाति को अस्प श्य मानता है। हेमचन्द्र ने भी इसे अंत्यंज जातियों में शामिल किया है।

**नापित(नाई):—**

यह जाति भी प्राचीन काल से ही समाज में रहती आ रही थी। इसका मुख्य पेशा बाल काटकर आजीविका कमाना था। वेदव्यास, हेमाद्री और हेमचन्द्र ने इसका वर्णन अंत्यज जातियों में किया है।

**कुम्भकार :-**

वैदिक काल से यह जाति विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाती रही है। वैदिक युग में इसे कुलाल कहते थे। उशनस इसे ब्राह्मण पुरूष और वैश्य स्त्री की सन्तान कहता है। हेमचन्द्र ने भी इसका यही उल्लेख किया है।

**कर्मकार (लौहार) :-**

हेमचन्द्र के अनुसार यह जाति प्रारम्भ से ही भारतीय समाज में लोहे द्वारा अनेक कृषि उपकरण व युद्ध शस्त्रों का निर्माण करती आ रही थी।

**मणिकार (मालाकार) :-**

उशनस स्म तिकार ने इसे क्षत्रिय पुरूष और वैश्य स्त्री की संतान कहा गया है। यह मणियों से अंलकार निर्माण मुक्ता, हार, कंगन, चूड़ी आदि बनाने व बेचने का कार्य करती थी। हेमचन्द्र भी इसका यही व्यवसाय निर्दिष्ट करता है।

**स्वर्णकार :-**

यह जाति भी प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज में रही है। यह सोने के आभूषण बनाने का कार्य करती थी।

**तक्षायकार :-**

यह जाति भी वैदिक युग से ही भारतीय समाज में रहती आ रही थी। मध्ययुग में यह तक्षायकार कही गई है जो कि बढ़ई अर्थात लकड़ी का कार्य करने वाली जाति थी। उशनस ने इसे सूचक और ब्राह्मण (विप्र) की सन्तान बताया है जिसका कार्य शिल्पकर्म और प्रसाद निर्माण आदि था। हेमचन्द्र ने भी इसे यही कार्य करने वाली जाति बताया है।

**रंगसाज (चित्रकार) :-**

चित्रकारी का पेशा करने वाली यह जाति भी प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। पूर्वमध्ययुग में चित्रकारी की विभिन्न शैलियाँ विकसित थी जैसे राजपूत, शैली, गुजरात, राजस्थान, तमिलनाडू, उड़ीसा आदि।

**चक्रिक (तेली) :-**

इस जाति का मुख्य कार्य तेल पेरना तथा नमक विक्रय करना था। हेमचन्द्र के अभिधानचिंतामयी में इसके लिए ''चाक्रिक धूसर'' व ''तेली'' शब्द आया है। उशनसने इसे पुरूष और वैश्य स्त्री की सन्तान माना है।

12वीं सदी के जैन लेखक हेमचन्द्र के शब्दानुशासन में कुछ अन्य व्यवसायिक जातियों की भी जानकारी मिलती है।

**गान्धिक या (गन्धी) :-**

पुष्पों से रंग बनाकर जीवन यापन करने वाली जाति गान्धिक कहलाती थी (शब्दा 7.2.6)

**पाक्षिक :-** पक्षी पकड़ने वाली जाति (शब्दा 6.4.31)

**मायूरिक :-** मयूर पकड़ने वाली (शब्दा 6.4.31)

**तैतिरिक :-** तीतर पकड़ने वाली (शब्दा 6.4.31)

**बावरिक :-** बेर आदि फल बेचने वाली जाति (शब्दा 6.4.30)

**नैवारिक :-** जंगली धान एकत्र कर जीविका चलाने वाली (शब्दा 6.4.30)

**श्यामाकिक :-** श्यामा नामक धान एकत्र करने वाले (शब्दा 6.4.30)

**कम्बल कारक :-** ऊनी वस्त्र बुनकर आजीविका चलाने वाले (शब्दा 7.3.18)

**कायस्थ जाति :-**

गुप्तकाल तक अभिलेखों में कायस्थ राज्य कर्मचारी के रूप में ही कार्य करते थे और

8वीं सदी तक उनकी पहचान एक व्यवसायिक वर्ग के रूप में ही की थी परन्तु 9वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कायस्थ एक जाति के रूप में आ चुके थे और ग्यारहवीं सदी तक यह जाति इतनी फैल चुकी थी उन्हें अपने वर्णन के लिए स्थानीय नामों को अपनाना पड़ा, जैसे पूर्वी भारत के गौड़ कायस्थ और पश्चिम का वालभ्य कायस्थ वंश में उनका उल्लेख जाति के रूप में होने लगा। एक जाति के रूप में कायस्थ का उल्लेख पहले-पहले सन् 871 ई० के एक अधिकार पत्र में दिखाई पड़ता है जो एक पेशेवर वर्ग की जाति बन जाने का उदाहरण है।

इस काल की वेदव्यास व उशनस स्म तियों ने भी उन्हें जाति के रूप में उल्लेखित किया है। चन्देल, गाहड़वाल, चेदी और चाहमान अभिलेखों में भी उन्हें 'कायस्थ जाति' अथवा 'कायस्थ वंश' का ही कहा गया है। कुछ अन्य अभिलेखों में उनके लिए 'करण' या 'कार्णिक वंश' भी प्रस्तुत किया गया है। **डा० डी० सी० सरकार** ने करण को कायस्थ का पर्यायवाची माना है। वैसे 'करण' लोगों ने केवल कुछ ही भागों में ही लेखन कार्य अपनाया था, किन्तु 'कायस्थ' लोग सर्वत्र लेखक का ही कार्य करते थे। जो कि कालान्तर में एक अलग जाति बन गई। जिनमें करण भी सम्मिलित हो गए।

कायस्थों की उत्पत्ति किस वर्ण से हुई यह एक विवादित प्रश्न है। वेदव्यास स्म ति में कायस्थ की गणना अन्य शूद्र जातियों वर्धकी, नाई, गोप, कुम्भकार, वणिक, किरात, मालाकार, कुटम्बी आदि के साथ की है तथा वैजयन्ती में भी उनका उल्लेख शूद्र वर्ण के अर्न्तगत ही किया है।

कुछ अभिलेखों में भी कायस्थों की उत्पत्ति से सम्बन्धित सूचनाएँ मिलती है। चन्देल अभिलेखों में कुटम्बी, दूत, वैद्य, भेद, चाण्डाल आदि शूद्र जातियों के साथ उनका उल्लेख किया है।

परन्तु ब हस्पति ने 'स्म ति चन्द्रिका' में गणक, लेखकों को द्विवजों की श्रेणी में रखा। **डा० एन० के दत्त व बी० एन० एस० यादव** ने कायस्थ को ब्राह्मण व क्षत्रिय वर्ण की एक शाखा माना है जो कि शासन कार्य में संलग्न था।

**डा० दशरथ शर्मा** ने कायस्थों को क्षत्रिय माना है जबकि **डा० संकालिया** ने कायस्थों को वैश्यों की उपजाति के रूप में स्वीकार किया है।

**डा० राजबलि पाण्डेय** ने कायस्थों में को वर्णों और जातियों के अलग एक समुदाय के रूप में माना है जो शासन कार्य में संलग्न रहता था।

११वीं सदी के लेखक **सोडढल** ने ''उदय सुन्दरी कथा'' में कायस्थों की उत्पत्ति क्षत्रियों से बताई है। उशनस स्म ति के 'कायस्थ' शब्द का निर्माण काल, यम और स्थपति के प्रारम्भिक अक्षरों से मिलकर हुआ है, जो तीनों के चारित्रिक कार्यों की अभिव्यक्ति करता है। **पद्मपुराण** के स ष्टि काण्ड में कायस्थों के लिए कहा गया है कि जिस प्रकार चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। उसी प्रकार कायस्थ की उत्पत्ति भी ब्रह्म की काया से हुई है।

**हरिषेण** (10वीं सदी) ने उनके लिए लेखक और कायस्थ दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। वैसे उनका नाम चारों वर्णों में नही मिलता सम्भवतः उनका विकास एक अलग वर्ग और जाति के रूप में हुआ।

इस प्रकार से कायस्थों की उत्पत्ति पर बहुत विवाद है वर्तमान न्यायालय भी इस पर एक मत निर्णय देने में असमर्थ रहें हैं। कलकत्ता उच्चन्यायालय ने बंगाल के कायस्थों को शूद्र

कहा है जबकि इलाहाबाद और पटना उच्चन्यायलयों के मत में कायस्थ शूद्र न होकर द्विज है। डा० रामशरण शर्मा के अनुसार -वर्ण व्यवस्था में कायस्थों के लिए स्थान खोजने की समस्या से ब्राह्मण स्म तिकार (विधि निर्माता, लॉ गिवर्स) दुविधा में पड़ गए और इन्होने कायस्थों को शूद्र और द्विज दोनों ही वर्णों से जोड़ दिया।

पूर्वमध्ययुग में 9वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कायस्थों की एक स्वतंत्र जाति बन गई जो कि विभिन्न शाखाओं व उपजाति में बंट गई। कायस्थों की सक्सेना, वालभ्य, माथुर, भटनागर, सिन्हा, वर्मा और श्री वास्तव आदि का उल्लेख तत्कालीन अनेक अभिलेखों में एवं ग्रन्थों में हुआ है। चन्देल, चाहमान, चेदी आदि शासकों के अभिलेखों में गौड़ कायस्थों का भी उल्लेख मिलता हैं।

बल्लभी के रहने वालों को 'वालभ्य' या 'बल्लभ' कायस्थ कहे गये। नगर में रहने वाले 'उदभट' कायस्थ कालान्तर में 'भटनागर' कहे गये। ऐसा माना जाता है कि 'भट' और 'नागर' ब्राह्मण के सम्मिलित होने से कायस्थ कहे गये। विदेशी आक्रमक जाति शकों की सेना का एक वर्ग बाद में 'सक्सेना' कायस्थ के रूप में जाना गया। क्षत्रिय कर्म से विरत होकर कार्य करने वाले 'वर्मा' कायस्थ कहे गये।

**महत्तर :-**

उत्तर भारत के देहाती इलाकों में गावों के मुखिया प्रधानों और प्रतिष्ठित लोगों का उदय हुआ। ये लोग 'महत्तर'' कहलाते थे। इन्हें भूमिदान और आदान-प्रदान सम्बन्धी बातों की जानकारी दी जाती थी। इनका गाँव की भूमि में पर्याप्त हिस्सा होता था और इन पर ग्राम प्रशासन की जिम्मेवारी होती थी सन् 920 के आस-पास की **हरिषेणाचार्य की कृति ब हव्कथाकोश** से ऐसा आभास मिलता है कि गाँव के चरागाहों पर भी महत्तरों का अधिकार होता था जिसकी शर्त यह थी कि वे शासक को एक हजार घड़े घी दो।

इस सम द्ध वर्ग में जिसका उल्लेख गुप्तकाल और उसके आगे की ग्राम व्यवस्था में मिलने लगता है, विभिन्न वर्गों और जातियों के लोग शामिल होते थे, यद्यपि हर गाँव में महत्तरों के पास काफी जमीन-जायदाद होती थी, फिर भी इनमें से धर्मविध्यात्मक हैसियत (रिचुअल स्टेटस) समान नही थे। इस उपाधि के आधुनिक रूप जैसे महतो, मेहता, महया, मल्होत्रा, मेहरा, मेहरोत्रा, मेहत्तर आदि ऊँची-नीची सभी जातियों में देखे जा सकते हैं। इन परिवारों की सम्पन्नता में समय-समय उतार-चढ़ाव आते रहे होगें, लेकिन इसके बावजूद यह माना जा सकता है कि इनमें से कम से कम कुछ के मध्यकालीन पूर्वज गाँवों के प्रधान थे और काफी सुखी सम्पन्न थे।

**पट्टकिल :-**

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के अभिलेखों में पश्चिमी भारत के पट्टकिलों जो कि ग्रामप्रधान थे, का उल्लेख हुआ है और वे हमेशा एक ही जाति के लोग नही हुआ करते थे। उनके आधुकि वंशज 'पाटिल' या 'पटेल भी एक ही जाति के नही है।

**खत्री :-**

खत्रियों की उत्पत्ति सम्भवतः क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुई थी। किन्तु कुछ खत्री अपने को पूर्ण रूप से क्षत्रियों से उत्पन्न मानते हैं। खत्री जाति पंजाब में सबसे अधिक संख्या में मिलती है। ये लोग अधिकतर वैश्यों के व्यवसाय करते हैं। इनमें कुछ प्रशासनिक अधिकारी भी थे। इनकी उत्पत्ति का समय लगभग 1000 ई० है। **रोमिला थापर के अनुसार,** 'खत्री' जो अब भी उत्तरी भारत में एक महत्वपूर्ण जाति है-अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से मानते हैं,

चूंकि उन्होंने वाणिज्य अपना लिया था इसलिए उनके जातिय बन्धु उनकी अवहेलना करने लगे। जिससे उन्हें वैश्य की स्थिति स्वीकार करनी पड़ी।

**जाट :-**

विद्वानों का मत है कि जाट लोग पहले सिन्ध में रहते थे। 1000 ई० के लगभग ये पंजाब में विशेष रूप से चिनाव और सतलुज नदियों के दो आब में आकर बस गये और कुछ सरहिन्द के पास पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पूर्वी राजस्थान तक पहुँच गये। जाट पहले अधिकतर पशुचरी जाति थी। जब वे रहट का प्रयोग करने लगे तो वे खेती करने लगे। राजस्थान के जाटों की गणना शूद्रों में की जाती थी। **रोमिला थापर** मत है कि गुर्जर, जाट तथा अहीर सभी अपना उद्‌भव क्षत्रियों से मानते हैं जिन्होंने अपनी जातीय स्थिति गवा दी थी।

यद्यपि जाटों को राजपूत नही माना गया है, परन्तु मध्य एशियाई जातियों से उनका सम्बन्ध जरूर था। उनके खप (खाप) नामक वर्तमान जातीय संघो के गठन से मालूम होता है कि इस जाति की रचना गुर्जर, तोमर तथा अन्य राजपूत कुलों के किसानों तथा सैनिकों की मिली-जुली आबादी से हुई। हमें तोमर जाटों तथा गुर्जर, जाटों के उल्लेख देखने को मिलते हैं और 13वीं सदी के एक प्रलेख से मालूम होता है कि जाटों की सभा में तोमरों तथा गूजरों के प्रतिनिधि भी बैठते थे। गूजरों, जाटों, अहीरों के बीच हुक्का-पानी चलता है। मगर ऐसा सोचना गलत होगा कि सभी विदेशी कबीलों को क्षत्रियों के रूप में स्वीकार किया गया क्योंकि कालान्तर में गूजर लोग राजपूतों में ही नही, बल्कि ब्राह्मणों, बनियों, कुम्हारों और सुनारों यहाँ तक कि चरवाहा और किसान (कुनबी) के रूप में बंट गये जिन्हे लोग शूद्र समझते थे। अतः कुछ जातियाँ अपनी उत्पत्ति ऐसे सम्मानित पूर्वजों से मानती है। जिन्हे आर्थिक आवश्यकता के कारण अपना व्यवसाय बदलना पड़ता था।

**डा० सत्यकेतु विद्यालंकार** का मत है कि भारत की अनेक जातियों का विकास प्राचीन गणराज्यों के नामों के द्वारा भी हुआ। ये गणराज्य दो प्रकार थे -'वार्ताशस्त्रोपजीवी' और 'राजशब्दोंपंजीवी'। वार्ता से कृषि, पशुपालन और वाणिज्य अभिप्रेत है :-जहाँ कुछ गणराज्यों के लोग कृषि, पशुपालन और वाणिज्य द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे वहाँ आत्मरक्षा के लिए वे शस्त्र धारण करते थे। उनमें और क्षत्रियों में प थक वर्ग नही था। कम्बोज, क्षत्रिय, आरट्ट, आग्रेय और श्रेणी आदि इसी प्रकार के गणराज्य थे। जब कि लिच्छवी वज्जि कुकर पांचाल आदि गणराज्य राज शब्दोंपजीवि थे।

पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण पुर्व मध्यकाल में 'अरोड़ा' और 'खत्री' जातियों में बदल गये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का श्रेणीगण इस समय के 'सैनियों' के रूप में विद्यमान है-बौद्धकाल के पिप्पलीवन के मोरिय इस समय 'मोरई' जाति के रूप में हैं। इसी प्रकार से रोहितकगण इस समय 'रस्तरोगियों' के रूप में तथा आग्रेयगण 'अग्रवालों' के रूप में, कम्बोज गण -कम्बोह' जाति के रूप में, कोलिय गण 'कोली' (कोरी) जाति के रूप में तथा अर्जुनायन गण -'अरायन' जाति के रूप में इस समय स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है।

**अंत्यज जातियाँ :-**

कायस्थ जाति कहीं-कहीं पर उच्च प्रशासनिक पदाधिकारियों के रूप में वर्णित होती है। उनमें से कुछ बड़े-बड़े पदों पर आसीन हो गए, भूमि दान प्राप्त किए, गाहड़वालों तथा चंदेलों के अधीन मातहत शासकों का दर्जा हासिल किया और धर्म को सरंक्षण दिया। उनके निम्न कर्मकाण्डी दर्जे के कारण ब्राह्मण उन्हें हेय द ष्टि से देखते थे लेकिन साथ ही उनसे डरते

भी थे क्योंकि ग्यारहवीं सदी तक देश के कुछ भागों में वे काफी सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर चुके थे। चन्देल अभिलेखों में उनका दुर्गपति, मंत्री, सर्वाधिकरण पदों की प्राप्ति का उल्लेख है। चन्देल शासक परमर्दि का संधि विग्रहक मंत्री गौड़ गजाधार कायस्थ जाति से ही था। श्रीवास्तव कायस्थ चन्देलों के यहां मंत्री, सेनापति तथा दुर्गपति पद पर नियुक्त हुए जिन्हें 'ठाकुर' की उपाधि मिली।

इसी प्रकार माथुर कायस्थ चौहानों के यहां मुख्यमंत्री और कोषाधिकारी रहे। हरिघोषकरण कायस्थ बंगाल के बाल्लसेन का संधि विग्रहिक था।

क्षेमेन्द्र ने 'नरमाला' व 'कलाविलास' में कश्मीर में कायस्थों को सेना अधिकारी व मुख्य न्यायधीश बताया है। राजतंरगणि कायस्थों को कश्मीर के सामान्य अधिकारी प्रधानमंत्री, सेनापति आदि ऊचे पदों पर कार्यरत होने का उल्लेख करती है।

इस संदर्भ में बी० एन० एस० यादव का मत है कि कश्मीर में कायस्थ मुख्य जाति वाचक न होकर कर्मवाचक ही था क्योंकि कश्मीर से सम्बन्धित सोत्रों में कायस्थों की किसी शाखा का उल्लेख नहीं मिलता।

बहुत से कायस्थों की उपजातियां व शाखाएं प्रदेशों के आधार पर बनी थी।

गौड़ (बंगाल) प्रदेश के रहने वाले कायस्थ गौड़ कहलाए जो कि सुन्दर लेखक, लिपिक, विद्वान और गुणी होते थे। इसलिए वे मध्यप्रदेश और राजस्थान जैसे प्रदेशों में अभिलेखन-लेखन के लिए आमन्त्रित किए जाते थे।

मथुरा के रहने वाले कायस्थ 'माथुर' के नाम से विख्यात हुए। सारस्वत प्रदेश में निवास करने वाले कायस्थ 'श्रीवास्तव कहे गये। से 'वास्तव्य' वर्ग के भी कहे गये हैं। गाहड़वालों के समय इन्हें ठक्कुर का पद प्राप्त था।

समसामयिक पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों में अंत्यजों को उच्च वर्णों के विभिन्न सेवा कार्य में संलग्न बताया है। जबकि ये विभिन्न शिल्पि व व्यवहारिक समूह थे परन्तु इन्हे जातिप्रथा के अर्न्तगत वर्णव्यवस्था में स्थान नही दिया गया। इस काल में अंत्यज जातियों की संख्या तथा अस्प श्यता की भावना में व द्धि हुई। पूर्व मध्यकालीन व्यवस्थाकारों ने भी मनु और याज्ञवल्क्य की अंत्यजों की सूची को निरन्तरता और व्यापकता प्रदान की।

अत्रि और यम स्म तियों ने अंत्यज जातियों की सूचि में रजक (धोबी), नट, वरूड़, (चटाई, टोकरी आदि बनाने वाले), चर्मकार (चमार), कैवर्त (मछुए) मेद (आदिवासी) तथा भिल्ल इन सात जातियों को भी शामिल किया है। वैजंयती कोश (यादव प्रकाश कृत 11वीं सदी) में रजक, चमारों, वेण, बरूल, मछेरों, भेदों और भिल्लों की गणना अंत्यज में की है।

मेघातिथि ने सूत, मागध और आयोगव को भी अस्प स्थ माना है क्योंकि उनकी उत्पत्ति स्म तिकारों के अनुसार प्रतिलोम विवाहों से हुई थी।

वेदव्यास स्म ति में चर्मकार, भट, भिल्ल, रजक पुष्कर, नर वराट, भेद, चाण्डाल, श्वपाक, कोनिक आदि 12 जातियों को अंत्यजों की श्रेणी में रखा है।

आर्यों की बस्तियों के पास रहने वाल शबर, भील, किरात और पुंलिद आदि जातियों व्यक्तियों की गणना अंत्यजों में जाती थी क्योंकि उनका सांस्कृतिक स्तर बहुत नीचा था।

पुराणों में भी अंत्यज जातियों का वर्णन मिलता है। ब हन्नरदीय पुराण में चर्मकार, चाण्डाल, व्याघ्र, रजक, कुम्भकार, लोहार, सुवर्णकार, तंत्रवाय आदि का उल्लेख किया गया है। यहाँ तंत्रवाय (जुलाहा) को इस सूचि में उच्च अवस्था में स्थान स्थान दिया है जबकि चर्मकार

को चाण्डाल के समकक्ष निम्न। परन्तु अल्बेरूनी ने तंत्रवाय को चर्मकार व धोबी के साथ उल्लेख करके उसे समकक्ष स्थिति में रखा है। उन्होंने केवल चाण्डाल डोम, हाड़ी, बधौतो, धीवर व शिकारियों को ही अंत्यज की निम्न कोटि में रखा है जो चारों वर्गों से अलग थे इस सूचि में चर्मकार को नही दर्शाया है।

अल्बेरूनी ने अंत्यज जातियों को श्रेणियों बाटाँ है :-

**प्रथम :-** जिनमें वह धोबी, चमार, मदारी (जगलर), टोकरी आदि निर्माता, माझी (मल्लाह), कैवर्त (मछुए), भेद (जंगली पशु-पक्षियों के शिकार कर्ता) और बुनकर (जुलाहा) की गिनती करता है। ये जातियाँ चारों वर्णों के गाँव व नगर के बाहर किन्तु नजदीक रहती थी। इनकी अपनी अलग-अलग श्रेणियाँ थी।

**द्वितीय :-** इसमें वह डोम, हाड़ी, चाण्डाल, बधतौ का उल्लेख करता है जो किसी भी वर्ग या वर्ण में नही आते थे ओर अपने व्यावसाय से ही जाने जाते थे। इनकी कोई श्रेणी नही थी। ये लोग सामान्यतः गाँव व शहरों से बाहर रहते थे और इनका मुख्य पेशा गाँवों की सफाई करना, दण्डित व्यक्तियों को पीटना व प्राणदण्ड देना आदि था। लोग इनके स्पर्श से घबराते थे।

धर्मशास्त्रों में प्रायः सात प्रकार के ही अंत्यजों का उल्लेख मिलता है। **विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा** में भी इन सात प्रकार के अंत्यजों का उल्लेख है किन्तु उन्होंने इनके अतिरिक्त सात अंत्यावसायिनों का भी उल्लेख किया है।

**हेमाद्रि :-** (1270 ई० के लगभग) परम्परागत सात अंत्यजों जातियों के अतिरिक्त तक्षक (बढ़ई), स्वर्णकार, शौचिक (दर्जी), तैलयन्त्रि (तेली), सूत, चक्री, ध्वजी (शराब विक्रेता), नापित (नाई) और लोहकार (लुहार) को भी अंत्यजों के समान ही हीन जाति ही माना जाता है जिनमें उन्होंने स्वर्णकार व लौहार को भी बिना किसी महत्ता अंत्यजों में जोड़ दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में निम्न व्यवासायों के प्रति बढ़ती घ णा के फलस्वरूप ही अंत्यजों की संख्या में व द्धि हुई परन्तु इन व्यवसायों के करने वाले की सामाजिक आर्थिक स्थिति अस्प श्य चाण्डालों से अच्छी थी। **बी०एन० यादव** का मत है कि स्थानिय व क्षेत्रिय कारक ही व्यवसायिक जातियों को निम्न अंत्यजों की श्रेणी में रखने के उत्तरदायी थे।

पूर्वमध्ययुग में अस्प श्यता अत्यंत व्यापक स्तर पर पहुँच गई थी। गुप्त काल में इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता कि डोम और चर्मकार अस्प श्य थे। अपर्राक स्म तिकार ने चाण्डाल, मलेच्छ, श्वपाक, व्याघ्र, सौनिक, नट, ध्वजी, रजक, चर्मकार, म गयु आदि को अस्प श्य जातियों की श्रेणी में रखा है। अत्रि स्म तिकार के अनुसार चाण्डाल, मलेच्छ, श्वपाक, रजस्वला (मासिक धर्मवाली स्त्री) के स्पर्श करने के बाद स्नान करना चाहिए।

विज्ञानेश्वर और अपर्राक स्म ति के अनुसार चाण्डाल, व्याघ्र, सौनिक, रजक, चर्मकार, नट, ध्वजी आदि के स्पर्श करने से स्नान करके पवित्र होना चाहिए। वेदव्यास स्म ति ने तीन प्रकार के चाण्डाल बताए हैं। **1.** कुवांरी कन्या से उत्पन्न **2.** सगोत्र विवाह से उत्पन्न **3.** शूद्र पुरूष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न संतान।

चाण्डाल की परछाई के विषय में इस काल के स्म तिकार एक मत नही है। अत्रि और उशनस स्म ति के अनुसार यदि ब्राह्मण चाण्डाल की परछाई को पार कर ले तो उसे तुरन्त स्नान करना चाहिए। किन्तु **शिवधर्मोत्तर पुराण** और **मेघातिथि** के अनुसार चाण्डाल की केवल परछाई से कोई व्यक्ति दूषित नही होता। चाण्डालों के साथ-साथ मलेच्छों शक, युनानी, हुण, कुषाण, मुस्लिम आदि जातियों को भी अस्प श्य समझा जाता था जो कि हिन्दू समाज का अंग नही बन

सके।

इस काल में हिन्दू व्यवस्थाकारों ने अन्य धर्मावलम्बियों को भी अंत्यजों की श्रेणी में रखकर उन्हें अस्प श्य माना। साम्प्रदायिक द्वेष व वाममार्गी विचारधारा से विरोध करने के कारण उन समुदायों के प्रति अस्प श्यता की भावना बढ़ने लगी। जिसमें बौद्ध, जैन, लोकायत, नास्तिक, कपिल के अनुयायी, शैव और वाममार्गी सभी को अस्प श्य कहा गया। **ब्राह्मण्ड पुराण** के अनुसार शैवों, पाशुपतों, जैन, लोकायतों का स्पर्श करने से प्रत्येक उच्च वर्ण के व्यक्ति को वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिए। मेघातिथि ने पाँचरात्र, निर्गन्य (जैन) पाशुपत आदि लोगों को आर्यो के समाज से बाहर बताया है।

पूर्वमध्यकाल में अस्प श्यता के विकास का एक प्रमुख कारण वाममार्गी विचारधारा का विकास था। इस विचारधारा से प्रभावित धार्मिक सम्प्रदाय अस्प श्य कहे गये क्योंकि समाज का निम्न वर्ग इस विचारधारा से अधिक प्रभावित था जोकि बाद में इसका अनुवर्ती (अनुयायी) हो गया था।

पूर्व मध्यकालीन धर्मशास्त्रों में 12 प्रकार के अछूतों की चर्चा हुई है, किन्तु वास्तव में इन जातियों की संख्या शायद बहुत अधिक रही होगी। पाराशर स्म ति में विहित है कि चाण्डालों तथा श्वासकों की संख्या में काफी व द्धि हुई चूंकि पूर्व मध्यकाल में बहुत बड़े पैमाने पर ब्राह्मणीकरण हुआ इसलिए अछूतों की संख्या में काफी व द्धि हुई। पूर्व काल में कुछ खास प्रकार के शिकारी और कारीगर अछूत बना डाले। किन्तु अब कृषि कर्मी जातियाँ भी इस सूचि में ला दी गई।

पुलिंद, शबर, किरात आदि आदिम जातियाँ पहाड़ियों और जुगल में रहती थी। वे अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य का मांस अर्पित करती थी। उनका मुख्य व्यवसाय शिकार करना था। उनके ऐसे घ णित कार्यों के कारण सभी अस्प श्य समझे जाते थे। परन्तु तेलियों, मालियों, तमोलियों और संगतराशों आदि की अपनी श्रेणियाँ थी। **ग्वालियर के 877 ई० के एक अभिलेख** में तेलियों और मालियों की श्रेणी का उल्लेख है। **जिनदत्त सूरि** ने सुनारों, कुम्हारों, धोबियों और अन्य शिल्पियों की गणना श्रेणियों में की है और उन्हें अधम जाति का कहा है। तेली और माली भी मन्दिरों को दपन देते थे। माली और तमोली मंदिरों को बिना मूल्य लिए वेदपूजा के लिए फल और दान देते थे। तेली दीपक जलाने के लिए मंदिरों को तेल देते थे। कुछ बढ़इयों ने जमीन दान में दी, कुछ तेलियों ने मंदिर भी बनवाए। इस प्रकार इन सभी नीच जातियों के व्यक्तियों को पूतधर्म का अनुसरण करके पुण्य करने का अवसर मिला। बंगाल में मछुओं, मालियों और कुम्हारों की स्थिति में इस काल में कुछ सुधार हुआ उन्हे सत्शूद्र कहा गया है।

**विदेशी तथा अनार्य जातियाँ :-** भारतीय समाज में विदेशी जातियाँ प्राचीन काल से ही विद्यमान थी। मनु ने यवन, शक, पहल्लव, चीन आदि विदेशी जातियों का उल्लेख किया है इसके साथ उन्होने पौण्ड्रक, द्रविड़, किरात, शबर आदि का उल्लेख किया है और इन्हे मलेच्द कहा है। पातंजलि ने अपने महाभाष्य में श्वन, शक आदि जाति को शूद्र वर्ण के अर्न्तगत किया है जोकि आर्यावर्त से बाहर रह रहे थे।

पूर्वमध्यकालीन ग्रन्थों से भी मलेच्छ से तात्पर्य विदेशी व भारतीय अनार्य जातियों का उल्लेख मिलता है। 'त्रिशष्टिश्लाकापुरूषचरित' में हेमचन्द्र ने मलेच्छ का तात्पर्य उन विदेशी और अनार्य जातियों से बताया है जो धर्म और अधर्म के ज्ञान से अनभिज्ञ है। वह इनमें शक, यवन, पहलवों, बर्बर, मूरूण्ड, हूण, रोमक, पारसिक, चीनी आदि के साथ-साथ आदिवासी जंगली जातियों में जैसे शबर, भिल्ल, लकुस, कैकय, मालव, पुलिंद, किरात, खस, उड्र, गोड़, द्रविड़, आन्ध्र अदि का उल्लेख करता है।

हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में पुलिन्द, वाहल, निष्ठया, शबर, बरूट, भट, माला,

भिल्ल और किरात आदि का उल्लेख मलेच्छ जातियों में किया है और 'हलायुधकोष' में किरात, शबर, निष्टया, पुंलिद, वाहल, भट, माला, भिल्ल आदि को मलेच्छ जातियों में रखा है और इन्हें हयन्तजातयः कहा गया है। 'शंखलिखित' में दस्यु-मलेच्छ गणों को शस्त्रोपंजीवी (लड़ाकू समुदाय) कहा है। अपर्राक के अनुसार मलेच्छ भाषा नही पढ़नी चाहिए तथा **ब ह्मधर्मपुराण** के अनुसार मलेच्छ वेश भूषा न धारण करें। 'दशकुमार चरित' में स्थान-स्थान पर किरात, शबर, पुंलिद, भील आदि अनार्य जातियों का उल्लेख मिलता है।

'वर्णरत्नाकर' में भी आदिवासियों की सूची संकलित है इसमें कोच, किरात, कोल, भिल्ल, पुंलिद, चैरंग, मलेच्छ, गोन्ठ, नेट, पोध, दोनवार, सागर, वान्तर आदि उल्लेखित है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों तथा बेक्ट्रियायी, यवनों, हूणों आदि के कुछ समुह अभी भी हिन्दू समाज में पूर्णतः आत्मसात नही हो सके थे और आदिवासी जातियाँ अधिकांश पहाड़ी क्षेत्रों अथवा वन प्रदेशों में निवास करती थी। परम्परागत हिन्दू सामाजिक आदर्शों से सर्वथा सम्प क्त थी। इनके लिए 'मलेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि विदेशियों के लिए भी समकालीन साहित्य में मलेच्छ शब्द का प्रयोग मिलता है। अरब यात्री अल्बेरूनी ने स्पष्टतः कहा है कि हिन्दू विदेशियों को मलेच्छ मानते है।

पुराणों के अनुसार शबर एक विशेष मलेच्द जाति थी जो कि दक्षिणा-पथ की निवासी थी। वायु पुराण में इन्हें 'दक्षिणापथपासिन' कहा गया है। राजतरंगिंणी में भी शबर, किरात आदि जातियों को मलेच्छ कहा है। अल्बेरूनी ने हिन्दूओं की धर्मान्धता उन लोगों के विरूद्ध बताई जो उनसे असम्बद्ध विदेशी है। वे उन्हें मलेच्छ कहते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि हम मलेच्छों से किसी प्रकार का संबंध रखने से सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से अशुद्ध हो जाएगें।

सामान्यतः इन जंगली जातियों का मुख्य कार्य शिकार करना, मछली पकड़ना और चोरी, लूट करना आदि था। इनके मुख्य देवी-देवता दुर्गा या चण्डिका थे। जिसे खुश करने के लिए ये नरबलि देते थे। इन आदिवासी जातियों के शासन के विरूद्ध विद्रोह के प्रमाण भी मिलते हैं। अनेक आदिवासी जातियाँ आयुधजीवी थी। चन्देलों, चाहमानों तथा चौलुक्यों ने इन्हें बराबर वंश में रखने का प्रयत्न किसा तथापि वे समय-समय पर राजाओं के लिए सिर दर्द बन जाते थे। बंगाल के राजाओं को कैवर्तों से अनेक बार लोहा लेना पड़ा था। बुद्धिमान शासक अपनी सैन्य शक्ति के विस्तार में इनका भी उपयोग करते थे। **चौलक्य शासक कुमारपाल** ने अपनी शक्ति को सुद ढ़ करने में जंगली जातियों का सहयोग लिया था।

विवेच्य युग के कुछ आदिवासी जातियों ने राजसत्ता के जुड़कर क्षत्रियत्व का भी दावा किया। राजतरंगिंणी से ज्ञात होता है कि राजपुरी के खास सरदारों ने कश्मीर के क्षत्रिय शासकों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया तथा कालान्तर में क्षत्रिय होने का दावा किया।

पूर्वमध्यकालीन ब्रह्ममणिक समाज में विदेशी शासकीय परिवारों और स्वदेशी जातियों को अब सम्मिलित कर लिया गया। उदाहरणस्वरूप हूणों ने क्षत्रिय राजदूतों के 36 वंशो में स्थान पा लिया और खस विदेशी जाति भी विशुद्ध राजपूत होने का दावा करने लगे थे। परन्तु अधिकांश भारतीय अनार्य जातियों को परम्परागत भारतीय समाज में समायोजित करने के बाद उन्हें शूद्रों या अंत्यजों का स्तर दिया गया। पूर्वमध्यकालीन यम, अत्री व वेदव्यास आदि स्म तियों ने भिल्ल, भट, भेद, किरात, आदि को शूद्रों के अन्दर अंत्यजों की श्रेणी में रखा। स्म तिकारों का मत था कि सभी संकीर्ण जातियों की उत्पत्ति अनुलोम व प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप हुई।

# अध्याय - 14
# प्राचीन भारत में दास प्रथा
# (Slavery in Ancient India)

मानव समाज में वर्ग भेद काँड आधुनिक काल की देन नहीं है। यह चिर अतीत से सभ्यता के आरम्भिक काल अर्थात् तेरे मेरे प्रश्न के साथ ही आरम्भ हो गया था। यदि विश्व इतिहास का अवलोकन किया जाए तो ज्ञात हो जाएगा कि लगभग समान रूप से सभी प्राचीन सभ्यताएं किसी ना किसी रूप से वर्ग विभाजित थी तथा एक प्रकार का विभाजन स्वामी और दास का भी रहा है। रोम तथा ग्रीक सभ्यताएं इस अमानवीय वर्ग विभेद के नमूने रहे हैं।

प्राचीन क्लासिकल लेखकों (Macrindle - Ancient India as described by Magesthenes And Arian) के अनुसार भारतीय किसी विदेशी को दास नही बनाते थे तथा अपने देशवासियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। डापोडोएस के अनुसार यहां किसी भी परिस्थिति में यहां दास नहीं हो सकता था। ग्रीक लेखकों के अनुसार भारत मे दास प्रथा नहीं थी। परन्तु यदि प्राचीन भारतीय साहित्य - वेद, ब्राह्मण, बौद्ध, स्म तियों का अध्ययन करे तो इस बात की स्पष्ट पुष्टि हो जाती है कि प्राचीन भारत में भी दास प्रथा जैसी अमानवीय समस्या रही है। प्राचीन भारत के प्रारम्भिक साहित्य अर्थात् ऋग्वेद में बार-बार दास दस्यु दासौ शब्द का मिलना इसकी पुष्टि मिलती है। ग्रीक लेखकों का यह कहना है कि भारत में दास प्रथा नही थी। इसके कारण यहां ग्रीस व रोम के क्लासिकल युगीन दास प्रथा का अभाव था। जितनी की ग्रीस व रोम के दासों की।

भारतीय सामंतवाद की भांति दास प्रथा भी अपनी विशेषताएं लिए हुए होगी। अतः भारतीय दास प्रथा को रोमन ग्रीक दास प्रथा के आधार पर आंकना क्या ठीक होगा यह प्रश्न भी विचारणीय है।

अब प्रश्न है दास से क्या अभिप्राय है ? दास का अर्थ क्या है ? मौटे तौर पर दास का अर्थ है, वह मनुष्य जो निपूर्ण रूप से स्वामी व मास्टर के अधीन हो अर्थात् उसकी संपत्ति का हिस्सा हो जिसको पीटा जा सके। जिसकी मास्टर की इच्छा से हत्या भी की जा सके और किसी प्रकार का धार्मिक व नैतिक प्रश्न ना उठे।

'दास प्रथा' वह संस्था है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अधीन हो जाता है तथा उसकी दया द ष्टि पर निर्भर रहता है। प्राचीन भारत के समाज का अध्ययन करते समय हम पाते हैं कि यह प्रथा भारतीय समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है तथा अन्य तत्कालीन विदेशी सभ्यताओं की तुलना में अपनी अलग विशेषता लिए हुए थी। दास प्रथा के उद्भव के कारणों मे युद्ध, अकाल तथा धनाभाव मूल कारण माने जा सकते हैं। युद्ध में विजयी पक्ष विजित पक्ष के सैनिकों और वहां के नागरिकों को बन्दी बना लेते थे। धनाभाव की विषम परिस्थिति, तथा अकाल की भूख पीड़ितों को दास बनने के लिए बाध्य कर देती है।

भारत की ज्ञात प्राचीनतम विकसित सभ्यता 'हड़प्पा संस्क ति' के कुछ पुरातात्त्विक प्रमाणों की सहायता से विद्वानों ने विचार प्रकट किया है कि उस समय भी दास प्रथा प्रचलित थी। मोहनजोदड़ों में मिले दो-दो कोठरियों में सोलह मकानजो तत्कालीन लोगों के निम्न जीवन स्तर के प्रमाण हैं, जिन्हें 'पिगट' महोदय ने मजदूरों के मकान कहा है, तथा हड़प्पा सभ्यता की समकालीन मेसोपोटामिया सभ्यता जहां दास-प्रथा विद्यमान थी, से हड़प्पा सभ्यता का व्यापारिक, सांस्क तिक संपर्क जैसे कुछ प्रमाणों से आभास होता है कि हड़प्पा समाज में भी दास-प्रथा जैसी व्यवस्था संभवतः अवश्य होगी।

उपरोक्त संदेहास्पद पुरातात्त्विक प्रमाणों को छोड़कर हमें वैदिक साहित्य में दासों के विषय में स्पष्ट और विस्त त प्रमाण मिलने आरम्भ हो जाते हैं। सर्वप्रथम ऋग्वेद में दासों के विषय में सूचना मिलती है, जहां आर्यो से शारीरिक और सांस्क तिक भिन्नता रखने वालों को अनार्य कहा गया है और अनार्यो को दास, दस्यु या असुर कहकर पुकारा गया है। ऋग्वेद में इन्हें भ घ्रवाक् (जिनकी वाणी अस्पष्ट थी), अकर्मण (वैदिक कर्मकाण्ड से शून्य), अदेवय (वैदिक देवताओं को न पूजने वाले), अव्रत (वैदिक व्रतों को न मानने वाले), अन्यव्रत (अवैदिक धर्म और व्रत को मानने वाले), अब्रहोन (देवों के प्रति भक्ति से रहित), अयज्वन् (यज्ञ न करने वाले), देवपीयु (वैदिक देवताओं के निन्दक), शिश्न देव (लिंग की पूजा करने वाले), अनासा (बिना नाक वाले) कहा गया है। इस समय दास का अर्थ 'अधीन व्यक्ति' न होकर उन विजातीय लोगों से था जो आर्यो से सांस्क तिक भिन्नता रखते थे, तथा जिनसे उनका बार-बार संघर्ष होता था। ऋग्वेद में इन्द्र को आर्यो की रक्षा करने वाला बताया गया है, तथा कहा गया है कि इन्द्र ने पुरन्दर के रूप में क ष्ण योनि दासों की सेनाओं का नाश किया था तथा युद्ध भूमि में उनका विनाश करके उनके पुरों को विनष्ट कर दिया था। दास अथवा दस्यु आर्यो के अधीन न थे, ऋग्वेद में दासों के विश का उल्लेख आया है इससे अनुमान होता है कि दासों का दस्यु से प थक अस्तित्व था। ऋग्वेद में धनी दासों का भी उल्लेख हुआ है, उन्हें वैभवशाली, धनवान तथा दूर्गो में रहने वाला बताया गया है तथा उन्हें क ष्ण वर्णा कहा है। दास राजाओं जैसे बलभूथ और तरूक्ष, और अबंस्य ने ब्राह्मणों को प्रभूत दान दिए। आर्य-अनार्य युद्धों से पराजित और बंदी अनार्य 'दास' के रूप में स्वीक त किये जाने लगे। ऋग्वेद में एक मन्त्र के भेंट में सौ गाय, सौ ऊन वाली भेड़ों और सौ दासों के मिलने की चर्चा करता है तथा एक अन्य मन्त्र में एक ऋषि का कथन है कि पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु ने उसे पचास युवतियां प्रदान की थी, यह कथन दासियों को उपहार स्वरूप भेंट करने की प्रथा का पुष्टि कराता है। ऋग्वेद में वर्णन है कि ग हपति कुटुंब का मुखिया होता था, तथा परिवार के श्रम, शूद्रों और दासों पर उसका अधिकार होता था ये दास गरीब होते थे तथा उनका प्रमुख कार्य घरेलू अथवा शिल्प व क षि कार्य करना था लेकिन तत्कालीन अर्थव्यवस्था में दासों का प्रमुख भाग रहा हो इसके अधिक साक्ष्य हमें उपलब्ध नहीं होते। ऋग्वेद के बाद के वर्णनों से ज्ञात होता है कि आर्यो के समाज में दासों की संख्या मे पर्याप्त व द्धि हो गई थी। भेंट में प्रायः दास-दासियां प्रदान करने की प्रथा उत्तर वैदिक काल तक पूर्ण विकसित हो चुकी थी। जानवरों के साथ अथवा स्वतंत्र रूप से दास या दासियां लोगों को उपहार में प्रदान की जाने लगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अंग के राजा ने आत्रेय पुरोहित को दस हजार दासियां दी थी संभवतः ये उन प्रदेशों की स्त्रियां रही होंगी जिन्हें अंग के राजा ने जीता था। तैत्तिरीय संहिता में जलपूर्णघट को लेकर 'मधुगान' करती एवं नाचती हुई दासियों का उल्लेख मिलता है। उपनिषद् काल में भी दास दासियों का प्रचलन समाज में निर्बाध रूप से होने लगा था, यही नहीं उन दिनों दास प्रथा इतनी घर कर चुकी थी कि 'दास' को ऐश्वर्य का सूचक माना जाने लगा था। छान्दोग्योनिषद् का कहना है कि इस संसार में लोग गायों, घोड़ों, हाथियों, पत्नियों, दासियों,

खेतों, घोड़ों और आभूषणों की महिमा करते हैं। एक अन्य वर्णन है कि जब आरूणि और उसका पुत्र श्वेतकेतु दोनों जब ज्ञान-प्राप्ति के लिए पांचाल नरेश प्रवाहण जाबालि के निकट गए तो यह कहा था कि उनके पास गौ, अश्व, परिवार और परिधान के साथ 'दासी' भी है। ब हादारण्यक उपनिषद् में उल्लिखित है कि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् राजा जनक ने उनसे कहा ''मैं श्रीमान को विदेह देश देता हूं। साथ ही आपकी दासता करने के लिए अपने को समर्पित करता हूं।'' जहां तक इस समय दासों की दशा का प्रश्न है हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों में जिन अनार्यो को शूद्र कहा गया है वे सभी दास न थे जैसे कि काठक संहिता शूद्र को अग्निद ोत्र के लिए दूध दूहने का अधिकार नहीं देती किंतु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शूद्र सोमयज्ञ में भाग ले सकते थे। जिन शूद्रों के लिए यज्ञ की स्थापना की जाती थी वे दास नहीं हो सकते, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में शूद्रों को यथा-काम वध्य अर्थात इच्छानुसार पीटने का योग्य कहा गया है। संभवतः यहां शूद्र से अभिप्राय उन अनार्यो से है जो आर्यो के दास बना लिए गए थे। दासों को जब चाहे निकाला जा सकता था उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार न था। दास सदा दूसरों की सेवा करते थे तथा अधिकतर दास घरेलू कार्य जैसे धान कूटना, चक्की पीसना, पानी भरना या यज्ञ के समय नौकर का काम करते थे। अथर्वेद में वर्णित है कि दासियां अत्यधिक संख्या में होती थी तथा वे घर का काम करती थी। वैदिक काल में दास धन देकर दासता से मुक्त हो सकता था।

महाभारत में दास प्रथा के अनेकों प्रमाण मिलते हैं तथा हम देखते हैं कि इस काल में दास पूर्णतया अपने स्वामी के अधीन हो गया यहां तक कि दास का 'स्वामी' दास की पत्नी का भी स्वामी समझा जाने लगा अब किसी भी वर्ण का व्यक्ति दास बन सकता था। परवर्ती काल के साहित्य में आर्यक त शब्द का प्रयोग हुआ है यह इस बात का द्योतक है कि दास जो पहले आर्य थे और अब दास हो गए थे उन्हें पुनः आर्य का दर्जा दे दिया गया। स्पष्ट है कि अब आर्य भी दास बनने लगे थे यहां तक कि ग्राम भोजक (ग्राम मुखिया), मंत्रीगण, ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्च कुल में उत्पन्न राजकीय परिवार के लोग भी उस स्थिति में पहुंच जाते थे, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या अधिक नहीं रही होगी, अधिकांश दास मजदूर शूद्र वर्ण के होते थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय और सेट्ठि तथा ग हपति दासों और मजदूरों को नियोजित करते थे। इस काल में अनेकों प्रकार से दास बनाए जाने लगे। युद्ध में पराजित राजाओं तथा उसकी प्रजा को दासता के लिए विवश किया जा सकता था, महाभारत में भीमसेन द्वारा जयद्रथ को हराकर उसे दासता स्वीकार करने कि लिए विवश करने का वर्णन है, इसके अतिरिक्त अब दास खरीदे भी जाने लगे। महाभारत में वर्णित है कि जब एक ब्राह्मण राक्षस को देने के लिए दास न खरीद सका तो वह अपने परिवार के सदस्य को ही उस राक्षस को देने का विचार करता है। महाभारत के सभापर्व में दास-दासियों को भेंट स्वरूप प्रदान करने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे युधिष्ठिर ने राजसूर्य यज्ञ सम्पन्न करने के उपलक्ष में अनेकों ब्राह्मणों को तीस-तीस दासियां दान में प्रदान की थी। वैन्य ने अति को एक सहस्त्र रूपवती दासियां भेंट में अर्पित की थी इसी प्रकार महाभारत के विराट पर्व में तीस दासियां भेंट में देने का वर्णन है। ग हकार्यो के लिए दास रखे जाते थे, युधिष्ठिर के पास सैंकड़ों हजारों दास थे। जुए में जब युधिष्ठिर अपनी सम्पत्ति दांव में लगाने लगे तो उन्होंने इन दासों को भी दांव पर लगा दिया था। स्पष्टतः इस काल में दास पूरी तरह से स्वामी की व्यक्तिगत सम्पत्ति का हिस्सा बन चुके थे, दास-दासियों के प्रति कठोर व्यवहार होता था, दासी को समाज में तिरस्कार की द ष्टि से देखा जाता था, उनके सतीत्व की रक्षा का कोई उत्तरदायित्व समाज पर न था। जब युधिष्ठिर द्रोपदी को जुए में हार गए तो कौरवों ने उसके साथ जो व्यवहार किया उससे दासी की हीन दशा का ज्ञान होता है। बाद में कालों में अर्थात् बौद्ध युग व उसके परवर्ती काल (600 ई. पू. से 300 ई. पू.) में दास-दासियों की दशा और भी दयनीय

हो गई, इस काल के साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। दीर्घ निकाए और मज्जिम निकाय में दास-दासियों का विस्त त मात्रा में उल्लेख किया गया है। जातकों में तो दासों के अनेकानेक विवरण मिलते हैं। दास-दासियों के क्रय-विक्रय और भेंट-उपहार आदि के विभिन्न सन्दर्भ जातकों में भरे पड़े हैं। एक जातक से विदित होता है कि एक ब्राह्मण ने एक राजा से अन्य उपहारों के साथ सौ दासियों की भी मांग की थी, जो उसे प्रदान की गई थी। एक अन्य जातक में उल्लिखित है कि एक ब्राह्मण ने भिक्षा मांगकर सात सौ कार्षापण इकट्ठा किया था जिससे व दास-दासियों क्रय करना चाहता था। जो दास स्वस्थ और पुष्ट होता था उसका अधिक क्रय मूल्य चुकाना पड़ता था। इसी प्रकार जो दासी अत्यन्त सुन्दर होती थी उसका भी अधिक क्रय मूल्य देना पड़ता था। इस समय धनी परिवारों में प्रायः विवाह के अवसर पर दहेज में दास दासियां दी जाती थी। इस समय के साहित्य में विभिन्न प्रकार के दास बनाए जाने के उल्लेख प्रचुरता से मिलते है। जैसे विनय पिटक में तीन तरह से दास बनाने का वर्णन मिलता है पहला अपने स्वामी के घर पर दासी से उत्पन्न शिशु स्वतः दास बन जाते थे, दूसरे इस प्रकार के दास थे जो युद्ध में बंदी बना लिए जाते थे और तीसरे वे जिन्हें धन द्वारा खरीदा जाता था। दीर्घ निकाय ग्रन्थ मे अपनी इच्छा से दास बनने वालों' का भी वर्णन है। इनके अतिरिक्त जातक कथाओं में अन्य कई प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है जैसे कि भय से दासता स्वीकारने वाला, ऋण न चुका सकने पर बना दास, अपराध करने पर जिसे दण्ड के रूप में दास बनाया गया हो तथा वे लोग जो जुए में हारने पर शर्त का पैसा न चुका सकने के कारण दास बना लिए गए हों। इसके अतिरिक्त म त्युदण्ड से बचने के लिए अनेक अपराधी दास बन जाते थे। इस समय इन दासों से अनेक प्रकार के कार्य करवाए जाने लगे थे। लाट्यायान श्रोत सूत्र में अन्न और हल के साथ दो दास दिए जाने का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि इस समय दासों से क ष क का कार्य करवाया जाता होगा प्राचीन पाली ग्रन्थों में खेतों पर काम करने वालों कि रूप में दासों तथा कुम्भकारों (भाड़े के मजदूर) की चर्चा है। शांखायन श्रोत सूत्र में चर्चा है कि भूमि के साथ दास भी दिए जाने चाहिए। जातकों से ज्ञात होता है कि साधाराण किसान भी कभी-2 क षि कार्यो में दासों की सहायता लेते थे। क षि-कार्यो के अतिरिक्त दास दासियों से अन्य कार्य करवाने के भी विभिन्न वर्णन मिलते हैं। धर्म सूत्रों में उन दास-दासियों का वर्णन है जो घर के नौकर थे तथा घर के सभी कार्य जैसे, भोजन पकाना, पानी लाना, अनाज कुटना, खेतों में भोजन पहुंचाना, भोजन के लिए थाली कटोरी रखना, स्वामी का पंखा झेलना, भोजन के लिए पटरे साफ करना तथा आंगन साफ करना, अतिथियों के पांव धोना, भिक्षुओं के लिए विहार में भोजन पहुंचाना तथा यज्ञों के अवसर पर नौकरों के करने योग्य सभी कार्य करना। आपस्तंब से पता चलता है कि कुछ क ष्ण वर्णा स्त्रियां इस काल में अभिजात वर्ग के व्यक्तियों के यहां उपपत्नियों के रूप में भी रहती थी। इसके अतिरिक्त दासियां राजपरिवारों में राजा और रानी के बिस्तर बिछाती, उन्हें स्नान करवाती, उनके लिए सुगंधित लेप तैयार करती, माला बनाती, घर साफ करती, और संदेश ले जाने का कार्य करती थी। जातकों से पता चलता है कि कुछ स्वामी, जब उनके घर पर कार्य न होता था तो अपने दास-दासियों को दूसरे लोगों के यहां काम करने भी भेजते थे। उससे जो आय होती थी उसे ये दास-दासिया अपने स्वामियों को देते थे, महात्मा बुद्ध ने भी दासों के लिए कुछ नियम निश्चित किये थे जैसे दास को स्वामी से पहले उठना चाहिए, उसके पश्चात् सोना चाहिए, अपना काम अच्छी तरह करना चाहिए, जो कुछ मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए उसे सदा ही अपने स्वामी की प्रशंसा करनी चाहिए। दासों को यह समझकर कि दासता उनके पूर्वजन्म के कर्मो का फल है अपनी वर्तमान स्थिति को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि दासत्व को पूर्वजन्म के कर्मो का फल माना जाने लगा था,

स्वामी का व्यवहार दासों के प्रति तभी ठीक रहता था जब तक वह अपना कार्य ठीक करता था। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि दासों को कोई कानूनी अधिकार प्राप्त न हो, स्वामी उन्हें मार सकता था, पिटवा सकता था और जला भी सकता था। कुछ स्वामिनियां अपनी दासियों को रस्सी तक से पीटती थी। स्वामी की अवहेलना करने पर दास को पीटा जाता था और उसके स्वामी दास की नाक, हाथ-पैर आदि भी काट सकते थे। पशु, मकान, खेत और सोने की भांति दास भी स्वामी की संपत्ति समझा जाता था। अगर दास भाग जाए तो उन्हें स्वामी पकड़ कर ला सकता था अथवा उसे दूसरे को भी दे सकता था। एक जातक में वर्णन है कि एक दासी प्रतिदिन मजदूरी करने जाती थी, किन्तु दुर्भाग्यवश एक दिन मजदूरी घर नहीं लाई तो वह अपने स्वामी और स्वामी को पत्नी द्वारा ग ह के द्वार पर ही धकेल दी गई तथा रस्सियों द्वारा पीटी गई। एक अन्य जातक में विव त है कि एक दास अपने भाग्य का सर्वदा स्मरण किया करता था कहीं उसका भाग्य उसका साथ न छोड़ दे और वह अपने स्वामी द्वारा भांडागारिक जैसे पद से हटा न दिया जाए। वह सदा अपने मन में अपने स्वामी को लेकर सोचा करता था ''क्या ये हमें सदा भांडागारिक बनाये रखेंगे ? जब किसी दिन ये मेरी त्रुटि देखेंगे तो मुझे मारेंगें, बन्दी बना लेंगे, मेरी देह को दागेंगे और दासों-जैसा भोजन देंगे।'' तक्क जातक में कथन है कि वाराणसी की एक श्रेष्ठि-कन्या अपने दासों को क्रूरतापूर्वक पीटा करती थी। बेस्सन्तर जातक के अनुसार एक ब्राह्मण स्वामी अपने दास और दासियों को अतिशय कष्ट दिया करता था। उसके विषय में कहा गया है कि बेस्सन्तर नामक न प ने जब उस ब्राह्मण को दान में अपने पुत्र और पुत्री को प्रदान किया तब वह अपने हाथ में एक डंडा लेकर उन दोनों के हाथों को लता से आबद्ध करके खींचता हुआ ग ह की ओर चला। उसका घर बहुत दूर था, इसलिए रास्ते में जब रात होती थी तब वह उन दोनों को पेड़ के तने से बांध देता था तथा स्वयं जंगली जन्तुओं के भय से पेड़ पर चढ़ जाता था। अगुन्तर निकाय के एक सन्दर्भ से विदित होता है कि हृदयहीन और क्रूर स्वामी के दंड से दास-दासियां सर्वदा डरा करती थी और वे अश्रुपूरित नेत्रों से रोया करती थी। विनय पिटक के एक परिच्छेद में वर्णन है कि एक सौदागर की बीमार पत्नी ने अपने वमन में निकले हुए घी को संजो कर रखा था कि दास या कम्मकर उसे अपने पांव में लेपेंगे या दीप में जलाएगें। दासों के वस्त्रों के बारे में एक जातक कथा में बताया गया है कि चूहे द्वारा काटकर चिथड़े बनाए गए वस्त्र दासों और कर्मकारों के लिए होते थे। समकालीन साहित्य में दासों के साथ मानवीय और सहृदयतापूर्वक व्यवहार करने की बातें भी कही गई हैं अप्पस्तंब मे यह उदात्त भावना व्यक्त की गई है कि लोगों को चाहिए कि वह अपने को, अपने पत्नी और बच्चे को भले ही कम खाना खिलाए किंतु अपने साथ काम करने वाले दास के साथ वैसा न करे। स्वामी द्वारा दासों के प्रति कठोर व्यवहार को देखते हुए, दासों की दशा सुधारने के लिए महात्मा बुद्ध ने कुछ नियम बनाए उनके अनुसार दासों को उनके सामर्थ अनुसार काम देना चाहिए, उन्हें भोजन और वस्त्र देने चाहिए, दासों की बीमारी में स्वामी को उनकी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए, उनके प्रति स्वामी और स्वामिनी को अच्छा व्यवहार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कालकंज जातक, गंगमाल जातक एवं उरंग जातकों से ज्ञात होता है कि दासों के साथ अच्छा व्यवहार भी होता था। कटाहक जातक से पता चलता है कि दासों को पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था और शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। सतसोम जातक की कथा से पता चलता है कि परिवार के अन्य सदस्यों की भांति ही दास व्रत-उपवास रखते थे और धार्मिक उपदेश सुनते वे कुछ दास अपनी स्वामी भक्ति के कारण अपने स्वामी के बहुत विश्वसनीय बन जाते थे तथा उनके परामर्श का आदर किया जाता था। उर्पयुक्त विवेचन से पता चलता है कि दासों के साथ अच्छा व्यवहार भी किया जाता था किंतु ऐसे उदाहरण कम ही प्राप्त होते हैं फिर भी प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दासों के प्रति उन्मुक्त मस्तिष्क और निर्मल हृदय के साथ विचार किया कि किन स्थितियों में उन्हें दासता से मुक्ति मिल

सकती है। दीर्घ निकाय के अनुसार दास तीन परिस्थितियों में मुक्त हो सकता है प्रथम या तो वह सन्यास ग्रहण कर ले दूसरा स्वामी द्वारा मुक्त कर दिया जाए अथवा वह अपने स्वामी को शुल्क अदा कर दे। सोणनन्द जातक में वर्णन है कि स्वामी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर उसके समस्त दास मुक्त कर दिये जाते थे। बेस्सन्तर जातक से पता चलता है कि कभी-कभी स्वामी को स्वर्ण मुद्राएं, हाथी-घोड़े, बैल आदि प्रदान करके दास मोक्ष प्राप्त करता था।

बौद्ध युग के पश्चात् परवर्ती काल अर्थात मौर्य काल में भी हमें दास प्रथा के बारे मे प्रचुर मात्रा मे उल्लेख प्राप्त होते हैं। हालांकि एरियन ने मेगस्थनीज के आधार पर लिखा है कि सब भारतीय स्वतंत्र हैं। उनमें से एक भी दास नहीं है। संभवतः मेगस्थनीज ने भारत में यूनान की भांति अमानवीय और कठोरतम् दास-प्रथा नहीं देखी थी, जहां दासों को पशुओं से भी अधिक निम्न स्तर का तथा सर्वदा कठोरतम व्यवहार किया जाता था यही कारण था कि उसने यहां दास-प्रथा का कोई प्रभाव नहीं देखा। इसके विपरीत हम पाते हैं कि कौटिल्य ने दासों के लिए अपेक्षाक त अधिक विस्तार से नियम बनाए, जैसा की धर्म सूत्रों में नहीं पाया जाता इससे भी पता चलता है कि मौर्यकालीन भारत में दासों की संख्या पर्याप्त रही होगी। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में आठ प्रकार के दासों का वर्णन किया है। (1) ग हजात - घर में पैदा हुआ अर्थात दासी से उत्पन्न या उदर दास (2) दायागत - पिता से दाय के रूप में मिला दास (3) लब्ध - दान में प्राप्त हुआ दास (4) क्रीत - खरीदा हुआ दास (5) ध्वर्जाहृत - युद्ध में बंदी बनाया गया दास (6) आत्मविक्रयी - अपने आपको स्वयं बेचने वाला दास (7) अहितक - जो ऋण के बदले धरोहर रखा गया हो (8) दंडप्रणीत - दंड के परिणाम स्वरूप जो दास बनाया गया हो। कौटिल्य ने दासों द्वारा किये जाने वाले विविध कार्यो का भी वर्णन किया है जैसे उपचारक (सेवक), परिचारिक (सेविका), अर्धसीतिका (अधिया पर खेत देकर मिलने वाले अन्न से जीविका चलाने वाली), उपचारिक(पंखा आदि झलने वाली दासी) इनके अतिरिक्त राजा सशस्त्र अंगरक्षिकाओं के रूप में भी दासियां रखते थे। ये दासियां राजपरिवार के सदस्यों को स्नान कराती, शरीर पर मालिश करती, माला बनाती और संगीत तथा अन्य कलाओं के द्वारा राजा का मनोरंजन करती थी जब वे अधिक उम्र की हो जाती और अधिक परिश्रम का कार्य करने में असमर्थ हो जाती तो उन्हें भोजन बनाने, कोषागार की देखभाल करने और कातने-बुनने में लगाया जाता था। कौटिल्य ने स्वामियों द्वारा दासों के प्रति व्यवहार के भी विस्त त नियम बनाए जैसे - जो दास आठ वर्ष से कम उम्र का हो और सगा संबंधी विहिन हो उसे हीन व्यवसायों में नहीं लगाया जा सकता और न उसे विदेश में बेचा अथवा बन्धक रखा जा सकता है, किसी गर्भवती दासी को प्रसव की व्यवस्था के बिना बेचा अथवा बन्धक नहीं रखा जा सकता है, मालिक किसी कारण के बिना अपने दास को कैद में नहीं रख सकता, अशोक के अनुदेशों में कहा गया है कि दासों और सेवकों के प्रति दयालुता का व्यवहार किया जाना चाहिए। इस समय दासता से मुक्ति के भी विभिन्न नियम बनाए गए जैसे यदि स्वामी और दासी से कोई पुत्र उत्पन्न हो जाए तो वह दासी और उसका पुत्र दोनों स्वतंत्र हो जाते थे। यदि कोई व्यक्ति दास या दासी की पुत्री का शील नष्ट करे तो उसे अर्थदण्ड तो देना ही पड़ता था साथ ही उसे कन्या को विवाह के लिए वस्त्र तथा आभूषण भी देने पड़ते थे। दंड दास अपने परिश्रम से दंड के अनुरूप धन देकर मुक्त हो सकते थे। युद्ध में बंदी दास के साहसी कार्य के अनुरूप धन देकर मुक्त हो सकता था। यह भी नियम बनाया गया कि यदि कोई व्यक्ति अनुरूप धन लेकर भी दास को मुक्त न करे तो उस पर सरकार 12 पण जुर्माना करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौर्य काल तक दास प्रथा का समुचित विकास हो चुका था तथा इस काल में दासों के कार्यो तथा उनकी मुक्ति के संबंध में अनेकों नियम बनाए गए। स्म ति काल (200 ई. पू. से 600 ई. तक) में नारद ने अपनी

स्म ति मे दासों के कुछ नए प्रकारों का विवरण दिया है जैसे धरोहर रखा हुआ, निर्धारित समय के लिए बना दास, चोरों या डाकुओं द्वारा बेचा हुआ व्यक्ति तथा सन्यास छोड़कर ग हस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति। इस समय वर्णो के आधार पर दास बनाने के विषय में भी नियम बनाए गए। मनु ने लिखा है कि ब्राह्मण यदि अन्य वर्णों (क्षत्रिय और वैश्य) के व्यक्तियों से उनकी इच्छा के विरूद्ध सेवा कराए जो राजा को उस पर 600 पण जुर्माना करना चाहिए। इस कथन से स्पष्ट है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जबर्दस्ती दास नहीं बनाए जा सकते थे। याज्ञवल्क्य और नारद के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ब्राह्मण के, वैश्सय और शूद्र, क्षत्रिय के और शूद्र, वैश्य का दास हो सकता था। याज्ञवल्क्य के प्रतिलोभ क्रम से दास बनाने की अनुमति नहीं थी। कात्यायन ने भी लिखा है कि ब्राह्मण किसी का दास नहीं हो सकता। इस काल मे दासों के प्रति व्यवहार भी कठोर किया जाता था, मनु के अनुसार स्वामी, दास को रस्सी या डंडे से पीट कर मार सकता था तथा यदि दासी चोरी करे जो उसके आधे पैर काट दिए जाएं। यदि दास भाग जाए जो स्वामी उसे पकड़ कर ला सकता था, उसकी गवाही स्वीकार नहीं की जाती थी। दासों के कोई कानूनी अधिकार नहीं थे, मनु के अनुसार वह संपत्ति का भी स्वामी नहीं हो सकता था। याज्ञवल्क्य और नारद का मत है कि दास स्वामी के किसी कार्य के लिए कुछ धनराशी ऋण के रूप में ले तो वह ऋण चुकाना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्म ति में वर्णन है कि कुछ धनी स्वामी दासियों की इच्छा के विरूद्ध उनके साथ गमन करते थे उन्हें केवल 10 पण दंड देना पड़ता था। स्पष्टतः कानून की द ष्टि से दासों के अधिकार सीमित थे किन्तु कुछ परिस्थितियों में दासों को मुक्त किया जा सकता था। नारद के अनुसार अगर स्वामी किसी भंयकर खतरे में से दास द्वारा बचा लिया जाता था तो वह दास मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी होता था। याज्ञवल्क्य ने यह व्यवस्था दी है कि जो स्वयं दासत्व स्वीकार करता था, अथवा दुर्भिक्ष से बचाया जाता था, या युद्ध भूमि में बन्दी बनाया जाता था वह अपने स्वामी को धन प्रदान करके मोक्ष प्राप्त कर सकता था। किन्तु नारद के विचार के अनुसार सभी प्रकार के दास 'मोक्ष' प्राप्त करने अधिकारी नहीं थे। जो क्रय किये जाते थे, या भेंट में प्राप्त होते थे या दाय में प्राप्त होते थे अथवा दास-ग ह में जन्म लेते थे या जो स्वयं अपने को बेच देते था वे बिना अपने स्वामी की सहमति के मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते थे। नारद के अनुसार युद्ध में बन्दी किया व्यक्ति अपनी जगह दूसरे व्यक्ति को देने पर और भक्त दास बैल की जोड़ी देने पर दासता से मुक्त हो सकते था। दंड - दास जिसे राजा ने धार्मिक क त्य न करने के कारण दास बनाया हो, तथा सन्यास छोड़कर ग हस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाला व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकते थे। निर्धारित समय के लिए बना दास अवधि पूरा होने पर, और चोरों या डाकुओं द्वारा बेचा हुआ व्यक्ति तुरंत सरकार द्वारा स्वतंत्र किये जाते थे। गुप्तोतर काल (लगभग 600 ई. से लगभग 1200 ई.) में दास प्रथा में एक विशिष्ट परिवर्तन दिखलाई देता है। तत्कालीन साहित्य से इस समय की दास-प्रथा की जानकारी प्राप्त होती है। सम्भवतः इस समय नियमित रूप से दासों का व्यापार होता था। उपमिति भवप्रपंच कथा, समरच्चकहा और प्रबधचिंतामणी आदि जैन ग्रंथों से खरीदे हुए दासों के संबंध में अनेक कथाऐं मिलती हैं। उपमिति भवप्रपंच कथा में स्पष्ट उल्लेख है कि अनेक आदिवासी भील दासों का व्यापार करते थे तथा अनेक मंदिरों के अधिकारी देवताओं की सेवा के लिए धन देकर दास खरीदते थे। प्रबंधचिंतामणी से पता चलता है कि एक राजा ने मनुष्यों के अपहरण पर रोक लगा दी थी क्योंकि गुजरात में इन्हें दास के रूप में बेचकर विदेशों में भेजा जाने लगा था। लेख पद्धति से इस बारे में अधिक स्पष्ट जानकारी मिलती है इसमें लिखा है कि अन्य वस्तुओं की भांति दासों का भी निर्यात होता था। अब भी दास-दासियों से मुख्यतः घर का ही कार्य करवाया जाता था। लेकिन तत्कालीन साहित्य से पता चलता है कि इस समय दासों से निक ष्ट कर्म अधिक कराने

लगे थे। मेघातिथि ने सेवक के कार्य को परिचर्या कहा है और दास के कार्य के अन्तर्गत निक ष्ट कर्म करना और जहां स्वामी भेजे वहां जाना बताया है। हेमचन्द्रक त 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' से ज्ञात होता है कि इस काल में भी दासियां घर का कार्य करती थी। लेख-पद्धति में दासियों द्वारा स्वामी के परिवार के लोगों के मलमूत्र उठाने तथा खेतों में हल चलाने आदि क षि कार्य करने का वर्णन भी मिलता है। मेघातिथि में ऐसी दासियों का उल्लेख है जो उपभोग के लिए रखी जाती थी और जिन्हें भोजन तथा वस्त्र दिया जाता था। विज्ञानेश्वर ने ऐसी दासियों को 'अवरूद्ध' और 'भूजिस्या' कहा है। तत्कालीन साहित्य में दास-दासियों के प्रति स्वामी के व्यवहार का भी वर्णन मिलता है। मेघातिथि के अनुसार स्वामी को अपने दास, उसकी पत्नी और पुत्र से अच्छा व्यवहार करना चाहिए, उसे कठोर दण्ड तभी देना चाहिए जब बड़ा अपराध किया हो। मानसोल्लास में कहा गया है कि जो अपना यह लोक और परलोक सुरक्षित रखना चाहता है उसे दास का भरण पोषण और उसकी रक्षा करनी चाहिए। लेकिन व्यवहार में शायद ही ये विचार मान्य रहे होंगे, सामान्यतः दास-दासियों की स्थिति बहुत खराब थी। 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' से ज्ञात होता है कि दासों को भारी बोझ उठाने पड़ते थे, वे भूखे, प्यासे रहकर काम करते थे और उन्हें गध ों की भांति पीटा जाता था। 'लेखा-पद्धति' से पता चलता है कि भागने वाली, चोरी करने वाली, स्वामी के आदेशों की अवहेलना करने वाली दासी को स्वामी बांध और पीट सकता था, और यदि मारने के कारण दासी की म त्यु हो जाए तो उसका स्वामी केवल गंगा स्नान करके पाप-मुक्त हो जाता था। लेखा-पद्धति में तथा विज्ञानेश्वर ने दासों की मुक्ति का विवेचन किया है, किंतु यह कहना कठिन है कि व्यवहार में दासों के स्वामी मुक्ति के सभी नियमों का पालन करते थे अथवा नहीं।

अंत में हम निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज के दास-प्रथा का क्रमबद्ध विकास देखने को मिलता है। ऋग्वैदिक काल में जहां आर्यो से शारीरिक और सांस्क तिक भिन्नता रखने वालों को दास, दस्यु, असुर कहा गया तथा कुछ परिस्थितियों में इन्हें दास के रूप में रखा गया वहीं उत्तर वैदिक काल में दास-दासियों का प्रचलन समाज में निंबाध रूप से होने लगा तथा उनको घरेलू कार्यो में मुख्यतः लगाया जाने लगा। इसके उपरांत महाभारत काल, बौद्धकाल, मौर्यकाल तथा गुप्तकाल तक दासों के प्रकारों, उनके कार्यो तथा अधिकारों में विभिन्न परिवर्तन आते गए और गुप्तोत्तर काल तक दास-प्रथा भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग बन गई।

# अध्याय - 15
# अस्प श्यता
# (Untouchability)

अस्प श्यता भारतीय जीवन पर एक अभिशाप है जो कि भारत की एकता की जड़ों को खोखला किए जा रही है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी अस्प श्यता शब्द नहीं मिलता हांलाकि वैदिक साहित्य में अक्सर आर्य अनार्यो को बहुत ही अपमानजनक एवम् आपत्तिसूचक शब्दों से सम्बोधि ात करते नजर आते हैं। जैसे उपनिषद, तैत्तरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण आदि में चाण्डाल और पोलकस आदिवासी कबीलों का वर्णन मिलता है। पोलकस को गांव की गंदगी साफ करने वाला बताया गया है। चाण्डालों को सूअर के समकक्ष कहा गया है। जो कि आर्यो की इनके प्रति नफरत की भावना को इंगित करता है। परन्तु इनके छूने से या इनकी छाया मात्र से आर्यनज अपवित्र हो जाते हों ऐसा विवरण अभी कहीं नही मिलता। इस प्रकार का पहला विवरण हमें पालि साहित्य में मिलता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार आदिवासी या स्थानीय लोगों के रीति रिवाजों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि अस्प श्यता की प्रथा इनमें पहले से ही विद्यमान थी। इन आदिवासियों में निम्न व्यवसाय जैसे शमशान में काम करने वाला या रजस्वला स्त्री आदि अछूत समझे जाते थे और जब ये कबीले आदिवासी और आर्य एक दूसरे के सम्पर्क में आए उस समय दो संस्क तियों के समन्वय के दौरान अस्प श्यता को भी हिन्दू संस्क ति के हिस्से के तौर पर अपना लिया गया और इस प्रकार जो घ णित कार्य करते थे उन सबको अस्प श्य समझा जाने लगा।

अस्प श्यता के विकास में अन्य बहुत से तत्त्वों ने भी योगदान दिया। जैसे वैदिक काल तथा बाद के कालों में व्यावसायिक ग्रुपों में कालान्तर में वंशानुगतता आ गई और व्यावसायिक ग्रुप जातियों में परिवर्तित हो गए तथा इनका सामाजिक स्तरीकरण इन व्यवसायों की पवित्रता, अपवित्रता, उच्चता तथा निम्नता से तय होता था।

ब्राह्मणीकल संस्क ति को अछूता रखने के लिए धर्मशास्त्रकारों ने कुछ नियम दिए जैसे जाति जन्म के आधार पर तय होता है। अर्न्तजातिय विवाह, खान-पान आदि सभी क्रियाएं निषिद्ध कर घोषित कर दिए। इन नियमों को तोड़ने वाले को जाति से बाहर कर एक अन्य नई जाति बना दी जाती थी। उदाहरण के लिए अर्न्तजातीय विवाह विशेष रूप से प्रतिलोभ विवाह से उत्पन्न संतान वर्ण व्यवस्था के दायरे से बाहर किसी निम्न जाति में डाल दी जाती थी जितने उच्च वर्ण की लड़की और जितने निम्न वर्ण का लड़का होगा उनमें उत्पन्न संतान उतनी ही अस्प श्य होगी।

उत्तरवैदिक काल में बहुत से अनार्य समूह आर्य समुदाय का भाग बन गए किन्तु उनकी गणना चतुर्थ वर्ण अर्थात शूद्रों में की जाती थी। ब्राह्मण ग्रंथों में शूद्रों को भी दो वर्गो में विभाजित कर दिया और दूसरे वर्ग के शूद्रों के स्पर्श से बचने के लिए नियम बनाए गए जिस कारण कालान्तर

में अर्थात् गुप्तकाल के आते-आते अस्प श्यता ने एक संस्था का रूप धारण कर लिया। काठक संहिता के अनुसार शूद्र को अग्निहोत्र में प्रयुक्त होने वाले दूध को गाय से नहीं दुहना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ के लिए अभिव्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिए इसी ब्राह्मण ग्रंथ के अनुसार 'प्रवर्ग्य' धार्मिक क त्य करने वाले व्यक्ति को शूद्र और स्त्री के स्पर्श से बचना चाहिए। शतपथ और तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार राजसूय यज्ञ में शूद्रों को भाग नहीं लेना चाहिए। किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में ही कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें शूद्रों को सामूदायिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य वर्णो के व्यक्तियों के साथ भाग लेने का अधिकार था और उन पर किसी प्रकार की निषिद्धताएं नही थी। अतः वैदिक साहित्य से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है शूद्रों का एक वर्ग ही अस्प श्य समझा जाता था ओर उन्हें ही धार्मिक क त्यों से अलग कर दिया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में भले ही अस्प श्यता अपने निखरे रूप में उपलब्ध न हो परन्तु अस्प श्यता का बीज इसी काल में निहित है। पी. वी. काणे के अनुसार प्रारम्भिक ध र्मशास्त्रों में अस्प श्यों की चंडाल तथा अन्य जातियों के अतिरिक्त निम्न अस्प श्य ग्रुपों (समुदायों) का विवरण मिलता है।

(1) कुछ लोग चूंकि जुर्म करने के दोषी पाए गए थे और वह जुर्म पाप समान था तो ऐसे व्यक्तियों को अस्प श्यों के वर्ग में डाल दिया गया हांलाकि साथ ही प्रायश्चित का भी विधान किया गया ताकि उनको पवित्र कर उनकी मूलजाति में पुनः डाला जा सके।

(2) कभी कभी वे व्यक्तियों जो कि परम्परागत अर्थात मुख्य धर्म को छोड़कर अन्य धर्म जो मुख्याधर्म विरूद्ध है, वे व्यक्ति जाति से बाहर कर दिए जाते थे और उनको घ णितों अस्प श्यों के वर्ग में रख दिया जाता था।

(3) कुछ व्यवसाय जैसे जो पैसे के लिए ईश्वर की पूजा करते थे, में लगे हुए लोगों के समुदाय को भी जाति से बाहर कर दिया गया था।

(4) कुछ अस्थाई किस्म के अछूत भी होते थे जैसे रजस्वला स्त्री, जो व्यक्ति मुर्दे को शमशान ले जाते थे परन्तु उसके पश्चात् स्नान न किया हो।

(5) कुछ विदेशी राज्यों को अपवित्र घोषित कर दिया गया था इसलिए उन देशों/क्षेत्रों से आने वाले लोग भी जाति बाहर समझे जाते थे।

## वेदोत्तर काल (लगभग 600 ई. पू. 300 ई. पू. तक)

**धर्मसूत्रों** में अस्प श्यता की भावना अपने विकसित रूप में मिलती है। गौतम और आपस्तंब के अनुसार ब्राह्मण के लिए शूद्र को अपने हाथ से भोजन कराना उचित नहीं है। उसे यह कार्य अपने दास के द्वारा कराना चाहिए। आपस्तंब ने स्पष्ट लिखा है कि यदि भोजन करते समय किसी ब्राह्मण को कोई शूद्र छू ले तो ब्राह्मण को तुरंत भोजन छोड़ कर उठ जाना चाहिए क्योंकि शूद्र के स्पर्श से वह ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। प्रायः सभी धर्मसूत्रकारों का मत है कि ब्राह्मण को शूद्र का दिया भोजन नहीं खाना चाहिए। इसका कारण यह था कि भारत में अति प्राचीन काल से यह धारणा थी कि मनुष्य जैसा भोजन करता है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। शूद्र का भोजन अपवित्र समझा जाता था और उसको खाने से ब्राह्मण के विचार भी दूषित हो जाते है किंतु इस काल में शूद्रों को आर्यो के निरीक्षण में भोजन बनाने का अधिकार प्राप्त था। इसका यह अर्थ है कि सभी शूद्र अभी पूर्णतया अस्प श्य नहीं समझे जाते थे।

बौधायन ने लिखा है कि जो विद्यार्थी सफलता प्राप्त करना चाहे उसे शूद्रों और स्त्रियों के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए। उसी के अनुसार स्नातक को शूद्र और स्त्रियों के साथ यात्रा नहीं

करनी चाहिए। सूत्रकारों का यह भी मत है कि जो व्यक्ति यज्ञ के लिए अभिषिक्त हो उसे शूद्रों से बात नहीं करनी चाहिए। **शांखायन श्रौतसूत्र** के अनुसार शूद्र को वाजपेय यज्ञ में भाग लेने का अधिकार नहीं है किंतु वे 'ओदनासव' और 'महाव्रत' नाम की धार्मिक क्रियाओं में भाग लेते थे। इससे स्पष्ट है कि इस काल में शूद्रों को पूर्णतया अस्प श्य नहीं समझा जाता था।

इस काल में निर्धारित धार्मिक क त्यों को न करने वाले व्यक्ति को पतित गिना जाता था। उदाहरण के लिए ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के भी किसी परिवार में यदि तीन पीढ़ी तक उपनयन संस्कार न हो तो उस परिवार को पतित समझा जाता था। उस परिवार के सदस्यों को देखना भी अशुभ समझा जाता था। संभवतः पतित परिवार के सदस्यों को गांव या शहर के बाहर रहना पड़ता था। पाणिनी ने शूद्रों का वर्गीकरण दो वर्गों में किया है : 'निरवसित' और 'अनिरवसित'। निरवसित शूद्रों को अस्प श्य समझा जाता था। उनको यदि आर्य अपने बरतनों में भोजन करा दें तो वे बरतन दूषित हो जाते हैं। पाणिनी ने चांडालों और शूद्रों की गणना निरवसित शूद्रों में की है। निश्चय ही निरवसित शूद्र वे थे जिनके रहन-सहन में गंदगी पाई जाती थी। अनिरवसित शूद्र को अस्प श्य नहीं समझा जाता था। **आश्वलायन श्रौतसूत्र** में यवन और कंबोजों की गणना निरवसित शूद्रों में की गई है। ये आर्य समुदाय का भाग नहीं थे अतः उन्हें अस्प श्य समझा जाता था। गौतम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को चांडाल या जाति से बहिष्क त व्यक्ति का स्पर्श होने पर स्नान करना चाहिए। आपस्तंब का मत था कि बाह्यों, उग्रों और निषादों को वैदिक साहित्य नहीं पढ़ाना चाहिए। बाह्य, उग्र और निषाद सभी आदिम जातियां थी जो घ णित कार्य करती थी। आपस्तंब के अनुसार चांडाल के देखने और छूने से प्रत्येक वस्तु दूषित हो जाती है। इसका यह अर्थ है कि चांडालों के देखने की गणना निरवसित शूद्रों में की जाती थी। इसीलिए कुछ सूत्र ग्रंथों में लिखा है कि चांडाल के स्पर्श के दोष से मुक्त होने के लिए सवस्त्र स्नान करना चाहिए। चांडाल के विषय में इसी प्रकार के विचार कुछ अन्य ग्रंथों में पाए जाते हैं। वशिष्ठ का मत है कि अंत्यजों का साक्ष्य उन्हीं लोगों के वाद-विवाद में प्रमाण माना जा सकता है। **महाभाष्य** से भी हमें ज्ञात होता है कि चांडाल नगरों और गांवों के बाहर रहते थे। संभवतः ये आदिवासी थे, इसीलिए आर्य समुदाय उन्हें अस्प श्य समझता था। **जातकों** से भी इस बात की पुष्टि होती है कि चांडालों को अस्प श्य समझा जाता था। चित्तभूत जातक से ज्ञात होता है कि चांडाल का देखना भी अशुभ माना जाता था। एक अन्य जातक से पता लगता है कि ब्राह्मण शूद्र से इसलिए दूर भागता है कि शूद्र की छुई हुई वस्तु उसे न छू जाए।

पालि भाषा के बौद्ध ग्रंथों में चांडालों के अतिरिक्त चार अन्य हीन जातियों अर्थात् निषाद, वेण, रथकार और पुक्कस का उल्लेख मिलता है। ये आर्यों के चार वर्णों का भाग न थे अतः इन्हें बाह्य कहा गया है। पुक्कस, वेण और निषाद संभवतः अनार्य थे। निषाद भी अस्प श्य समझे जाते थे। किंतु वेणों को चांडालों की भांति अस्प श्य नहीं समझा जाता था। संभवतः आर्यों के उच्च समाज में कालातंर में शारीरिक श्रम और ऐसे व्यवसायों को जिनमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता थी, हेय समझा जाने लगा। इसीलिए वेणों और रथकारों को भी अस्प श्य समझा जाने लगा। हमें ज्ञात है कि उत्तर वैदिक काल में तक्षक और रथकार की गणना रत्नियों में की गई है। राजा स्वयं रथकार के घर जाकर ठहरता था इसलिए उस समय उसके अस्प श्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

धर्मसूत्रों में अस्प श्यता का मूल कारण वर्ण संकर बतलाया है किंतु यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। अस्प श्यता की भावना के मूल में प्रमुख कारण आर्यों की यह इच्छा थी कि वे अपवित्र कार्य करने वाले व्यक्तियों के संपर्क से बचकर अपनी सांस्क तिक पवित्रता की रक्षा कर

सकें। वर्ण संकर को अस्प श्यता का मूल कारण मानना एक भारी भूल होगी। शिकारी और चिड़ीमार जैसी आदिम जातियां सांस्क तिक द ष्टि से आर्यो से बहुत पिछड़ी हुई थी। गंदे काम करना या ऐसे व्यवसाय करना जिनमें हाथ से काम करना पड़े हेय समझा जाने लगा। अतः ऐसे व्यवसायों को करने वाले सभी व्यक्ति धीरे धीरे अस्प श्य समझे जाने लगे।

## मौर्य शुंग कुषाण सातवाहन काल (लगभग 300 ई. पू. से 200 ई. पू. तक)

**मनुस्म ति** और **महाभारत** में कुछ प्रकरण ऐसे है जिनसे प्रकट होता है कि इस काल के आरंभ में शूद्रों को अस्प श्य नहीं समझा जाता था। मनु ने ब्राह्मणों के शूद्रों से साथ विवाह का भी समर्थन किया है। भोजन के विषय में **मनुस्म ति** से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण उन शूद्रों का भोजन करते थे जो श्राद्ध करते थे। उसने शूद्र अध्यापकों और विद्यार्थियों का भी उल्लेख किया है किंतु दूसरे स्थलों पर यह निषिद्ध बतलाया है। उसके अनुसार ब्राह्मणों को शूद्रों से किसी प्रकार का संपर्क नहीं रखना चाहिए। स्नातक को न तो शूद्र के साथ यात्रा करनी चाहिए और न उसका भोजन करना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में धीरे -ध ीरे शूद्रों को अस्प श्य समझा जाने लगा। प्रारंभ में अस्प श्यता उनके साथ थी जो गंदे काम करते थे न कि समस्त शूद्र जाति से।

प्रारंभिक बौद्ध ग्रंथों में चांडाल, वेण, निषाद, रथकार और पुक्कस को हीन जाति कहा है। इनमें जो आर्य समुदाय का भाग बन गए थे शूद्र कहलाते थे। इन्हें पाणिनी ने अनिरवसित (अबहिष्क त) कहा है। जो आर्य समुदाय का भाग नहीं बने थे वे निरवसित कहलाते थे। **आश्वलायन सूत्र** में यवनों और कंबोजों को निरवसित कहा है। वे विदेशी थे और विदेशी होने की वजह से वे लोग अस्प श्य, समझे जाते थे। सभवतः इसीलिए भारतीय आर्य उन्हें अपने बरतनों में भोजन नहीं कराते थे।

कौटिल्य ने केवल चांडालों को अस्प श्य कहा है। उसने लिखा है कि यदि चांडाल किसी आर्य स्त्री को छू ले तो राजा को उस पर एक सौ पण जुर्माना करना चाहिए। उसने वेण, निषाद, रथकार और पुक्कस की अस्प श्यों में गणना नहीं की है। इसका यह अर्थ है कि इस काल में रथकारों, वेणों, पुक्कसों और निषादों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। चांडालों, अत्यों और अत्यावसासियों के साथ ठहरना निषिद्ध माना गया। श्राद्ध के समय चांडाल ब्राह्मणों को नहीं देख सकते थे। उसके अनुसार चांडाल और श्वपाक गांव के बाहर रहें और वे अपपात्र माने जाएं। वे म त पुरूषों के कपड़े पहनें, टूटे हुए बरतनों में भोजन करे। लोहे के आभूषण पहनें और जगह-जगह मारे फिरें। धार्मिक क्रिया करने वाला व्यक्ति उनसे किसी प्रकार का संपर्क न रखे। आर्य उन्हें स्वयं अपने हाथ से भोजन न दे किसी अन्य पुरूष के द्वारा टूटे बरतनों में भोजन दे। वे रात के समय शहर या नगर में न घूमें। दिन के समय भी राजा द्वारा निर्धारित पोशाक पहन कर ही वे शहर या गांव में आ सकते थे। वे उन व्यक्तियों के शवों को ले जाते थे जिनके कोई संबंधी नहीं होते थे, और म त्यु दंड पाने वाले अपराधियों को फांसी देते थे और उन अपराधियों के कपड़े, बिस्तर, आभूषण आदि पहनते थे। **महाभारत** में भी चांडालों के लिए इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।

निषाद मछली मार कर और मेद, अंध्र, चु च और मद्गु का शिकार करके अपना निर्वाह करते थे और आयोग्य लकड़ी काटते थे। उग्र और पुक्कस बिलों में रहने वाले जानवरों को मारते थे। घिग्वण चमड़े का कार्य करते थे। वेण ढोल बजाकर आजीविका कमाते थे। से सब गांव के बाहर श्मशानों, पहाड़ियों या बागों में रहते थे ये सब गंदे कार्य थे इसीलिए मनु ने इन सब जातियों के गांव या नगर से बाहर रहने का विधान किया है। इन सब आदिम जातियों और

गंदे कार्य करने वालों में से अनेक शूद्रों में मिल गये होंगे। इन सब आदिम जातियों के वे व्यवसाय थे जिन्हें उच्च वर्ण के लोग अपनाना उचित नहीं समझते थे। वे कुत्तों तक का मांस खाते थे। उनके कपड़े भी मैले-कुचैले होते थे। आर्य उनके संपर्क में नही आना चाहते थे क्योंकि उनका जीवन स्तर बहुत नीचा था। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्प श्यता अपने पूर्ण विकसित रूप में मौर्य काल के अंत में प्रकट हुई तभी तो मनु ने शूद्रों के विरूद्ध इतने कठारे नियम बनाए हैं। संभवतः वह आर्य संस्क ति को आदिम जातियों के दूषित प्रभाव से बचाना चाहता था। जातकों में अस्प श्यता अपने भयावह रूप में दिखलाई देती है। जातकों से ज्ञात होता है यदि चांडाल गांव में प्रवेश करते तो डंडा बजाकर उन्हें अपने आने की सूचना देनी होती थी। यदि वे बिना सूचना दिए नगरों में घुसते तो नगर निवासी उनको पीटते थे क्योंकि उनके स्पर्श से वे दूषित हो जाएंगे, ऐसी नगर-निवासियों की धारणा थी।

## स्म तियों का काल (200 ई० से 500 ई० तक)

इस काल की स्म तियों में लिखा है कि ब्राह्मण को शूद्र का भोजन नहीं करना चाहिए इसका यह अर्थ निकलता है कि क्षत्रिय और वैश्य शूद्र को अस्प श्य नहीं समझते थे और उनका भोजन खा लेते था। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट लिखा है कि उच्च वर्ण के व्यक्ति अपने किसान, नाई, ग्वाले या परिवार के शूद्र मित्र का भोजन कर सकते हैं। इसका यह अर्थ है कि शूद्रों में भी ये जातियां अस्प श्य नहीं समझी जाती थी। ब्राह्मण और स्नातक भी संभवतः कुछ शूद्रों का दिया हुआ पानी पी लेते थे किंतु वे संभवतः चांडाल आदि अस्प श्य जातियों का दिया हुआ पानी नहीं पीते थे।

अस्प श्यता किसी व्यक्ति के जन्म या उसके व्यवसाय पर ही आधारित न थी। जिन मनुष्यों की चित्तव त्ति दूषित होती तथा जो चरित्रहीन होते थे वे भी अस्प श्य समझे जाते थे। वशिष्ठ ने नास्तिक, चुगलखोर, क तघ्न और अत्यंत क्रोधी व्यक्तियों को भी जन्म से चांडालों के समकक्ष माना है। उसके अनुसार जैसे आर्यो को चांडालों के संपर्क से बचना चाहिए उसी प्रकार नास्तिक, चुगलखोर, क तघ्न और अत्यन्त क्रोधी व्यक्तियों से बचना चाहिए अर्थात् आर्यो को इनको भी अस्प श्य समझना चाहिए।

गुप्तकाल में वैष्णव धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया। संभवतः इस कारण ब्राह्मणों ने शूद्रों के प्रति कुछ उदारता का द ष्टिकोण अपनाया और उन्हें पूर्णतया अस्प श्य घोषित नहीं किया।

स्म तियों से ज्ञात होता है कि चांडाल साधारणतया गांव के बाहर रहते थे। रात के समय उन्हें नगर या गांव के अंदर आने की अनुमति नहीं थी। दिन में भी वे उस पोशाक को पहन कर ही गांव में आ सकते थे जो राजा ने उनके लिए निर्धारित कर रखी थी। उच्च वर्ग के लोग उनके स्पर्श से अपवित्र न हो इसलिए वे दिन में निर्धारित पोशाकें पहन कर ही गांव या नगर में जा सकते थे। याज्ञवल्क्य का मत था कि यदि चांडाल किसी ब्राह्मण को छू ले तो उससे 100 पण जुर्माना लिया जाए। किंतु यदि अंत्य सड़क की मिट्टी या पानी को छू ले तो वह स्वयं हवा से शुद्ध हो जाती है। इससे स्पष्ट है याज्ञवल्क्य का द ष्टिकोण चांडालों के प्रति बहुत कठोर नहीं है। याज्ञवल्क्य ने यह कहीं नहीं लिखा है कि चांडाल का स्पर्श होने पर उच्च वर्ण के व्यक्ति को प्रायश्चित के रूप में कोई धार्मिक क त्य करना चाहिए। उसने अपवित्र लोगों से छूने पर स्नान करने का, कुल्ला करने और गायत्री मंत्र पढ़ने का विधान किया है किंतु यह स्नानादि का विधान केवल चांडाल के स्पर्श पर नहीं है, सभी अपवित्र लोगों के स्पर्श पर किया जाता था। इससे ऐसा अनुमान होता है कि गुप्तकाल में चांडालों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। ब हस्पति के अनुसार चांडाल को उच्च वर्ण के हिन्दू के सोलह हाथ से निकट आना वर्जित है।

फाहियान के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि चांडाल नगरों और बाजारों के बाहर रहते थे। जब वे नगर में आते थे तो लाठी बजाते थे, जिससे कि उच्च वर्ण के लोग उनसे छू न जाएं। उनका दर्शन अनिष्टकर समझाा जाता था।

**अमरकोष** में चांडाल के पर्यायवाची दस शब्द दिए हैं। इनमें से प्लव, दिवाकीर्ति, जनंगम आदि का उल्लेख इस काल से पूर्व के ग्रंथों में नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में अस्प श्य जातियों की संख्या में कुछ व द्धि हुई। इस काल में डोमों की अलग जाति बन गई थी किंतु उन्हें अस्प श्य नहीं समझा जाता था। संभवतः चमार भी अस्प श्य नहीं समझे जाते थे। अस्प श्यता के नियम अधिकतर चांडालों के साथ ही लगाए जाते थे।

**मार्कण्डेय** पुराण में लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति की द ष्टि किसी अंत्य या अंत्यावसायी पर पड़ जाए जो उसे पवित्र होने के लिए निर्धारित धार्मिक क त्य करना चाहिए।

अंत्यावसायियों के विषय में तत्कालीन समाज में यह धारण थी कि वे अपवित्र जीवन व्यतीत करते हैं। असत्यवादी है, चोर हैं, नास्तिक है, क्रोधी हैं, लोभी है और अकारण दूसरों से झगड़ा करते हैं। इसीलिए स्म तिकारों ने उनके संपर्क से बचने के लिए इतने कठोर नियम बनाए। ये इस काल में सब शूद्रों के लिए नहीं थे। केवल अंत्यावसायियों के लिए थे।

## गुप्तोत्तर काल (लगभग 500 ई० से 1200 ई०)

इस काल में शूद्रों को गुप्तकाल से भी अधिक अंश में उन्हे सामाजिक तथा धार्मिक अधि ाकारों से वंचित कर दिया गया। पराशर (लगभग 600 ई० से 900 ई० तक) के अनुसार तेजस्वी पुरूष भी यदि शूद्र का भोजन कर ले, उसके साथ संपर्क रखे, उसी आसन पर बैठ जाए जिस पर शूद्र बैठा हो, शूद्र से शिक्षा प्राप्त करे तो वह पतित हो जाता है। एक दूसरे स्म तिकार का मत है कि कलियुग में ब्राह्मण का शूद्र से भोजन बनवाना निषिद्ध है। तीसरे स्म तिकार के अनुसार यदि उच्च वर्ग के किसी व्यक्ति को धर्म-क्रिया करते समय कोई शूद्र दिखाई दे जाए जो उसे वह धर्म-क्रिया तुरंत बंद कर देनी चाहिए। यदि उस समय उसका शरीर शूद्र के शरीर से छू जाए जो उसे तुरंत स्नान करना चाहिए। गार्ग्य के अनुसार शूद्र का स्पर्श होने पर जाति के उच्च व्यक्ति को पवित्र होने के लिए जल का आचमन करना ही पर्याप्त है।

गुप्तकाल में उच्च वर्ण के व्यक्ति अपने ग्वाले, किसान और परिवार के शूद्र मित्र का भोजन कर सकते हैं। इस काल के स्म तिकारों का मत था कि उच्च वर्ण के लोग आपत्ति के समय ही उन शुद्रों का भोजन कर सकते थे। जिनकों गुप्तकाल में अपवाद के रूप में छोड़ दिया गया था। इसके कुछ समय बाद इन शूद्रों का भोजन करना कलिवर्ज्य घोषित कर दिया गया। ब्राह्मणों के घरों में उनको भोजन बनाने के लिए रखना भी कलिवर्ज्य ठहराया गया। शूद्र का स्पर्श करने पर प्रायश्चित के रूप में व्रत रखने का विधान किया गया। इस प्रकार इस काल में शूद्रों को पूर्णतया अस्प श्य मान लिया था। हेमाद्रि (लगभग 1270 ई०) से हमें ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों ने वैश्यों का भोजन भी छोड़ दिया क्योंकि उनका शूद्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

अनेक संकर जातियों की गणना इस काल में शूद्रों में कर ली गयी। **ब हद्धर्म** पुराण में अंबष्ठ और करण जातियों के व्यक्तियों को शूद्र कहा गया है। **वेद व्यास स्म ति** में कायस्थों की गणना भी शूद्रों में की गई है। कुछ स्म तिकारों का मत था कि अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान तो द्विज ही रहती है। किन्तु प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान की स्थिति शूद्रों के समान होती है। मेघातिथि ने सूत, मागध और आयोगव को अस्प श्य माना है क्योंकि उनकी उत्पत्ति स्म तिकारों के अनुसार प्रतिलोम विवाह से हुई थी। **ब हद्धर्म** पुराण में संकर जातियों की संख्या

41 दी है। उनमें से 36 की स्थिति शूद्रों के अनुरूप मानी गई है। इसका यह अर्थ है कि इन पुराणों के अनुसार इन छत्तीसों संकर जातियों के व्यक्ति अस्प श्य थे। इस प्रकार इस काल के स्म तिकारों ने हिन्दू समाज के बड़े भाग को अस्प श्य घोषित कर दिया।

इस काल में भी चांडाल बहुत निम्न स्तर का कार्य करते थे जैसे कि ऐसे व्यक्तियों के शवों को ले जाना जिनके कोई सम्बन्धी न हों या अपराधियों को फांसी देना। वे इस काल में भी अस्प श्य समझे जाते थे। इस काल के कुछ स्म तिकारों का मत था कि चांडाल के स्पर्श से दूषित व्यक्ति स्नान करके ही पवित्र नहीं होता। उसे यदि चांडाल के निकट से गुजर भी जाए तो भी प्रायश्चित करना चाहिए। ऐसी ही शूद्रों के दिख जाने और उनसे बात करने, उनके खेल तमाशे देखने या उनकी परछाई पार करने पर करना चााहिए। जिन व्यक्तियों की माता चांडाल होती थी उन्हें मेघातिथि ने सोपाक कहा है। **अग्नि पुराण** में सोपाक को भी माना है। तत्कालीन साहित्य में भी इस मत की पुष्टि होती है कि चांडाल शहर के बाहर रहते थे, नीच काम करते थे और उन्हें अस्प श्य समझा जाता था। चांडाल की परछाई के विषय में इस काल के स्म तिकार एक मत नहीं हैं। अत्रि, अंगिरस, शतातप और औशनस स्म तियों के अनुसार यदि ब्राह्मण चांडाल की परछाई को पार कर ले तो उसे स्नान करना चाहिए। व्याघ्रपाद और ब हस्पति का मत है कि शूद्र को ब्राह्मण से निश्चित दूरी पर रहना चाहिए। किन्तु **शिवधर्मोत्तर पुराण** और **मेघातिथि** के अनुसार चांडाल की परछाई से कोई व्यक्ति दूषित नहीं होता।

वैजयंती कोश (ग्यारहवीं शताब्दी ई०) में धोबियों, चमारों, वेण, बुरूल, मछेरों, मेडों और भीलों की गणना अंत्य जातियों में की है इनमें वेण, बुरूल, मेड़ और भील तो आदिवासी थे ही शेष तीन धोबी, चमार और मछेरे इसलिए अस्प श्य समझे गए कि वे नीच व्यवसाय करके आजीविका कमाते थे। पुलिंद, शवर, किरात आदि आदिम जातियां पहाड़ियों और जंगलों में रहती थी। वे अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्यों का मांस अर्पित करती थी। उनका मुख्य व्यवसाय शिकार करना था। वे मांस और सुरा का खूब प्रयोग करते थे। विवाह करने के लिए अन्य व्यक्तियों की स्त्रियों को उठा ले जाते थे। उनके ऐसे घ णित कार्यो के कारण वे सभी अस्प श्य समझे जाते थे।

इस काल के स्म तिकारों के अन्य धर्मावलंबियों को भी पतित माना है। उनके अनुसार बौद्ध, जैन, लोकायत, नास्तिक, कपिल के अनुयायी, शैव और वाम-मार्गी शाक्त सभी अस्प श्य थे। **ब्रह्माण्ड पुराण** के अनुसार शैवों, पाशुपतों, लोकायतों आदि का स्पर्श करके प्रत्येक उच्च वर्ण के व्यक्ति को वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिए। व द्ध हारीत का मत था कि शैवों का स्पर्श होने पर या शैव या बौद्ध मंदिर में प्रविष्ट होने के बाद प्रत्येक व्यक्ति को स्नान करके पवित्र होना चाहिए।

मनु चांडालों को बहुत ही घ णित तथा हेय द ष्टि से देखता है उसके अनुसार चांडाल और श्वपाक शहर से बाहर रहेगें और कुत्ते तथा गधे उनकी सम्पत्ति होंगे। उनके वस्त्र म तकों के उतारे हुए वस्त्र होंगे, टूटी थाली एवम् कटोरों में वे भोजन करेंगे, काले लोहे के आभूषण पहनने के लिए होगें और उनकों हमेशा एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहना होगा।

उनके लेन देन तथा विवाह सम्बन्ध उनके बराबर वालों से ही होंगे। उनको भोजन टूटे बर्तन में दूसरी जातियों द्वारा ही दिया जाएगा। रात को वे शहर तथा गांव में नहीं घूम सकते। दिन के समय वहीं वे शहर व गांव में जा सकते हैं तथा उन म तकों की लाश, जिनके सगे सम्बन्धी नहीं है, शमशान ले जाएगें।

राजा के हुक्म पर कानून के अनुसार जुर्म के दोषी व्यक्ति को सजा देगें और जुर्मकर्त्ता

के कपड़े, बिस्तर, गहने आदि अपने लिए रखेंगे।

अतः मनु के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि चांडालों की इस काल में कितनी दयनीय स्थिति थी परन्तु याज्ञवल्क्य मनु जितनी दयनीय स्थिति में संभवतः चांडाल को रखने से सहमत नजर नहीं आता। वह चांडाल को उन लोगों से जो संगीन पाप अथवा जुर्म करता है उनसे बदतर हालात में रखने में यकीन नहीं करता। उसके अनुसार यदि कोई चांडाल ब्राह्मण को छू लेता है जो चांडाल को 100 पण का जुर्माने स्वरूप देने होंगे। इतना ही जुर्माना वसूलने का उल्लेख याज्ञवल्क्य उन सबसे भी करता है (1) जो विधवा से बिना नियोग की अनुमति लिए सम्बन्ध स्थापित करता है। (2) जो यदि उस व्यक्ति की जिस पर आक्रमण किया गया है सहायता करने में समर्थ होते हुए उस व्यक्ति की सहायता नही करता है। (3) वो शूद्र जो किसी मुख्य धर्म का विरोध करने वाले अन्य धर्मावलंम्बी को देव या श्राद्ध के लिए बुला लेता है। (4) वह जो झुठी कसम खाता है। (5) जो सांड या अन्य पशुओं का वध कर देता है। (6) जो दास स्त्री का गर्भपात करवाता है आदि।

इस प्रकार यद्यपि स्म तिकार से दूसरे स्म तिकार के अस्प श्यता की गहराई की डिग्री में अन्तर तो देखने को मिलता है परन्तु अस्प श्यता का विरोध प्राचीन स्म तिकारों में कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

समय की मांग के साथ अपने इन आदेशों ( injunctions ) में थोड़ा थोड़ा फेर बदल भिन्न-2 कालों में देखने को भी मिलता है। अस्प श्यता जन्म तथा व्यवसाय पर तो आधारित थी ही परन्तु कुछ हद तक मानसिक अवस्था के साथ भी इसे जोड़ दिया गया।

वशिष्ठ धर्म सूत्र के अनुवादक फहरर (Fuhrer) एक सुक्त (Verse) को अनुवाद करते हुए कहते है "Athiest, Miser ungrateful and who Cherishes anger for long - These are the four Chandalas by Conduct and the fifth is by birth" अर्थात इस सुक्त में स्पष्ट वर्णित है कि चांडाल के पांच प्रकारों में चार प्रकार के चाण्डाल उनके व्यवहार अर्थात मानसिक अवगुणों के कारण और पांचवा जन्म पर आधारित था। परन्तु मानसिकता पर आधारित अस्प श्यता की व्यवहारिक गंभीरता कितनी थी, प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है।

# अध्याय - 16
# श्रम तथा श्रमिक
# (Labour And Labourers)

**परिचय**

जब किसी भी प्रकार के पुरस्कार (*Cash or kind*) हेतु शरीरिक या मानसिक सेवा अर्पित की जाती है उसे हम श्रम कहते हैं तथा सेवा अर्पित करने वाले को श्रमिक कहते हैं। अर्थात श्रमिक से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो अपना श्रम किसी पुरस्कार के बदले बेचता अर्थात अर्पित करता है। चूंकि प्राचीन मध्यकाल में भारत में व्यक्तिगत रूप से विस्त त पैमाने पर संचालित उद्योगों का अभाव था अतः जाहिर है श्रमिकों का कोई संगठित संगठन भी नहीं था जोकि सामूहिक तौर पर श्रमिकों की मांगे मालिक के समक्ष रख सके। परन्तु आधुनिक ट्रेड यूनियन का कार्य कुछ हद तक प्राचीन काल में विभिन्न श्रेणियाँ निभाती थी।

प्राचीन काल में श्रमिक तीन प्रकार के थे- दास (Slave) वेतन भोगी (Wages earners) तथा बेगार वाले (*forced labour*)। श्रम किसी भी देश के आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण स्तम्भ है इसके महत्व को संभवतः प्राचीन काल में ही आज से लगभग *3000* वर्ष पूर्व अर्थात हड़प्पा काल में ही जान लिया गया था इसीलिए उस काल के सामाजिक ढाँचे से अभिन्न परन्तु स्वतन्त्र वर्ग के रूप में श्रम जीवी वर्ग विद्यमान था। दो कमरों के मकान, जिन्हें विगट कुली क्वार्टरस कहता है, मिलना इस बात की पुष्टि कर देता है कि ये मकान श्रमिक वर्ग के रहे होंगे जो अपनी जीविका अपना शारीरिक श्रम प्रदान कर कमा रहे होंगे। इसी प्रकार विशाल स्नानागार का मिलना भी इस बात की पुष्टि करता है कि इस स्नानागार की सफाई आदि रखने के लिए तथा कुंऐ से ताजा पानी भरने के लिए कुछ श्रमिक अवश्य नियुक्त कर रखे होंगे। इसी प्रकार सार्वजनिक भवन, नगर योजना अन्नभंडार तथा विकसित उद्योग धन्धे सब के सब बुद्धि की ताकत के साथ साथ शारीरिक श्रम के भी गवाह हैं। इन श्रमजीवियों की सामाजिक एवम् आर्थिक स्थिति क्या थी - ये दास थे या भाड़े के मजदूर थे या इनसे बेगार ली जाती थी आदि आदि- प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है। वैदिक साहित्य में अनेको बार विभिन्न स्थानों पर दास एवम् दासी शब्द आया है जो कि वैदिक काल में पूर्णतः आत्मसमर्पित अवस्था में श्रमिक वर्ग के पाए जाने की पुष्टि करता है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है। (1) युद्ध में बन्दी बनाए गए। *(2)* दान में दिए गए दास एवम् दासियां *(3)*उधार के बदले में बने दास। बौद्ध सहित्य में चार प्रकार के दासों का विवरण मिलता है जबकि कौटिल्य पांच प्रकार- ध्वजाह्यात, आत्मविक्रयी, उदरदास (दासी से उत्पन्न), आहतिक (ऋण के बदले) तथा दण्ड प्रणीत (अदालत में दण्ड स्वरूप बनाए गए दास) के दासों का वर्णन करता है। मनु में यह संख्या बढकर सात हेा जाती है और नारद में पंद्रह। दासों की लगातार बढती संख्या प्राचीन काल में गरीब वर्ग की उत्तरोतर गिरती

अवस्था को दर्शाता है। अब केवल भोजन के लिए भी गरीब अपने को दासता में धकेल रहा था। दासों को बेचा व भेंट में दिया जा सकता था। गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में भू अनुदानों कें प्रचलन से स्थिति और दयनीय हो गई क्योंकि अब जमीन कुछ ही विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्गो के हाथ में आ गई जिसकें परिणामस्वरूप भूमिहीन लोगों की एक बहुत जमात खड़ी हो गई। जिनके पास अपनी जीविका कमाने के लिए छोटे छोटे कार्य तथा शारीरिक श्रम बेचने के अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं था। दूसरी तरफ इस काल में हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान हो रहा था और अर्न्तजातिय विवाह और अर्न्तजातिय भोजन आदि पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था। इस प्रकार बहुत से धार्मिक तथा सामाजिक उल्लघंनों (lapses) बहुत से पश्चातायों आदि के कारण बहुत सी नई नई जातियों, उपजातियां तथा अस्प श्यों की संख्यां में तेजी से व द्धि तथा नए नए शिल्प तथा उद्योगों के उदय के कारण श्रम शक्ति में काफी बढ़ोतरी हुई। शासकों की निर्माण कला का शौक, सेना का इधर-उधर ले जाने के लिए सड़कों का निमार्ण आदि के लिए भी राज्य को एक बड़ी श्रम शक्ति की आवश्यकता थी इस प्रकार बढ़ती हुई श्रमशक्ति के साथ श्रम की मांग भी बढ़ रही थी। अब आर्थिक संकट के समय उच्च वर्ण के गरीब वर्ग के लोग मजदूरी कर सकते थे। शुक्र के अनुसार बिना वर्ण भेद किए कैदियों से सड़क बनवाना तथा मरम्मत करवाने का काम लेना चाहिए।

इस काल में दासों की सूची में अभाव तथा अकालों से पीड़ित लोग जिन्होंने म त्यु से बेहतर दासता को स्वेच्छा से स्वीकार करना ठीक समझा, जुड़ गए। जैसा कि जोत भूमि आसानी से उपलब्ध नहीं थी और यदि उपलब्ध थी तो वह बहुत मंहगी थी। इसी प्रकार वन क्षेत्र को भी ठीक ठाक करना आसान नहीं था। अतः चारों ओर से हताश हुए गरीब व्यक्ति ने गुजारे लायक धान एवज में दासता स्वीकार कर ली। पाल शासकों के भू अनुदानों में मेदाज, चांडाल और आंध्रको का उल्लेख मिलता है। कुछ अभिलेखों में ग्रामीण समुदाय जैसे नपित, मेद, महर आदि को भी गाँव के अनुदान के बारे में बताएं जाने का वर्णन है। जिससे ऐसा लगता है कि अनुदानग्रही अजोत भूमि को साफ करके जोतने योग्य बनाने अनुदान पत्र में उल्लखित निम्न जातियों की सेवा लेनी पड़ती थी।

अब प्रश्न उठता है कि विभिन्न कारणों एवम् परिस्थितियों वश बने दास क्या क्या कार्य करते थे? देवनभट्ट के अनुसार बहुत से अपवित्र कार्य जैसे सफाई तथा अन्य घरेलु काम करते थे। मेधातिथि के अनुसार स्वामी की सेवा करना, गंदी वस्तुओं को साफ करना, स्वामी के पैर धोना, झाड़ू लगाना तथा अन्य इस किस्म के काम दास करते थे। इसी प्रकार म च्छकटिका में स्त्री तथा पुरूष दोनों प्रकार के दासों को चारूदत के पैर धोने को कहा गया। इसी प्रकार चारूदत्त के दासों को गाड़ी खिंचते हुए दिखाया गया है। कथासरीतसागर में मूलदेव जब उज्जैन में दरबारी के भेष में अपनी पत्नी से मिलने गया तो दासियों उसको वहां लाने, सजाने आदि का काम करते हुए उल्लखित किया है। दास घरेलु कार्यो में सब्जी काटना, मसाले तैयार करना, फर्श साफ करना झाड़ू लगाना, ईधन लाना, पानी भरकर लाना, गाय दुहना मक्खन निकालना, खेत में जंगली घास निकालना अनाज निकालना, खाना बनाना, नालियां साफ करना आदि बहुत से घरेलु कार्य दास करते थे। त्रिशस्तीश्लाकापुरूषचरित से भी इन कार्यो की संपुष्टि हेाती हैं। म च्छकटिका में पुरूष दासों को गाड़ा खिचतें हुए उल्लखित किया गया है। मेघातिथि के अनुसार यदि क्षत्रिय एवम् वैश्य भोजन के लिए ब्राह्मण का स्वामित्व स्वीकार करते है तो ब्राह्मण मास्टर को उनसे निम्न कार्य में लगाने के बजाय उनकी जाति के हिसाब से कार्य देना चाहिए जैसे क्षत्रिय को गांव की रखवाली का काम दिया जा सकता है। वैश्य को खेत जोतने, पशुपालन आदि का कार्य देना चाहिए। यह बात संभवतः उसने भाड़े के मजदूरों के बारें में कही है। उसके अनुसार दास का

कार्य मालिक के पैर धोना तथा झाड़ू लगाना आदि है। दासों की स्थिति उनके स्वामी के स्वभाव पर निर्भर थी एक उदार तथा दयावान, मास्टर जैसे वसन्तेसना के अधीन काम करना इतना कष्टदायक जलालतपूर्ण तथा अमानवीय नहीं होता था जितना कि एक कठोर तथा दयाहीन मास्टर। इसी प्रकार यद्यपि मेघातिथि जैसे कुछ स्म तिकारों ने दासत्व से मुक्ति के उपायों की बात की है परन्तु स्वतन्त्रता तथा मुक्ति भी काफी हद तक मास्टर की इच्छा पर निर्भर करती थी। अतः सैद्धान्तिक तौर पर दासों के साथ सद्व्यवहार किया जाता था तथा यहां तक कि उन्हें परिवार का सदस्य ही समझा जाता था। वे दासत्व से मुक्ति भी पा सकते थे। ग्रीक दासों की तुलना में भारतीय दासों की बेहतर हालत होने के कारण ही मैगस्थनीज भारत में दास प्रथा को नोट नहीं कर पाया तथा कह दिया कि भारत में दास प्रथा प्रचलित ही नहीं थी। यदि मास्टर किसी दासी से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता था तो उसे उस दासी को पत्नी का स्थान देना पड़ता था परन्तु इन उदार भावनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि दासों का जीवन बहुत कठोर था, उनकी स्थिति बहुत दयनीय थी, समाज में उनका स्थान हेय था तथा जीवन निर्वाह स्तर था ही अपना जीवन बसर करते थे। परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि दास वर्ग प्राचीन भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का बहुत ही उपयोगी महत्त्वपूर्ण एवम् अभिन्न अंग (component) रहा है। जिसको भोजन मात्र देकर सम्पन्न वर्ग के ऐशो आराम के लिए शोषित किया जाता था।

## भाड़े के मजदूर :

दासों की भांति विभिन्न प्रकार के कार्यसम्पन्न करने के लिए भाड़े पर मजदूर भी लगाए जाते थे। दासों से भाड़े के मजदूरों का अन्तर करने के लिए प्राचीन काल में मजदूर वर्ग के लिए 'कर्मकार तथा भ त्य' (वेतन भत्ता) शब्दों को प्रयोग किया जाता था। देवनभट्ट नारद को उद्ध त करते हुए चार प्रकार के मजदूरों की बात करता हैं। वे चार प्रकार है मीशयस (ब्राह्मण विद्यार्थी) अन्तेवासिन (शिल्प व कला की ट्रेनिंग लेने वाला), भ तक (मजदूरी पाने वाला मजदूर), अधिकरमक त (सुपरवाईजर)। ये मजदूर केवल अपनी जाति तथा कार्य के आधार पर ही विभाजित थे वरन् इन सबकी स्थिति एकसमान ही थी। ये सब बन्धुओं मजदूर की भांति ही काम करते थे।

### भ तक

भाड़े पर मजदूरी करने वाला मजदूर भ तक कहलाते थे। इनका विभाजन जाति या व्यवसाय पर आधारित नहीं था अपितु समय तथा काम के स्वरूप पर आधारित था। ब हस्पति के अनुसार भ तक मुख्य रूप से दो प्रकार के थे (*1*) वनिता भ त (*2*) अर्थभ त अर्थात भागभ त। अर्थभ त भी आगे दो प्रकार के होते थे (*1*) वे मजदूर अर्थात भ त जिनसे क षिफार्मों पर काम लिया जाता था (*2*) वे जिनसे पशुपालन का कार्य लिया जाता था। दोनों ही प्रकार के भ तकों के तीन - उच्च, साधारण एवम् निम्न - स्तरीकरण थे तथा स्म तिचन्द्रिकानुसार इनको तनख्वाह रोजाना, महिने में दो बार, त्रिमासिक, साल में दोबार तथा सालाना आधार पर दी जाती थी। नारद के अनुसार योद्धावर्ग के मजदूरों को उच्च, क षि मजदूर को सामान्य तथा घरेलू नौकर जैसे खानसामा आदि को निम्न श्रेणी में रखा जाता था।

### अधिकर्मक त

नारद के अनुसार मजदूरों नजर रखने वाले सुपरवाईजरों को अधिकर्मक त कहा जाता था।

परन्तु यहां श्रमिक के दायरे में केवल भ तक वर्ग ही आता है न कि शिष्य, अन्तेवासिन या अधिकरमक त वर्ग। इसलिए हम प्राचीन भारत में इस श्रेणी के भ तक वर्ग की स्थिति के बारे में ही जानकारी हासिल करने का प्रयत्न करेंगे। हालांकि प्राचीन काल में संभवतः उत्पादक तथा अउत्पादक आधार पर श्रमिक का कोई विभाजन नहीं किया गया था। क्योंकि प्राचीन अर्थशास्त्रकारों के अनुसार जिस किसी भी कार्य मे मानसिक या फिर शारीरिक श्रम लगा हो वह अउत्पादक हो ही नहीं सकता। इसलिए पुरोहित द्वारा कर्मकांड सम्पूर्ण करने में लगाया गया श्रम भी उत्पादक तथा आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में लगाया गया श्रम भी उत्पादक श्रम की किस्म में ही आता है। क्योंकि यह काफी बड़े ब्राह्मण वर्ग की जीविका का भी साधन है। मजदूरों के जाति व्यवसाय, काम के स्वरूप, पवित्र, अपवित्र, उच्च, साधारण एवम् निम्न के आधार विभाजन के अतिरिक्त मनु के अनुसार अन्य आधार अर्थात् प्रशिक्षित (skilled) तथा अप्रशिक्षित (unskilled) पर भी मजदूरों को विभाजित किया गया था।

कथासरितसागर में भ तकों को तनख्वाह किस रूप में दी जाती थी, का भी वर्णन मिलता है। इनको तनख्वाह अथवा मजदूरी संभवतः पण अर्थात नकदी में दी जाती थी। यह निश्चित तौर पर अस्थाई तौर पर अर्थात निश्चित समय के लिए लगाए गए मजदूरों की ओर ईशारा करते है। कथासरितसागर में ध्रुवला के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भ तक से खाना बनाने, पानी भरकर लाने तथा बाजार से समान लाने का काम लिया जाता था। एक अन्य विवरण में दरबारी के वेश में मूलदेव की पत्नी का उज्जैन में अपनी दो सेविकाओं के साथ पहुंचने का वर्णन मिलता है। उनमें से एक चौकीदार अंगरक्षक का काम करती थी और दूसरी प्रचारिका का काम स्नान कराना, तैयार करना तथा भोजन परोसना था। दूसरी किस्म की प्रचारिका संभवतः दासी थी।

कारवां के संगठन तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में उपलब्ध विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अमीर व्यापारी अपने वाणिज्य समान की सुरक्षा के लिए योद्धाओं को भाड़े या वेतन पर रख लेते थे।

अभिलेखों में मध्यम वर्ग के श्रमिकों का उल्लेख मिलता है। एक अभिलेख में 'हल कुट्टक' शब्द मिलता है इस विवरण के अनुसार प्रत्येक कुट्टक पर निश्चित दर से टैक्स लगाया गया। हलक ट्टक का संभवतः अर्थ है कि क षक अर्थात जोतहर और 'करषति कारशयता' का अर्थ है क षि फार्म के लिए भाड़े के मजदूर लगाना। राजतंरगणी में भी ग हस्थ द्वारा जोतहर अर्थात् क षक अर्धबटाई पर रोजगार दिए जाने का वर्णन उपलब्ध है। इसी प्रकार स्म तिकार व्यापार, क षि, पशुपालन कर्म के लिए भाड़े पर मजदूर रखने का विवरण करते है। कथासरितसागर में एक व्यापारी द्वारा अपनी दूकान की चौकीदारी के लिए मजदूर सेवक को नियुक्त करने का वर्णन मिलता है। एक ब्राह्मण द्वारा अपने पशुओं की देखभाल के लिए एक ग्वाले को नियुक्त करने का विवरण भी मिलता है परन्तु इनकी मजदूरी किस रूप में दी जाती थी इसका विवरण नहीं मिलता। इसी प्रकार प्रबन्धचिन्तामणि में प्रशिक्षित श्रमिकों का उल्लेख भी मिलता है।

## विष्टि (Forced Labour)

श्रमिकों की तीसरी किस्म उन श्रमिकों की थी जिनसे बेगार ली जाती थी। विष्टि शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में हुआ है, बेगार प्रथा अर्थात विष्टि मैगस्थनीज से भी छुपी न रह सकी धर्मशास्त्रों, महाभारत, पुराणों तथा शुक्रनीतिसार सभी के लेखकों ने विष्टी अर्थात बेगार प्रथा का वर्णन किया है यहां तक कि धर्मनिरपेक्ष साहित्य जैसे राजतंरगणी में गांव वालों से एक गाड़ी भार (रूढ-बारोढी) बेगार के रूप में वसूल करने का वर्णन है। कथासरित सागर के विवरण से स्पष्ट है कि राज्यधिकारी ने गांव वालों को गिरे हुए खजूर के पेड़ से खजूर तोड़ने को कहा। गांव वालों

से विष्टी की मांग करने की पुष्टि सोमदेव के विवरण से भी हो जाती है। सढरमपुण्डरिक के अनुसार विष्टी का अधिकार केवल राजा को ही नहीं था बल्कि अनुदानग्रही भी गांव वालों से विष्टी ले सकता था। विष्टी अर्थात बेगार प्रथा की पुष्टि सद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख तथा गुप्ता के अभिलेख से भी संपुष्टि होती है।

**क त्यकल्पतरू** के विवरण से जानकारी मिलती है कि गांव वालों को वहां से गुजरती हुई शाही फौजों के लिए भोजन, चारा तथा फौज की अन्य जरूरतों का प्रबन्ध करना पड़ता था। हर्ष का सेनापति भी गांव वालों से इसी विशेषधिकार की मांग करता हुआ नजर आता है। कुछ अभिलेखों के अनुसार सिपाहियों की रसद तथा अन्य सुविधाएं जुटाना गांव का नियमित कर्त्तव्य बन गया था। इसके अतिरिक्त गांव वालों को ग्राम मुखिया के माध्यम से राजा को रोजाना भोजन, पेय, ईधन आदि देना पड़ता था। सरकारी अधिकारी कई बार बेईमानी वश क षकों तथा दुकानदारों से गैर कानूनी ढंग से पैसा वसूल करते थे।

साधारणतया शूद्र, शिल्पी तथा कारीगर श्रम के बड़े स्त्रोत थे। मेघातिथि के अनुसार शूद्रों को वजन उठाने व ले जाने तथा दूसरे इसी प्रकार के श्रम के लिए प्रयोग किया जा सकता है। जमींदार तथा सरकारी अधिकारी को इस प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती थी। लेकिन राजा ने इस प्रकार के श्रम को सार्वजनिक कल्याण के कार्यो जैसे कुएं, टैंक, सड़क तथा जंगलों को साफ करवाना आदि के लिए उपयोग किया। जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार कि सुदर्शन झील का निर्माण  बिना विष्टि के सहयोग के करवाया गया। जबकि शुक्र के अनुसार ऐसे काम विष्टी की सहायता से ही किए जाते हैं।

## वेतन

विभिन्न प्रकार के श्रमिकों, दासों, भाड़े के मजदूरों तथा अन्य व्यक्ति जो मुफ्त में श्रमदान करते थे उनकी मजदूरी क्या होती थी तथा किस स्वरूप में उनकी मजदूरी अथवा वेतन दिया जाता था? एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जहां तक दासों का प्रश्न है, स्म तिचन्द्रिका के अनुसार, उनकी अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी उनकी मजदूरी भी उनके मास्टर की होती थी। परन्तु एक प्रकार के दास अपने भरण पोषण के लिए मजदूरी स्वीकार करते थे। मेघातिथि के अनुसार दासियों तथ निम्न कार्य में लगे हुए नौकरों को उनके काम के आधार पर मजदूरी प्रतिदिन के हिसाब से दी जाती थी। एक दास जो dedicate किस्म का कार्य करता था भले ही उसमें शारीरिक श्रम कम लगता हो तब भी उसे उच्च वेतन दिया जाता था। भाड़े के नौकर जो कि निम्न किस्म के कार्य जैसे फर्श पर झाडू लगाना उन्हें प्रतिदिन एक पण दिया जाता था और उनसे उच्च किस्म के नौकर को छः पण (6 पण) था। एक द्रोण अनाज तथा हर छः महिने में कपड़ा दिया जाता था। जहां तक योद्धाओं के वेतन का प्रश्न है, लक्ष्मीघर के अनुसार प्रतिमाह उन्हें दो स्वर्ण तथा व्यक्ति वह व्यक्ति जो राजा के लिए मरा हो उसको उस वेतन के अतिरिक्त कपड़ों आदि का दान दिया जाता था। एक प्रशिक्षित सिपाही को कौटिल्य के अनुसार, सालाना *500* पण दिए जाने चाहिए।

नारद तथा देवनभट्ट के अनुसार एक कार्य को पूरा करने के लिए भाड़े पर किए हुए श्रमिक का वेतन या तो काम प्रारम्भ होने के समय, या काम के मध्य में या फिर अन्त में दिया जाना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि श्रमिक को या तो अनुबन्ध के तहत या फिर मास्टर और श्रमिक के बीच हुए समझौते के अनुसार भाड़े पर लगाया जाता था। कौटिल्य ने भी इस बात की पुष्टि की है।

परन्तु जब दोनों पार्टियों में ऐसा कोई समझौता नहीं होता था उस सूरत में व्यापार क षि

तथा पशुपालन के कार्य हेतु लगाए गए श्रमिकों को लाभ रूप में फसल का तथा दूध का 1/10 वां भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। इसकी पुष्टि मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों से हो जाती है। मेघातिथि के अनुसार क षि में यह दर बहुत कम है और यह प्रतिशत की दर उसी सूरत में दी जानी चाहिए जब वह क षि कर्म में कम श्रमसाध्य हो वरन् 1/3 या 1/5 भाग और जब कपड़े इत्यादि भी दिए जाते हो उस हालत में 1/5 भाग दिया जाना चाहिए। मेघातिथि के अनुसार जो ग्वाला निर्वाह के अन्य साधन प्राप्त नहीं करता है उसे 10 गायों में से सबसे अच्छी गाय का दूध प्राप्त करने का अधिकार है। कभी कभी पशुओं की उचित देख भाल हेतु कुल उत्पादन का 1/4 से 1/3 भाग तक दिया जा सकता है।

शुक्र यद्यपि भिन्न किस्म के श्रमिकों के लिए भिन्न भिन्न वेतन की दरें तो तय नहीं करता परन्तु इतना अवश्य कहता है कि वेतन श्रमिक की कार्य क्षमता तथा कार्य का स्वरूप देखकर ही तय किया जाना चाहिए। इसके अनुसार धातुकर्मकार जैसे सुनार को प्रतिदिन पांच विंशोपक दिया जाना चाहिए।

बेगार लिए जाने वाले श्रमिकों के बारे में अर्थात् क्या उन्हें भोजन और कपड़ा भी मिलता था या नहीं, कुछ कहना कठिन है। अग्निपुराण के अनुसार ऐसे श्रमिक को राजा को ये वस्तुएं देनी चाहिए। लक्ष्मीघर भी इसी मन में है। कौटिल्य के अनुसार ऐसे श्रमिकों को *60* पण प्रतिवर्ष राजा द्वारा दिया जाना चाहिए। एक अन्य स्थान पर वह सभी प्रकार के नौकरों को लिए 100 से 500 पण दिए जाने की बात करता है।

## कार्य के घंटे

एक श्रमिक कितने घण्टे काम करें तथा भाड़े के मजदूर की उम्र कितनी हो से सम्बन्धित कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार स्त्री श्रमिक और पुरूष श्रमिक की तनख्वाह या मजदूरी में कोई अन्तर था या नहीं के बारे में भी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि कभी कभी काम ठेके पर करवाया जाता था ऐसे में श्रमिक ठेकेदार श्रमिक स्वयं ही जुटाता था तथा कार्य को निर्धारित समय पर ही पूर्ण करके देता था।

## ट्रेड यूनियन

आज की ट्रेड यूनियन तो प्राचीन काल में विद्यमान नहीं थी परन्तु इन जैसा कुद्द कार्य श्रेणियां करती थी। एक प्रकार के व्यवसाय में लगे हुए लोग जैसे व्यापारी, कारीगर, महाजन आदि ने अपने को श्रेणीबध कर लिया था जैसा कि मेघातिथि, शुक्र के विवरणों से स्पष्ट है। सियोदोना अभिलेख में भी विभिन्न प्रकार की श्रेणियों - स्थापति (architects),कुम्भकार (Potter) तेलनायक (Oil miller), धानक आदि - का उल्लेख आता है। इन श्रेणियों को अपने नियम बनाने का अधिकार था जो राज्य को मान्य होते थे। ये संघ अर्थात् श्रेणियां अपने व्यवसाय, अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से बनाई गई थी। राजतंरगणी के विवरण से इसकी पुष्टि हो जाती है। इसके अनुसार कश्मीर मे ब्राह्मणों ने राजा के जुल्मों के खिलाफ आवाज उठाने के लिए अन्न ग्रहण न करने तथा अनशन का रास्ता अपनाया।

## श्रमिक के अधिकार

## छुट्टियां

पूर्व मध्यकालीन वैधानिक पुस्तकों और टीकाओं से स्पष्ट होता है कि इस काल मे employer तथा employee आपस में अपने अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का बैठकर फैसला कर लेते थे। शुक्र के अनुसार एक परिचारक (नौकर) को इतना दे दिया जाता था जिससें कि

वह अपना और अपने परिवार का पेट पाल सके क्योंकि इससे कम वेतन दिए जाने पर उसका मालिक के विरूद्ध होना स्वाभाविक था। शुक्र के अनुसार साल में पन्द्रह छुट्टियां उसका वैधानिक अधिकार था। इसके अतिरिक्त बीमार होने पर अलग छुट्टियों का प्रावधान था। इसके लिए उसे अवकाश की मांग अवकाश पर जाने से पहले करनी पड़ती थी। एक सप्ताह तक कि बीमारी की छुट्टियां आमतौर से पूरी तनख्वाह के साथ मिलती थी और यदि वह विशेषीकरण प्राप्त श्रमिक था तो उस परिस्थिति में उसे ओर लम्बी छुट्टियां दी जा सकती थी परन्तु अर्धवेतन पर पैन्शन किसी भी सूरत में तीन सप्ताह से अधिक छुट्टियां प्रदान नही की जाती थी।

## पैंशन तथा सुविधाए

इसके अतिरिक्त पैशन तथा ग्रेच्यूटी एवम् कम्पनसशन (Pension, gratuity, compensation) का प्रावधान भी था। शुक्र के अनुसार 40 वर्ष की नौकारी होने पर वह सेवानिव त होने पर अपनी तनख्वाह से आधी पैशन के रूप में प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता था। शुक्रनीतिसार में म तक सेवक की विधवा की देखभाल राज्य का कर्त्तव्य था तथा उसके अल्पव्यसक पुत्र एवम् पुत्रियों की देखभाल भी राज्य का कर्त्तव्य था। वैधानिक पुस्तकों के अनुसार म तक नौकर की पत्नी बच्चे तथा बुजुर्गो की देखभाल की जिम्मेवारी मालिक की है। यह सहायता इनकी पेशन के रूप में दी जाती थी या किसी अन्य रूप मे कहना कठिन है। सरकारी नौकर को भी संभवतः ये सब सुविधाए उपलब्ध थी। अपनी पुस्तक क तकल्पतरू में एक स्थान पर लक्ष्मीधर, राजा म तक योद्धा की विधवा और बेटों को उसकी तनख्वाह के अतिरिक्त कुछ देने की बात करता है कम से कम एक उदाहरण इस प्रकार का मिलता भी है जहां म तक सिपाही के परिवार को राजा द्वारा मुआवजे के तौर पर भूअनुदान दिया गया। कथासरित सागर में एक म तक ब्राह्मण की पत्नी को उसके पति की तनख्वाह का 1/4 भाग जीवन यापन के लिए दिया जाता था

## बोनस का प्रावधान

श्रमिक को तनख्वाह के अतिरिक्त बोनस भी दिया जाता था। इसकी पुष्टि शुक्रनीतिसार से हो जाता है। शुक्र के अनुसार श्रमिक की तनख्वाह का 1/8 वां हिस्सा उसे बोनस के रूप में दिया जाना चाहिए। देवनभूति याज्ञवल्क्य को उद्ध त करते हुए बताता है कि यदि कोई श्रमिक नौकर अपना समय लगाकर मालिक के लिए कुछ लाभ अर्जित करता है तो मालिक को उसकी तनख्वाह के इलावा इनामस्वरूप कुछ देना चाहिए।

शुक्रनीतिसार से हमें श्रमिक के इन्श्योरंस के प्रावधान की जानकारी मिलती है। शुक्र राजा को सलाह देता है कि राजा को नौकर की तनख्वाह का *1/4* या 1/6 भाग सुरक्षित रखना चाहिए और उसमें से आधा या पूरा दो से तीन साल में दिया जाए।

## मालिक के हितों की रक्षा सम्बन्धित नियम

यही नही मालिक के हितों का भी पूरा ध्यान रखा जाता था। मेघातिथि के अनुसार यदि श्रमिक समझौते मे तय किए गए समयनानुसार कार्य पूर्ण नहीं कर पाता है तो उसे आठ क ष्णल जुर्माने के तौर पर देना पड़ता था। यदि श्रमिक बीमारी के बहाने अपना कार्य नहीं करता तो उसे अपने वेतन से हाथ धोना पड़ता था परन्तु यदि वह अपना काम शुरू कर देता है और बीच में बीमार के बाद अपने काम पर आ जाता है तो उस परिस्थिति में उसकी तनख्वाह काटी जाती थी। देवनभूति के अनुसार श्रमिक द्वारा बेईमानी किए जाने की सूरत में भी उसे अपने वेतन से हाथ धोना पड़ता था। इसी प्रकार काम पूर्ण किए बिना तनख्वाह पाने की सूरत में तनख्वाह का

दूगना जुर्माने के तौर पर देना पड़ता था। नारद और कात्यायन के अनुसार ऐसी परिस्थिति में मालिक को उससे जबरदस्ती काम पूर्ण कराना चाहिए।

श्रमिक वर्ग की अच्छी बुरी स्थिति काफी हद तक उसके मालिक के स्वभाव पर निर्भर थी। चारुदत्त तथा वसन्त सेना जैसे उदार मालिक एवम् मालकिन के दास तथा सेवक बहुत आरामदायक तथा खुशीपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे परन्तु संस्थानक जैसे जालिम मास्टर के अधीन काम कर रहे दासों तथा सेवकों की बहुत ही दयनीय हालत थी ऐसे ही अमानवीय मास्टर का वर्णन कथासरितसागर में मिलता है कि किस प्रकार एक सेवक की नौकरी से छुट्टी करते समय मास्टर की पत्नी ने आधा पण सेवक को दे दिया था उसे भी मास्टर ने छीन लिया। लेखपद्धति में चोरी करने या मास्टर को छोड़ने पर दास को मौत के घाट उतारने के उदाहरण भी हमें मिलते हैं। जिससे स्पष्ट है कि जालिम मास्टर किस प्रकार अपने विशेषधिकारों तथा समझौतों का फायदा उठा लेते थे।

परन्तु से सेविकाओं और दासियों को दासता से मुक्त करने के उदाहरण मिलते है। यदि कोई दासी मालिक की सन्तान उत्पन्न कर देती थी तो उसे दासता से मुक्त कर दिया जाता था। संस्क त नाटक इस प्रकार के उदाहरणों से भरे पड़े है। यहां तक कि इस प्रकार दासता से मुक्त हुई दासी का अन्य रानियों का ही दर्जा मिल जाता था।

इस प्रकार वेतन की दरें, पेशन भूअनुदान आदि जिनका वर्णन कानूनी पुस्तकों में मिलता है, यदि व्यवहार में भी लागू किए जाते होंगे तो वह भाड़े के मजदूरों की संतोषपूर्ण स्थिति के परिचायक हैं।

# UNIT - III

# अध्याय - 17
# शिक्षा पद्धति एवम् शिक्षण संस्थान
# (Education System and Educational Institutions)

प्राचीन भारत में शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा स्त्रोत माना जाता था। व्यक्ति के जीवन को संतुलित और श्रेष्ठ बनाने तथा एक नयी दिशा प्रदान करने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान था। सामाजिक बुराईयों को उसकी जड़ों से निर्मूल करने और त्रुटिपूर्ण जीवन में सुधार करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके द्वारा सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित किया जा सकता था। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने, वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने और अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षा पर निर्भर होना पड़ता था। आधुनिक युग की भांति प्राचीन भारत में भी मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा से ही सम्भव था।

सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक वहन करना प्रत्येक मानव का परम् उद्देश्य माना जाता है। इसके लिये भी शिक्षित होना अनिवार्य है। जीवन की वास्तविकता को समझने में शिक्षा का उल्लेखनीय योगदान रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करके शिक्षा को समाज की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया। विद्या का स्थान किसी भी वस्तु से बहुत ऊँचा बताया गया। प्रखर बुद्धि एवं सही विवेक के लिये शिक्षा की उपयोगिता को स्वीकार किया गया। यह माना गया कि शिक्षा ही मनुष्य को व्यावहारिक कर्त्तव्यों का पाठ पढ़ाने और सफल नागरिक बनाने में सक्षम है। इसके माध्यम से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अर्थात् सर्वांगीण विकास सम्भव है। शिक्षा ने ही प्राचीन संस्क ति को संरक्षण दिया और इसके प्रसार में मदद की।

विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार द्वारा होता था। उपनयन संस्कार के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए मनुस्म ति में उल्लेख मिलता है कि गर्भाधान संस्कार द्वारा तो व्यक्ति का शरीर उत्पन्न होता है पर उपनयन संस्कार द्वारा उसका आध्यात्मिक जन्म होता है। प्राचीन काल में बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए आचार्य के पास भेजा जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है वह लम्बी अवधि की यज्ञावधि ग्रहण करता है। छान्दोग्यापनिषद् में उल्लेख मिलता है कि आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचारी रूप से वेदाध्ययन के लिए गुरू के पास जाने को प्रेरित किया था। आचार्य के पास रहते हुए ब्रह्मचारी को तप और साधना का जीवन बिताते हुए विद्याध्ययन में तल्लीन रहना पड़ता था। इस अवस्था में बालक जो ज्ञानार्जन करता था उसका लाभ उसको जीवन भर मिलता था। गुरू ग ह में निवास करते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पर्क में आता था। गुरू के लिए समिधा, जल का लाना तथा ग ह-कार्य करना उसका कर्त्तव्य माना जाता था। ग हस्थ धर्म की शिक्षा के साथ-साथ वह श्रम और सेवा का पाठ पढ़ता था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तकीय न होकर जीवन की वास्तविकताओं के निकट होती थी। इन्हीं समस्त कारणों से ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र बताया गया है जो मनुष्य को

अन्तर्दृष्टि प्रदान करने के साथ-साथ प्रत्येक कार्य को करने की क्षमता प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए व्यक्ति ज्ञान द्वारा समस्त दैवी गुणों को प्राप्त कर लेता है। ब हदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि तीन लोकों मनुष्य लोक, पित लोक और देवलोक में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ है जिसकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही सम्भव है।

उपनयन एवं वेदाध्ययन कराने वाले आचार्य के गुणों पर भी धर्मसूत्रों ने प्रकाश डाला है। ज्ञातव्य है कि विद्या के अध्ययन में वेदों का अध्ययन समाविष्ट किया गया था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि जो अविद्वान से उपनयन सम्पन्न कराता है वह अन्धकार में ही जाता है और अविद्वान आचार्य भी अन्धकार में प्रवेश करता है। स्पष्ट है कि उपनयन योग्य व्यक्ति से ही कराने की सलाह दी गयी है। पुनः इस धर्मसूत्र का कथन है कि गम्भीर व्यक्ति से ही उपनयन संस्कार एवं वेदाध्ययन कराना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार जो ब्रह्मचारी का उपनयन करता है और उसे सम्पूर्ण वेद पढ़ाता है, वही आचार्य है।

## शिक्षक

प्राचीन भारत में शिक्षक को पिता से अधिक महान् बताया गया है। समाज में उसका स्थान सर्वोच्च था। श्वेताश्वतरोपनिषद् में गुरू को ईश्वर के पद पर रखकर उसे परम् श्रद्धास्पद बताया गया है। शिक्षक अपने ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानता रूपी अन्धकार को दूर भगाता था और समाज को एक नयी शिक्षा देता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इसीलिए कहा गया है कि शिष्य को अपने गुरू को भगवान की भांति मानना चाहिए। गुरू के प्रति श्रद्धा की भावना का प्रमाण एकलव्य की शिक्षा कथा से मिलता है। गुरू की सेवा से शिष्य को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

मत्स्य पुराण में भी उल्लेख मिलता है कि मनुष्य तपस्या, ब्रह्मचर्य, अग्नि और गुरू की शुश्रूषा से स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, अतः आचार्य, माता-पिता आदि का अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि आचार्य ब्रह्मा का, पिता प्रजापति का और माता प थ्वी का स्वरूप है। एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि आचार्य की यत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए, क्योंकि जहां आचार्य की पूजा नहीं होती, वहां सारी क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।

शिक्षक उच्च चरित्र वाला, अपने विषय में पारंगत, वाक्-चतुर, तार्किक, रोचनक कथाओं का ज्ञाता एवं सदाचारी होता था। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि शिक्षक को विनयी, विनम्र, निष्पक्ष, नैष्ठिक, ब्रह्मचारी, शान्त-चित्त, प्रखर बुद्धि वाला तथा व्याख्या करने में कुशल होना चाहिये।

शिक्षक के लिये आचार्य, उपाध्याय, गुरू अध्यापक आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैसे जो यह समानार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु उनमें भिन्नता है। आचार्य उपनयन के पश्चात् अपने शिष्यों को आचार की भी शिक्षा देता था। याज्ञवल्क्य उपनयन के पश्चात् वेद पढ़ाने वाले को आचार्य मानते हैं। मनु के अनुसार जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत् करके उपनिषद् सहित सब वेद की शाखा को पढ़ाता है उसे आचार्य कहा जाता है। अपने शिष्यों से जो धन आदि लेकर परिवार का पालन-पोषण करता था उसे उपाध्याय की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। मनु ने उपाध्याय की परिभाषा बताते हुए कहा है कि जो वेद के एक देश अर्थात् मंत्र एवं ब्राह्मण भाग को तथा वेद के अंग, व्याकरण आदि को जीविका के लिए पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहा जाता है। जो गर्भाधान आदि संस्कारों को विधि पूर्वक करता है और अन्नादि के द्वारा अपने परिवार को बढ़ाता है अर्थात् पालन करता है वह ब्रह्मणगुरू कहा जाता है। मनु ने गर्भाधान करने से पिता को गुरू कहा है। वरण किया हुआ जो ब्राह्मण अग्न्याधेय, पाकयज्ञ और अग्निस्टोम आदि यज्ञों को जिसकी ओर से करता था, वह उसका ऋत्विक कहलाता है। दस उपाध्यायों की अपेक्षा एक

आचार्य को श्रेष्ठ बताया गया है। उत्पन्न करने वाला और वेद पढ़ाने वाला दोनों पिता है और उनमें आचार्य को पिता से श्रेष्ठ कहा गया है। स्थान-स्थान पर घूमकर अपने शिष्यों का चुनाव करके जो शिक्षा देते थे उन्हें 'चरक' की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।

शिक्षक को वेतन के रूप में कुछ नहीं मिलता था। उसकी कोई निश्चित आय नहीं थी। पुरोहित होने तथा हवन और यज्ञों को सम्पन्न करवाने में उसे दक्षिणा मिलता थी। शिष्यों द्वारा भिक्षा में लाया गया अन्नादि आचार्य की आय थी। शिष्य अपने अध्ययन काल के उपरान्त गुरू दक्षिणा के रूप में स्वेच्छा से गुरू को धन देते थे। अपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार शिष्य को विद्या के अन्त में गुरू दक्षिणा देनी चाहिए। गौतम के अनुसार विद्या के अन्त में शिष्य को गुरू से धन लेने अथवा जो कुछ वह दे सके, लेने की प्रार्थना करनी चाहिये और जब गुरू आज्ञा दे दे या बिना कुछ लिये जाने को कह दे, तब शिष्य को घर लौटना चाहिए। महाभारत में वर्णन है कि शिष्य के कार्यो एवं व्यवहार से प्राप्त प्रसन्नता ही वास्तविक गुरूदक्षिणा है। इस तरह प्राचीन भारत में शिक्षक एक तरह से निःशुल्क शिक्षा ही प्रदान करता था। नालन्दा और विक्रमशिला के शिक्षक भिक्षाव त्ति वाले थे, इसीलिये उनको वेतन की आवश्यकता ही नहीं थी। शिष्य की शिक्षा समाप्त पर मिलने वाली धनराशि को वेतन कहना तर्कसंगत नहीं होगा। यह गुरूदक्षिणा थी और उसे केवल सम्मान का द्योतक कहा जाना उचित होगा। धन लेकर पढ़ाने वाले शिक्षक को अच्छी द ष्टि से नहीं देखा जाता था। याज्ञवल्क्य विष्णुधर्मसूत्र में धन के लिये पढ़ाने तथा वेतन भोगी गुरू से पढ़ने को उपजातकों को गिना गया है। केवल आपातकालीन स्थिति में जीविका हेतु धन लेने की व्यवस्था अवश्य थी। महाभारत के उल्लेखानुसार भीष्म ने पाण्डवों और कौरवों की शिक्षा के लिये धन एवं सुसज्जित आवास ग ह दिया था। राजकीय कार्यो में लगे अध्यापन कार्य को करने वाले शिक्षकों के लिए राज्य की ओर से वेतन और आवास आदि की व्यवस्था होती थी। बौद्ध युग में राजाओं और श्रेष्ठियों द्वारा शिक्षक को धनादि देने के उदाहरण देखने को मिलते हैं दक्षिण भारत के बड़े-बड़े विद्यालयों में शिक्षक की योग्यता और उसके द्वारा अध यापन कार्य को देखेते हुए प्रतिवर्ष 160 से 200 मन चावल मिलता था। कालिदास के रघुवंश में वर्णन मिलता है कि वरतन्तु ने कौत्स से 14 करोड़ की भारी दक्षिणा मांगी, जिसके लिये कौत्स राजा रघु के पास पहुंचकर उनसे धन लेकर अपने शिक्षक को प्रदान किया। इस उदाहरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुरू द्वारा गुरूदक्षिणा में धन की अधिक मांग करने पर शिष्य राज्य की सहायता लेकर उसको पूरा करने का प्रयास करता था।

शिक्षा के विकास के साथ शिक्षकों ने अपनी पाठशालायें आरम्भ की। तत्पश्चात् संगठित शिक्षक-संस्थाओं का जन्म हुआ। विहार और मन्दिरों की परिणीत विद्यालयों और मठों के रूप में होने लगी। तक्षशिला और वाराणसी में ऐसी अनेक शिक्षण संस्थाएँ थीं। शिक्षण संस्थाओं का जन्म पहले बौद्ध विहारों से शुरू हुआ जहां भिक्षु और भिक्षुणियां निवास करते थे। आगे चलकर ये विद्या के केन्द्र के रूप में विख्यात हुए और परिणामस्वरूप यही केन्द्र विश्वविद्यालयों में परिवर्तित हो गये। इन्हीं के प्रभाव से हिन्दुओं के मन्दिर भी विद्यालय का रूप लेने लगे। अनेक सम्प्रदायों के आचार्यो के मठों में भी अध्ययन- अध्यापन कार्य होता था। नालन्दा और विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालयों को बौद्ध विश्वविद्यालयोंका प्रतिनिधि मानना गलत न होगा। देवालयों में भी विद्यालयों की स्थापना का कार्य ग्राम सभा की उपदेवालय समिति द्वारा किया जाता था। यहां अध्यापकों की नियुक्ति का कार्य समिति द्वारा ही होता था। इस तरह शिक्षा के प्रचार में लोगों की विशेष रुचि थी और इसी का परिणाम था कि प्राचीन भारत के अनेक शिक्षा केन्द्रों ने विश्व में ख्याति अर्जित की। धनी व्यापारी, प्रतिष्ठित् लोगों के अतिरिक्त राजा लोग शिक्षण संस्थाओं में अपार धनराशि दान देते थे जिसके कारण शिक्षण कार्य संचालित करने में किसी प्रकार की

बाधा सामने नहीं आती थी। प्राचीन भारत में शिक्षा की प्रगति का यह बहुत बड़ा कारण बताया जा सकता है। शिक्षक की लगन, कर्त्तव्यनिष्ठा, सच्चरित्रता आदि से भी शिक्षण संस्थाओं से शिक्षा प्राप्त कर छात्र निकलता था तो उसका सर्वत्र स्वागत होता था। भारत से बाहर के छात्र भी यहां शिक्षा प्राप्त करने में गौरव महसूस करते थे।

## शिष्य

उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी अपने परिवार को छोड़कर गुरू के ग ह मे अन्य शिष्यों के साथ निवास करता हुआ शिक्षा ग्रहण करता था। गुरू के ग ह को आचार्य कुल कहा जाता था। महावस्तु में इस स्थान को 'गुरूकुल' कहा गया है। उपनिषदों के अंशों से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि ब्रह्मचर्य की अवधि लगभग 12 वर्ष की थी। 12 वर्ष के बाद शिष्य प्रायः गुरूकुल से वापस आ जाते थे। श्वेतकेतु आरूणेय 12 वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी हुए थे और 24 वर्ष की आयु में वह सभी वेदों के पंडित हो गये। कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जिनके आध ाार पर यह कहा जा सकता है कि शिष्य के लिये ब्रह्मचर्य लम्बी अवधि के लिये भी हो सकता था। उदाहरणार्थ गोपथ ब्राह्मण के अनुसार समस्त वेदों के अध्ययन की अवधि 48 वर्ष थी। पारस्कर ग ह्यसूत्र के अनुसार प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये 12 वर्ष का समय लगना चाहिये। इस तरह चारों वेदों के अध्ययन के लिए 48 वर्षो का समय होना चाहिए। आश्वलायन ग ह्यसूत्र के अनुसार 12 वर्ष तक अथवा जब तक सम्भव हो, वेदाध्ययन करना चाहिए। प्रायः शिष्य 12 वष गुरूकुल में अध्ययन करने के पश्चात् समावर्तन संस्कार के बाद अपने घर वापस लौट आता था। विद्याध्ययन के पश्चात् शिष्यों को स्नातक कहा जाता था। सूत्रकाल में शिक्षा प्राप्त स्नातकों की तीन श्रेणियां थी :-

**(1) विद्याव्रत स्नातक -**

जो वेद पाठ के साथ-साथ वेद में वर्णित नियम और व्रत का भी पालन करते थे। ऐसे स्नातक सबसे उच्चकोटि के समझे जाते थे।

**(2) विद्या स्नातक -** जो केवल वेद कण्ठस्थ करने के बाद व्रत का पालन करते थे।

**(3) व्रत स्नातक -** जो बिना वेद कण्ठस्थ किये हुए व्रतों का पालन करते थे।

प्रायः ब्रह्मचारी दो प्रकार के कहे गये हैं - उपकुर्वाण एवं नैष्ठिक। उपकुर्वाण का तात्पर्य उस ब्रह्मचारी से था जो गुरू को कुछ प्रतिदान देता था। इस प्रकार जो ब्रह्मचारी शिक्षा समाप्त होने पर अपने गुरू को गुरूदक्षिणा देकर अपने घर लौटता था, उनकुर्वाण कहलाता था। जो ब्रह्मचारी जीवन-पर्यन्त अपने गुरू के घर में निवास करता था, उसे नैष्ठिक कहा जात था। पाणिनि ने विद्यार्थियों को दो कोटियों में विभाजित किया है - (1) दण्डमाणव और (2) अन्तेवासी। वेदाध्ययन के पूर्व छोटी श्रेणियों के विद्यार्थी दण्डमाणव कहलाते थे। बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी जो शिक्षक के समीप रहते हुए विधिवत् अध्ययन करते थे, अन्तेवासी कहलाते थे। पाणिनि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ब्रह्मचारी होने का अधिकार देते हुए उन्हें 'वर्णी' कहा है। ज्ञातव्य है कि उपनयन संस्कार का अधिकर केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही था।

शिष्य के लिए शिक्षा का प्रारम्भ एक नवीन आध्यात्मिक जीवन की शुरूआत समझा जाता था। शिक्षा-काल में उसे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था। गौतम एवं मनु ने यह व्यवस्था दी है कि ब्रह्मचारी का सिर मुंडा रहना चाहिये या जटाबद्ध रहना चाहिये या शिखा बिना पूरा घुटा रहना चाहिये। महाभारत में उल्लेख मिलता है कि किसी को अपने गुरूजन का नाम नहीं लेना चाहिये या उन्हें 'तुम' शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहिये।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी को सदैव अपने गुरू पर आश्रित एवं उनके नियन्त्रण में रहना चाहिये और उसे गुरू को छोड़ किसी अन्य के पास नहीं रहना चाहिये। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार विद्यार्थी को चाहिये कि शिक्षा-भिक्षा मांगे और गुरू के पशुओं को चराये। गुरू की पवित्र अग्नि की रक्षा करना भी शिष्य का प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था और गुरू कार्यो को सम्पादित करने के पश्चात् बचे हुए समय में उसका कर्त्तव्य हो जाता था कि वह वेदाध्ययन करे।

शिष्यों की दिनचर्या कठोर होती थी। उसे ब्रह्ममुहूर्त में उठकर शौचादि से निव त होकर नैत्यिक कर्म में लग जाना पड़ता था। फल, फूल, कन्द-मूल का सेवन करके उसे सादा जीवन व्यतीत करना पड़ता था। महावस्तु में वर्णन मिलता है कि विन्ध्याचल पर्वत पर असित ऋषि के आश्रम में 500 शिष्य फल-फूलादि का सेवन करके वेदों का अध्ययन करते थे। गौतम का मत है कि विद्यार्थी को प्रतिदिन स्नान करना चाहिये, असत्य भाषण नहीं करना चाहिये, मधु सेवन, मांस, इत्र, पुष्प-सेवन, दिन-शयन, तेल-मर्दन, यान-यात्रा, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ विवाद, वाद्य यन्त्र-वादन, नीच कार्य करने, पशुहनन आदि से बचना चाहिए।

मनु ने शिक्षण प्राप्त योग्य शिष्यों के बारे में लिखा है कि आचार्य का पुत्र, सेवा करने वाला, दूसरे प्रकार के ज्ञान देने वाला, धर्म का जानने वाला, मन और जलादि से शुद्ध, बांधव, लेने देने में समर्थ, शिक्षण के लिए धन देने वाला, द्रोह न करने वाला और निकट सम्बन्धी - यह 10 प्रकार के लोग शिक्षण प्राप्त करने योग्य हैं। मनु ने पुनः कहा है कि जिस शिष्य के पढ़ाने में धर्म, अर्थ न प्राप्त हो, पढ़ने के अनुरूप सेवा न हो, वहां नहीं देनी चाहिए। वहां विद्या देना ऐसे निष्फल है जैसे ऊसर मे बोया हुआ धान।

गुरू का आदर और सम्मान करना विद्यार्थी का कर्त्तव्य माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरू सेवा और पूजा आवश्यक थी। शिष्य को शिक्षक की व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। गुरू को जल देना, दातौन पहुंचाना, उनका आसन उठाना तथा स्नान कि लिये जल की व्यवस्था करना शिष्यों का कर्त्तव्य था। निर्धन विद्यार्थी दिन में शिक्षक की सेवा करते थे और रात को उनसे पढ़ते थे। धनी परिवार के लड़के को गुरू अपने पुत्रों की भांति शिक्षा देता था। वे भी गुरू का पूरा आदर-सत्कार करते थे। समस्त विद्यार्थी किसी न किसी रूप में गुरू की सेवा करते थे क्योंकि गुरू की सेवा शिष्य का प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था।

शिक्षाकाल में अवकाश अथवा छुट्टी का भी उल्लेख मिलता है। शुक्ल और क ष्ण पक्ष का अन्तिम(चौदहवां) दिन अनाध्याय का दिन माना जाता था। श्राद्ध,राजा के निधन,दुर्घटना, भूकम्प, ग हण, गुरू तथा पत्नी का निधन, घोर वर्षा, किसी महापुरूष के आगमन आदि अवसरों पर अनाध याय रहता था। मनु का मत है कि अस्थिर मौसम तथा आकस्मिक प्रक ति-प्रकोप के अवसर पर अनाध्याय करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने मेघ गर्जन के अवसर पर एवं अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अनाध्याय करने की सलाह दी है। इस दिन वेद-पाठ स्थगित कर दिया जाता था।

जहां तक शिष्य के शारीरिक दण्ड का सवाल था, विभिन्न शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न निर्देश दिए हैं। गौतम का मत है कि शिष्य को पहले बिना मारे-पीटे उसे समझाने का प्रयास करना चाहिए। यदि समझाने से कोई प्रभाव न पड़े तो रस्सी या बांस की पट्टी से मारना चाहिए, परन्तु अध्यापक को हाथ से मारने का निषेध किया गया है। मनु, विष्णुधर्मसूत्र एवं नारद ने गौतम के मत का ही अनुसरण करते हुए यह विधित किया है कि शिष्य को पीठ पर मारा जा सकता है, सिर एवं छाती पर नहीं। मनु के अनुसार अनुशासन हीन छात्र को समझा-बुझाकर सही रास्ते पर लाने का प्रयास करना चाहिये और अति आवश्यक होने पर

पतली छड़ से दण्ड देना चाहिए। इस तरह यह कहा जा सकता है अपराधी छात्र को शारीरिक दण्ड देने की व्यवस्था थी। शिक्षक का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह शिष्य को अपने प्रयासों से सन्मार्ग पर लाये।

शिक्षा पर वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव देखने को मिलता है। अध्ययन और अध्यापन का कार्य ब्राह्मण करते थे। उपनयन संस्कार मंत्रों का 'द्विज' वर्ण को वेदों का अध्ययन करना पड़ता था। गौतम ने वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने वाले शूद्र की जीभ काट लेने का विधान किया है। शूद्रों के लिये वेदाध्ययन निषेध था और उनका उपनयन संस्कार नहीं हो सकता था। अलबीरूनी के अनुसार भी वेद पढ़ाने का कार्य केवल ब्राह्मण वर्ण का ही होता था, अन्य किसी वर्ण का नहीं। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वेदाध्ययन कर सकते थे, अन्य कोई वर्ण नहीं।

**अध्ययन के विषय**

प्राचीन काल में शिक्षा का लक्ष्य चारों वेदों का पूर्ण ज्ञान तथा दर्शन, गणित विद्या इतिहास-पुराण का ज्ञान था। वैदिक भारत के पाठ्य विषय व्यापक थे। पूर्व वैदिक काल में वेदमन्त्र, इतिहास आदि पाठ्य विषय थे। उत्तर वैदिक काल में वेदों की व्याख्याओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों को पाठ्य-विषय में सम्मिलित किया गया। उपनिषद् और सूत्रयुग में वेदागों (व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरूक्त) के अलावा अनेक विज्ञानों की शिक्षा को प्राप्त करने आये हुए सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पांचवे वेद के रूप में इतिहास-पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पित -विद्या, राशि-विद्या, दैव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, धनुर्वेद-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या एवं देव जन विद्या का अध्ययन किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी (तर्क शास्त्र), त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद), वार्ता (क षि और पशुपालन), दण्डनीति (राजनीति शास्त्र) का उल्लेख हुआ है। वायु पुराण में अट्ठारह विद्याओं का वर्णन हुआ है। इनमें चार वेद, छः वेदांग, पुराण न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और अर्थशास्त्र को शामिल किया गया है। मत्स्य पुराण में भी व्याकरणादि छहों अगों सहित चारों वेद, पुराण, न्यायशास्त्र, मीमांसा और धर्मशास्त्र का उल्लेख हुआ है। कालिदास ने भी रघुवंश में चौदह विद्याओं - चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र का वर्णन किया है। गरूड़ पुराण में चार विद्याओं को और जोड़ा गया है - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में चार वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, छः वेदांग, निरुक्त काव्यशास्त्र, शिल्प शिक्षा, राजशास्त्र आदि अध्ययन के प्रमुख विषय थे। क्षत्रियों को हस्ति, अश्व, रथ, धनुष की शिक्षा में प्रवीण किया जाता था। वैश्यों की शिक्षा के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि इन्हें तीनों वेदों के अध्ययन के अतिरिक्त, व्यापार, पशु-पालन, क षि, विभिन्न, रत्नों, मूंगों, मोतियों, धातुओं आदि के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

प्राचीन भारत के राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अन्तर्गत राजा की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती थी। शासन की सफलता राजा की योग्यताओं पर निर्भर करती है। यही कारण है कि प्राचीन मनीषियों ने राजा की योग्यताओं पर प्रकाश डालते हुए उन विद्याओं का उल्लेख किया है जिनका अध्ययन उसके लिये अनिवार्य था। साधारणतयः राजकुमारों की शिक्षा हेतु शिक्षकों की अलग से नियुक्ति की जाती थी। गौतम के अनुसार राजा को तीनों वेदों, आनवीक्षिकी का ज्ञाता तथा अपने कर्त्तव्य पालन में वेदों, धर्मशास्त्रों, वेद के सहायक, ग्रन्थों, उपवेदों और पुराणों का आश्रय लेना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य ने राजा को तीनों वेदों का ज्ञाता, आन्वीक्षिका, दण्डनीति एवं वार्ता के सम्बन्ध में जानकारी रखने का निर्देश दिया है। मत्स्य पुराण में उल्लेख मिलता है, कि राजकुमार की शिक्षा के लिए ऐसे आचार्य की नियुक्ति की जानी चाहिए

जो उसे धर्म, काम एवं अर्थशास्त्र के अलावा धनुर्वेद, रथ एवं सवारी की शिक्षा के साथ शिल्पकला की शिक्षा प्रदान करे।

हाथीगुम्फा अभिलेख से स्पष्ट होता है कि खारवेल ने राजकुमार के रूप में लेख (राजकीय पत्र व्यवहार), रूप(सिक्का), गणना (वित्त), व्यवहार (कानून एवं न्यायशासन) का अध यन किया था। जूनागढ़ लेख से विदित होता है कि रूद्रदामन व्याकरण, अर्थ, संगीत, अश्वविद्या, हस्ति-विद्या, रथ-विद्या और धनुर्वेद आदि विषयों में पूर्ण पारंगत था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से स्पष्ट होता है कि उसने अपनी प्रखर एवं सूक्ष्म बुद्धि से देवताओं के गुरू तुम्बरू और नारद तक को लज्जित कर दिया था। संगीत के क्षेत्र में वह पारंगत था जिसकी पुष्टि मुद्रा साक्ष्य से भी होती है। उसकी मुद्राओं पर उसें बांसुरी बजाते हुए दिखाया गया है। स्कन्दगुप्त के भीतरी - स्तम्भ लेख से सिद्ध होता है कि वह भी विद्वान् सम्राट् था। सम्राट् हर्ष भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण काफी प्रसिद्ध थे। उसने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नामक तीन-तीन नाटकों को लेखबद्ध किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि विभिन्न विषयों का अध्ययन करने के कारण प्राचीन भारतीय हिन्दू शासक अत्यन्त योग्य होते थे।

**प्राचीन भारत की शिक्षण पद्धति की विशेषतायें** - प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा से सम्बन्धित विषयों की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् शिक्षण पद्धति की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है -

1. शिक्षा विद्यार्थी को पूर्ण जीवन के लिये निर्मित करती थी। शिक्षा प्रणाली केवल पुस्तकीय नहीं थी, वरन् वह भावी जीवन संघर्ष के लिये व्यावहारिक ज्ञान प्रदान् करती थी।
2. तीनों ऋणों-ऋषि ऋण, देवऋण और पित् ऋण से मुक्त होने के लिए शिक्षा एक आवश्यक तत्व था, अतः शिक्षा प्रत्येक के लिए स्वतः अनिवार्य हो जाती थी।
3. ब्रह्मचर्य एवं तपस्या शिक्षा का एक परम् अनिवार्य उपकरण था। शिक्षा पद्धति व्यावहारिक मनोविज्ञान पर आधारित थी। विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड केवल विशेष परिस्थितियों में उसको सुधारने के उद्देश्य से दिया जाता था।
4. शिक्षा स्वावलम्बन के पाठ के साथ समाज के प्रति कर्त्तव्यपरायणता तथा क तज्ञता का पाठ पढ़ा देती थी। विद्यार्थी अंहकारादि दुर्गुणों से बचकर विनम्र तथा समाजहित की भावना से युक्त होता था।
5. गुरू-शिष्य के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण होते थे। गुरू अपनी सामर्थ्यानुसार विद्या-दान द्वारा समाज की सेवा के लिये तत्पर रहता था।
6. शिक्षकों की सहायता का एकमात्र लक्ष्य लौकिक-पारलौकिक विभूतियों का समन्वय और मानवीय जीवन की पूर्णता ही था।

## बौद्ध शिक्षा पद्धति

बौद्ध शिक्षण पद्धति का आरम्भ स्वयं बुद्ध के काल में स्वयं बुद्ध ने सरल तथा जनमानस की भाषा में जीवन के तत्त्वों के उपदेश तथा जगह जगह चर्चा करके की। लोगों को शिक्षित करने के लिए महात्मा बुद्ध ने व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, प्रासंगिक उपमा, द ष्टान्त एवम् कथा को माध्यम बनाया। बुद्ध के बाद से बौद्ध शिक्षा पद्धति भी एक निश्चित स्वरूप, संगठन के साथ हिन्दू शिक्षा पद्धति से अलग स्वतन्त्र शिक्षा पद्धति के रूप में विकसित हुई। प्रारम्भ में हिन्दू तथा बौद्ध शिक्षा पद्धति के मूल में कोई विशेष अन्तर नहीं था किन्तु बाद में आकर दोनों शिक्षा प्रणालियों के आदर्श एवम् पद्धति में विशेष रूप से उस पाठ्यक्रम में जो विशेष रूप से आम उपासक की बजाय बौद्ध

भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए था, बहुत कम समानता रह गई थी।

बौद्ध धर्म में शिक्षा प्रारंभ संस्कार ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार की भांति होता था। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए दो संस्कार आवश्यक थे प्रथम था 'पब्बज्जा' तथा दूसरा 'उपसम्पदा'। पब्बज्जा से उपासकत्व का प्रारंभ होता था। उपनयन की भांति इसे भी आध्यात्मिक जन्म कहा गया है। यह 8 वर्ष से अधिक उम्र के किसी भी व्यक्ति को दी जा सकती थी। संरक्षक की अनुज्ञा इसके लिए आवश्यक थी। व्यक्ति को तीन प्रकार की शरण की शपथ एवं दस धर्मादेश दिए जाते थे। ये शरण बुद्ध, धर्म एवं संघ की होती थी। दस धर्मादेशों में निम्न की मनाही थी : (1) पारिवारिक जीवन, (2) ऐसी वस्तु ग्रहण करना जो दी ना हो, (3) अशुद्ध आचरण, (4) झूठ बोलना, (5) मादक द्रव्यों का सेवन, (6) असमय भोजन, (7) न त्य-गायन आदि (8) पुष्पमाला, ईत्र, गहने आदि का प्रयोग, (9) उच्च आसन का प्रयोग एवं सोना एवं चांदी की प्राप्ति।

उपासक की उम्र 20 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। ऋणि, अशक्त या राजपुरूष को दीक्षा नहीं दी जाती थी। संपूर्ण संघ की स्वीक ति से ही दीक्षा दी जा सकती थ। उपासक को बुद्ध धर्म और संघ में विश्वास प्रकट करना पड़ता था तथा किसी विद्वान भिक्षुक को आचार्य चुनना पड़ता था। उपसम्पदा के पश्चात् व्यक्ति संघ का स्थायी सदस्य बन जाता था एवं उसे भिक्षु कहा जाता था।

## उपाध्याय एवं आचार्य :

उपसम्पदा अभिषेक का अर्थ यह नहीं था कि भिक्षु की स्वतंत्र प्रतिष्ठा थी या उसे आचरण की स्वतंत्रता थी। उसे अध्ययन में निपुण दो व्यस्कों की देख-रेख में रखा जाता था। इन्हें आचार्य एवं उपाध्याय कहते थे। उपाध्याय एक उच्च सत्ता थी जो भिक्षु को पवित्र ग्रन्थों एवं धर्म सिद्धांतों की शिक्षा देता था जबकि आचार्य की जिम्मेदारी भिक्षु के आचरण की होती थी। अतः उसे 'कर्मचार्या' भी कहते थे। इस प्रशिक्षण की अवधि न्यूनतम 10 वर्ष होती थी जिसे योग्य एवं शिक्षित भिक्षुओं के लिए घटाकर पांच वर्ष कर दिया गया था। इसके पश्चात् वह आचार्य के रूप में अन्य भिक्षुओं को शिक्षा दे सकता था।

## उपासक एवं आचार्य का संबंध :

उपासक एवं आचार्य में पुत्र-पिता जैसा संबंध था। परस्पर आदर-विश्वास एवं प्रेम की भावना से वे एक हो जाते थे। हिन्दू ब्रह्मचारी की भांति बौद्ध उपासक को भी आचार्य के सहायतार्थ शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था। वह आचार्य के आसन एवं चीवर का परिवहन करता था, उन्हें जल एवं दातुन देता, उनके भिक्षा-पात्र तथा बर्तनों की सफाई करता तथा भिक्षा ग्रहण या उपदेश के लिए आचार्य के नगर या ग्राम गमन के समय उनके सेवक के रूप में साथ-साथ जाता था। आचार्य उपासक को विनय के नियम बतलाता, उसका ध्यान ब्रह्मचर्य, अवरिग्रह तथा इन्द्रिय संयम के व्रत की ओर आकर्षित करता तथा सन्ध्या काल में अपने उपयोगी व्याख्यानों से उसकी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में सहायता करता था। उपासक के लिए भिक्षा एवं चीवर प्राप्ति में सहायता करना तथा बिमारी के समय उसकी सेवा सुश्रूसा करना उपासक का धर्म था।

आचार्य का जीवन उपासक के लिए द ष्टांत-स्वरूप था लेकिन यदि आचार्य अपने विश्वासों से विचलित होने लगे या संघ के नियमों का उल्लंघन करने को उद्दत हो तो उपासक को उसे च्युत होने से रोकने की अनुमति थी।

**उपासक के कर्त्तव्य :**

ब्राह्मण शिक्षा की भांति बौद्ध शिक्षा में भी शिष्य को अनेक निम्नलिखित कर्त्तव्यों का पालन करना होता था।

(1) शिक्षा के अंग के रूप में आचार्य की उसके दैनिक कार्यो में सेवा एवं सहायता करना।

(2) विहार के सभी छोटे-बड़े कार्य तथा फर्श और बर्तनों की सफाई, पानी भरना तथा भण्डारों का निरीक्षण करना।

(3) आचार्य की अनुमति के बिना गांव, श्मशान भूमि या विदेशी की यात्रा पर न जाना।

(4) स्नान के पश्चात् आचार्य की सहमति से अध्ययन करना।

(5) आचार्य की आज्ञा बिना कोई वस्तु न तो ग्रहण करना न ही किसी को देना।

(6) आचार्य के अस्वस्थ होने पर उसकी सेवा करना एवं उसके स्वस्थ होने तक प्रतीक्षा करना।

(7) वाद-विवाद द्वारा आचार्य की मानसिक परेशानियों या असंतोष का समाधान करने का प्रयास करना।

(8) आचार्य के संघ के पथ से विचलित होने पर उसे च्युत होने से रोकना।

**पाठ्यक्रम**

यद्यपि विहारों में चलने वाली पाठशालाओं का प्रबन्ध बौद्ध करते थे किन्तु ये संस्थाए न तो साम्प्रदायिक थी न इसमें केवल धर्म की ही शिक्षा दी जाती थी हांलाकि पाठ्यक्रम में बौद्ध दर्शन प्रमुख था। किन्तु हिन्दू और जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों के धर्मो और दर्शनों के अध्ययन का भी पर्याप्त प्रबन्ध था। पाठ्यक्रम धर्मशास्त्र, दर्शन एवं न्याय तक ही सीमित न था। संस्क त साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्यवहार शास्त्र, राजनीति और शासन प्रबन्ध की भी शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती थी ताकि वे सरकारी सेवा में प्रविष्ट हो सकें या अन्य उपयोगी या बुद्धिवादी पेशे अपना सकें। विद्यार्थियों को महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेने के लिए उत्साहित किया जाता था। किन्तु बौद्ध शिक्षा पुस्तकें रटने से कोसों दूर थी। इस शिक्षा प्रणाली में तर्क और विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्रत्येक छात्र की वैयक्तिक प्रगति पर ध्यान रखा जाता था। भिक्षुओं के पाठ्यक्रम में सुत्तान्त, धम्य, विनय, सुत्त एवं सुत्त-विभांग प्रमुख थे।

आलोच्य काल में बौद्ध, जैन और हिन्दूधर्म के अनुयायियों में प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे जिनसे तत्त्व ज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था। व्याकरण एवं साहित्य का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इस विषय के विद्यार्थी दर्शन की किसी एक शाखा को विशेषाध्ययन के लिए चुन लेते थे तथा उस शाखा के उन्नत तथा कठिन ग्रन्थों में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लेते थे। इस काल में दर्शन के अध्ययन में न्याय का अंतर्भाव अत्यंत आवश्यक माना जाता था। न्याय दर्शन के स्नातक से अपने दर्शन के प्रतिपादन की ही अपेक्षा नहीं की जाती थी अपितु दर्शनों के खण्डन की भी उससे आशा की जाती थी। अतः दर्शन के पाठ्यक्रम में संपूर्ण तत्त्व ज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन सम्मिलित था। फलस्वरूप सामान्य विद्यार्थी का द ष्टिकोण विशाल एवं पांडित्य गंभीर होता था।

**भिक्षुओं का अध्ययन क्रम :**

भिक्षुओं के पाठ्यक्रम में काव्य, साहित्य, या ज्योतिष जैसे लौकिक विषय सम्मिलित न

थे। इनके पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों की ही मुख्यता थी। प्रव्रज्या ग्रहण के 10 वर्ष बाद तक उपासक अपने आचार्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में ही रहता था जो पालि और संस्क त पढ़ाता था। इन भाषाओं के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर त्रिपिटकों का सूक्ष्म अध्ययन प्रारंभ होता था। त्रिपिटकों का अध्ययन समाप्त हो जाने पर बौद्ध धर्म एवं दर्शन के नये ग्रन्थों में गति प्राप्त की जाती थी। तदनन्तर हिन्दू प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने के लिए हिन्दू दर्शन न्याय एवं धर्म के ग्रन्थों का सावध ाानी से अध्ययन किया जाता था। उपसम्पदा ग्रहण कर संघ की शरण में जाते ही भिक्षु का अध ययन समाप्त नहीं हो जाता था। हिन्दू नैष्ठिक ब्रह्मचारी की भांति बौद्ध भिक्षु भी आजीवन विद्यार्थी रहता था।

## जनसाधारण की शिक्षा :

प्रारंभ में बौद्ध शिक्षा पूर्णतया विहारों तक ही सीमित थी एवं इसका प्रबन्ध मूलतः उन्हीं के लिए था जो बौद्ध धर्म में दीक्षित होना चाहते थे। किन्तु कालान्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु जन-साधारण की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। यदि प्रतिद्वन्द्वी ब्राह्मण पुरोहितों की भांति बौद्ध भिक्षु भी शिक्षा के प्रसार में सहायक हो तो यह कार्य सरलतापूर्वक हो सकता है। इस कार्य में संघ का उद्देश्य समाज के नवयुवकों के मस्तिष्क को अपरिपक्व अवस्था में ही अपने अनुकूल बनान था। इस प्रकार उसे संघ के लिए भी उपयुक्त भिक्षु में अपनी सारी शक्ति लगा दी। सामान्य लोगों के अध्ययन की भाषा मुख्यतः मात भाषा अर्थात् पाली ही होती थी। इनके पाठ्यक्रम में बौद्धधर्म के सामान्य ग्रन्थों के अतिरिक्त व्यवसायिक विषय भी सम्मिलित थे।

## बौद्ध शिक्षा के केन्द्रों का प्रबन्ध

बुद्ध के बाद से बौद्ध विहार और मठ बौद्ध शिक्षा के केन्द्रों के रूप में विकसित होने लगे। नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों तथा श्रावस्ती और बल्लभी विहारों का उत्कर्ष इसी प्रकार हुआ था। बौद्ध शिक्षण संस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में रहती थी, चाहे वह छोटा बौद्ध संघ हो अथवा बड़ा। विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध किसी विशिष्ट विद्वान् के निर्देशन में होता था, जो संघ के सदस्यों के मतों से भिक्षुओं में से चुना जाता था। ऐसा प्रबन्धक अपने ज्ञान और विद्वता में अग्रणी होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय, जो पहले बौद्ध संघ था, कालान्तर में विश्व-विख्यात शिक्षण-संस्था के रूप में ख्यात हुआ था। नवीं सदी में उसका प्रधानाचार्य एक भिक्षु ही चुना गया था। ऐसे प्रधान आचार्य के प्रबन्ध में सहायता प्रदान करने के लिए कई समितियां होती थीं, जिनमें दो समितियां प्रधान थी - एक शिक्षा समिति और दूसरी प्रबंध समिति। शिक्षा समिति के प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण और व्यवस्था का नियोजन होता था तथा प्रबन्ध-समिति के अन्तर्गत शिक्षा संस्थाओं की प्रशासनिक व्यवस्था, कार्यकर्ताओं की नियुक्ति तथा भवनों का निर्माण आदि सभी कार्य होते थे। इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं की आर्थिक स्थिति धनी-मानी राजाओं और श्रेष्ठियों के दान पर निर्भर करती थीं, जिनमें बड़े-बड़े गांव और भूखण्ड भी शामिल होते थे।

## बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र

धीरे-धीरे बौद्ध मठ और विहार ब्राह्मणों के गुरूकुलों के आधार पर विकसित होने लगे, जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र बन गये। इन शिक्षण-संस्थाओं के अनुशासन और नियम हिन्दू शिक्षण-व्यवस्था के अनुसार थे। राजग ह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु आदि नगरों

मे कई प्रसिद्ध विहारों और मठों का उत्कर्ष हुआ था, जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हुए। इस युग में प्रसिद्ध विहारों में श्रावस्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का निग्रोध ाराम, वैशाली का कुटागारशाला तथा आम्रवन, राजग ह का वेणुवन, यष्टिवन और सीतवन था। इन विहारों के अतिरिक्त अनेक संघारामों का भी विकास हुआ जहां आध्यात्मिक चिन्तन और मनन हुआ करता था।

## नालन्दा विश्वविद्यालय

प्राचीन काल के उत्तरार्द्ध में नालन्दा विश्वविद्यालय अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त कर चुका था जहां बौद्ध धर्म और दर्शन की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय के विषय में चीनी यात्रियों ने विशेष रूप से विस्तारपूर्वक लिखा है। वैसे, नालन्दा की ख्याति महात्मा बुद्ध के समय से थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 10 करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र का क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र की यह जन्मभूमि थी। तथागत ने यहां के आम्रवन में कई दिन व्यतीत करके अपने शिष्यों को अपने ध र्म की शिक्षा दी थी। कालान्तर में अशोक महान् ने वहां एक विशाल विहार का निर्माण कराया था। ऐसा लगता है कि यह स्थान अपने प्रारम्भिक काल मे ब्राह्मण शिक्षा का केन्द्र होते हुए भी बौद्ध धर्म और शिक्षा का भी प्रचार स्थान था। इसकी प्रमुखता पांचवीं सदी के मध्य में अधिक बढ़ी जब बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग ने नालन्दा में जाकर वहां के विख्यात ब्राह्मण पंडित सुदुर्गम को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। समय-समय पर गुप्त राजाओं ने नालन्दा के विकास में सराहनीय योग प्रदान किया था, जो उनकी धार्मिक सहिष्णुता और विचारों की व्यापकता का उज्ज्वल पक्ष है। सर्वप्रथम कुमारगुप्त (414-455 ई०) ने इस बौद्ध संघ को दान दिया था। उसके बाद बुद्धगुप्त, तथागगुप्त, नरसिंहगुप्त बालदित्य आदि अनेक गुप्त राजाओं ने इसे अपना संरक्षण प्रदान कर इसके विकास में योग दिया था।

## निर्माण शैली

श्वानच्वांग के विवरण से विदित होता है कि अनेकानेक बौद्ध विहारों का निर्माण यहां किया गया था। विहारों में कुछ तो काफी बड़े और भव्य थे जिनके गगनचुम्बी शिखर अत्यन्त आकर्षक थे। यहां का सबसे बड़ा विहार 203 फीट लम्बा और 164 फीट चौड़ा था। इसके कक्ष 9 फीट से 12 फीट तक लम्बे थे। यशोवर्मा के एक अभिलेख से विदित होता है कि नालन्दा के विहारों की शिखर श्रेणियां गगनस्थ मेघों का चुम्बन करती थी। इनमें अनेक जलाशय थे, जिनमें कमल तैरते रहते थे। यहां कई विशालकाय भवन थे, जिनमें छोटे बड़े अनेक कक्ष थे। उत्खनन से मिले अवशेष वहां की भव्यता प्रमाणित करते हैं। विश्वविद्यालय भवन में व्याख्यान के निमित्त 7 विशालकाय कक्ष और 300 छोटे बड़े कक्ष थे। विद्यार्थी छात्रावासों में रहते थे तथा प्रत्येक कोने पर कूपों का निर्माण किया गया था। जिसकी पुष्टि उत्खनन में मिले साक्ष्य से होती है। कमरों का आवंटन उनके छात्रों की योग्यतानुसार किया जाता था। प्रतिवर्ष कमरों का पुनः आवंटन किया जाता था।

## आय का साधन

नालन्दा विश्वविद्यालय के खर्चे के लिए 200 गांव दान में प्राप्त थे, जिनकी आय से यहां के भिक्षु कार्यकत्ताओं और भिक्षु अध्येताओं का पोषण होता था। यही नहीं, इन गांवों के निवासी प्रतिदिन कई मन चावल और दूध यहां भेजा करते थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। उनके आवास और भोजन की व्यवस्था विश्वविद्यालय द्वारा निःशुल्क की जाती थी।

## छात्र संख्या एवम् प्रवेश नियम

इस शिक्षा संस्था में प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए कड़े नियम थे। ऐसे प्रवेश इच्छुक विद्यार्थी को सबसे पहले द्वारपाल से वाद-विवाद करना पड़ता था तथा उसकी शंकाओं का समाधान करना आवश्यक था। उसके प्रश्नों से 8-10 विद्यार्थी असफल भी हो जाया करते थे और एक-दो सफल। अपने-अपने विषय के यहां अनेक विद्वान थे।

ईत्सिंग के समय में यहां के विद्यार्थियों की संख्या 3,000 थी किन्तु श्वानच्वांग के समय बढ़कर 10,000 हो गयी। यहां के शिक्षकों की संख्या 1,510 थी, जिनमें एक हजार दस सूत्र-निकायों में दक्ष थे और शेष पांच सौ अन्य विषयों में । श्वानच्वांग के समय इस विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति शीलभद्र था, जो अनेकानेक विषयों में पारंगत था। उसके पहले धर्मपाल इस विश्वविद्यालय का कुलपति था। श्वानच्वांग भी यहां के प्रधान शिक्षकों में से था जिसने अनेकानेक विषयों पर अधिकार प्राप्त किया था। यहां विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। सुदूर प्रदेशों और विदेशों से विद्यार्थी यहां आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। चीन, तिब्बत, कोरिया, तुखार आदि अनेक देशों के विदेशी शिक्षार्थी यहां रहकर ज्ञान प्राप्त करते थे तथा अपनी रूचि के अनुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करते थे।

### पुस्तकालय

विद्यार्थी के अध्ययन के लिए यहां धर्मयज्ञ नामक विशालकाय पुस्तकालय था। ईत्सिंग ने स्वयं 400 संस्क त पुस्तकों की प्रतिलिपियां तैयार की थीं जिनमें लगभग 5 लाख श्लोक थे। रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक नामक तीन भवनों से मिलकर भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था जिनमें जिज्ञासु एवम् अध्ययन में रत विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती थी पुस्तकालय तीन शानदार भवनों रत्नसागर, रत्नोदधी एवं रत्नरंजक में स्थित था।

### व्याख्यान प्रबन्ध

यहां का एक अध्यापक 9 या 10 विद्यार्थियों को पढ़ाता था। इस विश्वविद्यालय के अध यापन कक्ष बहुधा बड़े-बड़े थे। इनमें 8 विशाल व्याख्यान भवन थे और 300 छोटे व्याख्यान कक्ष। सभी विषयों को मिलाकर नित्य लगभग 100 व्याख्यानों की आयोजना की जाती थी। सामान्यतः 4000 छात्रों के लिए एक हजार योग्य अध्यापकों का प्रबन्ध था क्योंकि 5000 भिक्षुओं में 1000 ऐसे थे जो 20 सूत्रों की व्याख्या करने में सक्षम थे। अतः सामान्यतः एक अध्यापक की देखरेख में 9 छात्र होते थे ताकि व्यक्तिगत रूप से छात्रों का ध्यान रखा जा सके।

### पाठ्यक्रम

नालन्दा में पाठ्यक्रम विस्त त एवम् विश्वव्यापी था। इस विश्वविद्यालय में अनेक विहार भी महायानी शाखा का अध्ययन कराया जाता था। यहां के अनेक विहार भी महायानी शाखा के थे। पालि भाषा की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। नागार्जुन, बसुबंधु, असंग, धर्मकीर्ति आदि ऐसे ही महायानी विचारक थे जिन्होंने इसी शिक्षा-केन्द्र से अपने को उन्नत किया था और इनकी क तियां विशेष रूप से पढ़ाई जाती थी। श्वानच्वांग ने अनेक ऐसे विद्वान् आचार्यो का उल्लेख किया है, जो अपने-अपने विषय के प्रकांड पंडित थे तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों से आकर यहां अध्ययन अध्यापन करते थे। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, आर्यदेव, दिङ्नाग, ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे ही प्रतिभावान् विद्वान थे जिनके आकर्षण से दूरस्थ विद्यार्थी भी ज्ञानर्जन के निमित्त आते थे और अपने को सुबुद्ध और सुरक्षित बनाने की चेष्टा करते थे। उदाहरण के लिए, ऐसे विद्वानों के नाम लिए जा सकते हैं, जो विभिन्न प्रदेशों के थे। आर्यदेव और दिङ्नाग दक्षिण भारत के थे। धर्मपाल का ची का रहनेवाला था। शीलभद्र समतट (बंगाल) का निवासी था। गुणमति और स्थिरमति वल्लभी के रहनेवाले थे। नालन्दा विश्वविद्यालय

में महायान, हीनयान की शिक्षा के साथ साथ वेद, वेदान्त, साख्यदर्शन, धर्मशास्त्र, खगोलशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, चिकित्साशास्त्र का अध्यापन होता था।

## विक्रमशिला विश्वविद्यालय

इस विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं सदी में बंगाल के पालवंशीय शासक धर्मपाल ने बिहार प्रदेश में स्थित भागलपुर से 25 मील दूर की थी। पूर्वमध्य युग के शिक्षा केन्द्रों में इस विश्वविद्यालय की सर्वाधिक ख्याति थी। अनेक बौद्ध मन्दिरों और विहारों का निर्माण यहां कराया गया था। उन विहारों के कक्षों में व्याख्यान हुआ करते थे तथा सर्वदा दर्शन और धर्म की चर्चाएं आयोजित की जाती थी। यहां के अनेकानेक विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की, जिनका बौद्ध साहित्य और इतिहास में नाम है। उन विद्वानों में प्रसिद्ध हैं रक्षित, विरोचन, ज्ञानपद, बुद्ध, जेतारि, रत्नाकर शान्ति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नवज्र, दीपशंकर और अभयशंकर। दीपंकर नामक विद्वान भिक्षु ने सैकड़ों ग्रन्थों (सम्भवतः 200 ग्रन्थों) की रचना की थी। वह इस शिक्षा-केन्द्र के महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों में अकेला था जो गौड़ (बंगाल) प्रदेश का रहनेवाला था। उसका जन्म 980 ई० में हुआ था। बचपन में ही उसे सांसारिक मोह-माया से विराग उत्पन्न हो गया और वह क ष्णगिरी विहार में चला गया, जहां उसने राहुल गुप्त से ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् वह ओदन्तपुरी विहार में गया। वहां उसे शीलरक्षित, चन्द्रकीर्ति और धर्मरक्षित जैसे बौद्ध आचार्यो ने शिक्षा दी। कालान्तर में वह बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रकाण्ड पंडित हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ वह तिब्बत भी गया था।

यहां पर धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्त्वज्ञान, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पुस्तकें भी उपलब्ध की जाती थी तथा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान आचार्य द्वारा किया जाता था। देश से ही नहीं बल्कि विदेशों से भी छात्र यहां अध्ययन के लिए आते थे। विदेशी छात्रों में तिब्बत के अधिक छात्र होते थे जो बौद्ध धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहां रहते थे। प्रायः एक छात्रावास तिब्बत के ही छात्रों से भरा रहता था। शिक्षा-समाप्ति के बाद विद्यार्थी को उपाधि प्राप्त होती थी। जो उसके विषय की दक्षता का प्रमाण मानी जाती थी । दसवीं सदी में यहां के विद्यार्थियों की संख्या काफी थी जो नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या से किसी प्रकार कम नहीं थी। वस्तुतः पूर्वमध यगीन भारत में इसे छोड़कर और कोई शिक्षा-केन्द्र इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था कि सुदूर प्रदेशों के छात्र वहां जाएं। इसलिए यहां छात्रों की अधिक संख्या होना स्वाभाविक था। यहां के अध यापकों की संख्या भी अधिक थी जो यहां के विहारों और आवासों में रहते थे। गौड़ सम्राट् ध र्मपाल द्वारा निर्मित यहां का विहार अत्यन्त विशाल और प्रशस्त था, जिसके चारों ओर सुद ढ़ परिखा थी। इसमें बड़े और छोटे अनेक बौद्ध मन्दिर थे। धर्मपाल ने यहां 108 आचार्यो को शिक्षा प्रदान करने के लिए नियुक्त किया था। यहां के प्रबन्ध के लिए अनेक पदाधिकारी और कार्यकर्त्ता रखे गये थे।

इस विश्वविद्यालय का समस्त व्यय बड़े-बड़े लोगों के दान और भेंट पर आधरित था। आवास और भोजन का प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से किया जाता था। भिक्षु-अध्यापक प्रबन्ध में हाथ बंटाते थे। छह द्वार-पण्डितों की समिति द्वारा इसका संचालन होता था जिसका प्रधान महास्थविर होता था। दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसके प्रथम द्वार पर कश्मीर निवासी रत्नविज, द्वितीय द्वार पर गौड़ प्रदेश के रहनेवाले ज्ञानश्रीमित्र, त तीय द्वार पर रत्नाकर शान्ति, चतुर्थ द्वार पर वागीश्वर कीर्ति, पंचम द्वार पर नरोप तथा षष्ठ द्वार पर प्रज्ञाकर मति बैठते थे।

पूर्वमध्ययुग में मुसलमानों के आक्रमण के कारण अनेक भारतीय शिक्षा-मंदिरों का विनाश हुआ। उनमें विक्रमशिला भी था, जिसे 1203 ई० में बख्तियार खिलजी ने तोड़कर और जलाकर नष्ट कर दिया था। उसने इसे दुर्ग समझ रखा था और इसी कारण उसने इसे तोड़ा था। तबकात-ए-नासिरी में इसका विवरण दिया गया है, जिसके अनुसार यहां के निवासी अधिकांश ब्राह्मण (या बौद्ध भिक्षु) थे। सभी सिर मुड़ाये हुए थे। इन सबको तलवार के घाट उतार दिया गया। हिन्दू धर्म से सम्बन्धित सैकड़ों पुस्तकें थी। जिन्हें समझाने के लिए मुसलमानों ने बचे हुए अन्य पण्डितों को बुलाया, किन्तु कोई भी पण्डित अर्थ को ठीक से न समझ सका क्योंकि सभी विद्वान् मारे जा चुके थे।

## वल्लभी विश्वविद्यालय

गुजरात-कठियावाड़ के समुद्र के निकट स्थित वलभी एक ध्वस्त अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह नहीं था बल्कि शिक्षा का भी प्रधान केन्द्र था जो नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ-साथ विकसित हुआ था। सातवीं सदी तक इसकी ख्याति देश के विभिन्न भागों में हो गई थी। इस शिक्षा-केन्द्र में सर्वप्रथम विहार का निर्माण राजकुमारी टड्डा ने कराया था। तदनन्तर दूसरा विहार राजा धरसेन ने 580 ई० में बनवाया था जिसका नाम श्रीबप्पपाद था। इस विहार का निर्देशन और प्रशासन आचार्य स्थिरमति करते थे। ईत्सिंग के अनुसार वलभी का महत्त्व नालन्दा की ही तरह था। यहां अनेक विशाल बौद्ध विहार मठ थे। 100 विहारों और 6,000 भिक्षुओं का विवरण श्वानच्वांग ने भी दिया है। बौद्ध शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। गंगा की तलहटी से अनेक ब्राह्मण भी अपने पुत्रों को यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते थे। स्थिरमति और गुणमति नामक विद्वान् इसी विश्वविद्यालय की शोभा थे। तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा यहां दी जाती थी।

इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुद ढ़ थी। वलभी में 100 करोड़पति रहते थे, जिनका आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। अनेक राजाओं ने भी इसे दान और भेंट स्वरूप समुचित धन प्रदान किया था। ग्रंथों के लिए भी यहां दान प्राप्त होते रहते थे। 12वीं सदी के पश्चात् जब मुसलमानों का आक्रमण तीव्रता से होने लगा तब शिक्षा-केन्द्र पर भी उसका प्रभाव पड़ा और इसका महत्त्व घटने लगा।

## श्रावस्ती नगर का शिक्षा-केन्द्र

बुद्ध के जीवनकाल में ही श्रावस्ती नगर बौद्ध धर्म और शिक्षा का केन्द्र बन चुका था। प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिंडक ने बुद्ध के समय में नगर के निकट जेतवन विहार का निर्माण करवाया था जहां बौद्ध ज्ञान और आचार की शिक्षा दी जाती थी। कुछ ही वर्षो में उस विहार में आग लग जाने के कारण उसका विनाश हो गया। बुद्ध के काल में ही उसका पुनर्निर्माण हुआ। 130 एकड़ में फैला हुआ जेतवन विहार काफी प्रशस्त और विस्त त था। उनमें 120 भवन और अनेक कक्ष थे। भिक्षु छात्रों और बौद्ध आचार्यो के रहने के लिए सुन्दर आवास थे। स्नानागार, औषध ालय, पुस्तकालय, अध्ययन-कक्ष और व्याख्यान-कक्ष उसमें बने हुए थे। पानी के लिए उपवन बनाये गये थे। श्वानच्वांग का कथन है कि महात्मा बुद्ध ने वहां बाड़े लगाकर पशुओं का आना अवरूद्ध कर दिया था और जल के लिए विस्त त नहर निर्मित करायी थी। अशोक और सम्राट् हर्ष के समय में श्रावस्ती विहार बौद्ध ज्ञान और दर्शन का प्रमुख केन्द्र था जहां दूर-दूर से भिक्षु आकर ज्ञान प्राप्त करते थे।

## अन्यान्य बौद्ध शिक्षा-केन्द्र

उपर्युक्त विश्वविद्यालय शिक्षा केन्द्रों के अतिरिक्त देश में अनेक बौद्ध-शिक्षा केन्द्र थे, जहां विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ऐसे बौद्ध विहार और मठ बहुत थे जो छोटी-छोटी पाठशालाओं के रूप में विकसित हो गये थे। फाश्येन के अनुसार कश्यप बुद्ध संघाराम बौद्ध ज्ञान के लिए ख्यात था, जो पांच मंजिल में निर्मित हुआ था और जिसमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। प्रत्येक मंजिल किसी-न-किसी पशु पक्षी के आकार के थे। पहला मंजिल हाथी के आकार का था जिसमें 500 गुफाग ह थे ; दूसरा मंजिल सिंह के सद श था, जिसमें 400 कक्ष थे ; तीसरा मंजिल घोड़े की आक ति का था जिसमें 300 प्रकोष्ठ थे ; चौथा मंजिल बैल के आकार का था जिसमें 200 कक्ष थे तथा पांचवीं मंजिल कबूतर की आक ति का था जिसमें 100 कमरे थे। सबसे ऊपर एक जल-प्रपात था जो घूमकर बहता हुआ नीचे के द्वार के सामने से गया था। प्रकोष्ठों में प्रकाश जाने के लिए गवाक्ष बनाये गये थे तथा नीचे से ऊपर जाने के लिए सीढ़ियां बनाई गई थी। यहां बौद्ध शिक्षार्थी अध्ययनरत रहा करते थे। श्वानच्वांग ने कतिपय बौद्ध मठों में रहकर ग्रन्थों की पांडुलिपियां तैयार की थीं तथा ज्ञान प्राप्त किया था। कश्मीर-स्थित विहार के व द्ध भिक्षु ने श्वानच्वांग को अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त कोश, न्याय, हेतु आदि की शिक्षा दी थी। उस विहार में विभिन्न स्थानों से लोग जाकर उस बौद्ध विद्वान् का व्याख्यान सुनते थे। जालन्धर का बौद्ध विहार भी बहुत प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था, जहां श्वानच्वांग ने चार मास रहकर सर्वास्तिवाद का अध्ययन किया था। उसने नागार्जुन के प्रमुख शिष्य से भी ज्ञान वार्ता की थी। श्रुघन् के मठ में उसने वर्षा ऋतु और वसन्त रूतु के कुछ समय व्यतीत करके बौद्ध विद्वान् जयगुप्त से ज्ञानार्जन किया। उसने मतिपुर के विशाल संघाराम में रहकर मित्रसेन से अभिधर्मज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। कान्यकुब्ज स्थित भद्र नामक बौद्ध विहार में तीन महीने रहकर उसने आचार्य वीर्यसेन से त्रिपिटक का ज्ञान प्राप्त किया था। उसने वाराणसी के तीस ऐसे विहारों का उल्लेख किया है जो सर्वास्तिवाद सिद्धान्त के प्रधान अध्ययन केन्द्र थे। हिरण्य (मुंगेर) के संघाराम में रहकर उसने वसुबन्धु के मित्र संघभद्र द्वारा लिखित न्याय शास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। 'ललितविस्तर' से विदित होता है कि कपिलवस्तु विद्या और शिल्प का केन्द्र था जहां गौतम बुद्ध को विभिन्न शिल्प और विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ था। जातकों और बौद्ध ग्रंथों के अनुसार वैशाली नगर भी बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। महात्मा बुद्ध ने वहां भिक्षुओं को ज्ञान का उपदेश दिया था।

उपर्युक्त बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों के विख्यात होने से पहले देश में कई प्राचीन बौद्ध शिक्षा केन्द्र थे। बुद्ध के काल में और उनके बाद वैशाली, राजग ह, श्रावस्ती, कपिलवस्तु आदि बौद्ध शिक्षा प्राप्ति के प्रधान स्थल थे। कपिलवस्तु का निग्रोधाराम विहार, पूर्वाराम विहार, वैशाली का आपवन विहार और राजग ह का वेणुवन विहार बहुत अधिक प्रसिद्ध थे। इन विहारों में अनेकानेक दार्शनिक प्रश्नों पर विद्वानों द्वारा चर्चाएं हुआ करती थीं, जिनमें बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त बौद्ध अनुयायी तथा साधारण जन भी सम्मिलित हुआ करते थे।

## हिन्दू शिक्षा के केन्द्र

प्राचीन काल से हिन्दू ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने के लिए विभिन्न अध्ययन केन्द्रों की व्यवस्था की गई थी। वैदिक युग में तो गुरूकुल ही शिक्षा प्रदान करने के प्रधान केन्द्र थे। अरण्य जैसे एकान्त स्थल ब्रह्मर्षियों की साधना-भूमि थे जहां विद्यार्थी गुरू की सेवा करते

हुए अध्ययनरत रहते था। किन्तु कालान्तर में आकर विशाल और भव्य शिक्षा-केन्द्रों का विकास हुआ। ऐसे शिक्षा-केन्द्रों के विकास मे सुधी और विद्वान् राजाओं का सहयोग प्रमुख था, जिन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान कर ऐसे शिक्षा-केन्द्रों के उन्नयन में उल्लेखनीय कार्य किया। प्रमुख राजधानियों और बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त छोटे-छोटे गांव भी शिक्षा के केन्द्र थे। ऐसे गांव 'अग्रहार' कहे जाते थे, जिनकी व्यवस्था के लिए राजा की ओर से कुछ गांव विद्वान् शिक्षक ब्राह्मण को प्रदान कर दिये जाते थे। बौद्ध विहारों की तरह हिन्दू मन्दिर भी शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित हुए। काशी, कांची, कर्नाटक, नासिक, जैसे नगर अपने आप विद्या केन्द्रों के रूप में परिवर्तित होकर विख्यात हुए। तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कन्नौज, धारा, अनहिलपाटन नामक विभिन्न राजधानियां भी प्रधान शिक्षा केन्द्रों के रूप में जानी गई।

## रामायण और महाभारत में वर्णित केन्द्र

रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों से शिक्षा के केन्द्रों का पता चलता हैं, जहां उस युग के विद्यार्थी महान् ऋषियों के सान्निध्य में जाकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रयाग में संगम के तट पर महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जिसके चारों ओर सुन्दर व क्ष और पुष्प लगे हुए थे। आश्रम में छात्रों द्वारा वेदपाठ हुआ करता था। ऋषि-मुनियों के साथ म ग भी आश्रम में विश्राम करते थे। अध्ययन-अध्यापन और निवास-आवास के लिए पर्णशालाओं का निर्माण किया गया था। विद्याश्रम में हवन-पूजन किया जाता था। इसी प्रकार का आश्रम चित्रकूट में वाल्मीकि का था, जो मन्दाकिनी नदी के तट पर स्थित था, जहां अध्ययन के लिए छात्र निवास करते थे। वसिष्ठ के आश्रम में भी ज्ञान प्रदान किया जाता था। महर्षि अगस्त्य का आश्रम दंडकारण्य में था, जहां उनके समस्त शिष्य यज्ञ और अध्ययन में लगे रहते थे। विद्या और ज्ञान के ऐसे ही मुनियों और ऋषियों के आश्रमों का विवरण महाभारत में भी मिलता है। मालिनी नदी के तट पर स्थित ब्रह्मर्षि कण्व का आश्रम था, जो ज्ञान-गरिमा से सम्प क्त था। मनोरम प्राक तिक स्थल में स्थित होने के कारण वह आश्रम तपस्वियों और अध्येताओं के आकर्षण का केन्द्र था। वहां अनेकानेक विद्याओं तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों पर विद्यार्थियों को व्याख्यान दिये जाते थे। इसी तरह का आश्रम महर्षि व्यास का था जो हिमालय पर्वत पर अवस्थित था। उनके निर्देशन में सुमन्त्, वैशम्पायन, जैमिनी आदि वेदों का अध्ययन करते थे। नैमिषारण्य में महर्षि शौनक का आश्रम था, जहां विद्यार्थियों का अध्ययन काल 12 वर्षो के सत्र का था। वहां विभिन्न दर्शनों और विद्या की शिक्षा दी जाती थी। गंगद्वार (हरिद्वार) में ब्रह्मर्षि भारद्वाज का आश्रम था जहां विभिन्न वेद वेदांगों और शास्त्रों का ज्ञान छात्रों को प्रदान किया जाता था। इसी आश्रम में महाराज द्रुपद और द्रोणाचार्य ने साथ साथ शिक्षा ग्रहण की थी। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम स्थित था जहां अन्य विद्याओं के अतिरिक्त युद्ध कौशल का भी ज्ञान कराया जाता था।

## तक्षशिला विश्वविद्यालय

प्राचीन काल से तक्षशिला (अब पाकिस्तान में स्थित) ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध था। इसकी प्रसिद्धि सातवीं सदी ई० पू० में ही हो गई थी। यह उल्लिखित है कि इसकी स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा गया था। अतः तक्ष के नाम पर इस स्थान का नाम तक्षशिला हुआ। महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं सम्पन्न किया था। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तरवैदिक काल में ही तक्षशिला एक नगर के रूप में विकसित हो चुका था। इसलिए यहां विद्वानों का होना स्वाभाविक था और

इस कारण ज्ञान-चर्चाओं का होना भी सम्भव था। जातकों से विदित होता है कि देश के विभिन्न स्थानों से छात्र वहां जाकर आचार्यो के सान्निध्य में रहकर शिल्प का ज्ञान प्राप्त करते थे। वहां वेदों के साथ हस्तिसूत्र, धनुर्विद्या, आयुर्वेद एवम् 18 शिल्पों की शिक्षा छात्रों को प्रदान की जाती थी।

देश के कोने-कोने से विद्यार्थी यहां आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इनमें वाराणसी, पाटलिपुत्र, राजग ह, मिथिला, उज्जयिनी आदि नगरों के भी विद्यार्थी होते थे, जो यहां की ज्ञान-गरिमा से परिचित होने के लिए आते थे। पाटलीपुत्र-निवासी जीवक ने तक्षशिला में जाकर अध्ययन किया था जो कालान्तर में आयुर्वेद का महान् विद्वान बना। वह महात्मा बुद्ध का समकालीन था। यहां से शिक्षा-प्राप्त बड़े-बड़े सम्राट् और विख्यात विद्वान थे। कौशल-शासक प्रसेनजित्, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ; महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य, ख्यातिलब्ध वैद्य जीवक, वैयाकरण पाणिनी और पंतजलि यहां से शिक्षा ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्र में विख्यात हुए थे। महाभारत से ज्ञात होता है कि आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरूणि और वेद ने तक्षशिला में ही शिक्षा ग्रहण की थी। अपने-अपने क्षेत्रों में प्रसिद्ध इन व्यक्तियों के कार्यो से यह स्पष्ट है कि यहां विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। वेदत्रयी, अष्टादश शिल्प, व्याकरण, दर्शन आदि विभिन्न विषय यहां पढ़ाये जाते थे। आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा, धनुर्विद्या तथा संबंध युद्ध-कला, ज्योतिष, भविष्य-कथन, मुनीमी, व्यापार, क षि, रथ-चालन, इन्द्रजाल, नाग वशीकरण, गुप्तनिधि ा अन्वेषण, संगीत, न त्य और चित्रकला अष्टादश के अन्तर्गत आते थे। कौशल से विद्यार्थी वहां जाकर अनेकानेक विषयों में पारंगत होते थे। द्विजों के सभी सदस्य एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय भी वेदाध्ययन करते थे और क्षत्रिय के साथ ब्राह्मण भी धनुर्विद्या सीखता था। जातकों से विदित होता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा था।

इसके वर्तमान अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि तक्षशिला ने चौथी सदी ई० पू० से छठी सदी तक अनेक उथल-पुथल देखे थे। यवन, यवन-बाख्वी, शक, पहल्व, कुशााण और हूणों के अनेक आक्रमण इसने सहे थे तथा उन झंझावातों से अपने को यथाशक्य रक्षित करने का प्रयास किया था। इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि नवीन ज्ञान-विज्ञान का सम्पर्क भारत से हुआ था। भारतीय जन-मानस में उनका प्रवेश भी प्रारम्भ हो गया। विदेशी खरोष्ठी लिपि का धीरे-ध ीरे प्रचार और यूनानी तक्षण-कला, मुद्रा-निर्माण कला तथा दर्शनशास्त्र का प्रसार भारत में होने लगा। इससे भारतीय विषयों में नया आयाम आया।

जातक युग में यहां नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या बहुत अधिक थी, जो वेद और शिल्प में पारंगत होकर एकांत में रहते थे तथा जिनके साथ उनके शिष्य भी रहा करते थे। जातकों से विदित होता है कि यहां के एक आचार्य के निर्देशन में पांच-पांच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। ऐसे आचार्य अनेक थे जो सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। निश्चय ही यहां की पढ़ाई बहुत अधिक संघटित नहीं थी, किन्तु फिर भी उसका महत्त्व था। निर्धारित पाठ्यक्रम होता था। छात्र अपने इच्छानुसार विषय पढ़ते थे। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था स्वांतःसुख, न कि उपाधि प्राप्ति। एक जातक में उल्लिखित है कि एक आचार्य से 103 विद्यार्थी धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा प्राप्त करने और शिक्षा देने में किसी प्रकार का अन्तर नही था। आचार्य के यहां क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य के साथ-साथ दर्जी और मछली मारनेवाले निम्न जाति के लोग भी शिक्षा ग्रहण करते थे जो उस युग की जाति-व्यवस्था के लचीलेपन की ओर भी इंगित करता

है। धनी और निर्धन दोनों प्रकार के छात्र समान रूप से गुरू के शिष्य हो सकते थे। तत्कालीन युग में धनी छात्र धन राशि के साथ गुरू-दक्षिणा देता था और निर्धन छात्र श्रम करके गुरू-दक्षिणा प्रदान करता था। धनी छात्रों द्वारा प्रायः एक सहस्त्र कार्पापण गुरू को दक्षिणा के रूप में अर्पित किया जाता था। योग्य और मेधावी छात्रों को राजकीय सहायता पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा जाता था। वाराणसी और राजग ह के राजपुरोहित पुत्र और युवराजों के साथ जानेवाले ऐसे छात्रों को देखा जा सकता था। स्पष्ट है कि इस युग में प्रतिभाशाली किन्तु निर्धन छात्रों को राज्य और समाज की ओर से प्रत्येक सम्भव सहयोग प्राप्त होता था।

तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्र का महत्त्व चौथी ई० तक ही था, क्योंकि पांचवीं सदी में भारत की यात्रा करनेवाले फाश्येन ने इस स्थान से सम्बन्धित ऐसा कोई विवरण नहीं दिया है, जिससे यह जाना जा सके कि तक्षशिला उस समय शिक्षा और विद्या का प्रधान केन्द्र था।

## काशी

विद्या और शिक्षा के क्षेत्र में काशी का महत्त्व वैदिककालीन है। उपनिषद् युग मे काशी एक प्रतिष्ठत शिक्षा-केन्द्र के रूप में विकसित हो चुकी थी। काशी का शासक अजातशत्रु अपनी ज्ञान-गरिमा, प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए देश में ख्यात था। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर देशों से विद्यार्थी काशी आते थे। तेईसवें जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ काशी के शासक अश्वसेन के पुत्र थे, जिन्होंने जैन धर्म की सर्वप्रथम आचार-संहिता निर्मित की थी तथा महावीर स्वामी को उस पर विचार करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। ऐसी स्थिति में काशी जैन धर्म और दर्शन का भी प्रधान केन्द्र थी। बुद्ध के युग में भी काशी की महत्ता पूर्ववत् थी। वैदिक दर्शन, ज्ञान, तर्क और शिक्षा में काशी अग्रणी थी। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने अपना 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' काशी में ही किया तथा सर्वप्रथम अपने ज्ञान का प्रसार यहीं से प्रारम्भ किया था ताकि उनका प्रभाव काशी में विद्वानों पर पड़ सके। जातकों से ज्ञात होता है कि यहां के विद्यालयों में प्रवेश के लिए छात्रों की आयु कम से कम 16 वर्ष होनी चाहिए थी। अशोक ने यहां अनेक बौद्ध विहारों और मठों का निर्माण किया था। सातवीं सदी में श्वानच्वांग ने यहां के विहारों, चैत्यों, स्तूपों और भवनों को देखा था। उसके अनुसार यहां अनेक मंजिलोंवाले भवन थे, जो अत्यन्त आकर्षक और लुभावने थे। स्पष्ट है कि काशी वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों शिक्षाओं को केन्द्रस्थली थी।

अलबेरूनी लिखता है कि हिन्दू विद्याएं हमारे विजित प्रदेशों से भागकर कश्मीर वाराणसी जैसे सुदूर स्थानों में चली गई, जहां मेरे हाथ भी नहीं पहुंच सकते। मध्ययुगीन अभिलेखों से विदित होता है कि वाराणसी में वेदों का अध्ययन किया जाता था। अलबीरूनी ने वाराणसी में श्रेष्ठतम् विद्यालय होने का संकेत किया है। काशी गहड़वालों के लिए दूसरा महत्त्वपूर्ण आवास था। प्रसिद्ध कश्मीरी कवि श्रीहर्ष गहड़वाल शासक विजयचन्द्र के सभासद थे। उसने 'नैषधचरित' की रचना काशी आवास में ही की थी। कबीर और तुलसी जैसे संत कवि काशी से ही संबद्ध थे।

प्राचीन काल से कश्मीर, धर्म और शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। वह शैव धर्म का प्रधान केन्द्र तो था ही, साथ ही वह बौद्ध धर्म और शिक्षा का भी प्रमुख केन्द्र था। सम्राट् कनिष्क ने पहली सदी ई० में चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर में ही किया था। वहां दर्शन, साहित्य, न्याय, ज्योतिष, इतिहास आदि के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् हुए थे जिन्होंने साहित्य और संस्क त के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। 'हरिविजय' का रचनाकार रत्नाकर ( नवीं सदी ), 'शिवांक' का रचयिता

शिवस्वामी (नवीं सदी), 'ब हतकथामंजरी', 'रामायणमंजरी', भारतमंजरी, 'बोधिसत्वावदान', के कर्त्ता क्षेमेन्द्र, 'कलाविलास', 'चतुर्वर्गसंग्रह', 'चारूचर्या', 'नीतिकल्पतरू', 'समयमात का' आदि ग्रन्थों का प्रणयनकर्त्ता (क्षेमेन्द्र का पुत्र) सोमेन्द्र, अलंकारशास्त्र रूय्यक (बाहरवीं सदी), 'श्रीकंठचरित्' का लेखक मंखक (बाहरवीं सदी), 'नैषधीयचरित्' के लेखक श्रीहर्ष आदि विद्वान कश्मीर के ही निवासी थे। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' नामक इतिहास ग्रन्थ लिखकर भारतीय इतिहास की अद्वितीय सेवा की तथा कश्मीर में 'राजतरंगिणी' ग्रंथलेखन की परम्परा का सूत्रपात किया।

### धारा

यह मालवा के परमारों की राजधानी थी। पूर्वमध्य युग में यह नगर विद्या और ज्ञान का प्रधान केन्द्र बन गया। 'नवसाहसांकचरित्' के रचयिता पद्मगुप्त परिमल ने यहीं निवास करके अपनी रचनाएं की थी। 'दशरूपक' का लेखक धनंजय और 'यशोरूपावलोक' का कर्त्ता धनिक भी इसी राजधानी के आश्रित थे। हलायुध, अमितगति, शोभन आदि विद्वान् इसी युग के थे। मुंज के शासनकाल में ही धारा नगरी हिन्दू धर्म और शिक्षा का प्रधान केन्द्र बन चुकी थी। अनेक विद्वान् इस नगर को सुशोभित करते थे। सम्राट् भोज अपने पूर्ववर्ती शासक मुंज की भांति एक विद्वान और प्रतिभाशाली शासक था। वह स्वयं अनेकानेक विषयों का प्रकांड पण्डित था। वह राजनीति, दर्शन, ज्योतिष, वस्तु, काव्य, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों का मर्मज्ञ था और इन विषयों से सम्बन्धित उसने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी। उसकी उपाधि 'कविराज' की थी। भोज की राजसभा में धनपाल, विज्ञानश्वेर, उवट आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक रहते थे जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उसके द्वारा स्थापित 'भोजशाला' विश्वविद्यालय के रूप में विख्यात थी। इसके अतिरिक्त उसने अनेक विद्यालयों की भी स्थापना की थी। भोज की म त्यु पर किसी कवि ने कहा था कि उसकी म त्यु से धारा आधारहीन हो गई, सरस्वती आश्रयहीन हो गई और समस्त पण्डित खण्डित हो गए।

### कन्नौज

उत्तर भारत में कन्नौज का उत्कर्ष हर्ष के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। यह नगरी राजधानी ही नहीं थी, बल्कि हिन्दू और बौद्ध विद्या और शिक्षा की केन्द्र स्थली थी। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक इसका अनवरत विकास होता रहा। अनेक विषयों के ज्ञाता इस नगर की शोभा बढ़ाते थे, जो अपने शिष्यों को विभिन्न विद्याएं पढ़ाते थे। बाण ने ऐसे ही आचार्य कुल में शिक्षा प्राप्त की थी। हर्ष स्वयं अनेक ग्रन्थों का रचयिता था। बौद्ध और हिन्दू धर्म के बीच दार्शनिक शास्त्रार्थ कन्नौज में ही हुआ था। कन्नौज की यह महत्ता बाद के काल तक बराबर बनी रही। प्रतिहारों के युग में भी कन्नौज उसी प्रकार शिक्षा का केन्द्र बना रहा। तद्युगीन लेखक राजशेखर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'काव्यमीमांसा', 'बालरामायण', 'कर्पूरमंजरी' आदि प्रमुख हैं। गहड़वालों के युग में भी कन्नौज का यश उसी प्रकार था जिस प्रकार हर्ष के समय था।

### अनहिलपाटन

पूर्वमध्य युग में गुजरात के चालुक्य वंश की राजधानी अनहिलपाटन थी, जो शिक्षा के लिए भी विख्यात थी। यहां अनेक विद्यामंदिरों की स्थापना हुई थी। हिन्दू धर्म-दर्शन के अतिरिक्त जैन धर्म और दर्शन की भी शिक्षा यहां दी जाती थी। चालुक्य शासक विद्वान होने के कारण विद्या और शिक्षा के उत्कर्ष में सहयोग देते थे। सोमप्रभाचार्य, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, उदयचन्द्र, जयसिंह,

यशपाल, वत्सराज, सोढ़ल, एवं मेरूतुंग जैसे लेखकों ने अनहिलपाटन के आश्रय में ही अपने विभिन्न ग्रंथों की रचना की थी। इन सबमें प्रधान लेखक हेमचन्द्र था, जिसने व्याकरण, छन्द, शब्द-शास्त्र, साहित्य, कोश, इतिहास, दर्शन, आदि विभिन्न विषयों पर अलग-अलग ग्रंथों की रचना की थी। संस्क त, प्राक त, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का उत्कर्ष और प्रसार यहां हुआ था।

## कांची

दक्षिण भारत में पल्लव वंशी शासकों के नेत त्व में कांची एक महान् शिक्षा केन्द्र बन गया था। समुद्रगुप्त के शासन काल में इसकी प्रतिष्ठा थी। कालान्तर में यह पूर्वमध्ययुगीन दक्षिण भारत का एक अत्यन्त शक्तिशाली नगर बन गया, जहां अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्ययन कार्य किया करते थे। कांची के शिक्षा-केन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ था। भारत के दक्षिण भाग के निवासियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। महाकवि दण्डिन ने कांची के राजाश्रय में ही रहकर अनेक ग्रंथों की रचना की थी। शूद्रक ने अपने नाटकों का प्रणयन यहीं पर किया था। भारवि भी सम्भवतः इसी युग में हुआ था। कदम्ब-वंशी राजकुमार मयूरवर्मन ने कांची में ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह भी कहा जाता है कि वात्सायायन और दिङ्नाग जैसे महान् ज्ञाता कांची विश्वविद्यालय में ही रहकर पढ़े हुए थे। वस्तुतः संस्क त भाषा और साहित्य का उत्कर्ष कांची में अत्यन्त तीव्र गति से हुआ था।

## मिथिला

शिक्षा केन्द्रों में मिथिला का नाम भी प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में जनक के समय इसका नाम विदेह था। महाकाव्य एवम् बौद्ध काल में इसका महत्व काफी था। बारहवीं सदी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह न्याय दर्शन का प्रसिद्ध केन्द्र रहा।

डा. मुखर्जी के अनुसार 'Mithila made conspicuous constribution in the realism of severe and scientific subjects. It developed a famous school of Nyaya which flourished from the 12th to 15th century A.D. under great masters of logic, Gangesa, Vardhamana, Pakshadhara and others.

इसी प्रकार ओदांतपुरी जागछल, श्रावस्ती का जेतवन विहार चोल राजा राजेन्द्र प्रथम द्वारा स्थापित वैदिक कालेज आदि अनेको शिक्षा केन्द्र प्राचीनकाल विशेष रूप से गुप्त व गुप्तोत्तर में उदय हुए जिनमें हिन्दू या बौद्ध पद्धति से शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार भले ही पुरातनकाल अर्थात् वैदिक काल से ही शिक्षा ऋषि आश्रमों, मठों व उपाध्याय के घर पर दी जाती रही है। परन्तु संगठित, नियमबद्ध एवम् सुव्यवस्थित पाठशालाओं के उदय को श्रेय बौद्ध शिक्षा पद्धति को ही जाता है इसकी उच्च शिक्षा से आकर्षित होकर कोरिया, चीन, तिब्बत आदि दूर दूर के देशों से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। तुलनात्मक अध्ययन की नींव रखकर हिन्दू न्याय एवम् दर्शन के विकास में भी योगदान दिया। उच्च शिक्षा में विशेषीकरण एवम् दक्षता के कारण प्राचीन काल में भारत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध रहा। हिन्दू तथा बौद्ध दोनों ही शिक्षा पद्धतियों में उपासक के अध्ययन विषयों का इस प्रकार चुनाव किया गया था ताकि अनमें अध्ययन से वह इहलौकिक और पारलौकिक जीवन में संतुलन व समन्वय स्थापित करते हुए अपने कर्त्तव्यों का नैतिकपूर्ण ढ़ंग से निर्वाह कर सके और उसके

व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। अध्यात्मिक शिक्षा के साथ-2 उसे उसके वर्णानुसार, आवश्यकतानुसार व्यवसायिक शिक्षा भी दी जाती थी ताकि अपने शिल्प अथवा व्यवसाय में विशेषीकरण हासिल कर उसमें कुश्लता तथा दक्षता भर सके तथा समुन्नत कर सके।

# अध्याय - 18
# महिलाओं की स्थिति : व्यावहारिक एवं संवैधानिक
# Status of Women : Customary and Legal

स्त्रियों की समाज में स्थिति एक विषय के रूप में प्राचीन काल में ही नहीं आज आधुनिक काल में भी उपेक्षित ही रहा है। अभी कुछ वर्ष से ही कुछ समाजशास्त्रियों ने स्त्रियों के मुद्दों में रूचि लेनी प्रारम्भ की है तथा उपलब्ध अपर्याप्त प्रमाणों के आधार पर प्राचीन काल में उसकी स्थिति की विवेचना का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इतिहास में स्त्रियों की स्थिति विवाद का विषय रही है कारण प्राचीन साहित्य में महिलाओं की स्थिति पर विरोध ाभास पूर्ण विवरण मिलना जहां एक ओर उसे सुख सम्पत्ति, ज्ञान, शक्ति की प्रतीक मानी जाती है। नारियों की पूजा की बात की जाती है उसकी लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा देवी के रूप में पूजा की जाती है। वही उसे स्वभाव से लालची, फूढ़ी, मंनबुद्धि आदि कहा गया है। यह बात केवल भारत के संदर्भ में ही सत्य नही है। पाश्चात्य देशों में भी महिलाओं के बारे में इस प्रकार की सोच देखने को मिलती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार तो नारी में तो कुछ ऐसे जन्मजात दोष हैं जिसके कारण वह पुरूष के साथ समानता का दावा नहीं कर सकती। रोबैक ने स्त्रियों में जन्म से ही अस्थिरता का दोष पाया जबकि फ्रायड ने तो यहां तक कह दिया कि यह स्वीकार करना होगा कि स्त्रियों में न्याय की भावना बहुत कम होती है क्योंकि उनके मस्तिष्क में ईर्ष्या भरी हुई है।

इस प्रकार इन सब दिक्कतों को मद्देनजर रखते हुए हम प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति को जानकारी हासिल करने का प्रयत्न करेंगे पुत्री, पत्नी एवम् मां के रूप में परिवार एवम् समाज में महिला का स्थान :-

## (क) परिवार एवं स्त्रियां

### पुत्री के रूप में

ऋग्वैदिक काल में नारी को समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया था। यद्यपि ऋग्वैदिक काल से ही पुत्र की कामना की जाती रही है परन्तु यह पुत्री के प्रति घ णा के कारण नहीं था। बल्कि यह उस परिस्थिति की मांग थी। उस समय समाज कबिलाई था अतः अपनी प्रभुसत्ता बनाए रखने के लिए कबीले एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे जिसके लिए पुत्रों की आवश्यकता थी। लेकिन पुत्रियों का जन्म बुरा नहीं समझा जाता था व उनका पालन-पोषण पुत्रों की तरह ही होता था।

ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तरवैदिक काल में पुत्री की स्थिति पतन की और अग्रसर हो चुकी थी। यद्यपि अर्थववेद में नारी को सहनशीलता स्नेह-सम्पन्नता और ग हस्थ जीवन में सुग्रहणी की

प्रतिमूर्ति बताया गया है। परन्तु व्यवहार में कन्या के जन्म पर पुत्र के समान खुशी जाहिर नही की जाती थी। कारण यह कबिलाई युद्ध का काल था। इन्हें युद्ध के लिए सेना की जरूरत थी जिसमें लड़कों की जरूरत होती थी। अर्थववेद में ऐसे जादू टोनों का उल्लेख हुआ है तो पुत्र की प्राप्ति को निश्चितता प्रदान करते थे। इस काल में पुत्री को दुख प्रदान करने वाली माना जाने लगा। लड़कियों को प्रारम्भिक वैदिक काल की तरह सम्मान अब प्राप्त नहीं हो पा रहा था। हांलाकि ब्राह्मणिक साहित्य में महिलाओं को अभी भी सम्मानित द ष्टिकोण से उल्लखित किया गया है।

**उत्तर वैदिक काल** में धार्मिक अनुष्ठानों के समय पत्नी द्वारा ही मन्त्र उच्चारण और प्रार्थनाएं गाना पत्नी का आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में एक संदर्भ आया है ''कि पुरूष की तुलना में स्त्री की बुद्धि कम होती है, वह तार्किक नहीं होती, वह पुरूष से ज्यादा भावुक होती है'' इसलिए आगे लिखा है कि नारी को जल्दी शिकार बनाया जा सकता है, उसके दिमाग का संतुलन सही नही होता वह कारणों को गहन रूप से जानने की योग्यता नहीं रखती, उसमें सच्चाई को परखने की क्षमता कम होती है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ''नारी में अनेक खामिया होती है उसमें न्याय की भावना कम होती है और ईष्या की भावना अधिक होती है। जबकि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने स्त्री को देवी जैसी उपाधियां प्रदान की।

बुद्ध काल में समाज में उच्च वर्ग की लड़कियां ही शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म में स्त्रियों के लिए अपने धर्म के द्वार खोल दिए थे और इस काल में अनेक महिला शिक्षिकाओं एवं भिक्षुणियों के उदाहरण मिलते हैं। चेरिगाथा में ब्रह्मचारणियों तथा कवयित्रियों का उल्लेख आया है। हमें बारह विवाहित भिक्षुणियों का उल्लेख मिलता है। जिनमें से सुभा और सुमेधा उच्च परिवार से थी। एक जातक कथा के संदर्भ के अनुसार एक जैन अनुयायी की ''पुत्रियां दर्शन-शास्त्र के विषय पर देश भर में शास्त्रार्थ करती थी। परन्तु ब्राह्मणिक समाज में महिलाओं को उच्च शिक्षा के अवसर कम ही प्रदान किए जाते थे। जो स्त्रियां अध्यापन का कार्य अपनाती थी उन्हें उपाध्याय कहा जाता था। पाणिनी ने लिखा है कि शिक्षा में बालक व बालिकाओं के लिए अलग प्रबंध किए जाते थे। परंतु सहशिक्षा के संदर्भ भी हमें मिलते हैं जैसे मैत्रयी ने बाल्मिकी के आश्रम में लव व कुश के साथ शिक्षा ग्रहण की थी। उपनिषदों के समय में भी स्त्रियों को वैदिक ग्रंथों के अध्ययन का पूर्ण अधिकार था। वे जीवन के सर्वोच्च आध्यात्मिक तथ्यों पर पुरूषों के साथ वाद-विवाद करती थी। उपनिषद में स्पष्ट लिखा है कि बिना पत्नी के पति अपूर्ण हैं।

पुत्रियों की स्थिति मौर्योन्तर काल से तो और भी दयनीय होती चली गई उनकी सामाजिक, धार्मिक और सुविधाओं से बाहर कर दिया गया। इस काल में बाल विवाह तेजी से प्रचलित हुआ। लड़कियों का उपनयन संस्कार बिल्कुल बंद कर दिया गया। मनु के अनुसार उनका उपनयन संस्कार बिना वैदिक मंत्रों के किया जा सकता था। अतः ऐसा प्रतीत होता है। इस काल में लड़कियों को वेदाद्ययन एवं शिक्षा से अलग किया जा रहा था। कन्या के विवाह की आयु को घटाकर बारह वर्ष कर दी गई और उसे पूरी तरह पिता व भाई पर आश्रित कर दिया गया।

### पत्नी के रूप में स्त्री का परिवार व समाज में स्थान

ऋग्वैदिक काल में पत्नी के रूप में स्त्रियां सामाजिक, सांस्क तिक, धार्मिक कार्य में हिस्सेदार होती थी। ऋग्वेद में उल्लेख आता है कि ब हस्पति ऋषि ने पश्चाताप करने के लिए अपनी पत्नी को छोड़ दिया था। लेकिन देवताओं द्वारा उन पर दबाव डाला गया कि पत्नी के

बिना प्रायश्चित पूरा नहीं माना जाएगा। पति-पत्नी द्वारा सामूहिक रूप से डाली गई आहुती ही देवताओं द्वारा मान्य थी। वे सार्वजनिक सम्मेलनों में भाग लेती थी। वैदिक साहित्य में पत्नी की बहुत प्रतिष्ठा थी। ऋग्वेद में पती-पत्नी के लिए दंपत्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि बिना पत्नी के मनुष्य अपूर्ण रहता है और उसके बिना यज्ञ की अपूर्ण रहता है। ऐत्रेए ब्राह्मण में पत्नी को मित्र कहा गया है। अथर्ववेद के अनुसार पत्नी परिवार के सभी कार्यों की देखभाल करती थी। वह घर के नौकरों व दासों पर पूर्ण अधिकार रखती थी। व द्ध सास-ससुर, नंद सभी पर उसका नियंत्रण रहता था।

उत्तरवैदिक काल में नारी को पर्याप्त सामाजिक स्वतंत्रता और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण ग्रंथों के रचनाकाल में बहुत सी धार्मिक क्रियाएं पुरूष ही करने लगे क्योंकि उनमें बहुत सी जटिलताएं आ गई थी। लेकिन अब धार्मिक कार्यो में पति के साथ पत्नी की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। कुछ धार्मिक कार्य अब पत्नी के स्थान पर पुरोहित करने लगे।

ब्राह्मण के एक प्रकरण में ऐसा प्रतीत होता है कि पत्नी का कुछ धार्मिक कार्यों में सम्मिलित होना अनिवार्य नहीं समझा जाता था। लेकिन अश्वमेघ, वाजस्नेय तथा राजसूय यज्ञों में अब भी भी पत्नी का सम्मिलित होना अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण से यह स्पष्ट है कि स्त्रियों को वैदिक ग्रंथ पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था। धार्मिक क्रियाओं में जटिलताएं और सामाजिक संस्थाओं के विकास में जटिलता होने के कारण धीरे-२ स्त्रियों का कार्य क्षेत्र सीमित होता जा रहा था। लेकिन इस काल में भी अभी स्त्री को भोग्य वस्तु नहीं समझा जाता था अभी भी बहुत से धार्मिक कार्यो में वह पुरूष की सहधर्मिणी थी।

बुद्ध काल में विवाह नारी के लिए आवश्यकता बन गया था और जब वर कन्या से विवाह करता था तो अपनी पत्नी के जीवन के सभी कार्यों और आदर्शों के परिपालन में सहयोग जुटाता था। विवाह उपरांत पति और पत्नी जीवन के प्रत्येक कार्य में एक दूसरे को पूर्ण सहयोग देते थे। गौतम बुद्ध के समय में भी परिवार में पत्नी की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। साधारणतया धर्म सूत्रकार विवाहित स्त्री के प्रति अच्छा व्यवहार करने का परामर्श देते हैं। बोध्दायान के अनुसार पति बांझ स्त्री का 10वें वर्ष में परित्याग कर सकता है।

जिसके बालक की म त्यु हो जाए 15वें वर्ष में परित्याग कर सकता है। लेकिन उसके अनुसार जो पत्नी झगड़ालू हो तुरन्त छोड़ देना चाहिए। लेकिन वशिष्ठ के अनुसार पति को किसी भी दशा में पत्नी को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रायश्चित करने पर बुरी स्त्री भी पवित्र हो सकती है और पति उसे स्वीकार कर सकता है। परन्तु यदि पति अनुचित रूप से पत्नी का परित्याग कर दे तो राजा को उसे कठोर दंड़ देना चाहिए।

धर्मसूत्रों के अनुसार संतानोत्पति के लिए विधवा स्त्री इस काल में भी देवर के साथ नियोग संबन्ध स्थापित कर सकती थी। 300 ई. पू. तक नियोग की प्रथा प्रचलित थी। कुंती के तीन पुत्र इसी प्रथा से उत्पन्न हुए थे। लेकिन धर्मसूत्रों में नियोग के विवेचन के आधार पर पी. वी. काणे का मत है कि इस काल में नियोग उसी दशा में हो सकता था जब जीवित या म त पति पुत्रहीन हो और कुल के गुरूजन इसकी अनुमति देने हो। यह सम्बन्ध केवल एक या दो पुत्र उत्पन्न करने तक ही रखना चाहिए। पति के मरने के एक वर्ष बाद ही नियोजन की अनुमति दी जाए।

अब स्त्रियों का घर से बाहर निकलना प्रतिबन्धित हो गया। कौटिल्य ने उन स्त्रियों के जो बिना पति की आज्ञा के घर से बाहर जाता था। उस पर 6-18 पण के जुर्माने का प्रावधान किया। अब महिलाओं पर वैदिक और धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया।

मनुस्म ति में लिखा है कि बचपन में स्त्री पिता के संरक्षण में यौवन में पति के और व द्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए। गुप्त व गुप्तोत्तर काल में सामंतवाद तेजी से बढ़ रहा था और गुप्तोत्तर काल में उसका तेजी से विकास हो रहा था। इस समाज में नारी को पूर्णता पुरूष के अधीन कर दिया था। लड़की के जन्म को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था। इसकी पुष्टि **अलबेरूनी** के लेखों से भी होती है कि लड़की का जन्म दुखों के आगमन का संकेत माना जाता था **गुप्तोत्तर काल** में बाल विवाह विशाल पैमाने पर , शिक्षा के लिए केवल बड़े व शाही परिवार की लड़कियों को ही योग्य समझा जाता था वह भी उच्च शिक्षा के योग्य नहीं। उपनयन संस्थाएं पूर्णतयः बंद कर दिया गया। **ए. आर. अल्तेकर के अनुसार ''धार्मिक तौर पर महिलाओं को शुद्रों के समकक्ष बना दिया गया था।''**

लेकिन भागवत पुराण महिलाओं को शिक्षा के कुछ अधिकार प्रदान करती हैं तथा उन्हें वेदों के अध्ययन का अधिकार भी प्रदान करती हैं। गुप्तोत्तर काल में तंत्रवाद तेजी से उभर रहा था और 9वीं व 10वीं शताब्दी में यह एक संस्था के रूप में स्थापित हो गया था। **तंत्रवाद** में नारी को सम्मानजनक स्थिति प्रदान की गई। यद्यपि शहरों की संख्या कम थी परंतु फिर भी शहरों की नारी की स्थिति गांव की नारी की स्थिति से अच्छी की। मेघातिथि, कुल्लुक भट्ट, विज्ञानेश्वर, धवाचार्य सोमदेव इत्यादि ने महाभाष्यकारें ने नारी पर सख्त नियन्त्रण रखने की सलाह दी हैं। इस काल में पति के द्वारा पत्नी पर अनेक प्रकार के अत्याचारों के संकेत मिलते हैं। कुछ तो अत्याचारों से तंग आकर आत्महत्या कर लेती थी। धर्मशास्त्रकार व महामात्यकार पुरूषों को बदलने की सलाह न देते हुए उन्हे स्त्रियों पर नजर रखने के आदेश देते हैं। पर्दा प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी। राजपूताना क्षेत्र में तो पर्दा-प्रथा बड़े पैमाने पर प्रचलित थी। अल्तेकर लिखते हैं कि यह एक मुस्लिम प्रथा की व उसकी नकल करते हुए इसे यहां अपनाया गया था।

अनैतिक सम्बंध बनाने किसी महिला का बलात्कार हो जाने या किसी अन्य पुरूष से गर्भवती हो जाए तो उसे प्रायश्चित करना होता था। विज्ञानेश्वर ने ऐसी महिला को छोड़ने को कहा है। लेकिन बलात्कार की स्थिति में यदि स्त्री गर्भवती नहीं होती तो व्यास, अत्री तथा देवल स्म तिकारों ने कहा की वे अपने आप पवित्र हो जाती है तथा उन्हें घर से न निकाला जाए। परन्तु **अलबेरूनी** कहता है कि ऐसी महिलाओं को घर से निकाल दिया जाता था। **तांत्रिक साहित्य** में महिलाओं के दुःखों, कष्टों को दूर करने के संदर्भ आए हैं। तंत्रवाद ने महिलाओं को जगदम्बे व जगतजननी का खिताब दिया है। क्योंकि पूर्वमध्यकाल में सामंतवाद का विकास हो चुका था। इसलिए बड़े पैमाने पर वैश्याव त्ति में बढ़ोतरी होती है। धनी व्यापारियों, राजाओं, सामंतों ने वैश्याव ती को बढाने में सहयोग दिया जो वैश्याएं राजाओं, धनी व्यापारियों के संपर्क में आ जाती वे साधन सम्पन्न हो जाती थी। 600 ई. के बाद विधवा की स्थिति दयनीय हो गई थी। नियोग पर प्रतिबंध, विधवा-विवाह, पुनः विवाह पर प्रतिबंध ने उनकी उस दयनीयता की ओर बढ़ा दिया था। अब उसे म त्यु तक विधवा का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस काल में देवदासी प्रथा का भी विकास हो रहा था। चौहान चाहमान राजाओं ने तो इस प्रथा को बढ़ाने में योगइान दिया। पूर्व मध्यकाल में नारी को संपति का अधिकार प्रदान किया गया।

विवाहित स्त्रियों को अपने घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी। पति की इच्छा के विरुद्ध वह कोई कार्य नहीं कर सकती थी। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने विधान बनाया, यदि कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाये तो उसे छः पण दण्ड दिया जाये, किन्तु यदि पति कुल से बाहर जाने का कारण पति से द्वेष या विरोध हो, तो पत्नी इस दण्ड की भागी नहीं होती थी। पति की इच्छा के विरुद्ध यदि स्त्री घर से बाहर जाये उसे बारह पण जुर्माना करना चाहिये। यदि स्त्री पडोसी के घर से बाहर चली जाए उस पर छः पण जुर्माना किया जाये। इससे स्पष्ट

है कि स्त्रियां अपने ही घरों में कैदी के रूप में रहती थी। यही नहीं, वे अपने पडोसी भिक्षुक या सौदागर को भी अपने घर के भीतर आने की अनुमति नहीं दे सकती थी। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का कथन है कि यदि कोई स्त्री पड़ोसी को अपने घर में आने की आज्ञा दे या किसी भिक्षुक को घर के भीतर बुलाकर भिक्षा प्रदान करे या किसी सौदागर से घर के भीतर सौदा ग्रहण करे, तो उस पर बारह पण जुर्माना किया जाना चाहिए। पति के मना करने पर भी स्त्री यदि ऐसा करे तो उसे पूर्ण दण्ड दिया जाए। इससे ज्ञात होता है कि केवल स्त्री का अपने घर से बाहर जाना ही निषेध नहीं था, अपितु वह किसी स्त्री तक को अपने घर के भीतर आने की अनुमति नहीं दे सकती थी। दूसरे की पत्नी को अपने घर के भीतर आने देने पर उसके लिए एक सौ पण दण्ड का विधान था।

कौटिल्य ने यह स्वीकार किया कि स्त्रियां अपने कुल में किसी पुरूष के साथ उस दशा में जाकर रह सकती है जब कि उसके घर में किसी पुरूष की म त्यु हो गई हो। ऐसे अवसरों पर स्त्री को अपने जातिकुल में जाने से नहीं रोका जा सकता था। यदि कोई रोके तो उस पर 12 पण दण्ड देना पड़ता था। केवल तीर्थयात्रा के प्रयोजन से स्त्रियों को घर से बाहर जाने की अनुमति प्राप्त थी।

मौर्यकाल में विवाहित स्त्रियों को भी विविध प्रकार के बन्धनों में रहना पड़ता था। कौटिल्य का मत था कि स्त्रियों का प्रमुख प्रयोजन सन्तान उत्पन्न करना है। अतः यह कल्पना करना असंगत नहीं है कि मौर्य युग में स्त्रियां विवाह करके परिवार में ही जीवन व्यतीत किया करती थी। अर्थशास्त्र में वर्णन है कि दुराचारिणी पत्नियों को दण्ड देने के लिए अत्यधिक कठोर नियम निर्धारित किये थे। मौर्य काल में उच्च कुल की स्त्रियों पर भी विविध प्रकार के प्रतिबन्ध ा लगा दिये थे। यही नहीं, किसी भी स्त्री को मौर्य काल में पतिकुल छोड़कर भागने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार स्त्रियों की स्थिति उस काल में दयनीय थी।

मनु ने स्त्रियों के दुराचारी स्त्रियों की पहचान बताई है उसके अनुसार यदि वह सुरापान व्यक्तियों का संग, पति से दूर रहना, दिन में सोना, दूसरों के घर में रहना आदि बातें कही हैं। ब हस्पति के अनुसार स्त्रियों के कर्तव्य ये हैं - पति या अन्य बड़े व्यक्तियों से पहले बिस्तर से उठना, भोजन उनके पश्चात् करना, उनसे नीचे आसन पर बैठना आदि हैं। स्कन्दपुराण में पतिव्रता के धर्मों का विस्तार से उल्लेख है।

मनु ने आगे वर्णन किया कहा है कि पत्नी साध्वी भार्या है। उसका सर्वदा भरण पोषण करना चाहिए। यही नहीं अगर पत्नी यदि व्याभिचारिणी भी हो तो भी उसका उत्तरदायित्व समाप्त नहीं होता। यदि पति, पत्नी का भरण पोषण न करे तो उसके दोष का उत्तरदायी होता है। शास्त्रों में व्याभिचारिणी पत्नी के साथ बहुत म दुता का व्यवहार किये जाने का विधान किया गया है। यदि स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो तो उसको घर में बन्द करके प्रायश्चित करवाना चाहिए। यदि स्त्री अपनी जाति के अलावा किसी पर पुरूष से व्याभिचार करवाये तो ऐसी स्थिति में नारद स्म ति में स्त्री का सिर मुंडवा देने, उसे भूमि पर सुलाने, खराब भोजन तथा कपड़ा देने तथा उससे घर में झाड़ू लगवाने की व्यवस्था की गई है। व्यास के अनुसार अगले ऋतुकाल तक उससे ध ार्मिक, दाम्पत्य तथा साम्पतिक अधिकार छीनने का तथा निरादर पूर्ण व्यवहार करने का विधान है।

प्राचीन काल से भारतीय समाज में पतिव्रता स्त्रियों के लिए ऊंचा स्थान प्रदान किया गया। मनु ने मन, काया तथा वचन से भी पर पुरूष के साथ व्यभिचार ने करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग में निवास करने वाली साध्वी बताया। भारतवर्ष में ऐसी नारियां भी थी जिन्होंने

विषम परिस्थितियों के होते हुए भी अपने प्राणों को विकट संकट में डालकर भी पतिव्रत्य की मर्यादा को निभाया है। जैसे सीता, सावित्री, गंधारी, द्रोपदी, दमयन्ति आदि।

मनु के अनुसार स्त्रियों का आदर मान उनके पुरूष से सम्बन्धों के आधार पर भी किया जाता था, लेकिन कई बार परिवार में अपने स्वयं के मधुर सम्बन्ध व्यवहार के कारण भी स्त्रियां आदर का स्थान ग्रहण करती। यही नहीं, सभी संस्क त साहित्य में स्त्री के आदर, सम्मान का वर्णन मिलता है।

### माता के रूप में

स्त्री के विविध रूपों में, माता का रूप, सर्वाधिक आदरणीय तथा महत्वपूर्ण माना गया। माता होने के साथ ही स्त्री का घर में मान बढ़ जाता है। मनुस्म ति में भले ही स्त्रियों पर कठोर नियन्त्रण का विधान था, किन्तु माता का स्थान सर्वोत्तम माना गया है। आचार्य से पिता, पिता से बढ़कर माता सहस्र गुणा श्रेष्ठ मानी गई है। सातवाहन काल में लोग अपने नाम से आगे माता का नाम अंकित करवाते थे। सामवाहन वंश का इतिहास माता के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित करने मं अग्रणी है। महाक्षत्रप शोडास के काल में मथुरा आयागपट्ट में इस तरह का वर्णन मिलता है, जहां अमोहिनी नामक स्त्री के पुत्रों ने अर्हत पूजा में निमितः आयागपट्ट का निर्माण किया था।

## (ख) स्त्रियां एवम् विवाह प्रथा

विवाह प्राचीन काल से ही मनुष्य जीवन का सुचारू रूप से चलाने के लिए आवश्यक माना गया है और इसीलिए सब आश्रमों में ग हस्थाश्रम सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यही वह आश्रम है जिसमें मनुष्य अपनी इहलौकिक कर्त्तव्यों को पूर्ण करता हुआ मोक्ष प्राप्ति का रास्ता बनाता है। प्राचीन काल में सभी स्त्रियों के लिए सामान्यतः विवाह आवश्यक माना जाता था और यह विश्वास किया जाता था कि अगर कोई स्त्री अविवाहित मर जाती है तो उसके लिए स्वर्ग में कोई जगह नही है। महाभारत के साल्यपर्व में एक वर्णन आता है जिसके अनुसार एक कन्या अपने माता-पिता की सेवा के लिए अविवाहित रही, उसको व द्धावस्था में अत्यधिक पीड़ा सहन करनी पड़ी।

प्राचीन साहित्य में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है ये हैं ( 1 ) ब्रह्म विवाह ( 2 ) प्रात्यापत्य विवाह ( 3 ) आर्ष विवाह ( 4 ) दैव विवाह ( 5 ) गान्धर्व विवाह ( 6 ) आसुर विवाह ( 7 ) राक्षस विवाह ( 8 ) पैशाच विवाह।

इनमें से प्रथम चार प्रकार के विवाह मान्य प्रकार के विवाह थे तथा अन्य चार अमान्य जो कि विशेष परिस्थितियों में मान्य हो जाते थे।

इन आठ प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का विवाह जिसे स्वयंवर कहते थे। राजघराने की लड़कियों के लिए प्रचलित था। जिसमें पड़ोसी राज्यों के राजाओं व राजकुमारों को न्योता देकर बुलाया जाता था और कन्या को इनमें से अपना वर चुनने की स्वतन्त्रता थी।

### वर-वधु की उम्र

मनुस्म ति के अनुसार 30 वर्ष की उम्र का पुरूष 12 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता था। इसी प्रकार 24 वर्ष के युवक को 8 वर्ष की बालिका से विवाह करना चाहिए। वह वर वधु की उम्र में तीगने अंतर को उचित मानता है लेकिन वात्सायासन इस मत से महमत नही लगते उनके अनुसार वधु वर से तीन या चार वर्ष कम होनी चाहिए। स्म तिकार बाल विवाह को धर्मोचित

ठहराते हैं। लड़की का विवाह राजस्वला से पहले होना चाहिए। कुछ स्म तियों में तो यहां तक वर्णित है कि कन्याओं का विवाह नग्निका अवस्था में ही होना चाहिए। आमतौर से विवाह बाल्यवस्था में ही हो जाता था हांलाकि उच्च घराने की बहुत सी लड़कियों के यौवनावस्था में विवाह सम्पन्न होने के बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं।

## अर्न्तजातीय विवाह

विवाह अपनी ही जाति के प्रसव से आदर्श एवम् वैध माना जाता था। अर्न्तजातीय तथा अर्न्तदेशीय विवाहों पर पाबन्दियां होने के बावजूद भी इस प्रकार के विवाहों अनेको साक्ष्य प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध है। महाक्षत्रय सद्रदामन ने अपनी पुत्री का विवाह वशिष्ठी प्रश्र श्री सातकर्णी के साथ किया। शातकर्णी ब्राह्मण जाति से सम्बन्धित था जबकि सद्रदामन विदेशी शक शासक था। इसी प्रकार नाहपान की पत्नी भी संभवतः भारतीय मूल की थी उसने अपनी बेटी का नाम दक्षमित्रा भारतीय नाम रखा।

## अनुलोम और प्रतिलोम विवाह

इस प्रकार ऊपर वर्णित विवाहों के अतिरिक्त अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह भी बड़ी मात्रा में प्राचीन काल में प्रचलित थे। अपने वर्ण से बाहर विवाह करने की प्रथा ऋग्वैदिक तथा उत्तरवैदिक काल में भी प्रचलित थी। धर्मसूत्र स्म ति साहित्य एवम् पुराणों ने उच्च वर्ण के पुरूष और निम्न वर्ण की कन्या के विवाह की अनुमति प्रदार कर दी। ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते थे। इस विधान से उच्च वर्ण के पुरूष सवर्ण स्त्री के अतिरिक्त अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से भी विवाह करने लगे थे। याज्ञवल्क्य स्म ति के अनुसार ब्राह्मण को तीन स्त्रियों से, क्षत्रिय को दो स्त्रियों से और वैश्य तथा शूद्र को केवल एक-एक स्त्री से विवाह करने की अनुमति थी। अनुलोम विवाह की अनुमति वैश्य और शूद्र के लिए नहीं थी। सवर्ण स्त्री के होते हुए असवर्ण स्त्री पति के साथ धार्मिक क त्यों का अनुष्ठान नहीं कर सकती थी और असवर्ण स्त्रियों की स्थिति हीन मानी जाती थी। इसी का परिणाम था कि अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति में बहुत कम अंश उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता था। मनु और याज्ञवल्क्य ने उत्तरधिकार का निरूपण करते हुए सवर्ण स्त्री से उत्पन्न सन्तान की तुलना में अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को सम्पत्ति में कम हिस्सा प्रदान किये जाने की व्यवस्था की है।

अनुलोम विवाह के अनेक उदाहरण प्राचीन साहित्य में विद्यमान है। शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र ब्राह्मण वर्ण का था, किन्तु उसका विवाह क्षत्रिय यज्ञसेन की कन्या मालविका के साथ हुआ था। वाकाटक वंश के राजा भी वर्ण से ब्राह्मण थे। इस वंश में उत्पन्न राजा रूद्रसेन ने प्रभावती गुप्ता से विवाह किया था - जो वर्ण से वैश्य थी। वाकाटक राजा देवसेन का मन्त्री ब्राह्मण सोमनाथ था - जिसकी दो पत्नियां थी। एक पत्नी ब्राह्मण वर्ण की थी, जबकि दूसरी क्षत्रिय वर्ण की। ब्राह्मण कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी क्षत्रिय वर्ण की थी।

प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का पुरूष अपने से उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था। प्रतिलोम विवाह की इजाजत हमारे धर्मशास्त्रकारों द्वारा नहीं दी गई थी परन्तु फिर भी ऐसे विवाह भी प्राचीन काल में प्रचलित थ। इसलिए उनसे उत्पन्न सन्तान को निक ष्ट समझा जाता था। गौतम धर्मसूत्र में सूत, मागध वैदेह और चाण्डाल को प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान ही बताया गया है।

मनु के अनुसार क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान जाति से सूत होती है और वैश्य पिता तथा क्षत्रिय माता की सन्तान मागध। इसी प्रकार वैश्य पिता और ब्राह्मण माता से

उत्पन्न सन्तान वैदेह कहलाती थी। धर्मशास्त्रों और स्म तियों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्ण संकर माना गया है।

## नियोग प्रथा

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से भी नियोग प्रथा के बारे में जानकारी मिलती है। यदि पति सन्तान उत्पन्न करने में अयोग्य हो, या उसकी म त्यु हो गई हो, वह लम्बे समय के लिए विदेश चला गया हो या उसका कोई पता न हो, ऐसी अवस्था में स्त्री को यह अनुमति थी कि वह सगोत्र निकट सम्बन्धी से सन्तान प्राप्ति के प्रयोजन से नियोग कर सकती है। विवाह के समान नियोग भी धर्मसम्मत था। वैदिक साहित्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों, स्म तिग्रन्थों, गौतम धर्मसूत्रों और मनु के अनुसार नियोग की अनुमति स्पष्ट रूप से उचित थी। इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तान स्त्री के पति की ही मानी जाती थी। उसकी नहीं जिसके साथ नियोग किया जाये। मनु के अनुसार स्त्री क्षत्रिय खेत है तथा उसका पति क्षेत्रीय-खेत का स्वामी। यह सत्य है कि जिससे नियोग किया जाये वह व्यक्ति बीज डालने वाला है लेकिन खेत में उत्पन्न फसल उसी की है जो खेत का स्वामी है। अतः नियोग से उत्पन्न सन्तान को क्षेत्र के स्वामी की ही मानी जायेगी। इस प्रकार की सन्तान को क्षेत्रीय सन्तान की संज्ञा दी गई थी नारद और याज्ञवाल्क्य भी इस मत में है। नियोग से उत्पन्न संतान को अपने क्षेत्रीय पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होता था। नियोग का प्रयोजन केवल सन्तान को ही प्राप्त करना था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन है कि अगर राजा बूढ़ा है तथा न ठीक होने वाली बीमारी से पीड़ित है, तो वह स्त्री नियोग प्रथा से सन्तान उत्पन्न कर सकती है। एक अन्य स्थान में कौटिल्य ने वर्णन किया है कि यदि ब्राह्मण अपने उत्तरधिकारी के बिना मरता है तो उसे क्षेत्रीय बेटा करने के लिए सगोत्रा नियुक्त करना चाहिए जो जायदाद प्राप्त कर सके।

मनु का कथन है कि विधवा नियोग प्रथा द्वारा सन्तान उत्पन्न करे। विधवा का उद्देश्य पूर्ण होने के पश्चात् सास-ससुर को उसके साथ बहु जैसा व्यवहार करना चाहिए। बाद में उसने नियोग प्रथा को पशुवत कहकर उसकी निन्दा भी की और घोषणा की है कि यह प्रथा लम्बे समय तक नहीं चलनी चाहिए। मनु ने नियोग प्रथा की भर्त्सना की है। वह इसको नियम विरूद्ध ठहराता है। उसने इस प्रथा का संचालक राजा वेन को माना है। मनु पुनः नियोग का अर्थ यह कहकर समझाया है कि नियोग के विषय में नियम केवल उसी कन्या के लिए है जो वधू रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी हो। ऐसी स्थिति में पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल में तब तक सम्भोग करना पड़ता है जब तक की एक पुत्र उत्पन्न न हो जाए। वह पुत्र म त व्यक्ति का पुत्र नहीं माना जा सकता था।

ब हस्पति ने लिखा है - मनु ने प्रथम नियोग करके इसे निषिद्ध किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन लोगों में तप, बल एवं ज्ञान था। अतः वे नियमों का पालन कर सकते थे, लेकिन द्वापर एवं कलयुग के लोगों में शक्ति एवं बल का ह्रास हो गया। अतः वे नियोग के नियमों के पालन में असमर्थ थे। किन्हीं कारणों से भारतीय समाज शास्त्रियों ने यह प्रथा समाज में रखी थी, लेकिन 400 ई० पू० से 200 ई. तक आते इस प्रथा को समाप्त करने की विधि विफल रही। बाद में यह आवश्यक हो गया था कि इस प्रथा पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाए। इस प्रथा के द्वारा पहले तीन पुत्र प्राप्त कर सकते थे, किन्तु कतिपय विचारकों ने दो पुत्र प्राप्ति तक ही सीमित किया जबकि अधिकतर विचारक केवल एक पुत्र प्राप्त करने के अधिकार में थे। एक स्त्री जिसे नियोग से सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहा जाता था, अब उसे अपने पति की म त्यु के बाद एक वर्ष तक इन्तजार करना पड़ता था। यदि एक विधवा की इच्छा नियोग करने की नहीं होती

थी तो उसे इस कार्य के लिए विवश नहीं किया जाता था।

आर्थिक द ष्टि से भी नियोग प्रथा आवश्यक नही थी, क्योंकि नियोग द्वारा प्राप्त पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता था, न कि नियोगी का। धर्मसूत्रों में वर्णन है कि नियोग का उद्देश्य आर्थिक लाभ नहीं बल्कि नियोग तो क तत्व समझकर आदर मान से पूरा किया जाता था, जिसमें पुत्र प्राप्ति थी, न कि मौजमस्ती के लिए।

भारतीय समाज में पुत्रविहीन नारी का सम्पत्ति में अधिकार नहीं होता था। विधवा विवाह करने में स्त्रियों में वैर भाव होने से घर की शान्ति भंग होती थी। इसलिए नियोग से पुत्र प्राप्ति आवश्यक मानी जाने लगी। लेकिन धीरे-धीरे विचारक इस प्रथा के विरूद्ध हो गये। उन्होंने विधवा विवाह पर जोर दिया ताकि स्त्री को समाज में आदर मिल सके। 300 ई० के बाद यह प्रथा भारतवर्ष में धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। यद्यपि विधवा विवाह और नियोग प्रथा को समाज अच्छा नहीं मानता था। पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कलयुग में इस प्रथा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

## सम्बन्ध विच्छेद

प्राचीन कालीन भारतीय समाज में स्त्री-पुरूष के मध्य सम्बन्ध विच्छेद होने के भी प्रमाण मिले हैं। यदि पति का चरित्र अच्छा न हो, वह विदेश चला गया हो, वह राजद्वेषी हो, स्त्री को उससे अपने प्राणों का भय हो, वह पतित हो गया हो और नपुंसक हो, तो पत्नी उसका परित्याग कर सकती है।

इस काल में विधवा को पुनर्विवाह करने का अधिकार था। लेकिन ऐसी स्त्रियां भी थी जो विधवा रहकर स्वच्छन्द रूप से जीवन व्यतीत करना पसन्द करती थी। ऐसी स्त्रियों को कौटिल्य ने 'छन्दवासिनी' विधवा कहा है। मौर्य काल के पश्चात् धर्मशास्त्रों में भी स्त्रियों को पुनर्विवाह करने की अनुमति थी। लेकिन इस विषय पर समाजशास्त्री एक मत नहीं हैं। मनुस्म ति में पति की म त्यु हो जाने पर भी पत्नी के लिए पुनर्विवाह निषिद्ध था। मनु के अनुसार विधवा का सर्वोत्तम धर्म यही है कि वह ब्रह्मचारिणी रहते हुए तप, संयम का जीवन व्यतीत करे। स्म तिकारों के विचार में कन्यादान एक बार ही होता है। मनु ने अक्षतयोनि विधवा के पुनर्विवाह के अधिकार को स्वीकार किया है।

अर्थशास्त्र के विवरण को द ष्टि में रखते हुए मनु ने भी कहा है कि यदि पुरूष किसी धार्मिक कर्त्तव्य के लिए विदेश गया हो तो उसकी पत्नी को आठ वर्ष तक इन्तजार करना चाहिए। यद्यपि मनु स्पष्ट रूप से यह वर्णन करता है कि इन्तजार के बाद क्या करना चाहिए। लेकिन ऐसी दशा में स्त्रियों का पुनर्विवाह उन्हें स्वीकार था। नारद स्म ति के अनुसार भी पति के विदेश चले जाने पर ब्राह्मण पत्नी को आठ वर्ष तक, सन्तान न होने पर चार वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। साथ ही नारद स्म ति में यह भी वर्णन है कि यदि पति मर गया हो, प्रवज्या ग्रहण किया हो, नपुंसक हो या पतित हो तो स्त्री अन्य पुरूष से विवाह कर सकती है। ये पांच बातें श्लोक द्वारा पराशर स्म ति और अग्निपुराण में भी दी गई हैं पुनर्विवाह करने वाली स्त्री के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'पुर्नभू' संज्ञा का प्रयोक किया गया है। 'पुर्नभू' ऐसी स्त्रियों को कहा जाता है जिन्होंने विधिवत पुनर्विवाह किया हो। ऐसी स्त्रियां दो प्रकार की थी - क्षता (क्षतयोनि) और अक्षता (अक्षत योनि)।

वास्तव में मनु पुनर्विवाह के पक्ष में थे। उनके विचारानुसार विधवा को शुद्ध व सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहिए। यही एक विश्वसनीय पत्नी का चिन्ह है। पति के होते हुए अथवा

ने होते हुए भी पत्नी चरित्रवान बन कर रहे। हर प्रकार का सुख-दुःख त्यागकर जीवनपर्यन्त विधवा जीवन व्यतीत करे। उन्होंने विधवा विवाह को प्रशस्त नहीं माना है। लेकिन वे कम आयु की विधवा के विवाह का विधान करते हुए वर्णन करते हैं।

दूसरी शताब्दी ई० पू० में विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं थी। वात्सायन ने भी यह कहा है। हां केवल कुछ एक अवस्थाओं में ही पुनर्विवाह किया जाता था। एक स्त्री उसके पति के मरने पर अगर चरित्रहीन होती थी, या अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं रखती थी, वह ऐसे पुरूष को खोजती थी जिसके साथ वह विवाह कर सके और उसके प्रेमी की तरह रहे, ऐसी स्त्री को 'पुनर्भ' कहा जाता था।

ब हस्पति का कथन है कि 'पत्नी अर्धांगिनी घोषित हो चुकी है, वह पति के पापों एवं पुण्यों की भागी होती है। एक सद्गुणी पत्नी चाहे वह पति की चिता पर भस्म हो जाती है या जीवित रह जाती है अपने पति को आध्यात्मिक लाभ को अवश्य प्राप्त करती है।

कौटिल्य ने यह भी विचार व्यक्त किया है कि स्त्री अथवा पुरूष कोई भी एक दूसरे का त्याग कर सकता है। लेकिन प्रशस्त चार प्रकार के विवाहों में वे ऐसा करने की आज्ञा नहीं देते हैं। उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद का उल्लेख किया है। यदि पत्नी अपने पति से नफरत करती है तो उसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं दे सकती, जब तक पति की इच्छा न हो। इसी प्रकार पति भी सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता है जब तक उसकी पत्नी की इच्छा न हो। लेकिन दोनों की सहमति से सम्बन्ध विच्छेद संभव था।

बुद्धचरित नामक ग्रन्थ में पत्नी की आचरण दिनचर्या दी है - उसे बन संवारना, पान खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। पीतल कांसे के बर्तनों में भोजन नहीं करना चाहिए। दो बार भोजन करना, अंजन लगाना आदि त्याग देना चाहिए। उसे श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए। इन्द्रियों एवं क्रोध को बस में करना चाहिए, सदा श्रीहरि की पूजा करनी चाहिए। रात्रि में भूमि में कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए। मनोयोग एवं संत संगति में लगा रहना चाहिए।

## विधवा विवाह

कौटिल्य विधवा विवाह के सम्बन्ध में कहते है कि जिस स्त्री का पति सन्यासी हो गया हो या मर गया हो उसे सात मासिक धर्म तक दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। यदि उसकी कोई सन्तान हो तो वह एक वर्ष तक ठहर जाए। उसके बाद वह अपने पति के सगे भाई से विवाह कर ले। यदि सगे भाई बहुत से हो तो पति के तुरन्त बाद का भाई धार्मिक एवं भरण पोषण में जो समर्थ हो के साथ विवाह कर लेना चाहिए अथवा जिस भाई की पत्नी न हो उसके साथ विवाह कर लेना चाहिए। यदि सगे भाई न हो तो परिवार में या अन्य सगौत्र जो रिश्ते में निकटतम भाई लगे, उसके साथ विवाह कर लेना चाहिए। स्त्रीधन के सम्बन्ध में लिखते हुए कौटिल्य का मत है कि ससुर की इच्छा के विपरीत विवाह करने वाली स्त्री ससुर और म तपति द्वारा प्रदत्त स्त्री धन नहीं पा सकती। वह पुनर्विवाह प्रथा के प्रचलन का समर्थन करता है।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों में विधवा विवाह के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं है लेकिन कुछ उदाहरणों के माध्यम से, जो सीधे विधवा विवाह प्रकरण से सम्बन्धित नहीं है, ज्ञात होता है कि उपवाद के रूप में विधवा विवाह का प्रचलन रहा होगा। जैन प्रबन्धों में विधवा विवाह का उल्लेख है जैसे पिण्डविर्यु कित टीका में विधवा स्त्री के उसके देवर के साथ विवाह का वर्णन है।

स्म तिकाल तक स्त्रियों की स्थिति गिरते-गिरते शूद्रों के समान हो गई थी। यही कारण

था कि मनु जैसे प्रमुख स्म तिकार विधवा विवाह के विषय पर मौन रह गया। मनु का मत है कि यौनर्भन संतान विधवा या उसके म तक पति का कोई उपकार नहीं करता। बल्कि इससे विधवा का पतिव्रत धर्म नष्ट होता है। प्रशान्त कुमार वेदालंकार ने मनु को मनुस्म ति के आधार पर वेद सम्मत विधवा पुनर्विवाह का समर्थक माना है।

## सती प्रथा

विधवा के लिए एक विकल्प था, अपने म त पति के साथ चिता में जल मरना और दूसरा जिंदा रहकर जलालत तथा घोर अन्याय सहन करना। 'सती' का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य पर स्थिर रहनेवाली' है, जो पति-पत्नी का अटूट और अविच्छेद्य सम्बन्ध भी व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ था, धर्म के प्रति एकनिष्ठ होकर अपने उज्ज्वल चरित्र की कीर्ति द्वारा संसार में अमर होनेवाली स्त्री। '**सती**' शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में '**अन्वारोहण**' (म त पति के साथ चिता पर चढ़ना), **सहगमन** (म त पति का अनुगमन करना), **सहमरण** (म त पति के साथ मरना) और **अनुमरण** (यदि पति की म त्यु विदेश-प्रवास काल में हो गई हो तो उसका समाचार जानने के बाद, उसके पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं। इन शब्दों के व्यवहार के स्पष्ट होता है कि विवाहोपरान्त पति-पत्नी का सम्बन्ध जीवितावस्था में अत्यन्त प्रगाढ़, अटूट और पावन होता था तथा पति के मरने के बाद परलोक और जन्मांतर में भी तद्वत् अटूट बना रहता था। अतः 'सती' शब्द की व्यंजना उसके ऐतिहासिक विकास, प्रचलन और प्रसार से है, जिसमें म त पति के प्रति विधवा स्त्री का अनुपम अनुराग, त्याग और बलिदान परिलक्षित होता है। म त पति के साथ जीवित ही प्राण-त्याग करना भारत की ही अनोखी और अंधविश्वसनीय प्रथा नहीं थी, बल्कि इस प्रकार की प्रथा विश्व के अनेक प्राचीन देशों में भी प्रचलित थी। मिस्र के पिरामिड प्रसिद्ध हैं जिनमें प्राचीन मिस्र के म त राजाओं के साथ उनकी प्रिय जीवित रानियां और परिचारिकाएं आदि विभिन्न सुख-सामग्री के साथ दफना दी जाती थी ताकि म त आत्माएं दूसरे लोक में भी सुख-सम द्धि के साथ रहें। इस प्रकार म त पति के साथ पत्नियों का जीवित ही अपने को जलाने और गाड़ने की प्रथा मिस्र के अतिरिक्त स्लाव, रोम, यूनान आदि अनेक देशों में भी व्यवहृत थी। अतः भारत में इस प्रथा का प्रारम्भ होना उसी व्यवहार का दिग्दर्शन कराता है।

**सती प्रथा** का भारत में कब से प्रारम्भ हुआ, यह विवादास्पद है। पूर्ववैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य के कुछ उदाहरणों के आधार पर यह कहा गया है कि सती प्रथा का प्रारम्भ आर्यों के प्रारम्भिक जीवन-काल से हुआ। किन्तु सती प्रथा सम्बन्ध में जो उदाहरण मिलते हैं, वे अत्यधिक संदिग्ध है। ऋग्वेद में आए एक मंत्र को लेकर मतभेद है, कि उसमें 'अग्ने' शब्द का प्रयोग हुआ है या 'अग्रे' शब्द का। उक्त अंश का यह अर्थ है कि स्त्री अपने म त पति के शव के साथ लेटती है। तत्पश्चात् उसे संबोधित किया जाता है, 'नारी उठो, पुनः इस संसार में आओ।' इस अंश के आधार पर माना गया कि सती-प्रथा का प्रारम्भ पूर्ववैदिक युग में ही हो गया था। सती प्रथा से सम्बन्धित इसी प्रकार का अर्थ व्यंजित करने वाले उत्तरवैदिककालीन साहित्य के कई उद्धरण मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद और तैत्तिरीय आरण्यक में कुछ ऐसे ही अर्थ अभिव्यक्त करने वाले श्लोक है अथर्ववेद में उल्लिखित है कि अपने म त पति के शव के साथ विधवा नारी चिता पर आरोहण करती है और उसके बाद उसे चिता से उतर आने के लिए निर्देशित किया जाता है। अतः कहा जाता है कि उस युग में सती-प्रथा का व्यवहार था जिसकी परम्परा उक्त उद्धरण में झलकती है। तैत्तिरीय आरण्यक के उद्धरण में म त पति के साथ विध वा स्त्री दर्शित की गई है, जिसका आगामी जीवन सुखमय होने की इच्छा व्यक्त की गई है।

किन्तु किसी ग ह्यसूत्र में सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। केवल आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह उल्लेख है कि म त पति का भाई या उसका शिष्य या कोई दास विधवा स्त्री को श्मशान से घर ले आता था। इससे यह व्यक्त होता है कि म त पति के साथ उसकी विधवा पत्नी किसी न किसी रूप में संबंधित की गई। ऐसा लगता है कि पुरूष की सर्वाधिक प्रिय पत्नी ही रही है, इसलिए प्राचीन व्यवस्थाकारों ने म त पति के साथ उसकी पत्नी को सहगमित करने के लिए निर्देशित किया।

भारत में सती प्रथा का पुनः प्रचलन चौथी ई. पू. के पश्चात् किसी समय व्यवहार में आया। इसका उल्लेख रामायण और महाभारत महाकाव्य में भी हुआ है। रामायण में ब्रह्मणी वेदवती के सती होने का उल्लेख है, जो स्वभावतः प्रक्षेप है, क्योंकि दशरथ के मरने पर उसकी कोई भी पत्नी सती नहीं हुई थी। महाभारत में सती प्रथा के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। महाराज पाण्डु के म त होने पर उनकी रानी माद्री सती हो गई थी। क ष्ण के पिता वसुदेव के मरने पर उनकी चार पत्नियों, देवकी, मद्रा, रोहिणी और मदिरा ने सहमरण किया था। महाभारत के शांतिपर्व में एक कपोत और कपोती की कथा दी गई है, जिसमें कपोत के मर जाने पर कपोती सती हो गई थी। सती सम्बन्धी यह द ष्टान्त उस युग के सती-प्रचलन का आभास कराता है। ग्रीक इतिहासकारों ने भी सती प्रथा का संकेत दिया है। स्ट्रैबो ने तक्षशिला की स्त्रियों के लिए लिखा है कि वे म त पति के साथ चिता में जल मरती थी। पंजाब की कठ जाति में सती प्रथा का व्यवहार था। अतः सती प्रथा के ऐतिहासिक उदाहरण चौथी सदी ई. पू. से ही मिलते हैं, जिसका उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। कालिदास ने इस प्रथा का संकेत 'पतिवर्त्मगा' पद द्वारा किया है। सती-धर्म प्राणिमात्र और चेतनाहीनों के लिए भी स्वाभाविक था। वात्स्यायनक त कामसूत्र में उल्लिखित है कि नर्तकियां अपने प्रेमियों को सती होने का झूठा आश्वासन देती थीं। ब हस्पति की द ष्टि में वैधव्य के ब्रह्मचर्य की स्थिति में सती होना अच्छा था। व्यास और दक्ष ने सती धर्म को विधवा के जीवन का सर्वोत्तम विकल्प स्वीकार किया है। जो स्वर्ग से भी बढ़कर महत्वशाली था। ब हत्सहिता के अनुसार विधवा के लिए सती होना श्रेयस्कर था। सती होने के सम्बन्ध में गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलता है। हूणों के विरूद्ध युद्ध में म त (510 ई०) सेनापति गोपराज की पत्नी सती हो गई थी। पुराणों में भी सती प्रथा के अनेक प्रसंग विद्यमान हैं। श्रीक ष्ण की म त्यु हो जाने पर रुक्मिणी आदि उनकी पत्नियों ने उनके म त शरीर का आंलिगन करके अग्नि में प्रवेश किया था। अपने पति बलराम के म त होने पर रेवती सती होने के निमित्त आल्हादपूर्वक उसके शरीर का आश्लेष कर शीतल अग्नि में प्रविष्ट हुई थी। हर्षचरित से विदित होता है कि प्रभाकरवर्धन की म त्यु के पहले ही उसकी पत्नी यशोमति अग्नि-प्रवेश कर चुकी थी। परवर्ती व्यवस्थाकारों ने भी सती प्रथा की प्रशंसा की है। क त्यकल्पतरू में ब्रह्मपुराण का उद्धरण दिया गया है जिसके अनुसार, ''पति के मरने पर सत्-स्त्रियों की दूसरी गति नहीं। भर्त-वियोग से उत्पन्न दाह का दूसरा कोई शमन नहीं। यदि पति देशान्तर में मरे तो साध्वी स्त्री उसकी पादुकाएं अपने ह्रदय से लगाकर तथा पवित्र होकर अग्नि में प्रवेश करे। विज्ञानेश्वर ने मेघातिथि का विरोध करते हुए यह निर्देश दिया है कि यह सती प्रथा सभी वर्णो में प्रचलित होनी चाहिए। लक्ष्मीघर ने अंगिरा को उद्ध त करते हुए लिखा है कि पति के म त हो जाने पर जो स्त्री हुताशन ( अग्नि ) पर आरोहण करती है, वह अरुन्वती (वसिष्ठ की पत्नी) के सद श आचरण करने वाली स्वर्गलोक में महत्वपूर्ण पद प्राप्त करती है। मनुष्य के शरीर के साढ़े तीन करोड़ रोएं जितने वर्ष पर्यन्त वह पति का सहगमन करते हुए स्वर्ग में निवास करती है। जिस प्रकार सांप पकड़नेवाला सांप को बिल में से निकाल लेता है उसी प्रकार अधोगति से अपने पति को बचाकर उसके साथ स्त्री स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है। पति का अनुगमन करने वाली स्त्री माता, पिता तथा भर्त्ता,

तीनों के कुलों को उज्ज्वल और पवित्र करती हैं। वह पति में अनुरक्ति रखनेवाली, उत्तम, परम आकांक्षावाली स्त्री पति के साथ स्वर्ग में चतुर्दश इन्द्रों के समय तक विहार करती है। पति क तघ्न अथवा मित्रघ्न ही क्यों न हो, उसका अनुगमन करनेवाली स्त्री उसे पवित्र करती है। पति के मरने पर साध्वी स्त्रियों का अग्नि-प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म विज्ञेय नहीं है। पति के मरने पर जब तक पतिव्रता अपने शरीर का दाह नहीं कर लेती तब तक वह शरीर से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो पाती। मरकर पति के स्वर्ग जाने पर वियोग के क्षत (घाव) से कातर स्त्रियों का अग्नि-प्रवेश के अतिरिक्त दूसरा मार्ग (धर्म) नहीं। राजतरंगिणी से सती प्रथा के कई साक्ष्य मिलते है। उसके अनुसार शंकर वर्मन के मर जाने पर उसकी सुरेन्द्रवती नामक प्रधान रानी के साथ तीन रानियों ने अन्वारोहण किया था। कन्दर्प सिंह के म त होने पर उसकी भार्या सती हुई थी। कथासरित्सागर में भी पति के मरने पर सती होने की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। उत्तरप्राचीनकालीन अभिलेखों में भी सती के अनेक विवरण मिलते हैं। नेपाली अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजा धर्मदेव के मरने पर उसकी पत्नी राज्यवती ने अन्वारोहण किया था। जोधपुर से प्राप्त एक अभिलेख से विव त है कि गुहितवंशीय दो रानियां चिता में जलकर सती हो गई। घटियाला (जोधपुर) अभिलेख (810 ई०) राजपूत सामंत राणुक का उल्लेख करता है, जिसके साथ उसकी पत्नी सम्पलदेवी ने सहगमन किया था। इन अभिलेखीय प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि समाज में सती प्रथा का चलन था। यह सही है कि सती प्रथा विशेषकर राजपरिवार और अभिजात वर्ग में ही अधिक प्रचलित थी, किन्तु बाद में इसका प्रचलन जन-साधारण में भी यदा-कदा होने लगा तथा धर्मभीरु जनता भी इस प्रथा की अनुयायी बनी।

एक ओर जहां कुछ शास्त्रकारों ने सती प्रथा का समर्थन किया है, वहीं कुछ ने इसका घोर विरोध। मध्यकालीन टीकाकार मेघातिथि ने इस प्रथा का प्रबल विरोध करते हुए अपते मत के समर्थन में वेदवाक्य उद्ध त किया है, जिसके अनुसार, ''यद्यपि अंगिरा ने सती प्रथा के अनुमरण की अनुमति दी है, तथापि यही अर्थो में यह आत्महत्या है, जो स्त्रियों के लिए पूर्णतः निषिद्ध है। वेद में 'श्येनेमाभिचरन् यजेत्' पाया जाता है, फिर भी यह धर्म नहीं समझा जाता (यह अभिचार या जादू है), अपितु अधर्म। यद्यपि सती का उल्लेख हुआ है, तथापि वस्तुतः यह अधर्म है। जो स्त्री शीघ्रता से अपने तथा अपने पति के लिए स्वर्ग पाने को उत्सुक है, वह अंगिरा के वचन का पालन तो करती है, परन्तु उसका आचरण अशास्त्रीय है। अपने पूर्ण विहित जीवन में कर्त्तव्य कर्म का पालन करने के पूर्व इस संसार का (बलात्) त्याग नहीं करना चाहिए।'' देवण्ण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए अपना विचार व्यक्त किया है कि सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है। इन शास्त्रकारों और भाष्यकारों के पूर्व महाकवि बाण ने भी सती प्रथा का कड़ा विरोध किया है और इस कार्य को जघन्य बताते हुए भर्त्सना की है। उसका मत है कि स्त्री सती होकर आत्महत्या करती है। इस पाप के कारण वह नरक में गमन करती है। म च्छकटिक में भी सती प्रथा की आलोचना और निन्दा की गई है। महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार मोह के कारण चितारोहण करनेवाली नारी नरकगामिनी होती है।

कुछ व्यवस्थाकारों द्वारा सती प्रथा के विरोध के बावजूद समाज में इसका प्रभाव बराबर बना रहा। बल्कि, यह कहना अत्युक्ति न होगा कि मध्यकाल तक आते-आते हिन्दू समाज में अभिजात वर्ग में इसका प्रभाव स्थायी होता गया। पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों ने सती प्रथा के सम्बन्ध में विवरण दिया है तथा उनके अनुसार राजपूत और योद्धा वर्ग ने सती प्रथा का विशेष अनुपालन किया। धर्मशास्त्रकारों ने भी इस प्रथा का अनुसरण करने के लिए क्षत्रिय वर्ग को ही अधिक उपयुक्त बताया है। पद्मपुराण में ब्राह्मण स्त्री के लिए सती प्रथा का अनुसरण करना ब्रह्महत्या के समान कहा गया है तथा पैठिनसि, अंगिरा, व्याघ्रपाद आदि शास्त्रकारों के कथनों

के आलोक में अपरार्क ने भी यह व्यवस्था दी है कि ब्राह्मणी के लिए सती प्रथा का अनुपालन करना युक्तियुक्त नहीं। शुद्धितत्व में सती पद्धति के विषय में लिखा है, ''विधवा स्नान करके दो श्वेत वस्त्र पहनती हैं, अपने हाथों से कुश पकड़ती है, पूरब की अथवा उत्तर की ओर मुख करके खड़ी होती है और आचरन करती है। जब ब्राह्मण 'ओम् तत्सत्' उच्चारण करता है, तब वह भगवान् नारायण का स्मरण करती है। वह मास, तिथि और पक्ष का निर्देश करती हुई संकल्प करती है। अपने सहमरण अथवा अनुमरण के साक्षी होने के लिए दिक्पालों का आवाहन करती है। तीन बार चिता की प्रदक्षिणा करती है। उस समय ब्राह्मण 'इमा नारी' आदि वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता है और फिर पौराणिक वचन, 'पति में अनुरक्त ये भद्र और पवित्र स्त्रियां म त पति के शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करें।'

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सती प्रथा हिन्दू समाज की अत्यन्त क्रूर, जघन्य, क तघ्न और निन्दनीय प्रथा थी। सच्चरित्रता और सदाचरण के अनुपालन के लिए धर्म के नाम पर जीते जी स्त्री का जल मरना अथवा जबरन सती होने के लिए उसे बाध्य करना अमानुषिक और घ णित कार्य था। दायभाग का यह कथन कि बहुधा सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से लोभवश सती होने के लिए उसे विवश कर दिया जाता था, कुछ अर्थों में सही प्रतीत होता है।

### परदा (अथवा अवगुंठन) का प्रचलन

भारत में स्त्रियों के लिए परदा का प्रचलन कब से हुआ, इसको लेकर विद्वानों में गम्भीर चर्चा है। वैदिक युग से पहली सदी ई. पू. तक हिन्दू समाज मे स्त्रियों के लिए परदा अथवा अवगुंठन का कोई प्रचलन नहीं था। स्त्रियां बिना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक आ जा सकती थी तथा पुरूषों के साथ हिल मिल सकती थी। सहशिक्षा का व्यवहार स्त्री पुरूष दोनों को समान रूप से उन्मुक्त वातावरण प्रदान करता था। पूर्ववैदिक काल में वधू सभी आगतों को दिखायी जाती थी तथा यह आशा की जाती थी कि वह अपनी व द्धावस्था तक जनसभाओं में बोल पाएगी। यही नहीं, नवविवाहिता बहू सास, ससुर, ननद और देवरों पर सम्राज्ञी बनकर जाती थी, जो परदा के विरुद्ध उन्मुक्तता की ओर संकेत करता है। उस युग में स्त्रियां विदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव और मेला) में स्वच्छंदतापूर्वक सम्मिलित होती थी। स्त्री के लिए 'सभावती' शब्द का भी व्यवहार हुआ है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों पर परदा नहीं था। उत्तरवैदिककालीन ऐतरेय ब्राह्मण के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पुत्रवधुएं (श्नुषा) प्रायः अपने श्वमुर से लजाती हुई दूर खिसक जाती थी। उस युग की प्रायः प्रत्येक सभा और गोष्ठी में स्त्री हिस्सा लेती थी, वार्ता करती थी और विचारों का आदान-प्रदान करती थी। ऐसे समारोहों और आयोजनों में उसका सम्मिलित होना स्वागतार्ह था। कभी-कभी स्त्री अपने सम्पत्ति-विषयक अधिकार के लिए न्यायालय में भी जाती थी। अतः परदा जैसे व्यवहार का स्पष्ट संकेत वैदिक युग में नहीं मिलता। अष्टाध्यायी में पाणिनी ने असूर्यम्पश्या का उल्लेख किया है जिसका अर्थ है, ऐसी स्त्री जिसे सूर्य भी नहीं देख सकता। इसकी व्याख्या 'असूर्यम्पश्या राजदार' से की गई है अर्थात् राजा की स्त्रियां ही असूर्यम्पश्या होती थी। महाकाव्यों के युग में इसका अवश्य प्रारम्भ हो गया था। राज-परिवारों और अभिजात वर्ग की स्त्रियां सम्मान और गरिमा को व्यक्त करने के लिए लज्जा भाव से अपने मुख पर अवगुंठन डाल लिया करती थी ताकि लोगों की द ष्टि उनपर न पड़े। सीता जब राम के साथ वनगमन के लिए सन्नद्ध हुई तो यह कहा गया कि जो महिला आकाशचारियों द्वारा भी कभी नहीं देखी गई वह अब राजमार्ग के सभी लोगों द्वारा देखी जायेगी। यद्यपि कहने से कवि का तात्पर्य जरूरी नही पर्दा प्रथा को इंगित करता हो अपितु इसका तात्पर्य शाही घराने की स्त्री, जो कभी बाहर इस तरह न निकलती हो, यह स्पष्ट करने के लिए ऐसा कहा गया हो। क्योंकि

रामायण में यह कहा गया है कि विवाह, स्वयंवर, यज्ञ आदि के अवसर पर स्त्री निर्विरोध सम्मिलित हो। महाभारत में कहीं भी परदे का रूढ़ प्रथा के रूप में वर्णन नहीं हुआ है। द्रौपदी का जुआ खेलते समय सभाभवन में उन्मुक्त होकर आना परदा प्रथा के विरुद्ध प्रबल प्रमाण है। कुन्ती, गांधारी आदि स्त्रियां अपने मुख पर अवगुंठन करते कहीं नहीं दीखती। यद्यपि महाभारत के एक स्थल पर कहा गया है, ''जिन स्त्रियों को न तो चन्द्रमा ने देखा और न सूर्य ने, वे कौरवेन्द्र राजा ध तराष्ट्र के वन जाने पर शोकार्त होकर राजमार्ग पर चलने लगी।'' रामायण से भी परदा प्रथा का सूत्र नहीं मिलता। नारी के लिए राम का यह कथन कि ग ह, वस्त्र, प्राकार और पार्थक्य उसके लिए व्यर्थ है, उसका चरित्र ही परदा (आवरण) है। यही नहीं, कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा जैसी स्त्रियां कहीं थी अवगुंठन में नहीं वर्णित की गई है। बौद्धयुग मे कतिपय रानियां आवरणयुक्त रथों में जाती थी। परन्तु प्रायः ये रानियां अवगुंठनहीन ही रहती थी और बिना परदे के स्वच्छदंतापूर्वक मन्त्रियों और अधिकारियों से वार्ता करती थी। अनेक साहित्यिक ग्रंथों से भी परदा-प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। भास (दूसरी सदी ईस्वी) के नाटकों में परदे का वर्णन हुआ है। 'प्रतिमा' नामक नाटक में सीता अवगुंठन के साथ रंगमंच पर आती हैं। उसके दूसरे नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में उदयन की महारानी पद्मावती ने वधू बनने के पूर्व कभी परदा नहीं किया था किन्तु विवाह के पश्चात् वह नहीं चाहती थी कि उसका पति उसकी उपस्थिति में उज्जयिनी के राजदूत का स्वागत करे। महाराज उदयन ने उसके इस प्रतिरोध को अनसुना कर दिया और कहा कि अगर लोगों के सामने महारानी ने परदा किया तो लोग इस कार्य को अनुचित कहेंगे प्राचीन काल में रानियां जहां रहती थी उसे 'अन्तपुर', 'अवरोध' अथवा 'शुद्धान्त' कहा जाता था। प्रायः स्त्रियां जब श्रेष्ठ लोगों के सम्मुख जाती थी तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिए अवंगुठन कर लेती थी। कालिदास के अनेक ग्रंथों में अवगुंठन का उल्लेख हुआ है तथा 'शाकुन्तलम्' नाटक से विदित होता है कि दुष्यन्त की राजसभा में जब शकुन्तला गई तो उसने अपना मुंह आवरण से ढक लिया था जिसे उसने बाद में अपने मुख पर से हटा दिया कादम्बरी में बाण ने कादम्बरी, महाश्वेता और उसकी सखियों को कहीं भी परदे में दर्शित नहीं किया है। किन्तु उसी से दूसरे ग्रन्थ 'हर्षचरित्' मे अवगुंठन का वर्णन है तथा राज्यश्री द्वारा अपने पति के सम्मुख आवरण करने का संकेत है। म च्छकटिक में उल्लिखित है कि वधू बनते ही वसंतसेना ने अपना मुंह ढक लिया था। किन्तु साधारण जनता में परदे का कोई रिवाज नहीं था। गुप्त-युग की स्त्री-प्रतिमाओं तथा अजन्ता, एलोरा, सांची, भरहुत आदि के चित्रों और मूर्तियों के अवंगुठन का कहीं भी चित्रण नहीं है। सम्राट हर्ष ने लिखा है कि कन्या के लिए परदे की कोई आवश्यकता नहीं। विवाह के बाद ही इसकी अपेक्षा की जाती है। भवभूति ने विव त किया है कि जब राम सीता के साथ परशुराम के निकट आदर व्यक्त करने गए तो उन्होंने सीता को अवगुंठन की सलाह दी। माघ जैसे साहित्यकार ने लिखा है कि नारी के मुख पर से अकस्मात् जब अवगुंठन हटता था तब एक क्षण लिए उसके सौंदर्य की छवि दीख जाती थी। इस साहित्यिक उद्धरणों से ज्ञात होता है कि तीसरी सदी ईस्वी के पश्चात् कुछ उच्च राजकीय परिवारों में परदे का प्रचलन शनैः शनैः प्रारम्भ हो गया। कभी किसी विशेष अवसर पर अथवा वयोव द्ध और ज्येष्ठ लोगों के सम्मुख जाते समय वधू द्वारा अवगुंठन कर लिया जाता थ। कभी-कभी वधू प्रतिरोध भी करती थी। बुद्ध की पत्नी गोपा जब पति के साथ जा रही थी तो उससे कहा गया कि वह अवगुंठन डाल ले। इस पर उसने कहा कि जब उसका शरीर संयत है, इन्द्रियां सुरक्षित हैं, आचार राग-रहित है और मन प्रसन्न है तब क त्रिम आवरण से क्या लाभ। फाश्येन, श्वान च्वांग औीर ईत्सिंग जैसे पूर्वमध्ययुगीन चीनी लेखकों ने अपनी आंखों देखे वर्णन में कहीं भी स्त्री के परदे का उल्लेख नहीं किया है। ब हत्कथामंजरी और कथासरित्सागर जैसे ग्यारवीं सदी के कथा-साहित्य में स्त्री के परदा-प्रथा का कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं है, बल्कि कथासरित्सागर में उल्लिखित

रत्नप्रभा नामक नारी ने परदे का विरोध किया है, ''हे आर्यपुत्र, प्रसंग से कहती हूं, सुनिए, अन्तःपुर में स्त्रियों की रक्षा इस प्रकार हो, यह मेरा मत नहीं। स्त्रियों का कड़ा परदा और नियन्त्रण ईर्ष्या से उत्पन्न मूर्खता है। इसका कोई उपयोग नहीं। सच्चरित्र स्त्रियां अपने सदाचार से ही सुरक्षित रहती हैं और किसी पदार्थ से नहीं।'' कल्हण की राजतंरगिणी में भी परदा-प्रथा का कहीं कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। दसवीं सदी के अरब लेखक अबूजैद ने लिखा है कि उसके समय में भारतीय रानियाँ परदे के बिना ही राजसभा में उपस्थित होती थीं। बारहवीं सदी तक के ऐतिहासिक साहित्य में परदा-प्रथा का हम कोई उल्लेखनीय वर्णन नहीं पाते। पूर्वमध्य युग तक परदा-प्रथा चाहे उच्च समुदाय और राजपरिवार में भले ही रही हो, मगर साधारण जनता में इसका पूर्ण प्रचलन नहीं था। स्त्रियां प्रायः बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त और अवगुंठनहीन घूमती थी। चाहे वह अकेली घूमे या पति के साथ, अक्सर वह बिना आवरण के ही रहती थी।

कुछ विद्वानों के अनुसार परदा-प्रथा का प्रचलन बारहवीं सदी के बाद ही हुआ, जब देश और समाज विदेशी आक्रमकों से रह-रहकर आक्रान्त होने लगा था और भारतीय स्त्रियों के लिए सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण बन चुका था। परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारों ने हिन्दू समाज में अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया, क्योंकि आक्रमकों की लोलुप द ष्टि सुन्दर स्त्रियों पर अधिक पड़ती थी। सुन्दर स्त्रियों को वे न देख सकें, इसलिए आवरण की व्यवस्था की गई। बाद में आकर परदा हिन्दू समाज का प्रधान अंग बन गया। परदे का अधिक प्रचलन उत्तर भारत में ही हुआ ; दक्षिण भारत इस प्रथा से अछूता ही रहा। यह तथ्य भी इस बात की ओर संकेत करता है कि भारत में पर्दा प्रथा मुस्लिम आक्रमणकारियों के पश्चात् ही हुआ। इस सम्बन्ध में निम्न कारण दिये जाते हैं।

(1) भारतीय स्त्रियों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए पर्दा-प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ। स्त्रियों के सतीत्व का प्रश्न समाज के सामने आये। इसके लिए उन्हें पर्दे में रखना हितकर समझा गया।

(2) मुस्लिम शासक कंचन और कामिनी के बहुत शौकीन थे। लूट-पाट के साथ-साथ उनकी द ष्टि भारतीय नारियों पर भी हुआ करती थी। कभी-कभी वे उनके सौन्दर्य के वशीभूत होकर लड़ाइयां भी लड़ने से नहीं हिचकते थे। ऐसी स्थिति में नारी की स्थिति बड़ी शोचनीय हो सकती थी। इसलिए उनकी लोलुप द ष्टि से बचने के लिए पर्दा-प्रथा का प्रचलन हुआ।

(3) शासन स्थापित करने के साथ-साथ मुस्लिम आक्रमणकारियों का उद्देश्य संस्क ति प्रसार का भी था। वे जनमानस में अपनी संस्क ति की छाप छोड़ना चाहते थे। मुस्लिम स्त्रियों में पर्दा करने की प्रथा का अधीनस्थ शासकों द्वारा भी अनुकरण करना पड़ा। धीरे-धीरे यह प्रथा जनसाधारण में प्रचलित हो गयी।

(4) प्राचीन वैदिक समाज के बाद स्त्रियों के मध्य शिक्षा के अभाव में जागरूकता की कमी थी। उन्हें अच्छे-बुरे की पहचान नहीं थी। ऐसी स्थिति मे जनसम्पर्क से उन्हें अलग रखना ज्यादा उचित समझा गया। इसके लिए पर्दा एक अच्छा माध्यम सिद्ध हुआ।

(5) समाज में बाल विवाह का प्रचलन काफी हो गया था। अभिभावक अपने सम्मान की रक्षा के लिये लड़कियों का विवाह कम उम्र में करके अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते थे। ऐसी स्थिति में कन्या परिपक्व नहीं होती थी। उस पर नियन्त्रण रखना आवश्यक हो गया। इस कारण परिवार के व द्ध लोगों द्वारा इस प्रथा को अपनाने पर बल दिया गया और यह समाज में स्पष्ट रूप से विकसित हो गयी।

वैदिक युग के हिन्दू समाज में पर्दा-प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। स्त्रियां स्वतंत्रतापूर्वक अपने पति एवं पारिवारिक सदस्यों के साथ यज्ञ कार्यों में भाग लेती थीं। विवाह के पश्चात् वधू के घर में प्रवेश करने के पश्चात् समस्त पारिवारिक लोगों एवं अभ्यागतों से उसका परिचय कराया जाता था और उसके मंगल की कामना की जाती थी। वैदिक साहित्य से यह भी सूचना मिलनी है कि स्त्रियां सार्वजनिक सम्मेलनों में स्वतंत्र रूप से भाग लेती थी। विवाह के पूर्व शिक्षा ग्रहण करने हेतु वे गुरूकुलों में जाती थीं। उनसे अपेक्षा की जाती थी वे व द्धावस्था तक अपने ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए स्वतंत्रतापूर्वक समितियों में भाषण दें और अपने विचारों से लोगों को अवगत करायें। यह उल्लेख यह स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन समाज में स्त्रियां पर्दा नहीं करती थीं। ग ह्य एवं धर्मसूत्रों में भी पर्दा-प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। समाज में धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आया और इधर उधर बिखरे हुए कुछ साहित्यिक उल्लेखों से इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। पांचवीं सदी ईस्वी पूर्व के पाणिनी की अष्टाध्यायी में इस सन्दर्भ में कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमे स्त्रियों को 'असूर्यम्पश्या' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'वह स्त्रियां जिनको सूर्य भी न देख सके।' इससे यह निष्कर्ष निकला है कि यह प्रसंग रानियों के लिए था जो अन्तपुरों में निवास काती थीं। इस सन्दर्भ में 'असूर्यम्पश्या' के साथ 'राजदाराः का प्रयोग किया है। रामायण में बाल्मीकि ने एक श्लोक लिखा है जिसका तात्पर्य यह है कि जिस सीता को आकाश के जीव भी नहीं देख सकते थे उसे आज सड़क पर चलते हुए लोग देख रहे हैं। महाभारत के शल्य पर्व में भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है कि कौरवों की पूर्ण पराजय के पश्चात् उनकी स्त्रियों को राजधानी में आये हुए जनसमूह ने देखा जिनको इसके पूर्व सूर्य ने भी नहीं देखा था। इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि उच्च कुलों की स्त्रियां सामान्यतः बाहर नहीं निकलती थीं। इसी कारण विशेष परिस्थितियोंवश बाहर निकलने के कारण दोनों महाकाव्यों में इस तरह के उल्लेख हुए हैं। इससे पर्दा-प्रथा का कोई संकेत नहीं है। सबसे प्रमुख बात यह है कि सीता का विवाह स्वयंवर से हुआ था। यदि तत्कालीन समाज में पर्दा-प्रथा थी तो कैकेयी और सुमित्रा जब राम को अयोध्या वापस लाने के लिए चित्रकूट तक गयीं तो उस समय उन्होंने पर्दा क्यों नहीं किया। महाभारत में भी द्रौपदी का द्यूत-ग ह में उपस्थित होना यह दर्शाता है कि समाज में पर्दा-प्रथा का कोई प्रचलन नहीं था और स्त्रियां स्वछन्दतापूर्वक सामाजिक उत्सवों आदि में भाग ले सकती थीं।

बौद्ध युग में समाज में भी स्त्रियां स्वतंत्रतापूर्वक भिक्षुणी बनकर जीवन यापन करती थीं। उस समय भी पर्दा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मौर्यकाल में कौटिल्य और मेगस्थनीज ने भी इस प्रथा के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला है।

दूसरी शताब्दी के पश्चात् कुछ राजकीय परिवारों में इस प्रथा का प्रचलन आरम्भ हुआ और कालान्तर में जारी रहा। नाटयकार भास के 'प्रतिमा नाटक' में सीता पर्दे के साथ रंगमंच पर आती हैं। गुप्तकालीन प्रसिद्ध कवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुलन्तलम्' में उल्लेख मिलता है कि जब शकुन्तला राजा दुष्यन्त की राजसभा में गयी तो उसने अपने मुख को पर्दे से ढक लिया था, यद्यपि यह पर्दा उसके शरीर के लावण्य को नहीं छिपा पा रहा था। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में राज्यश्री को 'अरूणांशुकावगुण्ठित मुखी' अर्थात् लाल रेशम का पर्दा मुख पर डाला हुआ कहा गया है। 'म च्छकटिक नाटक' से यह सूचना मिलती है कि वसन्त सेना जब वधू बनने लगी तो उसने अपने मुख को परदे से ढक लिया था। इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरी से सातवीं सदी के मध्य पर्दे का प्रचलन हो गया था। परन्तु यह प्रचलन राजघराने एवं उच्च घराने तक ही सीमित था, जनसाधारण में इसका प्रचलन नहीं था। अजन्ता के चित्रों में इसी कारण नारियों के घूंघट का अंकन नहीं हुआ।

पर्दा-प्रथा स्त्रियों की दयनीय स्थिति का सूचक है। इस प्रथा ने उनके स्वतंत्र विचरण के अधिकार को सीमित किया। वे घरों में कैद हो गयीं, समाज से उनका सम्पर्क टूटने लगा। स्वतंत्र भारत में नवजागरण के फलस्वरूप जहां स्त्रियों के उत्थान में असाधारण जाग ति हुई वहीं इस प्रथा का भी विरोध शुरू हुआ। इसी के फलस्वरूप आधुनिक भारत में इसका प्रचलन नाम-मात्र का रह गया है।

## गणिका अथवा वेश्याव त्ति से संबंधित स्त्रियां

**वेश्याव त्ति** - प्राचीन भारत में कुछ स्त्रियां न त्य और संगीत के माध्यम से पुरूषों का मनोरंजन करती थीं। ऐसी स्त्रियां गणिका या वेश्या कहलाती थीं। ऐसी स्त्रियां समाज में सम्मानित थीं। ये वेश्याएं विशेष रूप से सुन्दर, निपुण और धनी होती थीं। भारतीय इतिहास में इन वेश्याओं या गणिकाओं के सन्दर्भ ऋग्वैदिक काल से मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर मरूतगण विद्युत् के साथ उसी तरह संयुक्त माने गये हैं जिस तरह युवती वेश्या से पुरूष लोग संयुक्त होते हैं। इस तरह देवताओं के सन्दर्भ में वेश्या का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि वेश्याव त्ति का इतिहास काफी प्राचीन है। यह न केवल भारतीय समाज में वरन् संसार के प्राचीन समाज में अति प्राचीन काल से विद्यमान् रही है। भारतीय वेश्या यूनान की Aspasias तथा Phrynes के समान विख्यात् तथा सम्मान की पात्र कही गयी है।

महाभारत के आदिपर्व, उद्योगपर्व एवं कर्णपर्व में वेश्याओं का उल्लेख हुआ है। आदिपर्व में वर्णन मिलता है कि गान्धारी के गर्भवती रहने के कारण ध तराष्ट्र की सेवा में एक वेश्या रहती थी। उद्योगपर्व के अनुसार युधिष्ठिर ने कौरवों की वेश्याओं को शुभ सन्देश भेजे थे। कौरवों की सभा में श्रीक ष्ण के साथ वेश्याएं भी शान्ति स्थापना का सन्देश लेकर आयी थी।

बौद्ध कथाओं में वैशाली की प्रसिद्ध वेश्या अम्बपाली का उल्लेख मिलता है जो अत्यन्त धनी, प्रखर बुद्धि वाली तथा भारत के समस्त सभ्य भाग में प्रसिद्ध थी। उसे वेश्याओं में आदर्श माना जाता था। उसकी योग्यता और प्रतिष्ठा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अपनी अन्तिम पर्वतीय यात्रा के समय जब महात्मा गौतम बुद्ध वैशाली से होकर जा रहे थे, उन्होंने अम्बपाली के निमन्त्रण को स्वीकार कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया था। बौद्ध-युग का प्रसिद्ध वैद्य जीवक विख्यात गणिका सालवती का पुत्र था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी वेश्याओं पर प्रकाश पड़ता है। वेश्याओं पर नियन्त्रण एवं कर वसूलने के लिए जो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे उन्हें एक हजार पण वार्षिक वेतन के रूप में दिया जाता था। उनका यह भी कर्त्तव्य होता था कि प्रत्येक वेश्या की प्रति मास की 2 दिन की आय राजकर के रूप में एकत्रित करें। इस काल में कुछ वेश्याएं ऐसी होती थीं जो अपनी सुन्दरता के कारण युवावस्था में इस पेशे को अपनाती थीं। कुछ वेश्याएं ऐसी होती थीं जिनके परिवार में पहले से ही वेश्याव त्ति का धन्धा किया जा रहा था। कौटिल्य ने इन्हें 'गणिका' कहा है। कुछ वेश्याएं राज्य की ओर से वेतन पर नियुक्त की जाती थीं जिनके माध्यम से अन्तरराज्य सम्बन्ध स्थापित करने के अलावा व्यापारियों का मनोरंजन किया जाता था। मौर्यकाल में व्यापार अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। व्यापार के कारण व्यापारी वर्षों तक अपने परिवार से अलग रहते थे। उनको मनोरंजन की आवश्यकता होती थी। इस कारण बड़े पैमाने पर शहरों में वेश्याओं का होना स्वाभाविक था। राज्य द्वारा नियुक्त गणिकाओं को एक हजार पण वार्षिक वेतन मिलता था। वह स्त्रियां जो राजकीय सेवाओं में न रहते हुए स्वतन्त्र रूप से पेशा करती थीं उन्हें 'रूपजीवा' कहा जाता था। मेगस्थनीज का कहना था कि वेश्याओं की सहायता से गुप्तचर अपने कार्य में अधिक सफल होते थे।

स्म ति साहित्य भी वेश्याओं के बारे में जानकारी प्रदान् करता है। याज्ञवल्क्य ने वेश्याओं को दो भागों में बांटा है। - (1) अवरूद्धा - जो घर में रहती थी और उसके साथ अन्य कोई व्यक्ति संभोग नहीं कर सकता। (2) भुजिष्या - जो घर में न रहकर एक व्यक्ति की रखैल के रूप में और कहीं रहती थी। यदि इनके साथ कोई अन्य व्यक्ति सम्भोग करता था तो उसे 50 पण का जुर्माना देना पड़ता था। नारद के अनुसार शुल्क पा लेने पर जो वेश्या सम्भोग नहीं करती थी उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था। इसी प्रकार यदि सम्भोग कर लेने पर व्यक्ति शुल्क नहीं देता था तो उस पर शुल्क का दूना दण्ड लगता था।

मत्स्य पुराण में वेश्याओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि वेश्या के साथ समागम करने वाले ब्राह्मण को वेश्या को दिये गए शुल्क के बराबर अर्थ दण्ड देना चाहिए। वेश्या यदि वेतन स्वीकार करने के पश्चात् लोभवश अन्यत्र चली जाती है तो उसे दुगुना दण्ड देने के उपरान्त लिए हुए शुल्क का दूना अर्थ भी देना चाहिए। यदि कोई वेश्या को दूसरे के बहाने से किसी दूसरे के पास लिवा जाता है तो उसे एक मासा सुवर्ण का दण्ड देना चाहिए। जो वेश्या को लाने के बाद उसके साथ सम्भोग नहीं करता, उसे दूना दण्ड देकर उस वेश्या को दूना शुल्क दिलाना चाहिए। ऐसा करने से राजा का धर्म क्षीण नहीं होता। यदि अनेक व्यक्ति एक वेश्या के साथ समागम करने को उपस्थित हो तो राजा को उन सभी को दूना दण्ड देना चाहिए और वे सब प थक्-प थक् उस वेश्या को दूना द्रव्य दण्ड रूप में अधिक दें।

कामसूत्र में वेश्या के लिए 64 कलाओं में निपुण होना बताया गया है। उसे बुद्धि, शील, आचार, विनम्रता, क तज्ञता, दूरदर्शी, वाद-विवाद से दूर, स्थान और समय को परखने वाली, निष्प्रयोजन हास्य, चुगलखोरी, परनिन्दा, क्रोध, लोभ, अभिमान एवं चंचलता आदि दुर्गुणों से रहित एवं कामशास्त्र के कौशलों एवं काम शास्त्र की अंग विधाओं की पूरी जानकारी होनी चाहिए। वह न केवल संगीत, न त्य तथा गायन तक ही सीमित होती थी वरन् पाक विद्या, वस्त्र सज्जा, शिल्प कला, धनुर्विद्या, शरीर व्यायाम, काष्ठ एवं वास्तु कला, तर्क विद्या, बागवानी, क त्रिम रचना तथा म तिका मूर्ति निर्माण कला में प्रवीण होती थी।

वेश्याओं में एक वर्ग दासियों का हो गया था जो मन्दिरों की सेवा में तल्लीन रहती थीं और वहीं न त्य व गाने का कार्यक्रम प्रस्तुत करती थीं। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में अनेक देवदासियां न त्य गान किया करती थी। प्रारम्भिक स्त्रोतों में देवदासियों के स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते। पूर्व मध्यकाल में इसके नाममात्र के उदाहरण मिलते हैं। चाहमान वंश का जोजाल्देव अपने राज दरबारियों के साथ सोत्साह देवमन्दिर के उत्सव में सम्मिलित होता था जहां देवदासियां न त्य करती थीं। दक्षिण भारत में भी यह प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी। चालुक्य वंश के विक्रमादित्य षष्ठम के सेनापति महादेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि उसने अपनी स्वर्गीय माता की स्म ति में एक मन्दिर का निर्माण किया था जिसमें देश की परम् सुन्दर देवदासियों के लिए निवास स्थान बने थे। इस तरह मन्दिरों को अपना निवास स्थान बनाकर देवदासियां अपनी सेवाएं इन्हीं मन्दिरों को अर्पित किया करती थी।

अतः प्राचीन काल में वेश्या व त्ति अपनाने वाली गणिकाओं का स्थान समाज में अन्य साधारण लोगों से श्रेष्ठ था। गायन, वादन और संगीत के प्रेमी लोग गणिकाओं के प्रति आक ष्ट रहा करते थे। नागर जीवन के आमोद-प्रमोद और आल्हाद-उल्लास का यह वर्ग एक बहुत बड़ा आकर्षण भी माना जाता था। गणिका का जीवन संगीत और ललित कला का सम्मिश्रित स्वरूप था, जो उसका प्रधान व्यवसाय भी था। आज की तुलना में उस युग में गणिका आदर और प्रशंसा की पात्र थी। राज्य और समाज में उसे उच्च स्थान प्राप्त था। अपने आगमन, सौन्दर्य और

संगीत-प्रदर्शन से वह लोगों को आक ष्ट करती थी तथा श्रेष्ठ जनों के मानस में स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकने में समर्थ होती थी। अतः जन-जीवन के सांस्क तिक कार्य-कलाप तथा विलासमय जीवन की वह महत्वपूर्ण अंग बन चुकी थी। महाकाव्य काल में वेश्याएं समाज और परिवार में प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण कर चुकी थी। महाभारत से विदित होता है कि जिस समय गान्धारी गर्भवती थी उस समय उसकी परिचर्या और सेवा के लिए एक वेश्या लगाई गई थी। श्रीक ष्ण जब शान्तिस्थापनार्थ वार्ता करने के लिए पधारे थे तब वेश्याओं ने उनका स्वागत किया था। कभी-2 सेनाओं के साथ भी वेश्याएं चलती थी। संघर्ष के लिए सन्नद्ध पाण्डवों की सेना में वेश्याएं भी रहा करती थी। तत्कालीन समाज में इन कार्यो के अतिरिक्त गणिकाएं संगीत और न त्य में अधिक समय व्यतीत करती थीं। बौद्ध युग में गणिकाओं का विकास तीव्र गति से हुआ था। ऐसी बात नहीं कि इस युग से पूर्व के जन-जीवन में संगीत और ललित कला का कोई स्थान नहीं था। था अवश्य, किन्तु उसका विकास-क्रम मन्द था। समाज के धीरे-धीरे उसका स्थान बन रहा था। बौद्ध-युग में तो नगर का उल्लास आर विलास गणिकाओं के संयोग से ही मुखरित होता था। नगर की शोभा और सुन्दरता उसकी उपस्थिति से आलोकित होती थी। वैशाली नगर का भ्रमण करके लौटा हुआ एक श्रेष्ठि राजग ह आकर सम्राट् बिम्बिसार से वहां की सूचना देता है, ''महाराज, वैशाली नगरी सम द्ध और ऐश्वर्य-सम्पनन है .... वहां अम्बपाली नाम की गणिका निवास करती है, जो परम सुन्दरी, रमणीया, नयनाभिराम, सुन्दरावर्णा, गायन-वादन-न त्य-विशारदा तथा अभिलषित बहुदर्शनीया है।'' यही नहीं, उस समय राजग ह में भी अत्यन्त रूपवती और संगीत-दक्ष सालवती नाम की एक गणिका थी जिसका गणिकाभिषेक हुआ था। ये दोनों राज-नर्तकियां थीं, जिनको राज्य की ओर से सम्मान और आदर प्राप्त था और इसीलिए समाज में भी इनका शीर्ष स्थान था। इन श्रेष्ठ नर्तकियों के अन्तर्गत अनेक अन्य सुन्दर और संगीत-न त्य में दक्ष नर्तकियां होती थीं जो इनके दल की शोभा बढ़ाती थी। इनका रहन-सहन राजसी ऐश्वर्ययुक्त होता था। राज्य की ओर से किसी गणिका का गणिकाभिषेक किया जाना उसके लिए अत्यन्त सम्मान और गौरव का क्षण होता था तथा यह उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और राजकीय उच्चता को व्यक्त करता था। उच्च पदाधिकारी तथा अभिजात वर्ग इनकी ओर केवल आक ष्ट ही नहीं था बल्कि इनकी कला का यथोजित सम्मान भी करता था। अपनी धन-सम्पत्ति में से कुछ ने कुछ भाग निरन्तर इन्हें अर्पित करता था और इनसे अपनी विलासिता और कामुकता तुष्ट करता था। राजमहोत्सव एवं प्रजा-रंजनार्थ इनके न त्य-संगीत का कार्यक्रम आयोजित होता था तथा अपने आकर्षक और ह्रदयग्रादी प्रदर्शन से ये सबको मुग्ध कर लेती थी। भगवान् बुद्ध ने अम्बपाली का निमन्त्रण और आतिथ्य स्वीकार करके उसकी प्रतिष्ठा को प्रतिभासित किया। गणिकाओं से उत्पन्न पुत्र समाज द्वारा सम्मानित और आदर का पात्र था। उसे कभी हेय अथवा उपेक्षित द ष्टि से नहीं देखा जाता था। राजग ह की राजनर्तकी सालवती से उत्पन्न जीवन उस काल का विख्यात राजवैद्य बना। यह तथ्य इस बात को प्रमाणित करता है कि गणिका-पुत्र समाज में उच्च द ष्टि से देखा जाता था, न कि हीन द ष्टि से तथा वह अपनी योग्यता से उच्च पद को सुशोभित करता था। ये गणिकाएं प्रति रात्रि अपने संगीत-प्रदर्शन से सहस्त्राधिक मुद्राएं अर्जित कर लेती थी। कभी-कभी गणिका अपने एकनिष्ठ प्रेम के कारण अपने प्रेमी की प्रतीक्षा वर्षों करती थी तथा इस अवधि में वह किसी का ताम्बूल तक नहीं स्वीकार करती थी। उस युग में ऐसी गणिकाएं भी थीं, जो अवसर पड़ने पर अपने मन और मस्तिष्क का सन्तुलन बनाये रखती थी तथा कोमल भावना और आसक्ति से नहीं प्रभावित होती थीं। सुलसा ऐसी ही गणिका थी, जो एक दस्यु से प्रेम करती थी। पर वह दस्यु अंतस् से क्रूर और छली था। वह उस नर्तकी के समस्त आभूषण ले लेना चाहता था। उसके लिए वह सुलसा को सज्जित करके धूर्ततापूर्वक एक पहाड़ी पर ले गया। वह नर्तकी उस दस्यु के मन्तव्य को भले प्रकार समझ गई और उसे आलिंगित

करते हुए पहाड़ी के नीचे ढकेल दिया, जिससे उसकी म त्यु हो गई। सहृदय, क्रूर, छली आदि अनेक प्रकार की गणिकाओं का वर्णन जातकों में किया गया है। धन-लिप्त और सम्पत्ति-आसक्त गणिकाएं भी थीं, जिनके सम्मुख मात्र धन ही सब कुछ था। एक श्रेष्ठि-पुत्र अपनी प्रेमिका गणिका को एक सहस्त्र कार्षापण प्रति रात्रि का प्रदान करता था। एक दिन ऐसा हुआ कि उसके पास एक भी मुद्रा नहीं थी और जब वह उस गणिका के पास गया तो उसने मुद्राएं न पाने पर उस प्रेमी को निकाल बाहर कर दिया। परिणामस्वरूप वह संन्यासी बन गया। गणिकाओं के विभिन्न प्रकार के चरित्र और गुण-दोष उद्घाटित करनेवाली अनेक कथाएं जातकों में दी गई हैं जिनसे उनकी मानवता, सहृदयता, कोमलता, क्रूरता, धूर्तता, क्षुद्रता, धनलोलुपता और विश्वासघात का पता लगता है।

परवर्ती साहित्य में ये गणिकाएं विभिन्न पर्यायवाची नामों से ख्यात हुईं। नर्तकी, सामान्या, रूपजीवा, वेश्या, देवदासी आदि अनेक नाम इनके लिए व्यक्त हुए। समाज का एक वर्ग ऐसा था जो इनके सान्निध्य में जाकर इनके व्यवसाय को प्रोत्साहित करता था। इसका प्रधान कारण लोगों की काम-जनित भावना, संगीत-न त्य के प्रति आकर्षण तथा सौन्दर्य-पिपासा थी। म च्छकटिक की वसंतसेना ऐसी उच्चचरित्रा और गुण-सम्पन्न गणिका थी जो गणिकावर्ग के लिए आदर्श थी। किन्तु ऐसी सच्चरित्रा, गुणी, न त्य-संगीत में दक्ष और प्रतिभासम्पन्न गणिकाएं बहुत कम हुआ करती थी। वैसे, अनेक प्रकार की गणिकाओं का वर्णन समयमातुका, कुट्टनीमतम्, प्रबन्धचिन्तामणि, मानसोल्लास, राजतरंगिणी आदि ग्रंथों में हुए है।

विभिन्न प्रकार की वेश्याओं के अतिरिक्त **देवदासियों** का भी एक वर्ग उत्पन्न हो गया था जो मन्दिरों की सेवा से सम्बन्ध था। भारत में जब देवमन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो उनके वैभव और ऐश्वर्य को प्रभायुक्त करने के लिए अनेक नियोजनाएं हुईं। लोगों ने यह सोचा कि आराध्य देव के सम्मुख न त्य और गान करनेवाली सुन्दरियां हों, जो अपने आकर्षक और सुन्दर कार्यक्रम से देवमन्दिर को गुंजायमान किये रहे। पूजन और स्तवन के समय सुमधुर वाणी में दवेस्तुति होती रहे। जो सुन्दरियां देवमन्दिर के निमित्त नियुक्त की जाती थी, वे देवदासी कही गई। इनका मुख्य कार्य था देवमन्दिर में न त्य, गान तथा संगीत का चिताकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करना। इस प्रकार की देवदासी गणिकाओं का जातकों में कोई उल्लेख नहीं। स्पष्ट है कि देवदासी प्रथा का उद्भव बौद्ध-युग के बाद, तीसरी ई. पू. में किसी समय हुआ। ग्रीक लेखकों ने देवदासी का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में वेश्याओं का वर्णन तो है, किन्तु देवदासी का नहीं। मेघदूत तथा अनेक पुराणों में इसका उल्लेख हैं उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में अनेक देवदासियां न त्य-गान में व्यस्त रहा करती थी। पुराणों ने यह निर्देश दिया है कि मन्दिर-सेवा के लिए अनेक सुन्दरियों को क्रय करके प्रदान करना चाहिए। यह भी कहा गया कि सूर्यलोक की प्राप्ति के लिए सूर्यमन्दिर को वेश्याकदंब अर्पित करना चाहिए। कभी-कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी पहली सन्तान मन्दिर को दान देते थे। जिससे यह प्रथा और विकसित हुई। श्वानच्वांग ने मुल्तान के सूर्यमन्दिर में न त्य-गान में व्यस्त अनेक देवदासियां देखी थीं। अलबीरूनी सहित अनेक अरब लेखकों ने देवदासियों के विषय में लिखा है। राजतरंगिणी, प्रबन्धचिन्तामणि, कुट्टनीमतम् आदि अनेक उत्तर-प्राचीन कालीन ग्रन्थों में इस प्रथा का विशद वर्णन है। पूर्वमध्ययुगीन अभिलेखों में भी देवदासियों का यत्र-तत्र सन्दर्भ मिलता है। चाहमान वंशी जोजाल्लदेव अपने दरबारियों के साथ सोत्साह देव-मन्दिर के उत्सव में सम्मिलित होता था, जहां देव-दासियां न त्य-गान करती रहती थी। इससे स्पष्ट है कि राजाओं का भी समर्थन इस प्रथा को प्राप्त था।

देवमन्दिरों का निर्माण पूजा-अर्चना तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए हुआ था, न कि

काम-वासना और भौतिक सुख के लिए। पर शनैः शनैः ऐसे देवमन्दिर कामोद्दीपन के केन्द्र बनते गये।

## (ग) स्त्री शिक्षा

प्राचीन भारत में हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरूषों के समान थी। ई० पू० 300 तक समाज में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वैदिक काल का यह आदर्श रहा है कि नारी पुरूष की प्रक ति है और शिक्षा प्राप्त करने में उन्हें पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था और यज्ञोपवीत धारण करके वे भी गुरूकुलों में विद्याभ्यास किया करती थी। वे उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। कितनी ही स्त्रियां वेद मंत्रों की रचयिता थी। इनमें विश्ववारा, लोपामुद्रा, सिकता, अपाला और घोषा विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। ब हदारण्यकोपनिषद् के अनुसार विदेहराज जनक की राजसभा में याज्ञवल्क्य को प्रश्नों की बौछार से गार्गी ने उसके दांत खट्टे कर दिये थे। आश्वलायन ग ह्यसूत्र में जहां अनेक ऋषियों के तर्पण की व्यवस्था की गयी है, वही गार्गी, प्रातिथेयी एवं मैत्रेयी नामक तीन नारी अध्यापिकाओं की चर्चा है। स्त्रियों की शिक्षा विशेषकर वैदिक साहित्य से सम्बन्धित होती थी, जिससे वह हवन यज्ञों में अपने पति के साथ भाग ले सके।

वैदिक युग मे स्त्रियों के दो वर्ग थे - सद्योवधू और ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू 15 अथवा 16 वर्ष की आयु तक अर्थात् जब तक उनका विवाह नहीं होता था, अध्ययन किया करती थीं। उन्हें प्रार्थना और यज्ञों के लिये आवश्यक मन्त्र पढ़ाये जाते थे। ब्रह्मवादिनी नारियां विशेष योग्यता प्राप्त करने हेतु आजीवन विवाह न करके अध्ययन करती थी। वे वेदाध्ययन के साथ हवन करती थीं और भिक्षा मांग कर लाती थी। वेदों के अतिरिक्त अनेक विदुषी महिलाएं पूर्व मीमांसा में भी रूचि लेती थी। काशक त्सनी नामक एक विदुषी महिला ने मीमांसा दर्शन पर एक ग्रन्थ की रचना की थी और इस दर्शन पद्धति के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

महाकाव्य भी स्त्री शिक्षा पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। दोनों ही महाकाव्यों से इस बात की सूचना मिलती है कि तत्कालीन समाज में पुरूषों की भांति स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार था। रामायण से ज्ञात होता है कि कौशल्या और तारा दोनों ही 'मन्त्रविद्' थीं। इसी महाकाव्य से यह भी सूचना मिलती है कि सीता संध्या करती थीं। इससे यह कहना गलत न होगा कि वह 'मन्त्रविद्' थीं। अत्रेयी को भी इसी महाकाव्य में वेदान्त का अध्ययन करते हुए प्रदर्शित किया गया है। महाभारत में द्रौपदी को 'पण्डिता' की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। यह महाकाव्य अम्बा और शैखावत्य की सह-शिक्षा का भी उल्लेख करता है। कुंती अथर्ववेद में पारंगत थी इन उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकाव्य युग में स्त्रियों वैदिक एवं दार्शनिक शिक्षा के साथ-साथ अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थीं।

बौद्ध युग में भी स्त्री शिक्षा का प्रचार था। महाबीर स्वामी और बुद्ध ने संघ में नारियों के प्रवेश की अनुमति दे दी थी। धर्म और दर्शन के मनन हेतु वे ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं जिससे शिक्षा में प्रचार के काफी मदद मिली। अमरा और उदुम्बरा नामक योग्य स्त्रियों के उल्लेख जातकों में मिलते हैं। थेरी गाथा की कवियत्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणीओं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी इनमें सुमेधा, सुभा, समेधा और अनोपमा उच्च वंश की कन्याएं थी। भद्राकुंड नामक एक योग्य महिला के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है कि वह राजग ह के एक धनी श्रेष्ठी की पुत्री थी। भिक्षुणी धर्म को स्वीकार कर लेने के बाद वह अपनी योग्यता के लिये बहुत विख्यात हुई। इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में कौशाम्बी नरेश की विदुषी पुत्री जयन्ती का भी नाम मिलता है। वह जैन धर्म के अन्तर्गत भिक्षुणी हो गयी थी। इस प्रकार स्त्रियां शिक्षा के क्षेत्र में

अद्वितीय थी और उनकी योग्यता का प्रचार चारों ओर था।

300 ई. पू. के काल से स्त्री शिक्षा की अवनति होने लगी। बाल-विवाह के कारण स्त्रियां उच्च शिक्षा से वंचित होने लगी। वे संकीर्ण विचार धारा का शिकार हुईं। जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के कारण देश के साहित्य और समाज के आदर्शो को प्रभावित करती थीं, अब निर्बल हो चुकी थीं। बालिकाओं के उपनयन पर प्रतिबन्ध प्रारम्भ हो गया। मनु और याज्ञवल्क्य ने बालिकाओं को उपनयन का अधिकार नहीं दिया। उपनयन के समाप्त किये जाने के कारण उनके धार्मिक अधिकारों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। शूद्रों के समान न तो वे वेदाध्ययन कर सकती थीं और न ही वे वेदों के मन्त्रों का उच्चारण कर सकती थीं।

साधारण समाज में स्त्रियों की शिक्षा का ह्रास अवश्य हुआ, लेकिन उच्च परिवारों मे शिक्षा का ध्यान अब भी दिया जाता था। 'गाथासप्तशती' में अनेक विदुषी महिलाओं के नाम मिलते हैं। रेखा, माधवी, अनुलक्ष्मी, शशिप्रभा आदि कवियित्री थी और अपनी प्रतिभा के कारण काफी विख्यात् थीं। राजशेखर कवि की पत्नी अवन्तिसुन्दरी अपने पति की ही तरह सुकवि और टीकाकार थी। कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में अनसूया को इतिहास की ज्ञाता कहा है। संस्क त के प्रसिद्ध कोष '**अमरकोष**' में उपाध्याया, उपाध्यायी और आचार्या शब्दों से शिक्षिकाओं का बोध होता है। संगीत, न त्य तथा चित्रकला में प्रवीण अनेक स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं। हर्षचरित में राजश्री द्वारा न त्य, संगीत के साथ अन्य कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करने का उल्लेख है। कादम्बरी में भी राजकुमारी कादम्बरी और महाश्वेता का एक साथ न त्य, संगीत और विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के उल्लेख मिलते हैं।

राजकुमारियों को शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों की शिक्षा में पारंगत किया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर वे शासन का कार्य देखती थीं अथवा पति की म त्यु होने पर बालकों की अवयस्कता के कारण वे शासन की बागडोर अपने हाथों में लेती थी। उल्लेखनीय है कि सातवाहन वंश की नयनिका ने अपने पति की म त्यु के पश्चात् शासन को अपने हाथों में तब तक लिया था जब तक कि उसका पुत्र वयस्क नहीं हो गया था। इसी तरह वाकाटक वंशीय रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्र के नाबालिग होने की स्थिति में शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया था। कश्मीर की अनेक रानियों ने युद्ध में सक्रिय भाग लिया और सुगन्धा और दिद्दा ने तो अभिभावकों के रूप में कश्मीर पर शासन किया। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष की पुत्री चन्द्रबेलभा का उदाहरण मिलता है जो 837 ई० के आस-पास रायचूर द्वाब में शासन कर रही थी। इस तरह यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि प्रशासन सम्बन्धित कार्यों में वे इतनी निपुण होती थीं कि शासन का कार्य अत्यन्त निपुणता से संचालित कर सकती थीं।

पुराणों से विदित होता है कि नारी शिक्षा के दो रूप थे एक आध्यात्मिक और दूसरा व्यवहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान ब हस्पति-भागिनी भुवना अपर्णा, एक पर्णा, एकपाटला, धारिणी, शतरूप आदि कन्याओं का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्मवादिनी थी। इनके अतिरिक्त ऐसी कन्याओं का संदर्भ मिलता है जिन्होंने अपनी तपस्या से अभीष्ट की प्राप्ति की थी। उमा, धर्मव्रता, पीवरी जैसी कन्याओं ने अपनी तपस्या के बल पर मनोनुकूल वर पाया। इस प्रकार प्राचीन काल में गुप्तकाल के आत-२ महिलाओं को शिक्षा का अधिकार भी दिया गया। इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि अब उनका उपनयन संस्कार व्यवहारतः बंद हो चुका था ओर यह कहा गया कि विवाह ही उनका उपनयन संस्कार है। पति ही कन्या का आचार्य, पति की सेवा ही उसका आश्रम निवास और ग हस्थी के कार्य ही धार्मिक अनुष्ठान। परन्तु जैसे पहले कहा जा चुका है इतने प्रतिबन्धों के बावजूद हमें बाद के कालों में भी विदुषी, दार्शनिक, कवयित्री, अध्यापक, टीकाकार, न त्यकार, संगीतज्ञ, संगीतकार, चित्रकार अर्थात् 64 कलाओं में पारंगत महिलाओं के

वर्णन पूर्वमध्यकाल तक मिलते रहते हैं। परन्तु आम स्त्री से यह अधिकार छीन लिया गया था।

### (घ) स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार

स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों के बारे मे स्म तिकारों का भिन्न-२ मत है। वैसे तो सभी स्म तिकार पिता की सम्पत्ति का सीधा अधिकारी पुत्र को मानते हैं। पुत्र के ना होने पर सम्पत्ति किसको जाए इस बारे स्म तिकारों के भिन्न-२ मत है कुछ स्म तिकार जैसे आपस्तम्ब का तो स्त्री के प्रति काफी कठोर रूख है वह नारी को सम्पत्ति में अधिकार तभी देता है जबकि कोई सपिण्ड या गुरू या शिष्य ना हो और यह संभव नहीं है कि इनमें से कोई भी ना हो। वह तो यहां तक कहता है कि कोई वैध उत्तरधिकारी न होने पर सारी सम्पत्ति धर्मकार्यों में लगा देना चाहिए। वसिष्ठ, गौतम और मनु ने भी उत्तरधिकारिणी के रूप मे पुत्री का कहीं भी नाम नहीं लिया परन्तु इसके विपरीत कुछ स्म तिकारों पुत्री के उत्तरधिकार की वकालत भी की है जैसे ब हस्पति तथा नारद ने तर्क प्रस्तुत किया है कि क्या पुत्री अपने पिता की सन्तान नहीं फिर पुत्र के न होने पर उसके उत्तरधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार प्राचीन हिन्दू समाज में स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को लेकर भिन्न-2 मत होते हुए भी किसी ना किसी रूप में सम्पत्ति में कुछ न कुछ अधिकार तो दिए ही है।

सम्बन्धी अधिकारों से लाभान्वित कराना था। वैदिक युग में कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनके आधार पर यह मान्यता दी जाती है कि सामान्यता कन्या की गणना दायाधिकारियों में नहीं की जाती थी, लेकिन ऋग्वेद के एक मन्त्र से यह स्पष्ट होता है कि सन्तान के न होने पर पति के बाद पत्नी ही सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती थी। दत्तक पुत्र की तुलना में पत्नी का सम्पत्ति पर अधिकार रहता था। वह कन्या जिसका भाई नहीं होता था, पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी समझी जाती थी। इस प्रकार सम्पत्ति पर किसी न किसी रूप में स्त्री का अधिकार था लेकिन बाद के समय में इस व्यवस्था में परिवर्तन आया। समाज में बाल-विवाह के प्रचलन और शिक्षा के स्तर में कमी आने के कारण शास्त्रकारों की यह धारणा बनी कि भात हीन लड़कियों को पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकारिणी बनने का अधिकार ही नहीं है। आपस्तम्ब का इस सम्बन्ध में मत था कि दूरस्थ अथवा निकटस्थ सम्बन्ध में किसी के न रहने पर लड़की उत्तराधिकारी हो सकती है। उन्होंने आगे इस बात पर बल दिया कि पुत्र के न होने पर पिता को अपनी सम्पत्ति जन कल्याण के लिये दे देनी चाहिए, लेकिन लड़की को नहीं देनी चाहिए। गौतम, वसिष्ठ और मनु आदि शास्त्रकारों ने लड़की को उत्तराधिकारिणी के रूप में उल्लेख नहीं किया है।

परन्तु कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, ब हस्पति आदि शास्त्रकारों ने यह मान्यता दी कि पुत्र और पुत्री दोनों का जन्म गर्भ से होता है, इसलिए दोनों के बीच भेदभाव नहीं किया जा सकता। कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी कि भ्रात हीन कन्या को सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी माना जाना चाहिए। कौटिल्य द्वारा दी गयी व्यवस्था में पुत्रियों को अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। याज्ञवल्क्य पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री को ही उत्तराधिकारिणी स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार सभी वर्णों में पत्नियां, पुत्रियां, माता, पिता, भाई, भतीजे, सगोत्र सम्बन्धीजन, सहपाठी यह क्रमशः सम्पत्ति के अधिकारी थे। ब हस्पति और नारद के अनुसार दुहिता भी पुत्र के समान ही सन्तान होती है। अतः पुत्र के अभाव में सम्पत्ति पर उसका अधिकार होना चाहिए। पुत्री को पुत्र के समान मानकर उसे उत्तराधिकारी के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। इस मत के समर्थक कात्यायन भी थे। उनके अनुसार लड़की सीमित उत्तराधिकारी है। वह तब तक पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी रहती है जब तक उसका विवाह न हो जाए अर्थात् उसका जीवन व्यवस्थित रूप से निश्चित न हो जाए। भाइयों के साथ लड़कियों को

उत्तराधिकारिणी बनाना कोई भी शास्त्रकार उचित नहीं मानता। यही कारण था कि हिन्दू शास्त्रकार कन्या के हिस्से की तो बात करते हैं, परन्तु विवाह के बाद अपने हिस्से को ले जाने लिये निर्देश नहीं देते।

जहां तक विधवा के उत्तराधिकार का प्रश्न है, लगभग 300 ई. पू. तक उसको पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी नहीं स्वीकार किया जाता था। वेद और धर्मसूत्र विधवा के उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। हिन्दू विचारकों का यह द ष्टिकोण रहा होगा कि वे सामाजिक बन्धनों से अपने को दूर रखें और सम्पत्ति आदि के लालच में न पड़कर धार्मिक जीवन व्यतीत करें। कौटिल्य ने यह व्यवस्था अवश्य की कि विधवा के जीवन यावन के लिये उसे परिवार की सम्पत्ति में भाग मिलना चाहिए। विष्णु, याज्ञवल्क्य और ब हस्पति विधवा को सम्पत्ति में उत्तराधिकारिणी मानने के पक्ष मे थे, लेकिन नारद और कात्यायन इसके विरोधी थे। एक विचारधारा के अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि किसी व्यक्ति की सन्तानहीन म त्यु हो जाने पर उसकी सम्पत्ति सम्राट् को सौंप दी जानी चाहिए लेकिन विधवा को नहीं दी जानी चाहिए। नारद ने इस सम्बन्ध में कहा है कि उत्तराधिकारी के न होने पर म त व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार होना चाहिए और विधवा को केवल भरण-पोषण के लिए धन मिलना चाहिए। दूसरी ओर समाज में विधवा के लिए उदारवादी द ष्टिकोण की विचारधारा को अपनाया गया। मनु और जीमूतवाहन विधवा को दाय भाग दिलाने के पक्षधर थे। पत्नी को पति के शरीर का एक भाग स्वीकार किया गया और उसकी म त्यु के पश्चात् सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार तर्कसंगत बताया गया। विष्णु ने इस सम्बन्ध में व्यवस्था दी कि पति की म त्यु के पश्चात सर्वप्रथम विधवा को ही सम्पत्ति में अधिकार मिलना चाहिए। पुत्रों के अयोग्य होने पर विधवा उत्तराधिकारिणी होती थी। किसी पुरूष की स्त्री के जीवित रहने पर अन्य कोई उसकी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता था। भले ही यह विषय काफी विवादग्रस्त रहा कि विधवा को पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार दिया जाए अथवा नहीं, लेकिन कालान्तर में हिन्दू शास्त्रकारों ने विधवा के प्रति सहानुभुति प्रदर्शित की। संयुक्त परिवार में भी उनको दान मिलने की बात पर बल दिया गया। ब हस्पति ने यहां तक कहा कि पति के भाइयों के जीवित होने पर भी विधवा का अधिकार प्रमुख रहेगा। याज्ञवल्क्य स्म ति पर टीका करते हुए मिताक्षरा ने उस स्थिति में विधवा को दाय का अधिकारी स्वीकार किया है जबकि उसके पति ने अपने जीवनकाल में सयुंक्त परिवार से अपनी सम्पत्ति का बंटवारा कर लिया हो। विधवा को सम्पत्ति की आय को खर्च करने का अधिकार अवश्य दिया गया, लेकिन उसको विक्रय के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। इस प्रकार उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर उसको सीमित अधिकार प्रदान् किए गए। ऐसा प्रतीत होता है कि विधवाओं के भरण-पोषण के लिए समाज में उनके उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार की जरूरत महसूस की गयी जिसके कारण शास्त्रकारों ने उन्हें इसे अधिकार से लाभान्वित कराना आवश्यक समझा। इसी के परिणाम स्वरूप उन्हें पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी माना गया और कुछ परिस्थितियों के अर्न्तगत इसको सीमित किया गया।

**स्त्री धन -** स्त्री-धन से तात्पर्य स्त्री की व्यक्तिगत सम्पत्ति से है। इस सम्पत्ति की यह विशेषता रही है कि हिन्दू समाज में गौतम के समय से लेकर आज तक यह स्त्रियों को ही मिलता रहा है। आधुनिक समाज में जिस तरह विवाह के अवसर पर लड़की को माता-पिता और सम्बन्धियों से जो कुछ मिलता है, वह लड़की की सम्पत्ति मानी जाती है। विवाह के पश्चात् पति एवं ससुराल पक्ष के सम्बन्धियों से जो कुछ लड़की प्राप्त करती है, उस पर भी उसी का अधिकार समझा जाता है। ठीक यही स्थिति प्राचीन भारत के हिन्दू समाज में थी। स्त्री-धन के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन परिभाषा मनु ने दी है - धनं स्म तम।। विवाह के समय जो कुछ दिया गया, विदाई

के समय जो उसे प्राप्त हुआ, स्नेह वश जो कुछ दिया गया, जो कुछ भ्राता, माता या पिता से प्राप्त हुआ - यही छः प्रकार का स्त्री धन है।

स्म तिकारों में कात्यायन ने 27 श्लोकों में स्त्री धन का विस्तार से उल्लेख किया है। उन्होंने मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं विष्णु के छः स्त्री धन प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए उल्लेख किया है कि विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो दिया जाता है उसे बुद्धिमान जोग अध्याग्नि स्त्री-धन कहते हैं। पति के घर आने पर जो कुछ स्त्री पति के घर से प्राप्त करती है उसे अध्यावहनिक स्त्री-धन कहा जाता है। श्वसुर-सास द्वारा जो कुछ स्नेह से दिया जाता है और पारिवारिक जनों एवं सम्बन्धियों से जो कुछ प्राप्त होता है उसे प्रतिदत्त स्त्री-धन कहा जाता है। बर्तनों, आभूषणों और दासों के मूल्य में जो प्राप्त होता है वह शुल्क कहलाता है। कात्यायन द्वारा दी गयी अध्याग्नि एवं अध्यावहनिक की परिभाषाओं में वे भेंट भी सम्मिलित हैं जो विवाह के समय आगन्तुकों द्वारा प्रदान् की जाती हैं। इस तरह कात्यायन के समय में सभी प्रकार की सम्पत्ति सम्मिलित हो गयी जिसे एक स्त्री विवाहित होते समय या विवाह के उपरान्त पति एवं उसके कुल से प्राप्त करती थी।

आसुर विवाह में जो धन लड़की के पिता को मिलता था, वह धन भी पिता अपनी लड़की को लौटा देता था। इस तरह की सम्पत्ति पर भी लड़की का अधिकार होता था। जीमूतवाहन ने कहा है कि 'वह स्त्रीधन है, जिसे दान के रूप में देने, विक्रय करने तथा बिना पति के नियन्त्रण के स्वतन्त्र रूप से उपभोग करने में स्त्री का पूर्ण अधिकार है।'

कात्यायन के अनुसार सौदायिक (आत्मीयों या स्नेहियों) से प्राप्त धन पर स्त्री का स्वतन्त्र अधिकार है क्योंकि उनके आत्मीयों द्वारा इसलिए दिया गया है कि वे दुर्दशा को न प्राप्त हो सकें। इसके अलावा सौदायिक अचल सम्पत्ति पर भी उनका अधिकार है। उसके विक्रय दान व अन्य प्रकार से हस्तान्तरित करने के सम्बन्ध में स्त्री को पूरी स्वतन्त्रता है। पति, पुत्र, पिता या भाइयों को स्त्री-धन के व्यय करने या विघटित करने का अधिकार है। कुछ परिस्थितियों में पति को सौदायिक स्त्री-धन पर अधिकार प्राप्त था। याज्ञवल्क्य का मत है कि ''दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में या बन्दी बनाये जाने पर पति यदि स्त्री-धन का व्यय करे तो उसे लौटाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।'' व्यवहार मयूख के अनुसार पति द्वारा प्राप्त धन पर पत्नी का पूर्ण अधिकार है। पति के जीवन काल में और उसकी म त्यु के पश्चात् स्त्री को स्वेच्छा से उसका उपभोग करने का अधिकार है, लेकिन पति द्वारा प्राप्त अचल सम्पत्ति को वह विक्रय आदि द्वारा उसे हस्तान्तरित नहीं कर सकती।

**स्त्री धन का उत्तराधिकार -** हिन्दू समाज में स्त्री धन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने कन्याओं को ही वरीयता दी है। मनु का कथन है कि माता की म त्यु के पश्चात् सगे भाई-बहनों में उसकी सम्पत्ति का बंटवारा होना चाहिए। स्नेहानुकूल उन पुत्रियों की पुत्रियों को भी मिलना चाहिए। याज्ञवल्क्य का मत है कि कन्यायें माता के धन की अधिकारिणी हैं और उनके अभाव में पुत्रों का अधिकार होता है। याज्ञवल्क्य ने पुनः व्यवस्था की है कि स्त्री-धन कन्याओं को मिलता है, लेकिन स्त्री के सन्ताहीन मर जाने पर स्त्रीधन पति को मिलता है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि विवाह ब्रह्म, दैव, आर्ष या प्राजापात्य रीति से हुआ हो। इन चार प्रकार के विवाह हो छोड़कर अन्य चार प्रकार के विवाह होने की स्थिति में उसका धन माता-पिता को प्राप्त हो जाता है। यही बात विष्णु ने भी कही है। नारद ने एक स्थान पर कहा कि माता का धन कन्याओं में वितरित होना चाहिए और उसके अभाव में उसकी सन्तानों को मिलना चाहिए। पराशर के अनुसार स्त्री धन पुत्र के स्थान पर कुमारी पुत्री को मिलना चाहिए। विवाहित कन्याओं

के साथ पुत्र को बराबर का भाग मिल सकता है। कात्यायन ने स्त्री-धन पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि स्त्री धन पर कुमारी कन्या को वरीयता मिलनी चाहिए। कुमारी कन्या के न होने पर विवाहित कन्याओं को अपने भाइयों के साथ भाग पाने पर अधिकार है। पुत्र के न होने या विवाहित पुत्रियों के अभाव में विधवा पुत्रियों को स्त्री-धन की प्राप्ति होनी चाहिए। आसुर, राक्षस एवं पैशाच विवाहों वाली स्त्री के सन्तानहीन होने पर स्त्री धन माता-पिता को मिलता है। उल्लेखनीय है कि स्त्रीधन पर सर्वप्रथम अधिकार अविवाहित कन्याओं का माना गया है। यह महसूस किया गया कि अविवाहित कन्याओं को स्त्री-धन की काफी आवश्यकता है। यही कारण रहा कि शास्त्रकारों ने अविवाहित कन्याओं को प्राथमिकता प्रदान् की। मिताक्षरा ने कहा है कि पुत्री में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है, अतः स्त्री धन की प्राप्ति में उसे वरीयता मिलनी चाहिए। गौतम, मिताक्षरा आदि का मत है कि यदि किसी निम्न जाति की स्त्री सन्तानहीन मर जाती है तो उसकी उच्चतर जाति वाली सौत की पुत्री को उसका स्त्री धन मिलना चाहिए, उसके अभाव में उसके पुत्र को मिलना चाहिए। मनु ने भी इस बात का सर्मथन करते हुए कहा कि ब्राह्मण की नाना जाति की स्त्रियों में क्षत्रिया आदि स्त्री पुत्र रहित मर जाए तो उसका पिता का दिया हुआ धन सजाति विजाति सौत के कन्या पुत्रों के होने पर भी ब्राह्मणी सौत की कन्या को ही मिलना चाहिए। उसके न होने पर उसके पुत्र का वह धन हो जाता है।

बारहवीं शती ई. तक स्त्रीधन का क्षेत्र काफी विस्त त हो गया। विज्ञानेश्वर ने पिता से मिली सम्पत्ति, क्रय की हुई सम्पत्ति, बंटवारे से मिली सम्पत्ति और अधिक समय तक रखने के कारण उस पर स्वामित्व प्राप्त होने क कारण प्राप्त हुई सम्पत्ति को स्त्री धन में सम्मिलित कर लिया। उसके अनुसार भी स्त्री धन पर सर्वप्रथम अधिकार अविवाहित पुत्री का और फिर विवाहित पुत्रियों का है।

इस तरह हमारे शास्त्रकारों ने स्त्रियों के प्रति उदारता का द ष्टिकोण अपनाते हुए उनके आर्थिक पोषण में आने वाली समस्याओं को देखते हुए स्त्री-धन पर सर्वप्रथम स्त्रियों के अधिकार को मान्यता दी। उन्होंने यह महसूस किया कि पिता या पति की म त्यु उनके लिए अभिशाप बन जाती है। उनका जीवन अनेकानेक समस्याओं से घिर जाता है। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें स्त्री-धन का भाग मिल जाए तो उनकी आर्थिक समस्याओं का समाधान हो जाएगा। इन्हीं कारणों से उत्तराधिकार के रूप में स्त्री-धन पर प्रथम वरीयता स्त्रियों को ही देने का प्रावधान किया गया। परन्तु स्त्रीधन किसी भी रूप में अचल सम्पति में हिस्सेदारी तो दूर है चल सम्पति में भी पुरूष के बराबर की हिस्सेदारी अर्थात उचित बँटवारे की पुष्टि नही करता क्योंकि स्त्री धन पिता तथा ससुराल की तरफ से प्राप्त भेंट की कोई निश्चित मात्रा/दर तय नही थी वरन् भेंट कितनी और किस रूप में दी जाए पूर्णतः ऐच्छिक थी और किसी भी तरह से महिला के सम्पति सम्बन्धि अधिकार का विकल्प नही था।

**विधवा की स्थिति** - हिन्दू समाज में विधवा की स्थिति अधिक दयनीय थी। संयुक्त परिवार में उसे भरण-पोषण का अधिकार अवश्य था, लेकिन उसे एक सन्यासिनी का ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था। सन्तान प्राप्त करने के लिए वह देवर या अन्य किसी सजातीय पुरूष के साथ नियोग सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी लेकिन यह सम्बन्ध एक या दो पुत्र उत्पन्न करने तक ही था। 300 ई० पू० के बाद इसका विरोध होने लगा और यह तर्क दिया गया कि सम्बन्ध अस्थायी होने पर वांछनीय नहीं है। विधवा स्त्री या तो पति की म त्यु के पश्चात् सती हो जाती थी अथवा उसे साधारण जीवन व्यतीत करते हुए सामाजिक क्रिया-कलापों से अलग रहना पड़ता था। महाभारत के आदिपर्व में विधवाओं के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है कि जिस तरह प थ्वी पर पड़े हुए मांस के टुकड़े पर पक्षीगण टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार पति हीन स्त्री पर पुरूष टूट पड़ते

हैं। शान्ति पर्व में कहा गया है कि अनेक पुत्रों के रहते हुए भी विधवायें दुखी हैं। इन उद्धरणों से यह कहना गलत न होगा कि विधवायें समाज में सुरक्षित नहीं थीं और बहुत हद तक उनका जीवन कष्टमय ही था।

मनु ने विधवाओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था दी है कि पति की म त्यु होने पर व्यभिचार की बुद्धि से स्त्री दूसरे पति का नाम भी न ले। उसे केवल पुष्पों, फलों एवं मूलों का आहार ग्रहण करके शरीर को क्षीण करना चाहिए। पुत्र रहित होने पर पुत्र प्राप्ति के लिए दूसरे पुरूष की सेवा नहीं करनी चाहिए। म त्यु पर्यन्त उसे संयम रखना चाहिए और अपने सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए। विधवा के लिए शास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी कि उसे पुष्प, आभूषण, रंगीन परिधान का त्याग कर देना चाहिए, रात को कुशा की चटाई पर सोना चाहिए, श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए, व्रतों को रखते हुए उसे पति, पति के पिता एवं पति के पितामह के नाम एवं गोत्र से तर्पण करना चाहिए। उसे अमंगल सूचक समझा जाता था। वह विवाह मे अथवा किसी भी प्रकार के उत्सव में भाग नहीं ले सकती थी। इस तरह समाज में उसे हेय द ष्टि से देखा जाता था। उसकी स्थिति क्लेशपूर्ण एवं दुःखद थी।

यद्यपि विधवा विवाह समाज में प्रचलित थे, लेकिन ऐसे विवाह को श्रेयस्कर नहीं माना जाता था। स्त्रियां भी ऐसे विवाह को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देती थीं। केवल निम्न वर्णों में यह प्रचलित रहा। छठी शताब्दी ईसवी के पश्चात् विधवा पुनर्विवाह को काफी निन्दनीय मानकर हेय द ष्टि से देखा जाने लगा। विधवा से उत्पन्न पुत्र को श्राद्ध के लिये निन्दनीय माना जाता था। आत्महत्या की संज्ञा देकर स्त्रियों के लिए इसे वर्जित बताया है। उसने इस प्रथा की तुलना श्येननाग से की है जिसके द्वारा लोग अपने शत्रु पर काला जादू करके उसे मारते थे। देवण्ण भट्ट ने भी इस प्रथा की कटु आलोचना करते हुए इस एक जघन्य अपराध बताया है।

## नारी के प्रति समाज में व्यवहार

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल के बाद से महिलाओं की स्थिति उतरोत्तर दयनीय होती चली गई। समय के साथ साथ नारी के प्रति समाज के व्यवहार में कठोरता का सूत्रपात होता गया। परवर्ती साहित्य में स्त्री और सम्पत्ति का संयुक्त उल्लेख किया गया है और सम्पत्ति और परिवार की सुरक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है।

अगर साहित्य के उल्लेखों पर द ष्टिपात किया जाए तो हमें ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जहां स्त्री को पशु के समान माना गया है। अग्निपुराण के अनुसार स्त्री और पशु को बंधक के रूप में रखा जा सकता है। स्त्री और सम्पत्ति के सापेक्षिक महत्त्व का संकेत इस कथन से भी मिल जाता है कि स्त्री पुत्रोपति के लिए होती है और सम्पत्ति दान और भोग के लिए।

वैदिक साहित्य में यद्यपि संतान और पशुओं की उपलब्धि के लिए प्रार्थनाएं हैं लेकिन स्त्री और सम्पत्ति का एक ही कोटि में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यह मनोव त्ति गुप्त युग में विशिष्ट रूप से सबल हो गई जब धर्मशास्त्रों के पहले पहल उल्लेख किया गया। जो स्त्रियों को अचल सम्पत्ति के अधिकार से अलग रखता था इसलिए वे चल सम्पत्ति मानी गई।

जहां तक नागरिक अधिकारों का प्रश्न है स्त्री और शूद्र के जीवन का मूल्य एक ही समझा जाता था अग्निपुराण में बतलाया गया है कि स्त्री हत्या करने वाले को शूद्रहत्या का व्रत करना चाहिए। कुत्ते गोह, उल्लू और कौवे की हत्या में भी वही व त करना पड़ता था। पराशर स्म ति में बताया गया है कि जो व्यक्ति शिल्पी, कारीगर शूद्र अथवा स्त्री को मारे उसे दो प्रजापत्य व्रत करने चाहिए और दक्षिणा में ग्यारह सांड देने चाहिए।

गीता जैसी रचना में भी स्त्री शूद्र और वैश्य तीनों को एक ही श्रेणी में रखा गया है गीता में श्री क ष्ण कहते हैं हे पार्थ वे भी जो पाप योनि है अर्थात् स्त्री, वैश्य और शूद्र मेरी शरण में आकर परम गति प्राप्त करते हैं।

स्त्री शूद्र के समान ही अशुद्ध समझी जाने लगी थी। द्विज तथा स्त्री और शूद्र की शुद्धता दो प्रकार की होती थी। जहां द्विज का शारीरिक शुद्धता तीन बार आचमन करने से जाती थी। वहां स्त्री और शूद्र की शुद्धता के लिए एक ही बार जल छूना काफी था।

स्त्री और शूद्र की धार्मिक अवस्था के विषय में सम्मिलित उल्लेखों से भी समाज में उनकी निम्नकोटि के स्थान का पता चलता है। उन्हें मंत्र के साथ पिंड देने का अधिकार नहीं था। साथ ही स्त्री और शूद्र की सांस्क तिक अवस्था भी एक ही समान थी ऐसे आदेश मिलते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि साधारणतयः स्त्री तथा शूद्रों का शिक्षा एवं संस्क ति से कोई सम्पर्क नहीं था।

गुप्तकालीन नाटकों में शूद्र और स्त्री पात्र अपभ्रंश बोलते थे जबकि द्विज संस्क त का उपयोग करते थे। दूसरी और धर्म सूत्रों में वर्णित विवाह के प्रकारों के स्त्रियों के लिए आपेक्षिक स्वतन्त्रता और पहल है तथा साथ ही इनके अन्तर्गत विवाह तय करने में महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निचले वर्णों में महिला की स्थिति ऊपर के वर्णों की तुलना में बेहतर थी और उसे उन सभी प्रतिबन्धों का सामना नहीं करना पड़ता था। बौद्धायन के धर्मसूत्र में स्पष्टता उल्लेख है कि वैश्यों और शूद्रों की पत्नियों अपेक्षाक त स्वतंत्र थी क्योंकि ये क षि और सेवा कार्यों में संलग्न रही थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में गुप्तयुग के आते-आते नारी की स्थिति में परिवर्तन द ष्टिगोचर होने लगता है और सांमती समाज की जटिलताओं की और अग्रसर होने पर नारी की स्थिति विकट हो जाती है।

# अध्याय - 19

# कुषाणकालीन समाज एवम् संस्कृति

# (Kushana Society and Culture)

शक काल की भांति कुषाण काल (100 ई. पू. से 300 ईसवी) जो कि दो स्थानीय शासन अर्थात शुंगों और गुप्तों के शासन काल के मध्य के काल में विकसित हुआ, दो संस्कृतियों अर्थात पूर्व और पश्चिम के समिश्रण एवम् समन्वय का काल है। इस काल का एक बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान जो कभी भुलाया नहीं जा सकता, वह है द्वितीय शताब्दी ई. पू. और तीसरी शताब्दी के काल में लोगों की सामाजिक सोच में आया गुणात्मक परिवर्तन। विदेशी जो इस काल में भारत आए उन्होनें इस देश के धर्म एवम् धार्मिक विश्वासों एवम् जीवन शैली को अपनी जीवन शैली का हिस्सा बनाया और इस देश के कारनवेताओं के एक वर्ग ने समाज को दिशा निर्देश देने वाले नियमों तथा कानूनों को समय की मांग के अनुसार ढाला और उदार बनाया। परन्तु दूसरी तरफ स्म तिकारों का ऐसा वर्ग भी था जो परम्परागत वर्णधर्म के टूटते हुए ढाँचे को देख भयभीत हो उठे और परम्परागत ढाँचे को बचाने हेतु तथा सामाजिक नियमों विशेष रूप से जाति व्यवस्था से सम्बन्धित नियमों और कानूनों को और अधिक सख्त कठोर बना दिया। इस प्रकार की परिस्थितियों में कुषाण कालीन समाज का निर्माण चल रहा था।

## सामाजिक संगठन

### जाति व्यवस्था

समाज शब्द एक जनसमूह, समुदाय अथवा सम्मेलन का द्योतक है। दिव्यावदान बुद्धचरित, सौन्दरानन्द एवं मिलिन्द पन्हव के विवरण ईसवी सन् की पहली तीन सदियों के सामाजिक जीवन, रीति-व्यवहार आदि पर अच्छी सामग्री संजोये हैं। समाज कई वर्गों में विभाजित था पर उसका आधार व्यक्ति द्वारा अपनाये गये व्यवसाय थे। प्रत्येक वर्ग में कई जातियों के लोग होते थे। जातियां व्यक्ति के जन्म से ही तय होती थी। जाति के रूप में- ''चातुर्वर्ण'' का ही उल्लेख मिलता है। दिव्यावदान में इसे ''चतुषक'' कहा गया है। इन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। चतुर्वर्ण के साथ ही साथ अंगविज्जा में मिश्रित जातियों के वर्णन है। मुख्य रूप से कुषाण समाज में वैदिक काल से चले आ रहे दो वर्ग 'अज' और 'पस' प्रमुख थे। 'अज' से तात्पर्य आर्यों से और 'पस' से तात्पर्य दासों से था। अत्याधिक निम्नवर्ग के लोग मलेच्छ कहे गये हैं। ''चतुषक'' में ब्राह्मणों को अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की गयी थी।

कुषाण कालीन साहित्य में ब्राह्मणों एवं संन्यासियों के दस प्रकार यथा- आजीवक, निग्गंठ तथा अर्धफालक (ये तीनों जैनधर्म को मानते थे), मुंडशावक (मुड़ासिर), जाटिलक (जटाधारी), परिब्राजक (ब्राह्मण संन्यासी), मागंधिक, त्रेदंडिक, अविरूद्धक, गौतमक प्रमुख है। बुद्ध के

व्यवसाय भी अपनाने के लिए उन्हें रूकावट नहीं थी जैसा कि दिव्यावदान के उल्लेख, कि सभी ब्राह्मण वेद में पारंगत नहीं होते थे, से संकेत हेाता है। इनके भरण-पोषण का मुख्य आधार विभिन्न वर्गों द्वारा दिया गया दान था। हुविष्क के समय के मथुरा अभिलेख में वकनपति एवं खरपल्लानि द्वारा मास में एक बार सौ ब्राह्मणों को एक खुले भवन में भोजन की व्यवस्था का उल्लेख, ब्राह्मणों को दान देने के संकेतक हैं। बौद्धों द्वारा ब्राह्मणों को दान के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

कुषाण शासकों द्वारा ब्राह्मणों को प्रशासनिक पदों पर भी नियुक्त किया गया था। धनी ब्राह्मण कभी-कभी अन्य सम्प्रदाय वालों को भी दान देते थे जैसा कि शैग्रव गोत्रीय ब्राह्मण ने जमालपुर में बौद्धों के लिए एक आराम (उद्यान) और ताल बनवा कर दान दिया था। ब्राह्मण सैनिक बनकर युद्ध भी करते थे। मथुरा के एक अभिलिखित आयोगपट्ट से ज्ञात होता है कि गौतमी पुत्र ने शकों और पोथियों को परास्त किया था।

कुषाण काल में क्षत्रिय अधिकतर सैनिक होते थे। मथुरा से प्राप्त कार्तिकेय की लेखांकित मूर्ति की स्थापना चार क्षत्रिय भाइयों के विजय हेतु की है। वैश्य लोग प्रायः व्यापार और कृषि कार्य करते थे। गंधार के एक फलक पर एक किसान हल एवं बैल से खेत जोतता हुआ अंकित है। बढ़ते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप समाज में वणिकों को सम्मान से देखा जाता था। कुछ फलकों पर थल मार्ग से व्यापार करने वाले त्रपुष और भल्लुक बुद्ध के निकट करबद्ध खड़े हैं। स्थल मार्ग से व्यापार करने वालों को 'सार्थवाह' तथा नौका द्वारा जलमार्ग से व्यापार करने वाले को 'महासमुद्रिक सार्थवाह' कहा जाता था। गंधार के फलक पर कतार से खड़े पतवारधारियों के अंकन जलमार्ग के महत्व को दर्शाते हैं। मथुरा के अभिलेखों में कायस्थों का भी उल्लेख है। मिलिन्दपन्हव में इनके द्वारा लेखनकर्म किये जाने का विवरण है। समाज में शूद्र वर्ग में 'अछूत' वैवर्णिक एवं 'मातंग' इत्यादि आते थे। गंधार के एक फलक पर अछूत कन्या का अंकन हैं। शिकारी एवं घसियारे भी निम्नवर्ग के थे। इनका कार्य अभिजात्य वर्ग की सेवा करना था।

कुषाण समाज में यद्यपि जन्म से जाति का निर्धारण होता था फिर भी व्यक्ति कोई भी व्यवसाय अपना सकता था। समाज में वणिक वर्ग की प्रधानता थी। अलग-अलग व्यवसाय के अलग प्रमुख होते थे जिन्हें श्रेष्ठी कहते थे। ये बैंकर अर्थात् धन-संग्रह करने का भी काम करते थे। मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों में विभिन्न श्रेणियों के नाम मिलते हैं यथा- सुवर्णकार (सुनार), लोहवणिय (लोहार), कुल्लारिक (कुम्भार), समितकार (आटा पीसने वाली संस्था), धन्निक या धान्यवर्ग (अनाज), कार्पसिक (रूई बेचने वाले), रयगिनि (रंगरेज), प्रावारिक (दर्जी), गन्धिक (सुगन्ध, इत्र आदि के विक्रेता), कालवडाज (शराब विक्रेता)। इनके अतिरिक्त समाज में लोगों का मनोरंजन करने एवं अपने जीवकोपार्जन हेतु नट (जो विभिन्न तरह के शारीरिक करतब दिखलाते थे), नर्तक, शैलालक (अभिनय या नाटक करने वाले) एवं गणिकाएं थी। शैलालक समुदाय का प्रमुख नन्दीवन था जिसके पुत्र छन्दक भाइयों ने शिलापट्ट दान दिया था। समाज में गणिकाओं को भी आदर की द ष्टि से देखा जाता था। ये उपासना, पूजा एवं दान देने को स्वतन्त्र थीं। इनके कई सतर होते थे जैसा कि एक लेख में गणिका लवण शोभिका को अदानिका (पहले वाली) तथा गणिका बसु को नदानिका (बाद वाली) कहा गया है।

कुषाण समाज में मूर्तियां बनाने वालों को शैलरूपकार कहते थे। इनमें शिवमित्र, शिवरक्षित, रोमा, दास, शिवर, ज्योतिष एवं संघदेव उल्लेखनीय हैं। भवन निर्माताओं को नवकार्मिक (वास्तुकार) कहा जाता था। तक्षशिला स्तूप के 'धातुकरन्डक' का निर्माता अग्शिाल नामक नवकार्मिक था। प्रस्तर खण्डों में उकेरे भवनों में लगे महीन पच्चीकारीयुक्त द्वार शाखा, चौखट, किवाड़ एवं

खिड़कियों आदि को बनाने वाले कुशल बढ़ई रहे होंगे। इन्हें अभिलेख में 'वर्धाकिन' कहा गया है। फूलों द्वारा माला बनाने वाले को 'मालाकार' या माली कहा गया हैं। आम आदमियों के बाल काटने वाले नाई को 'नागरनापित' एवं शाही नाई को 'राजनापित' कहते थे। वेतनभोगी 'राजनापित' नाई 'जाड' और 'सारा' का उल्लेख हैं। गंधार के एक अंकन में यह सिर मूड़ता अंकित है।

कुषाण कालीन समाज बहु व्यवसायी था। समाज के अभिजात्य वर्गों में धनसम्पति के आधार पर उसका स्तर निर्धारित होता था। जीवकोपार्जन द्वारा धनी बना शूद्र भी अभिजात्य वर्ग में गिना जा सकता था किन्तु निर्धन वैश्य को 'दास' नहीं कहा जा सकता था।

कुषाण प्रस्तर-मूर्तियों को देखने से ऐसा लगता हैं कि समाज में रह रहे विदेशियों को भी सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था। आक्रमणकारियों के साथ आये विदेशी कई बार यहीं बस गये। अतः जहाँ मथुरा क्षेत्र में ब्राह्मणों का बाहुल्य था वहीं गंधार क्षेत्र तथा भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेशों में मध्य-ऐशियायी, यूनानी, ईरानी, शक, पल्हव, अफगान एवं कुषाण आदि बहुतायत से बसे थे। ये लोग सैनिक एवं प्रशासन सम्बन्धी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे। ये अपनी अलग ही वेशभूषा पहनते थे। धीरे-धीरे इन सभी जातियों ने भारतीय रीति-व्यवहारों को स्वीकार कर धार्मिक परम्पराओं को अपना लिया था। अतएव भारतीय समाज ने उन्हें भी आत्मसात कर लिया था। मैत्रेय की अभिलिखित मूर्ति जो हुविष्क के 29वें वर्ष की हैं, में दानकर्ता ''करतिल' जो अरब का रहने वाला था, उल्लेख हैं। इसमें उपासक इंडोसीथियन वेश में हैं। सांची में मिले तीसरी शती के प्रस्तर-खण्ड में भी इंडोसीथियन प्रकार की आकृतियों दिखती हैं पर लेख में दानकर्त्री भारतीय हैं, जिसकी पुष्टि उसके नाम सिंहदता से भी हो जाती है। क्वीन्सलैंण्ड संग्रहालय के वादक समूह में एकविदेशी फीजियन प्रकार की टोपी पहने हैं जिसका मुकुट आगे को नोकदार हो गया हैं तथा गाल तक लटकते लम्बे पल्ले (फ्लैप) हैं। इसका कुर्त्ता शरीर पर टिकाये रखने के लिए कई बंधनों में बंधा हैं। शेष तीन आकृतियां अफगानी न त्यमुद्रा में हैं। रायल अनटरियों संग्रहालय के शिलाखण्ड में इसी प्रकार स्पष्ट कुषाण वेशधारी आकृतियां हैं जो दाढ़ी वाले पुरूष वेम के सोने तथा कुजुल के चांदी के सिक्कों पर उकेरी आकृतियों से मेल खाते हैं। ऐसे ही चित्रण मथुरा के जमालपुर से मिले हुविष्क-विहार के अवशेषों एवं शोहटोरक में मिले प्रस्तर-खण्डों पर उकेरी पन्द्रह आकृतियों में हैं। पेशावर संग्रहालय में रखे गंधार से प्राप्त प्रस्तर-खण्ड पर कुषाण वेशभूषा में सज्जित छः सिपाही विचार-विमर्श की मुद्रा में अंकित है। राजपुरूषों की मूर्तियां मथुरा के मांट टीले से भी प्राप्त हुई हैं। शहरी बहलोल टीले से प्राप्त ईरानी वेश में दानकर्ता हाथ में पात्र (कटोरा) लिए अंकित हैं। यहीं से प्राप्त एक अन्य प्रस्तर-खण्ड पर बौद्ध भिक्षु के साथ शक वेशधारी दो पुरूष दानकर्ता के रूप में अंकित हैं। इन विदेशियों ने मुख्यरूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया तथा समय-समय पर धार्मिक संघों को दान आदि दिये। अतः शिल्पकार ने इन्हें स्थान-स्थान पर उकेर कर सम्मानित किया था। ये विदेशी कभी-कभी धार्मिक यात्रा करने भारत आते थे। जैसा कि एक अभिलेख में उत्कीर्ण है कि उड्रयन देश (स्वात) के निवासी जीवक ने देव पुत्र हुविष्क विहार को वर्ष 47 एवं वर्ष 67 में दो वेदिका, स्तम्भों का दान दिया था। भारतीय संस्कृति ने समय के साथ इन विदेशियों को आत्मसात कर लिया था। धीरे-धीरे शक, पहलव, यूनानियों को क्षत्रिय माना जाने लगा था। एक लेख में शोडाष अपने को शैग्रव गोत्र का उल्लेख करता हैं, यह गोत्र ब्राह्मणों से संबंधित हैं। शक द्वीप से आये शकों ने अपने को मग ब्राह्मण कहा है जो सूर्योपासना पर अधिक बल देते थे।

कुषाण कालीन मूर्तियों पर उकेर लेखों में उल्लिखित नाम समाज के विभिन्न वर्गो की सुन्दर झांकी संजोये हैं। क्षत्रियों का बोध नागसेन, महिसेन एवं जयसेन नामों से होता हैं। ऐसे

ही कुछ नामों के अंत में देव लगा है यथा- संघदेव, फल्गुदेव एवं कुछ के अंत में घोष शब्द यथा- शिवघोष, पालघोष, पोठघोष, धनघोष इत्यादि। सिंह नन्दिक, भद्रस्थ, भद्रनन्दिन आदि पुरूष वर्गीय अन्य नाम हैं। स्त्रियों के नामों में अमोहनी, दत्ता, अगोल या अचला, शिवमित्रा आदि हैं। ओखारिका, उम्माटिका आदि नाम निम्न वर्गीय विदेशी स्त्रियों के से लगते हैं। कुछ स्त्रियों के नाम धार्मिक विश्वासों, नक्षत्रों एवं गोत्रों पर भी रखे गये हैं। नक्षत्र द्योतक पुष्प, धार्मिक विश्वास इंगित करते 'जिनदासी' तथा गोत्र संज्ञक कोशिकी, कोच्ची आदि हैं। जैनग्रन्थ में 'जोडिक' नामक यूनानी स्त्री का उल्लेख हैं। इस प्रकार 'विश्वासिक' 'महादण्डनायक' शक या ईरानी नाम हैं।

## परिवार

कई बार इन नामों से जाति एवं वर्ग के साथ ही गोत्र पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। समाज में मात वर्गीय एवं पित वर्गीय दोनों ही प्रकार के परिवार थे। लेखों में 'मोगलिपुत्र' जैसे उल्लेख मात वर्गीय परिवारों के द्योतक हैं। इसी प्रकार 'नाग', 'हस्तिन' आदि नाम के पूर्व एवं उतरपद से सम्बद्ध हुए थे यथा- मंगुहस्ति, मघहस्ति, व द्धहस्ति, नागनन्दिन इत्यादि। दिव्यावदान में ब्राह्मणों के सात गोत्रों यथा- गौतम, वात्स्य, कोत्स कौशिक, कश्यप, विशिष्ठ मांडव्य का उल्लेख हैं। महावस्तु में महापरिवार, आश्रम परिवार, अनुरक्त परिवार, अमेध परिवार आदि वर्णित हैं। इस प्रकार स्पष्टतः सामाजिक जीवन के ढांचे में परिवार एक इकाई था जिसमें लोग संगठित थे। दानकर्त्ताओं द्वारा उकेरवाये लेखों में व्यक्तिगत हित की चाह न कर सामूहिक परिवार के हित-सुख की मांग की गयी है। संयुक्त परिवार में, माता-पिता, पितामह, पुत्र, वधू, दादी (पितामहका, पितामही) होते थे। अश्वघोष ने भ्रातार्य को संयुक्त परिवार में सम्मिलित बतलाया है। ऐसे ही सन्दर्भ में बुद्धमित्रा की बहन की लड़की धनवती एवं एक अन्य लेख में सुशोति का उल्लेख भी आया हैं कतिपय व द्ध क्षताओं के लेखों में संयुक्त परिवार में आने वाले नाती-पोतों के उल्लेख भी मिलते हैं। जैसा कि बुद्ध की पुत्री विजयश्री, राजवसु की पत्नी, देविल की मां एवं विष्णुभव की दादी के लेख में हैं। इसी प्रकार एक लेख में बद्धिक की बहू तथा शिवत्राता की पोती का उल्लेख हुआ है। स्वसुर सम्मिलित परिवार में नहीं आते थे। संयुक्त परिवार को 'महापरिवार' कहा गया है।

परिवार का मुखिया ग हपति तथा उसकी पत्नी भार्या, कुटुम्बनी, धर्मपत्नी एवं सहचरी कहकर सम्बोधित की गयी है। इनमें प्रथम तीन तो पर्यायवाची हैं परन्तु अन्तिम से कई विद्वानों ने केवल 'मित्र' का भाव लिया हैं। ब्युलर महोदय ने धर्मपत्नी से शास्त्र-सम्मत प्रथम पत्नी, कुटुम्बनी से ग हपत्नी तथा 'भार्या' से पत्नी का अर्थ लिया है। ग हपति अपनी सम्पत्ति का हस्तांतरण तथा वसीयत पुत्रों को करते थे। उनके आदेश सभी सदस्यों के लिए अन्तिम होते थे।

रक्त संबंधों को समुचित मान्यता समाज ने दी थी। विवाहित स्त्री अपने वंश, गोत्र, परम्परा का उल्लेख क्रम से स्वसुर के नाम से करती थी। तत्पश्चात् उसके पिता का, फिर पति का और अंत में पुत्र का होता था। कई बार पिता का उल्लेखया तो नहीं हैं या फिर स्वसुर के पश्चात है। यदि परिवार के मुखिया की म त्यु हेा चुकी है तो पिता का नाम पति के नाम के पीछे आता था जैसा कि सिंहदत्ता के दान संबंधी लेख में हैं।

## सेवक-सेविकाएं

ग हस्वामी एवं ग हस्वामिनी की सहायता के लिए सेवक होते थे। घर के नौकर 'कर्मकार' तथा भाड़े पर रखे सेवक 'पौरूषेय' कहे जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य शब्द भी इसी सन्दर्भ प्रयुक्त हुए हैं जैसे 'प्रश्यजन', 'पूरोनव' (व्यक्तिगत सेवक), 'वाहिक' (समान ढोने वाला)

एवं 'अन्तरग हदास' हैं। एक लेख में 'अभ्यंतरोस्थापक' कथिक के दान का उल्लेख हैं, यह राजमहल में सेवक या सेवकों का प्रमुख था। सेविकायें ग हस्वामिनी के विलेपन, 'स्नान व श्रंगार' की व्यवस्था करती थीं। इनके अंकन कई प्रस्तर फलकों पर हुए हैं। बच्चों की देखरेख के लिए धात्रियों की व्यवस्था थी। हाथ जोड़े खड़े सेवक, पालकी-वाहक, दीप लिये चंवरधारी सेवक, व्यंजनधारिणी कन्यायें (पंखा करने वाली सेविकायें) तथा घटधारी सेविकाओं के प्रस्तर-खण्डों पर ऐसे ही अंकन हैं।

### काल गणना का ज्ञान

प्रस्तर-मूर्तियों पर उकेरे लेख हमें समाज में प्रचलित काल गणना पर निर्दिष्ट सूचनाओं- वर्ष, मास, दिन, तिथि तथा नक्षत्रों इत्यादि का ज्ञान कराते हैं। सम्राट कनिष्क की राज्यारोहण की तिथि (सर्वसम्मत के मान्य 78 ईसवी) से समाज में एक नया संवत् प्रारम्भ हुआ जो शासकीय तथा सामान्य जन द्वारा मूर्ति अभिलेखों पर उत्कीर्ण कराया गया। यही राज्यवर्ष आगे चलकर शकसम्वत् कहलाया, आज भी हिन्दी कलैन्डरों की गणना इसी सम्वत् से की जाती है। कुषाण-समाज में वर्ष में होने वाली तीन ऋतुएं अर्थात् हेमन्त (शीतकाल), ग्रीष्म (ग्रीष्मकाल) तथा वर्षा का वर्णन है। प्रत्येक ऋतु में चार मास होते थे, इस तरह उनके वर्ष में बारह मास होते थे। कुषाणों के गंधार प्रदेश से प्राप्त मूर्ति लेखों में विदेशी माह के नाम यथा- स्वस्थि तथा अर्टीमिसोस एवं मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भाभिलेख में गुर्पिये दिवसे (यह मैसीडोनियन मास भारत मास के समकक्ष होता है), के प्रयोग से ऐसा प्रकट होता है कि शासक वर्ग कभी-कभी अपने मूल स्थान में प्रचलित कालगणना का भी प्रयोग करते थे। अधिकांशतः अभिलेखों पर भारतीय महीनों के नाम अर्थात् -कार्तिक मास के 20वें दिन, मार्गशीर्ष (अगहन मास) तथा चैत्र मास के 8वें दिन और आषाढ़ मास के 20वें दिन से पता चलता है कि भारतीय मास और तिथियों समाज में सामान्य प्रचलन में थीं। समाज में प्रत्येक मास में आज की भांति दो पक्ष माने जाते थे यथा कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष। पुण्यशाला अभिलेख में शुक्लपक्ष की चौदस का उल्लेख है। कुद मूर्तियों पर समाज में प्रचलित नक्षत्र यथा- उत्तरफाल्गुन तथा पूर्वाषाढ़ आदि का भी उल्लेख हैं। कुषाण कालीन चरण-चौकियों पर अंकित लेखों में 1 से लेकर 30 तक की तिथियां मिलती हैं।

### स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की दशा सामाजिक विकास का मापदण्ड है। कुषाण समाज में स्त्रियों को समुचित महत्व दिया गया था। वह पुत्री, भार्या, सहचरी, मां आदि अपने सभी रूपों में योगदान करती मिलती है। कलाकृतियों में सुन्दरियों की आकर्षक मुद्राएं उनकी विविध प्रकार की क्रीड़ाएं, जिनमें उद्यान, सलिल क्रीड़ाएं एवं मनोरंजन के द श्य मुख्य हैं से स्पष्ट है, कि समाज में स्त्रियों के वैयक्तिक विकास का ध्यान रखा जाता था। बालिकाओं को जहां न त्य एवं संगीत में दीक्षित किया जाता था वहीं वे घुड़सवारी एवं शस्त्र-संचालन में भी पीछे नहीं रही थीं। महिला अश्वारोहिणी के घोड़े की दौड़ती गति उसके दक्ष अश्वारोही होने के प्रमाण हैं। समाज में गणिका वर्ग की भी प्रतिष्ठा थी।

यौवन की देहरी पर पहुंचते ही युवतियों को विवाह-संस्कार में बंधकर पति के घर में प्रवेश करना होता था। भरहुत में स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त पर्दा यहां द ष्टव्य नहीं है पर स्त्रियाँ सामाजिक आदर एवं सम्यक व्यवहार से अपरिचित नही थी। अश्वघोष ने लज्जा से स्त्रियों द्वारा सिर झुका लेने तथा उनके रहने के लिए अन्तःपुरों की व्यवस्था का उल्लेख किया है। कई प्रस्तर-खण्डों पर स्त्रियों छज्जों से झांकती या पर्दे के पीछे से मुंह बाहर कर देखती उकेरी गयी हैं। जिससे साहित्यिक उल्लेख पुष्ट होते हैं। वस्तुतः स्त्री को पुरूष की सहधर्मिणी बन

ग हकार्य सामाजिक उत्सवों में हाथ बंटाना होता था। कलकत्ता संग्रहालय एक मूर्ति-फलक पर एक पुरूष घोड़ी को चारा खिला रहा है तथा स्त्री मोढ़े पर बैठकर बच्चे को तसले में नहला रही है। पारिवारिक द श्यों के कई अंकनों में वे अपने परिवार के सदस्यों के साथ मदिरापान, न त्य एवं वन विहार करते प्रदर्शित हैं। स्पष्ट है कि उन्हें वैवाहिक जीवन में कितनी स्वतंत्रता थी। दाम्पत्य जीवन के उन सुखद स्म तियों की झलक कलकत्ता। संग्रहालय के स्तम्भ पर उकेरे शयनागार के द श्य में शाश्वत हो उठी है जहां सभी दुःखों को भूली नारी सिर के नीचे हाथ रखे चारपाई पर सो रही है और उसका पति खाट पर बैठकर गर्मी के कारण पंखा झल रहा है।

दैनन्दिन जीवन में स्त्री-पुरूष को पूरी स्वतन्त्रता थी। एक पट्ट पर अवकाश के क्षणों में वे आपस में विचार-विमर्श करते अंकित हैं। दूसरे पट्ट पर स्त्री की पीठ पर अपना हाथ रखे पुरूष अपनी बात समझाने में व्यस्त हैं। एक अन्य द श्यों में स्त्री के निकट बैठा पुरूष अपने गाल पर हाथ रखे चिंतित मुद्रा में अंकित हैं। कंकाली से प्राप्त नन्द सुन्दरी स्तंभ पर एक पुरूष अपनी रूठी पत्नी को मनाने का प्रयास कर रहा उत्कीर्ण है।

कुषाण शिल्पकार ने प्रणयी-युगलों के अंतरंग क्षणों को भी प्रस्तर फलकों पर उतारने का करने का प्रयास किया है। मथुरा के एक स्तम्भ के दूसरे पट्ट पर एक राजपुरूष युवती को बांह पकड़कर अपनी ओर झुकायें अंकित है। इसके निचले पट्ट पर राजपुरूष अपना बायां हाथ स्त्री के कंधे पर रखे तथा दायें हाथ से उसकी ठोढ़ी पकड़े है। मथुरा के शिल्पकार ने जहां इन प्रसंगों को शालीनता से उकेरा वहीं गांधार में शिल्पकारों ने अंकनों में उन्मुक्त प्रेम को दर्शाया है।

स्त्रियां स्वभावतः धार्मिक विश्वासों में अधिक आस्था रखती थी। परिवार के कल्याण हेतु वे मूर्तियों को दान कर स्थापित करातीं थीं। त्योहारों एवं पर्वो पर पुरूषों के साथ पूजा करने जाती थीं। मथुरा के कई शिलापट्टों पर पुष्पकरन्ड तथा भारी फूलों की माला लिए दम्पति पूजा हेतु खड़े दर्शाये गये हैं। मथुरा के कुछ वेदिका-स्तम्भों पर युवतियां नमस्कार मुद्रा में व क्ष के नीचे खड़ी अंकित हैं। दूसरे स्तम्भ पर विदेशी वेश में स्त्री पुष्पों का अर्ध्य देती रूपायित हैं। एक खण्डित पट्ट पर एक भारतीय वेश में नारी भारी माल्य चंगेरी लिए अर्पण हेतु झुकी खड़ी है। एक अन्य में विदेशी स्त्री धूपदानी लिए किसी विहार में रखने के लिए जा रही उत्कीर्ण है। गंधार के एक खण्डित-फलक पर एक विदेशी स्त्री देवता के समक्ष फलों से भरा बड़ा पात्र, लिए अर्पण हो चुकी है। कलकत्ता संग्रहालय के द श्य में छोटे बच्चे को बुद्ध से आशीर्वाद दिलाने की मुद्रा में पुरूष के पीछे उसकी स्त्री श्रद्धानत है। कंकाली से प्राप्त एक फलक पर जैन देवता नैगमेश के समक्ष स्त्रियां भेाग सामग्री अर्पण कर बच्चों की रक्षा के लिए पूजा कर रही अंकित हैं। मूर्तियों पर अंकित लेखों से पता चलता है कि प्रौढ़ावस्था में वे संन्याय भी ग्रहण करती थीं। जैन एवं बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायों में स्त्रियां, श्राविका, श्रद्धाचारी, शिष्यनी उल्लिखित हुई हैं।

## शिक्षा

प्रस्तर-मूर्तियों पर उकेरे द श्य तथा समकालीन साहित्य तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का खाका प्रस्तुत करते हैं। गंधार के कुछ फलकों पर बुद्ध के स्कूल जाने का अंकन है। यहां बुद्ध अपने साथियों के साथ स्कूल जा रहे हैं तथा साथियों के हाथ में तख्ती एवं दवातें हैं। ऐसे ही एक-दूसरे अंकन में एक सेवक सिद्धार्थ के लिए अपने कन्धे पर मोड़ने वाला आसन लिये जा रहा है। पेशावर एवं मथुरा से प्राप्त शिलापट्टों पर गुरू सिद्धार्थ को तत्कालीन ब्राह्मी लिपि में

तख्ती पर ''अपना और दूसरों का कल्याण करो'' लिखना सिखाते हुए अंकित है। बौद्ध ग्रन्थ में तख्ती के लिए ''लिपि फालक'', दवात के लिए ''मासीपिण्ड'' तथा कलम के लिए ''तिरक'' एवं पेन्सिल के लिए ''तूल'' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। सामान्य लिखाई-पढ़ाई के साथ ही विशेष प्रशिक्षणों की भी व्यवस्था रही होगी। धनुविद्या, मल्लविद्या, शस्त्रसंलाचन, शल्य-चिकित्सा, न त्य, संगीत आदि के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो समकालीन कलाकृतियों में उकेरे गये द श्यों की सूक्ष्मता से ही स्पष्ट हो जाती है। नैतिक मूल्यों की पुष्टि आध्यात्मिक प्रवचनों से होती है। शल्य-चिकित्सा का इस युग में अच्छा विकास हुआ था। मथुरा के दो स्तम्भ पट्टों पर बन्दरों द्वारा यक्ष जैसे पुरूष एवं उल्लू की आंख की शल्य क्रिया तथा ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से महावीर के भ्रूण को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरण की गाथा का अंकन इसी के पुष्ट प्रमाण हैं।

**विवाह**

विभिन्न संस्कारों में विवाह प्रमुख संस्कार है, कुषाण काल भी इसका अपवाद न था। साधारणतः विवाह सजातीय ही होते थे। विवाह सामान्यतः पुरूष के पौरूष की परीक्षा, शस्त्र-संचालन में दक्षता आदि की परीक्षा के बाद होते थे, जैसा कि बुद्ध द्वारा विभिन्न प्रकार के शस्त्र-संचालन के द श्यों तथा महावस्तु के उल्लेख में कि लौहकार के पुत्र द्वारा विभिन्न द्वारा अति बारीक सूई बनाकर प्रस्तुत करने से इंगित होता है। गांधार कला के मल्लों के अर्नागनत द श्य भी इसी परिपाटी के लगते हैं। योग्यता के साथ ही समस्तरीय आर्थिक स्थिति भी विवाह का आधार होती थी। मथुरा के लेख में मणिकार की पुत्री को लौहवणिक की बहू के रूप में उल्लेख समस्तरीय परिवारों में वैवाहिक सम्बन्धों की पुष्टि करते हैं। सामान्य रूप से विवाह न कर सकने की स्थिति में शक्ति के प्रयोग से स्त्री का अपहरण भी विवाह की प्रथा थी। भारतीय संग्रहालय कलकत्ता के प्रस्तरखण्ड में रोती हुई स्त्री को राजपुरूष द्वारा हाथ से टिका कर ले जाते उकेरा गया है जबकि उसका म त साथी वहीं गिरा पड़ा है। ऐसे अंकन स्पष्ट ही राक्षस-विवाह तथा बलपूर्वक अपहरण इंगित करते हैं। समकालीन साहित्य में कई बार कन्या-प्राप्ति हेतु धन के भुगतान की भी चर्चा है।

आज की भांति कुषाण काल में भी विवाह-संस्कार कन्या के पिता के घर पर ही होते थे। पुरोहित विवाह कराते थे। बारात कन्या के घर आती थी। गंधार के एक अंकन में सिद्धार्थ की बारात में पुरूष नर्तक तथा बाजे वाले आगे-आगे चल रहे उत्कीर्ण हैं। पुरोहित की उपस्थिति में पाणिग्रहण-संस्कार होता था। तत्पश्चात् भावी पति-पत्नी अग्नि को साक्षी कर फेरे देते थे। पिता पानी का घट लेकर कन्यादान करता था। पुरोहित वेदी का निर्माण कराता जिसमें ब्राह्मण 'सर्पणी' से घी डालकर हवन करता था। अग्नि को साक्षी कर वर-वधू का जल द्वारा पाणिग्रहण कराता था। महावस्तु में यही विवाह-प्रक्रिया आयी है। इसकी पुष्टि कला के नमूनों से भी होती है। पेशावर संग्रहालय में संग्रहीत फलक में स्त्री पुरूष हाथ में हाथ पकड़ बीच में जलते अग्निकुण्ड के किनारे पर खड़े हैं जिसके एक ओर पानी से भरा घट रखा है तथा पीछे सेविका पंखा लिये खड़ी एवं बाजे वाले भी अंकित हैं। गंधार के गुछ अंकनों में वर वधू को पालकी में विदा कराकर लाते उत्कीर्ण हैं। साथ में सेविकाएं भी हैं।

यद्यपि कुषाण कालीन कुछ अभिलेखों में कुटुम्बनी, भार्या आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु यह अनुमान लगाना कि बहुपत्नी प्रथा थी समीचीन नहीं होगा। पत्नी की म त्योपरान्त या सन्तान की चाह में दूसरे विवाह के संकेत साहित्य में अवश्य विद्यमान हैं।

## खानपान

शान्ति एवं सुव्यवस्था स्वभावतः विलासिता एवं खानपान में परिष्क त रूचि की सहभागनी बनी होगी। विदेशी खानपान एवं रीति व्यवहार ने भारतीय रीति व्यवहारों को प्रभावित किया। ग्रीक एवं पार्थियन लोगों में व्यवह त बर्तन एवं भोजन भारतीय समाज में प्रचलन में आये और घुलमिल गये थे। मथुरा से प्राप्त एक लेख में भिक्षुओं के लिये भोजन हेतु व्यवस्था में सत्तू, लवण, ओदन, शंकू, हरी सब्जी आदि खाद्य उल्लिखित हैं। धनी लोगों के भोजन में खाद्य के साथ पेय की भी व्यवसाि होती थी। पेय में शर्करा मिलायी जाती थी। पति-पत्नी साथ-साथ सोमपान करते मथुरा के कई स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। कभी-कभी तो परिवार के व द्ध, बालक, ग हस्वामी एवं ग हस्वामिनी भी सम्मिलित होते थे। प्रातःकालीन भोजन को 'पूर्वभक्षिका' कहते थे। व्रत का व्यवहार अज्ञात नहीं था। इसे 'उपोस्थ' कहा गया है।

मथुरा संग्रहालय के एक सिरदल के प ष्ठभाग पर एक बौद्ध विहार के रसोईघर का शुंगकालीन अंकन है जहां भिक्षुगण भोजन प्राप्त करने के लिए अपने भिक्षापात्र के साथ उपस्थित है। द श्य में एक भिक्षु कलश से चावल निकाल रहा है तथा दूसरा कलछी से कढ़ी या दाल ठन्डी कर रहा है। ऐसी व्यवस्था कुषाण काल में भी रही होगी। मथुरा के एक टूटे स्तम्भ पर एक पुरूष बड़े पात्र (कढ़ाई) में कड़छी से कुछ चला रहा है। निकट ही दूसरा पतीला पास पड़ा है। गंधार के एक फलक पर बन्दरों द्वारा बुद्ध को शहद तथा दूसरे पर सुजाता द्वारा खीर दिये जाने का अंकन है। एक और दूसरे फलक पर सेठ श्री गुप्त के घर आमन्त्रित बौद्ध-भिक्षुओं एवं बुद्ध के समक्ष कई छोटे बड़े पात्रों में भोज्य पदार्थ रखे हैं। कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त एक फलक पर देवता के समक्ष थाली में भोग सामग्री रखी है जो आधुनिक बर्फी सी प्रतीत होती है। गोविन्द नगर मथुरा से प्राप्त श ंगी ऋषि जन्म स्तम्भ पर एक स्त्री लड्डुओं से भरी डलिया लिए बांटने को खड़ी है। मथुरा के एक स्तम्भ पर एक स्त्री अपने बायें हाथ में गोल आकार के पुओं (ओदन) से भरी डलिया पकड़े है। कुछ स्तम्भों पर स्त्रियाँ आम्रगुच्छ एवं एक पर कटहल लिए खड़ी हैं। गंधार के कुछ फलकों पर चौकी पर फलों से भरी डलिया रखी है। एक फलक पर एक स्त्री बच्चे को अंगूर का गुच्छा दे रहीं है। सुश्रुत में ऐसा उल्लेख है कि कनिष्क के समय में मांस और चावल मिलाकर एक विशेष भोज्य-पदार्थ (आधुनिक पोलाव) बनता था, जिसका नाम बाद में 'कनिष्कमांस' पड़ गया था। पेय पदार्थो में शहद एवं दूध का प्रयोग होता था। विदेशी लोग पेय पदार्थो में मदिरा का भी प्रयोग करते थे।

कुषाण काल में खानपान में प्रयुक्त बर्तनों के नाम जहां साहित्य में कूड़े, स्थालिक मंजु, शलोहकुंभ आदि मिले हैं वहीं उकेरे द श्यों में इनकी आकृतियाँ की जानकारी मिल जाती हैं। जनसामान्य मिट्टी के बर्तनों का तथा उच्चस्तरीय परिवार धातु के बर्तनों का प्रयोग करते थे। बहुधा ये चित्रित होते थे जिन्हें 'चित्रघट' कहा गया है। खाना बनाने के बर्तन 'परिक्षराट' कहलाते थे। गंधार के नमूनों में ग्रीक एवं पार्थियन बर्तन भी दिखलायी देते हैं। 'फियाले' (तस्तरी) 'करचेशियन' एवं 'मेगनीयन' ऐसे ही उल्लेख हैं। भिक्षु लोग कमंडलु रखते थे। बाहर से आये ये नये प्रकार के महंगे बर्तन अभिजात्य वर्ग द्वारा ही व्यवहार में लाये जा सके होंगे।

## आवासीय, सार्वजनिक एवं धार्मिक इमारतें

कुषाण काल में विदेशों से बढ़ते व्यापारिक सम्बन्धों से आयी आर्थिक सम्पन्नता से नागरिकों के रहन-सहन में भी परिवर्तन हुए। फलतः उन्होंने सुन्दर, सुद ढ़ एवं विदेशी स्थापत्य से प्रभावित होकर अपने भवन निर्मित कराये, जिनमें मुख्य रूप से आवासीय, सार्वजनिक एवं धार्मिक भवन थे।

कुषाण कालीन प्रस्तर-शिल्प में हमें मथुरा, श्रावस्ती, राजग ह, कपिलवस्तु, कुशीनगर

तथा दीपावती नगरों के अंकन मिलते हैं। उस समय सुरक्षा की द ष्टि से नगरों को चाहरदीवारी (प्राकार) से घेरकर बनाया जाता था। इनमें आवागमन की सुविधा के लिए महाद्वार और पक्ष्यद्वार (छोटेद्वार) बनाये जाते थे। नगर में यातायात की सुविधा के लिए चौड़े (राजपथ) तथा संकरी सड़कें (जनपथ), जिनके किनारे छायादार व क्ष तथा कुएं इत्यादि बनावाये जाते थे, होती थी। नगर में दैनिक जलपूर्ति के लिये पुष्करिणी (प्रपा) तथा स्वच्छ वायु एवं सुन्दरता के लिए उद्यान निर्मित कराये जाते थे। नगर के अन्दर आवासीय, सार्वजनिक तथा धार्मिक भवन होते थे। शासक-अभिजात्य वर्ग बड़े भवनों (प्रासादों) में तथा जनसाधारण छोटे भवनों में रहते थे। जयसिंह पुरा से प्राप्त एक ऊर्ध्वपट्ट पर शक राजप्रासाद, गायत्री टीले से प्राप्त द्वारशाखा पर एक बहुमंजिलें भवन एवं कंकाली से प्राप्त स्तम्भ पर नन्द सुन्दरी के राजमहल के अंकन है। गंध ार के मूर्ति-फलकों से पता चलता है कि प्रासादों में प्रत्येक कार्य सम्पन्न करने के लिए अलग-अलग कक्षों की व्यवस्था होती थी। प्रासादों में ड्योढ़ी, दरबार कक्ष, बरान्डा (पामुख), आंगन (महानस), रसोईघर, भत्तगिह (भोजनशाला), ण्हाणगिह (स्नानागार), अश्वशाला, अख्खाड़ग मंचक (रंगमण्डप), आनन्दमण्डप एवं शयनकक्ष होते थे। स्त्रियों के अलग अन्तपूर होते थे जिनमें जिनमें कई कमरे तथा सामान्य कक्ष तथा श ंगारकक्ष (श ंगाटक) की व्यवस्था होती थी। कुमार स्वामी के अनुसार भूतेश्वर से प्राप्त वेदिका-स्तम्भों के ऊपरी भाग पर प्रासादों के ऊपरी तल के अंकन हैं जिनमें सोने के लिए कूटागार (बन्द कमरे शीतकाल में प्रयोगित), चन्द्रशालिका नामक कक्ष एवं सिंहपिंजर (ग्रीष्मकाल के लिए जालीदार कक्ष) आदि हैं। स्तम्भों पर टिके मण्डप (हर्म्य) एवं बड़े छज्जे (हर्म्यप ष्ठ) से स्त्री-पुरूष के झांकनें के अंकन, दर्शनीय हैं। प्रासादवासियों की जल-क्रिड़ा के लिए प्रासाद के उद्यान में छोटे सरोवर भी बनाये जाते थे।

जन साधारण एक तलीय घर में रहते थे तथा गांवों में लोग त ण, मूंज, शांट, कुश, कास, पलाश एवं बांस से बने घरों तथा झोपड़ी में रहते थे। साधू, संन्यासी पत्तों तथा उतज से बनी पर्णशाला में रहते थे। बौद्ध भिक्षु अनगढ़ पत्थर तथा ईंटनिर्मित गुफा में रहते थे। मथुरा में 'इन्द्र शैल गुहा' में बैठे बुद्ध का अंकन ऐसा ही है।

सार्वजनिक भवनों में गंधार के कुछ फलकों पर सभागारों तथा कंकाली से प्राप्त एक कोणस्तम्भ पर एक नाट्यशाला का सुन्दर अंकन है।

नगर में धार्मिक दान स्वरूप बने भवनों में बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहार संघाराम, अपरिग्रह तथा जैनों के लिए आयोगसभा एवं विहार तथा ब्राह्मणों के लिए पुण्यशालाएं थीं। पूजा हेतु स्तूप, लघुस्तूप (बोटिव स्तूप), वेदिका से घिरे बोधि व क्ष एवं बोधिघर, चैत्यघर, गंधिकती, बौद्ध देवालय, जैनदेव ग ह, अरहत आयतन, माण्डविक, अर्धव त्ताकार देवालय (नागों के) तोरण वेदिका युक्त वासुदेव के महास्थान, शिवालय, काणीय छत वाले देवालय, अग्निमंदिर, यज्ञशाला तथा कुषाण राजाओं की मूर्तियों से युक्त देवकुल बनाये जाते थे। लोक देवियों के लिए भी मन्दिर (हर्म्य) बनाये जाने लगे थे।

कुषाण काल में भवन प्रायः पक्की ईटों तथा लकड़ी से बनते थे। भवनों में पत्थर का भी प्रयोग होता था। भवनों में स्तम्भ, वेदिका, सोपान तथा सुरक्षा के लिए कपाट लगाये जाते थे। गंधार के एक अंकन में किवाड़ पर आंख जैसा छेद बना है जिससे खोलने के पूर्व ही देखा जा सके कि आगंतुक अजनबी तो नहीं है। भवनों में स्वच्छ वायु के लिए खिड़कियाँ, रोशनदान एवम् झरोखे लगाए जाते थे। इनकी छतें सपाट, ढालू होती थी जो गुम्मदी, कोणीय या खपरैल होती थी। भवनों का मुख्य भाग अलंकृत तथा सड़कों की ओर होता था।

## वस्त्राभूषण

### वस्त्र

वेशभूषा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके सामाजिक एवम् आर्थिक स्तर की परिचायक होती है। कुषाणकाल में सभी की एक जैसी ड्रैसी नहीं थी वरन् स्थान अर्थात् क्षेत्र, एवम् सामाजिक हैसियत के अनुसार पहनावे में विभिन्नता देखने को मिलती है। कुषाणकालीन साहित्य में बहुमूल्य, राजवर्गीय, साधारण व्यक्तियों, भिक्षुओं एवम् सन्यासियों के वस्त्रों को उल्लेख मिलता है पेरिप्लस नामक पुस्तक में वस्त्रों के कई प्रकार के वसत्रों जैसे सूती रेशमी एवम् गरम का वर्णन मिलता है। इनमें काशी के रेशमी वस्त्र, सण का वस्त्र यमली वस्त्र, फुट्टक वस्त्र आदि प्रमुख है। साध J सन्यासी लोग बल्कल तथा म गचर्म आदि भी धारण करते थे। कुषाण मूर्तियों पर अंकित अभिलेखों से पता चलता है कि समाज में रजक (धोबी) तथा रंगरेज होते थे अर्थात कपड़े धोए एवम् रंगे जाते थे।

अश्वघोष के अनुसार लोग अवसर विशेष के अनुरूप वस्त्र धारण करते थे जैसे आमोद प्रमोद के अनुकुल वस्त्र, शोक के समय के वस्त्र समयानुकुल पहरावे की ओर इशारा करते हैं।

कुषाणकालीन मूर्तियों के पहनावे को देखकर ऐसा लगता है कि समाज में जलवायु के अनुरूप भी वस्त्र पहनते थे। मथुरा में महीन तथा पारदर्शी कपड़े पहनने का रिवाज था वहीं गांधार में ठंडा इलाका होने के कारण, वहां मोटे और भारी वस्त्र पहने जाते थे। मथुरा में जहां साधारण तथा धोती, दुपट्टा तथा पगड़ी आम आदमी का पहनावा था वही विदेशी अर्थात यूनानी, ईरानी, रोम, पारसी, शक तथा कुषाण जातियाँ जो भारत में आकर बस गई थी, सिले वस्त्र जैसे टोपी कोट, पायजामा और ऊँचे जूते पहनते थे। इसे राजा, राजकुमार, उच्च प्रशासनिक अधिकारी पहनते थे। मथुरा से प्राप्त कुछ सूर्य मूर्तियां इसी पहनावे में देखी जा सकती हैं।

कुषाण कल की प्रस्तर मूर्तियों में तत्कालीन भारतीय एवम् विदेशियों की वेश भूषा का मूर्तरूप देखा जा सकता है। इस काल के भारतीय परिधानों में धोती, दुपट्टा, चादर एवम् पगड़ी के साथ के साथ-साथ पायजामा, अंगरखा, कंचुक और कुलह (टोपी) आदि मिलते हैं। विदेशी वस्त्रों में चिटॉन (कन्चुक), हिमेश्न (भारी चादर), कोट, टोपी आदि परिधान प्राप्त होते हैं। पुरूषों की भांति कुषाणकालीन स्त्रियों द्वारा कई वस्त्र अर्थात् साड़ी, पेटीकोट, घाघरा, ब्लाऊज, कुर्त्ता या कंचुक, स्तनपट्ट, दुपट्टा कई प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे मथुरा की मूर्तियों में ऐड़ी तक पहुँचती महीन कपड़े की साड़ी कमरबन्द तथा तहदार दुपट्टे पहने दिखाया गया है। ठण्डी जलवायु होने के कारण गांधार के उदाहरणों में महिलाएं ब्लाऊज, साड़ी और भारी चादर पहने दिखाई गई हैं। विदेशी स्त्रियां चिटॉन, हिमेशन, कोट, सलवार, कूर्त्ते तथा यहां तक कि चोगें पहने भी अंकित की गई हैं। इस प्रकार कुषाणकाल में अधोवस्त्र, उत्तरीय एवम् सिरोवेश सभी धारण किए जाते थे और सभी किस्म के वस्त्रों विभिन्न डिजाईनों में मिलते हैं। कमर पर वस्त्रों को यथास्थान टिकाएं रखने के लिए कमरबन्द का उपयोग करते थे।

### आभूषण

कुषाणकाल में स्त्री एवम् पुरूष दोनों ही आभूषणों के बहुत शौकिन थे। कुषाण काल से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियों के शरीर पर अंकित विभिन्न प्रकार के गहने और समकालीन साहित्य में इनके वर्णन की विविधता हमें आश्चर्य चकित कर देती है। समाज में स्त्री-पुरूष दोनों ही कान में कुंडल, गले में माला एवं बाजूबंद, कड़े एवम् अंगुठियों को हाथ में पहनते थे पुरूष वर्ग कंधे की जंजीर, भुजबन्द, ताबीज, हार तथा स्त्रियाँ ललारिका, टीका, बिन्दी, चूड़ी, करघनी तथा पैरों में लच्छे तथा खडुएं पहनती थी। आभूषण सादे एवम् रत्न जड़ित दोनों ही प्रकार होते थे कई बार इनमें घुंघरू भी लगे होते थे। उच्च वर्ग के लोग सोने एवम् रत्नजड़ित आभूषण पहनते थे

वहीं दूसरी तरफ साधारण वर्ग चांदी, ताम्बा, मूंगा, लाख, सीप आदि के आभूषण पहनते थे। प्रस्तर मूर्तियों के शरीर पर उकेरेडीज डिजाईनों में कमल का पुष्प, पत्ती या पत्राकार, चक्र, सिंहमुख, नाग, मकर, मानव, गरूड़ पर, सूर्य रथ पर, अर्धचन्द्र, नन्दी पद आदि प्रमुख है। तक्षशिला तथा शेखान देरी से प्राप्त आभूषण एवं बहुमूल्य मोती, मणियां एवं विविध नगीने आभूषणों के रत्नजड़ित होने की पुष्टि करते हैं। कुछ एक मनके सीसे के भी मिले हैं।

समकालीन साहित्य विवरणों में आभूषण पहनने के प्रकार या धातु के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया है जैसे भरत के नाट्यशास्त्र में अविच्यम (छेद में डालकर पहना जाए) प्रक्षेप्य (शरीर का कोई अंग डालकर पहना जाए) एवम् आरोप्य (किसी अंग में लटकाया जाए) आदि वर्गो में आभूषणों को विभाजित किया गया है। आभूषण बनाने में प्रयोग होने वाले कच्चे माल को भी तीन प्रकार में विभाजित मिलता है (1) अंगविज्जा में इन्हें पाणजोणिय अर्थात प्राणियों के किसी भाग से जैसे शंख सीपी, हाथीदांत (2) मूलजोणीय अर्थात काठ, पत्र, पत्रादि एवम् धातुनियोजन अर्थात् स्वर्ण, तांबा, लोहा आदि। कुषाणकाल में हाथ, कलाई और बाजू पर, कान, गले, माथा कमर एवम् पैरों में पहनने वाले विविध प्रकार के आभूषणों का वर्णन मिलता है जो कि बहुत ही दक्ष हाथों से आधुनिक तकनीक से छोड़े गए प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए हम कानों व गले में पहनने वाले आभूषण ले सकते हैं। कान में ही वे विभिन्न डिजाईनों की बालियाँ, कुण्डल, कर्णफूल, कर्णकीलिका (कील के आकार का अर्थात जिसका एक सिरा पतला व दूसरा चौड़ा हो) तालपत्र (पत्तियों की तरह पतले और लम्बे आकृति के), झूमके तथा लटकन या झाले पहनते थे इसी प्रकार गले में पहनने वाले आभूषणो में हार के ही विभिन्न प्रकारों का विवरण मिलता है जैसे शयपसेणिय में नौ प्रकार के हार-लम्बेहार, बिलम्बहार (तीन या चार सामानान्तर जाती लड़ियां जिनके प्रत्येक सिरे पर पदक होते थे), ठप्पेवाले विशिष्ट हार, रस्सी जैसे बंटे योत्राहार दूमलड़ी, दो लड़ी एवम् अनेकों लड़ियां जुड़ी मालाएं, पट्टीदार हार (स्वर्ण पट्टियों वाले जड़ाऊ कामदार हार, कुछ गले से चिपके हुए होते थे और कुछ ढ़ीले) चन्द्रहार (पट्टीदार हार पर नीचे लटकते अर्धचन्द्राकार पदक जुड़े पदक जुड़े होते हैं। ताबीज हार, कंठा (हसली जैसा) तथा निष्कहार (मध्य में गोल पदक लगी जंजीर) आदि स्त्री पुरूषों के अतिरिक्त फलकों पर उकेरे बच्चे भी आभूषण पहने हैं जैसे अधिकतर बच्चे पैरों में कड़े, हाथों में पतले सादे कड़े तथा गले में चपटे पत्तीनुमा पतले हार या पतला कंठा या गोल पदक युक्त जंजीर पहने हुए नजर आते हैं।

कुषाणकालीन आभूषणों पर रोम एवम् ईरानी प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। शुंग काल के भारी भरकम आचरणों की कुषाणकाल में ना केवल संख्या में कमी आई अपितु अब बारीक काम के कारण अधिक कलात्मक एवम् सौंदर्य मुखी हो गए थे। आभूषणों पर जड़ाऊकाम तथा मंहगी धातु का प्रयोग कुषाण काल के कम से कम एक वर्ग की सम्पन्नता को दर्शाते हैं।

### मनोरंजन के साधन

कुषाणकालीन लोगों के मनोरंजन के साधन उनकी दिलचस्पी अर्थात पंसद साधनों अर्थात् हैसियत पर निर्भर थे। समकालीन साहित्य में बाग बगीचों का वर्णन आता हैं जो लोगों के मनोरंजन के स्थान थे। बच्चे अपने खिलौनों के साथ रेत में खेलते हुए दर्शाया है। साहित्य में कुश्ती के ग्राऊंडस तथा जिमनेजियमों का वर्णन मिलता है न न्य, गाना, विभिन्न प्रकार के वाद्य बजाकर तो मनोरंजन करते ही थे इसके अतिरिक्त शिकार खेलना, चौपड़ खेलना, पिकनीक पर जाना भी उनके मनोरंजन के साधनों में आते थे। लोग जादू का तमाशा देखना पंसद करते थे तथा तरह तरह के त्योहार वर्ग धूमधाम से मनाते थे। विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र जिनकी जानकारी कुषाण काल से मिलती है वह है धनुषाकार वीणा। सरल दंड वाली वीणा कोणीय

वीणा, तिगोनस या ट्राईगोनस वीणा, यूनानी सितार, म दंग, ढोलाकार म दंग, बेलनाकार म दंग, डुगडुगी, चक्राकार ढोल, दुन्दुभी, बांसुरी, तूर्य, शंख, करताल तथा पंचतूर्च। कुषाणकालीन प्रस्तर खंडों, पट्टियों आदि पर चित्रित इन वाद्ययन्त्रों की संपुष्टि साहित्यिक स्त्रोतों से भी हो जाती है। वस्तुतः संगीत अतिप्राचीन काल से ही भारतीय जनजीवन के आमोद प्रमोद एवं जीविकोपार्जन का माध्यम रहा है कुषाण काल में यह परम्परा ना केवल जीवित रही अपितु इस विद्या का और अधिक विकास हुआ और वाद्ययन्त्रों में ओर नए नए वाद्ययन्त्र, गायन कला में नई नई लय एवम् न त्य में नई-नई भावभंगिमाओं जोड़ी गई।

## धर्म एवम् धार्मिक आस्थाएं

### (क) ब्राह्मण धर्म- स्वरूप एवं उपासना पद्धति

कुषाण काल में ब्राह्मण धर्म की पर्याप्त पैठ, तत्कालीन समाज के चातुर्वर्ण रूप में गठन से स्वयं सिद्ध है। समकालीन प्रस्तर-लेखों में ब्राह्मणों को यज्ञ कराने, भोजन करने हेतु आमन्त्रित करने, दान दक्षिणा देने के उल्लेख उनके विशिष्ट महत्व के पोषक हैं। यज्ञ एवं पशुबलि की परम्परा तथा शूद्रों के साथ भेदभाव की स्थिति ने ब्राह्मण सम्प्रदायों के विकास को कुप्रभावित किया होगा जिसके फलस्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्मो के प्रति जनसाधारण का आकर्षण बढ़ा अन्यथा वैदिक देवसमुदाय के साथ ही भागवत, शैव, शाक्त तथा मात देवियों की उपासना एवं पूजा पूरे कर्मकाण्डों के अनुरूप ही प्रचलन में रही थी। इस तथ्यों की पुष्टि के प्रमाण इन देवताओं के विविध रूपों में पाए गए अनेक अंकन हैं।

#### वैदिक देव समूह

मथुरा एवं गंधार से प्राप्त मूर्तियों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज वैदिक देवसमूह की मान्यता को स्वीकार करता था। ब्राह्मणों की समाज में प्रतिष्ठा थी। वे उपासकों को देवताओं की कृपा प्राप्त कराने हेतु, बहुधा रोगमुक्त होने तथा पुत्र प्राप्ति हेतु यज्ञ करवाते थे। वैदिक यज्ञ-परम्परा के निर्वाह के प्रमाण कुषाण युगीन वे अभिलिखित यूपस्तम्भ हैं जिनमें द्वादस रात्रि यज्ञ, सप्तसोम यज्ञ, पुडंरीक एवं वाजपेय यज्ञों के आयोजन के उल्लेख हैं। उस समय ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देने तथा यज्ञ में बलि का विधान था। अतः यज्ञ स्थान पर यूप निर्मित करवाने की भी प्रथा थी। मथुरा के निकट ईसापूर गांव से कुषाण कालीन दो पाषाण निर्मित यूप-स्तम्भ मिले हैं। इनमें से एक स्तम्भ के उत्कीर्ण अभिलेख में उल्लेख है कि वासिष्क के राज्य के 24वें वर्ष में मथुरा के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण रूद्रल के पुत्र द्रोणल ने वहां द्वादश रात्रि यज्ञ किया था। यह उल्लेख नागरिकों में यज्ञ के प्रति श्रद्धा एवं आस्था का परिचायक है। दूसरी-तीसरी शती ई० के इलाहाबाद, कोटा तथा उदयपुर से मिले यूप-स्तम्भ-लेख यद्यपि कुषाण साम्राज्य के बाहर के हैं पर इसी प्रचलित धारा के प्रमाण है।

बड़े यज्ञों का आयोजन राजा महाराजा या धनी वर्ग ही करता था किन्तु जनसाधारण में भी अग्निपूजा के प्रति आस्था थी। गंधार के कुछ फलकों एवं मथुरा के एक शिलापट्ट तथा कुछ वेदिका-स्तम्भ पट्टों पर ब्राह्मण संन्यासियों की कुटिया के सामने प्रज्जवलित हवन कुण्ड से ऐसा प्रतीत होता है कि नित्य हवन करना, उनके कर्मकाण्ड का एक अंग था। ये हवन कुण्ड कहीं-कहीं पर्णशाला के पार्श्व बनी यज्ञशाला में बने अंकित है।

यज्ञ के प्रति विश्वास ने अग्नि के मानवीकरण में योग दिया और कुषाण काल में प्रथम बार प्रसतर-शिल्प में अग्नि को देवता के रूप में उकेरा गया। इससे पूर्व अग्नि के अंकन हमें पंचाल सिक्कों के प ष्ठभाग पर अवश्य मिलते हैं परन्तु मूर्तियों में अग्निदेव को तु दिल तन, यज्ञोपवीत, जटाभार एवं पीछे निकलती अग्नि ज्वालाओं से युक्त स्वरूप का अकंन इस युग में

ही किया गया है। ब्राह्मण परम्परा के अनुसार अग्नि ब्राह्मणों के साण्डिल्य गोत्र से संबंधित थे।

### सूर्यदेवता

यज्ञों में आस्था के साथ-साथ समाज में भारतीय एवं विदेशी दोनों ही सूर्योपासक थे। मथुरा के कटरा टीले से सूर्य की कई मूर्तियां मिली हैं जिन पर विदेशी, प्रमुखता ईरानी कला का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। कंकाली टीले से प्राप्त सूर्य-मूर्ति के वेश एवं पैरों में जूते इसी धारा के अन्य प्रमाण हो सकते हैं। कटला स्थल में सूर्यदेव के मंदिर होने की संकेतक यहीं से प्राप्त कई सूर्य मूर्तियाँ हैं जो रथारूढ़, आसनारूढ़ एवं सपक्ष है। मथुरा के बरसाना ग्राम से प्राप्त सूर्य-मूर्ति दंड और पिंगल सहित मिली है। गंधार प्रदेश के स्वात्घाटी तथा जमालगढ़ी से सूर्य की मूर्तियों के मिलने से पश्चिमोत्तर भारत में सूर्योपासना के प्रचलन की पुष्टि हुई है। यहां सूर्य ऊँचे बूट पहने तथा कटारधारी है।

### चन्द्र

सूर्योपासना के साथ चन्द्र की भी उपासना की जाती थी। गंधार में सूर्य के साथ चन्द्रमा का पुरूषरूप में अंकन हुआ है। चन्द्र देवी की एक स्वतन्त्र मूर्ति भी मिली है। कुषाण राजाओं की मुद्राओं पर 'माओ' नाम से चन्द्र प्रतिमा द्विभुजी पुरूषाकृति है तथा मस्तक के पीछे चन्द्रकोर बनी है। ऐसी ही मूर्ति कनिष्क के पेशावर वाले धातुकरण्डक पर भी है। डा० जोशी के मातानुसार गंधार कला की एक रथारूढ़ मूर्ति को उपर्युक्त आधार पर चन्द्रदेव से समीक त किया जा सकता है। गंधार से प्राप्त फलक पर सिद्धार्थ के ग हत्याग द श्य के साक्षी रूप में शयन कक्ष की बालकनी पर सूर्य और चन्द्रदेव का उत्कीर्णन मिलता है। मथुरा की एक आसनस्थ देवी की चन्द्रकोर वाली मूर्ति को चन्द्रदेवी के रूप में पहचाना गया है। हर्ता से प्राप्त गंधार कला की एक क ति से ऐसा आभास होता है कि उत्तर-पश्चिम भारत में चन्द्र की उपासना देवी के रूप में भी होती थी।

### ब्रह्मा

मथुरा एवं गांधार दोनों स्थानों पर ब्राह्मण देवसमूह में पूजित ब्रह्मा का अंकन मिलता है। मथुरा में ब्रह्मा को तीन सिर वाले, जटाजूट एवं दाढ़ीयुक्त उकेरा गया है। गंधार कला में ब्रह्मा को एक मुख वाला बनाया गया है। ब्रह्मा के साथ ही इन्द्र भी पूजित थे। मथुरा क्षेत्र में इन्द्र को समुचित मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। हाथ में बज्र इनका प्रमुख आयुध था। हिन्दू इन्हें देव समाज के अधिपति के रूप में पूजते थे। मथुरा के तरसी ग्राम से प्राप्त सिर विहीन प्रतिमा को इन्द्र से समीक त किया गया है।

### कुबेर

मथुरा एवं गंधार दोनों ही स्थानों पर मूर्तियों में कुबेर को भारी पेटवाले स्थूलकाय, धन की थैली या दोनों हाथ में चषकपात्र लिये सुखासन में बैठे दिखलाया गया है। कुछ मूर्तियों पर कुबेर के हाथ में चषकपात्र कभी पार्श्व में लक्ष्मी या भद्रा के साथ अंकित है। गंधार में कुबेर का स्थान पंचिक ने ले लिया है जो हारीति एवं बच्चे के साथ उकेरे हैं। मथुरा में कुबरे की पूजा व्यापारी वर्ग के बढ़ते प्रभुत्व की द्योतक है कुषाण काल में वैदिक काल से चले आ रहे वायुदेव का भी पूजन हेाता था। गंधार से प्राप्त फलक पर वायुदेव के दोनों ओर एक-एक विदेशी उपासक खड़े हैं। इससे ऐसा आभास होता है कि विदेशी भी वैदिक देवताओं के प्रति श्रद्धा रखते थे। कुषाण मुद्राओं पर भी 'ओएडो' के नाम से वायुदेव का अंकन हैं।

कुषाण समाज में भारतीयों के अतिरिक्त विदेशियों की भी ब्राह्मण धर्म में आस्था थी।

हुविष्क के मथुरा से प्राप्त 28 वें वर्ष के लेख में एक विदेशी द्वारा पुण्यशाला बनवाने हेतु दो श्रेणियों में 1100 पण (मुद्राएँ) सर्वदा के लिए जमा किए जाने का उल्लेख है जिसके ब्याज से शुक्ल पक्ष की चौदस को सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता तथा नित्य कुछ भोजन भूखे-प्यासों के लिए पर्णशाला के बाहर भी रखा जाता था। मथुरा के एक अन्य अभिलेख के अनुसार मांट में देव कुल के रखरखाव के लिए कुषाण सम्राटों ने ब्राह्मणों की नियुक्तियां की थी तथा उनके खर्च के लिए राजकीय अनुदान की व्यवस्था थी। ब्राह्मण धर्म में यज्ञ, बलि, देवताओं की अर्चना, ब्राह्मणों को दानदेना, भोजन कराना आदि ग हस्थों का धर्म था। कुषाण कालीन कुछ प्रस्तर-मूर्तियों पर तपस्या के कारण क्षीण शरीर युक्त संन्यासी उकेरे गए हैं जिससे यह सहज की समझा जा सकता है कि ब्राह्मण धर्म में तपस्या से मोक्ष प्राप्ति का विश्वास भी इस युग में रहा होगा।

**भागवत सम्प्रदाय**

समाज में भागवत धर्म मे आस्था रखने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। इनके प्रमुख उपास्यदेव संकषर्ण एवं वासुदेव की कई रूपों में उपासना की झलक प्रस्तर-खण्डों में प्राप्त होती है । एक रूप में वासुदेव और संकर्षण की प थक-प थक उपासना एवं पूजा का, जबकि दूसरा रूप युगल उपासना का था; तीसरे रूप में संकर्षण, वासुदेव के साथ उनकी बहन एकानंशा की सम्मिलित पूजा थी। इनके अतिरिक्त एक रूप व्यूहोपासना का भी था जहां वासुदेव के परिकर में चतुर्व्यह की उपासना की जाती थी तथा पंचव्यूह के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती थी। मथुरा में कुषाण काल में विष्णु के अवतारों को भी मान्यता मिल चुकी थी।

जनश्रुति एवं पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर कुछ लोगों के अनुसार स्पष्ट का वह कारागार जहां श्रीक ष्ण का जन्म हुआ था मथुरा में कटरा केशवदेव नामक स्थान पर ही था। डा० अग्रवाल के अनुसार क ष्ण का चबूतरा ही क ष्ण की वास्तविक जन्म भूमि है। पौराणिक इतिहास के अनुसार क ष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने यहीं पर अपने कुलदेवता श्रीक ष्ण की स्म ति में मन्दिर बनवाया था। क ष्ण जन्मास्थान से मिली द्वार शाखा पर उकेरा लेख शकों के समय से ही मथुरा में भागवत सम्प्रदाय के मन्दिर स्थापना का पुष्ट प्रमाण है जो किसी न किसी स्थिति में आज भी चला आ रहा है। इस लेख में उल्लेख है कि शकक्षत्रप शोडास के शासनकाल में भगवान वासुदेव के महास्थान में बसु द्वारा चतुःशाल, तोरण और वेदिका स्थापित कराई गई थी। वासुदवे की क ष्ण के रूप में उपासना परवर्तीकाल की देन है। अब तक श्रीक ष्ण की मूर्तियों में सबसे प्राचीन गायत्री टीला से प्राप्त शिलापट्ट का एक खण्डित भाग है जिस पर क ष्ण लीलाएँ अंकित रहीं होंगी किन्तु इसका कुछ भाग ही उत्खनन में प्राप्त हुआ है पर वसुदवे द्वारा नवजात क ष्ण को सिर के ऊपर डलिया में रख नदी पार करते दिखाया गया है। यह सम्पूर्ण शिलापट्ट किसी भागवत मन्दिर में लगा रहा होगा। ऐसा अनुमान किया जा सकता है। मथुरा के अन्य फलक पर घोड़े की गर्दन पर किसी पुरूष द्वारा पदाघात के द श्य को केशी मर्दन की घटना से समीक त किया जा सकता है। एक अन्य वेदिका स्तम्भ पर गोवर्धनधारी क ष्ण का अंकन है। डा० जोशी विष्णु की उन प्रतिमाओं में, जहां शंख, चक्र एवं गदा के दर्शन होते हैं, वासुदेव क ष्ण के रूप में पहचानते हैं। वे अपने तर्क की पुष्टि हेतु वासुदेव एवं संकर्षण के साथ एकानशा वाले शिलापट्ट, जहां वासुदेव को चतुर्भुज रूप में उत्कीर्ण किया गया है, का उल्लेख करते हैं। विष्णु के इन विविध रूपों में अंकन जनमानस में भागवातों के प्रचलित धार्मिक विश्वासों के ही दिग्दर्शक हैं। विष्णु की एकाकी मूर्तियों के अतिरिक्त एक खंडित प्रतिमा मथुरा संग्रहालय के परिसर स्थित सात समुन्द्री कुएं से पाई गई है जिसे चतुर्व्युह विष्णु से समीक त किया गया है। जब यह प्रतिमा पूरी रही होगी तब इसमें शंख, चक्र, गदाधारी विष्णु तथा सिर के ऊपर से निकलते प्रद्युम्न दायें

कंधे से निकलते संकर्षण तथा बांयें से उद्भूत होते अनिरूद्ध दिखते होंगे। किन्तु प्राप्त खण्डित प्रतिमा में केवल दायें कन्धें से निकलते संकर्षण को पहचाना गया है बाकी मूर्तियां खण्डित है। इसी के साथ पंचव्यूह के प्रति श्रद्धा निरूपण की भी भावना थी। मथुरा के मोरा गांव से प्राप्त कई खण्डित मूर्तियों एवं एक अभिलिखित शिला है। शिला पर अंकित लेख में लिखा है कि शक क्षत्रप शौडास के शासन में तोषा नामक महिला ने उक्त स्थान पर एक अनुपम शैल देवग ह (पाषाण निर्मित देवालय) बनावाया था और उसमें भागवत पंचव ष्णि वीरों की मूर्तियों प्रतिष्ठापित की थी। प्राप्त शिला खण्ड एवं खण्डित मूर्तियां आज भी मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये मूर्तियां वायुपुराण के आधार पर संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरूद्ध से समीक त की जा सकती है, क्योंकि इन प्रतिमाओं को अभिलेख में स्पष्ट रूप से भागवत व ष्णिवीरों की बतलाया गया है। इस काल में विष्णु के अवतारों की भी कल्पना की जाने लगी थी। अवतारों में वराह एवं हयग्रीव को पहचाना गया है।

मथुरा एवं उसके आसपास से संकर्षण बलराम की कई मूर्तियां पाई गई हैं। विष्णु के अवतारों में वासुदेव क ष्ण के अतिरिक्त बलराम को शेषावतार माना गया है। बलराम क ष्ण के बड़े भाई थे। मथुरा के कुकर गांव से प्राप्त बलराम की मूर्ति फणाटोप धारी, भारी बनमाला युक्त तथा हाथ में चषक लिए उत्कीर्ण है। मथुरा में हलधारी चतुर्भुज संकर्षण की मूर्ति पूजी जाती थी। यहीं के बल्देव ग्राम में दाऊ जी के मन्दिर में आज भी पूजित बलराम की कुषाण कालीन मूर्ति है।

मथुरा के विभिन्न स्थानों से प्राप्त इन मूर्तियों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि राजारय न प्राप्त होते हुए भी भागवत सम्प्रदाय को मानने वाले बहुत लोग थे जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार मूर्तियां बनवाकर देवस्थान में प्रतिष्ठापित करवाते थे।

**शैव सम्प्रदाय**

कुषाण काल में भागवतों के साथ ही शैवधर्मावलंबियों का भी ब्राह्मण अनुयायियों में गुणात्मक संगठन था। पतंजलि के 'महाभाष्य' में शैवभागवतों एवं 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में लिंग पूजा के उल्लेख रूद्रशिव की उपासना के पोषक हैं। पुराणों में इनके अतिरिक्त पाशुपतउपासकों के वर्णन भी मिलते हैं। इन सभी शैव परम्पराओं की पुष्टि कुषाण काल की प्रस्तर-मूर्तियों से भी हुई है। डा० जोशी प्राप्त मूर्तियों को दो धाराओं में बांटते हैं। पहली पश्चिमी धारा जो मध्यएशिया से उत्तर पश्चिम भारत तक फैली थी। दूसरी धारा जो मथुरा के आस-पास से लेकर राजस्थान तक थी। उर्ध्वरेतस शिव मूर्तियां दोनों ही धाराओं में पूजित थी। लिंग को मस्तक पर धारण किए भक्त की कला भवन की प्रतिमा भार शिवों के सम्प्रदाय की संकेतक लगती है। शैव सम्प्रदाय ने विदेशियों को भी आक ष्ट किया था, जिसकी झलक मथुरा के भीखचन्द्र के नगरा नामक टीले से प्राप्त द्वारशाखा पर कोट एवं पायजामा पहने दो भक्तों के हाथ में माला एवं गुलदस्ता लिए शिवलिंग की अर्चना कर रहे हैं, में हैं। यहां शिवलिंग स्थण्डिल पर स्थापित है। लखनऊ संग्रहालय में मथुरा के एक फलक पर व क्ष के नीचे चबूतरे पर एक मुखी शिवलिंग की पूजा हेतु दो गण या यक्ष उपस्थित हैं।

कुषाण कालीन प्रस्तर-मूर्तियों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि शिव की आराधना लिंग एवं मानवाकार दोनों स्वरूपों में प्रचलित थी। लिंग आकार में सामान्य मानव लिंग जैसे या मुखलिंग रूप में पूजित हुए। शिव लिंगों पर मुखों को गर्दन तक उकेरा गया है। सादे लिंग पर पुष्पमाला फुल्लौं सहित ऊपरी भाग में अंकित है। कंकाली टीले पर बने वर्तमान देवी मन्दिर के निकट के निकट छोटे मन्दिर से रखे कुषाण कालीन शिवलिंग पर पीछे की और

उपरी सिरे पर चोंटियों की गांठ बंधी हुई स्पष्ट दिखती है। मथुरा के एक स्तम्भाकार शिवलिंग पर बोधिसत्व से मेल खाती खड़ी शिव की मूर्ति बनी है जो ऊर्ध्वरेतस है। इस काल की कुछ शिव मूर्तियों पर आड़ा त्रिनेत्र और कुछ पर मूंछे भी हैं। मथुरा के एक स्तम्भाकार शिवलिंग पर बने शिवमुख के केश धुंधराले हैं तथा बाई ओर केशों पर सर्प का अंकन है। मथुरा के एक अन्य शिव मस्तक पर खड़ा त्रिनेत्र तथा सिर पर फीता बंधा है। जिसके बांई ओर अर्धचन्द्र भी अंकित है। मानवाकार आराध्य रूपों में शिव एकाकी उमा के साथ तथा अपने वाहन नन्दी या सिंह सहित उकेरे गए हैं। ये अंकन प्रायः एक मुखी एवं द्विभुजी हैं। सिर पर जटाभार, भाल पर आड़ा त्रिनेत्र तथा ऊर्ध्वरेतस है। शिव परिवार की आराधना भी इसी समय प्रचलन में आने लगी थी जो कि मथुरा से प्राप्ति एक फलक पर देखी जा सकती है। शिव के साथ गुणों की उपस्थिति भी ऐसे ही कुछ समय पूर्व मिले एक मुखी लिंग द्वारा पुष्ट हुई है जहां एक गण पुष्प माला लिए उत्कीर्ण है। मथुरा संग्रहालय के सप्तसमुद्री कुएं से प्राप्त एक खण्डित मूर्ति को शिव के चतुर्व्यूह रूप में पहचाना गया है। इस मूर्ति में दोनों कंधे पर शिवमुख बना है तथा मुख्य मूर्ति के सिर के ऊपर से निकलती एक पुरूषाकृति का आवक्ष है। इसके तीन मुखों के मस्तक पर आड़ा त्रिनेद भी अंकित है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मथुरा के रक्षक स्वरूप प्राचीन पूजास्थल इस नगर के चारों दिशाओं में आज भी स्थित हैं यथा उत्तर में गोकर्णेश्वर, पूर्व में पिप्पलेश्वर, दक्षिण में रंगेश्वर और पश्चिम में भूतेश्वर। इन स्थानों पर उत्तर कुषाण काल में शिवलिंगों की स्थापना की गई थी। इस काल में शिव-परिवार से संबंधित मूर्तियों में कार्तिकेय, गणेश, गण, व ष तथा आुयध-पुरूषों की पूजा प्रारम्भ हो गई थी। कुषाण सिक्कों पर नन्दी एवं त्रिशूल के संग शिव का अंकन मिलता है।

शिवलिंग व क्ष के नीचे चबूतरे पर स्थापित किए जाते थे किन्तु शिवमूर्तियों को देवालयों में स्थापित किया जाता रहा होगा जैसा कि मथुरा संग्रहालय में अभिलिखित शिलापट्ट जो चौरासी क्षेत्र से मिला है, से कोत्सीवंशीय गोतीपुत्र द्वारा भगवान महेश्वर की प्रसन्नता के लिए पुष्पकरिणी, उद्यान, सभा, प्रवचन-मंडप सहित देवकुल के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

### कार्तिकेय

मथुरा एवं गंधार दोनों ही क्षेत्रों में कार्तिकेय की उपासना को प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। तक्षशिला से प्राप्त कार्तिकेय प्रतिमा शक्ति एवं कुक्कुट के साथ उकेरी गई हैं। उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती क्षेत्रों में कार्तिकेय का योद्धा स्वरूप पूजित था। कानपुर जिले से प्राप्त लाला भगत कुक्कुटस्तम्भ कार्तिकेय की पूजा हेतु बनवाया गया होगा। मथुरा क्षेत्र से कार्तिकेय की कई प्रतिमाएं पाई गई हैं। यहीं से प्राप्त शक्तिधर कार्तिकेय मूर्ति पर अभिलेख में उत्कीर्ण है यहीं कि विश्वदेव और विश्वसोम नामक दो भाईयों ने इस मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया था। मूर्तियों में कार्तिकेय का शक्तिधर योद्धा के रूप में अंकन है। इनके मुख पर बालपन का भाव है तथा ये मोर पर सवार हैं। हुविष्क की मुद्राओं पर स्कन्द, कुमार एवं विशाख अपने नामों के साथ अंकित किए गए हैं। कुछ एक पर राजा कुक्कुटध्वज भी पकड़े हैं।

### गणेश

शिव परिवार में गणेश की गणना के साथ ही लगता यह है कि कुषाण काल में इनकी आर्चा सामान्य प्रचलन में नहीं आई थी, किन्तु शिवगणों के रूप में या यक्ष रूप में इनको मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। मथुरा के फलक पर गणों का अंकन है जिनमें एक हस्तिशुंडक मुख है जो कि अमरावती के गजानन यक्ष से मेल खाता है। परवर्ती कुषाण कालीन गणेश मूर्तियों से इनके देवत्व की संपुष्टि अवश्य होती है। यहां ये द्विभुज, शूर्पकर्ण, एक दंत, लम्बोदर और बाई को और

सूड़ उठाकर लड्डू खाते दिखलाए गए हैं।

### शाक्त समुदाय

स ष्टि के निर्माण में पुरूष एवं प्रक ति के योगदान की मान्यता को स्वीकार करते हुए कुषाण समाज में शक्ति की उपासना को स्वीकार किया गया था। इस काल के पूर्व प्रायः देवियों की म ण्मूर्तियाँ मिली हैं किन्तु कुषाण काल में मथुरा एवं गंधार दोनों ही स्थानों पर देवी-मूर्तियों को पाषाण में रूपायित किया गया था। शाक्त समुदाय में आराध्य देवताओं की शक्तियों के रूप में इन्हें मान्यता मिली एवं स्वतन्त्र रूप से इनकी मात देवियों के रूप में आदि काल से चली आ रही पूजा को भी अपनाया गया। देवियों में वसुन्धरा, लक्ष्मी एवं दुर्गा प्रमुख थीं। इनके अतिरिक्त षष्ठी, एकानंशा आदि की भी पूजा प्रचलित थी।

### वसुन्धरा

कुषाण कालीन वसुन्धरा की कई मूर्तियां मिली हैं। यह सम द्धि एवं उत्पादन की प्राचीन देवी है। इनके एक हाथ में घट तथा दूसरा अभय मुद्रा में मिलता है। पूर्णघट एवं मत्स्ययुग्म इनके प्रमुख चिन्ह हैं। एक मूर्ति पर देवी छत्र लिए हैं। ये अंकन हमें स्वतन्त्र रूप से मिलते हैं या आगे चलकर फिर पार्श्व में दो शक्तिधर पुरूष के साथ वाला रूप भी पूजित हुआ है।

### लक्ष्मी

विष्णुपत्नी एवं शक्ति स्वरूपा लक्ष्मी धनदात्री देवी के रूप में आदिकाल से पूजा एवं अर्चा का उपादान थी। कुषाण काल में लक्ष्मी को गणेश, कुबेर, बच्चे, सेवक एवं मात काओं के साथ उकेरा गया है। हो सकता है कि इसका अकेले या सभी देवियों के साथ सम्मिलित पूजा का विध ान रहा हो। मथुरा के क ष्णजन्म स्थान से प्राप्त एक मूर्ति पर दो उपासक आसनस्थ धारिणी लक्ष्मी के दोनों ओर हाथ जोड़े खड़े हैं। मथुरा के पालीखेड़ा ग्राम से प्राप्त मूर्ति की आराधना गजलक्ष्मी के रूप में की जाती रही होगी। इस मूर्ति पर सनाल कमल लिए लक्ष्मी का अभिषेक दो हाथी कर रहें हैं। अन्य देवताओं की भांति लक्ष्मी के पूजन हेतु देवालय भी बनाए जाते थे जैसा कि मिर्जापुर से प्राप्त शिलालेख में लक्ष्मी प्रतिमा के स्थापना के साथ कुआं, तालाब, स्तम्भ एवं उद्यान के निर्माण का उल्लेख है।

### दुर्गा

पराक्रम की देवी एवं शिव की शक्ति के रूप में सिंहवाहिनी दुर्गा की आराधना की जाती थी। मथुरा में दुर्गा का महिषासुर मर्दनी वाला रूप अधिक लोकप्रिय हुआ था। गंधार कला की शैरवान ढेरी से प्राप्त सिंहवाहिनी दुर्गा की खण्डित प्रतिमा तथा बकरी को मारते हुए अष्ठभुजी देवी की मूर्ति है। इससे यह सहज ही अनुमान होता है कि मथुरा के अतिरिक्त गंधार प्रदेश के आसपास क्षेत्रों में शक्तिस्वरूपा दुर्गा की आराधना अवश्य की जाती रही होगी।

### एकानंशा

नन्द यशोदा की वह पुत्री जिसे जन्मते ही वसुदेव अपने नवजात पुत्र क ष्ण के बदले गोकुल से मथुरा ले आए थे एकानंशा या योगमाया के रूप में विख्यात हुई। यादवों ने इसे विशेष स्थान दिया क्योंकि इसने अपनी जान की बाजी लगाकर श्री क ष्ण को बचाया था। लोकदेवी के रूप में इनके सौम्य एवं रौद्र दोनों ही रूप उभरे हैं। एकानंशा उनका सौम्य रूप है जबकि विंध्यवासिनी एवं रूद्रकाली के नामों से शाक्यों में यह रौद्ररूप में मान्य हुई। एकानंशा के रूप में मथुरा, देवगढ़, बिहार, एवं कराची संग्रहालयों में इनकी मूर्तियों संग्रहीत हैं। मथुरा के कुछ शिलापट्टों पर बलराम और क ष्ण के बीच इनका अंकन है।

### षष्ठी

षष्ठी की पूजा मथुरा में प्रचलन में थी। एक मूर्ति पर मुख्य देवी की छतरी से उद्भूत पांच उपदेवियों का अंकन हैं। एक अन्य मूर्ति पर अग्नि ज्वालाएं या धनुषबाण युक्त वस्तुएं बनी हैं। ये मूर्तियां कार्तिकेय की माता के रूप में पूजी जाती थी। आज भी बच्चों के संवर्धन के लिए षष्ठी की पूजा होती है।

### मात काएं

व ज क्षेत्र में मात देवी की पूजा की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी जिसके प्रमाण स्वरूप मात देवी की विभिन्न प्रकार की मूर्तियां मिली हैं। ये शिशुओं की संरक्षिका, धनवैभव संपन्नता एवं शक्तिदात्री के रूप में पूजी गई। अनेक अंकनों में इन्हें बालक गोद में बैठकर अठखेलियां करना जैसे लटों से खेलता या माता शिशु को हाथों पर झुलाकर या दोनों पैरों के बीच खड़ा करके बहलाते उकेरा गया है। देवी की मुखाक ति सदैव मानवी न होकर पशुपक्षियों की मुखाक ति के सद श्य भी है। मथुरा में इनके कई ध्यान प्रचलन में रहे थे। अकेली आसनस्थ माता, पंक्तिबद्ध माताएं, स्वतन्त्र खड़ी या पंक्ति में खड़ी माताएं हैं। ये माताएं फलकों पर अकेली, तीन, पांच या सात के समूह में उत्कीर्ण की गई हैं। पशु मुखों में बकरे, सिंह एवं वराहमुखी अब तक ज्ञात हैं। पक्षीमुखों में गरूड़, तोता तथा अन्य पक्षी मुखाक ति वाली माताएं उकेरी गई हैं। एक फलक पर मानव, पशु एवं पक्षी मुखी माताओं का एक साथ अंकन हुआ है। मथुरा के कुछ फलकों पर सप्त मात काओं तथा मात का के साथ कार्तिकेय का एक साथ अंकन उनकी विशिष्ट पूजा की ओर संकेत करता है। मथुरा के श्रीक ष्ण जन्मस्थान के उत्खनन से प्राप्त एक तोरण के प ष्ठभाग पर अभिलेख में उत्कीर्ण हैं कि शोडास के मंत्री की पत्नी ने देवी के लिए तोरण बनवाया था जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवियों के लिए तोरण युक्त देव स्थान का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म के सभी सम्प्रदाय एक साथ ही इस युग में विकसित हो रहे थे। एक उदाहरण में अर्धनारीश्वर, विष्णु, लक्ष्मी तथ कार्तिकेय का सम्मिलित अंकन शिव और विष्णु की समन्यवादी धारा का प्रतीक है। लक्ष्मी को मात का फलकों, कुबेर को हारीति या भाद्रा के साथ तथा दूसरे पर चषकधारणी माताओं के साथ स्थान दिया गया है। कार्तिकेय को अन्य देवताओं के साथ-साथ मात का फलकों पर प्रदर्शित किया गया है। उनमें आपसी प्रतिद्वन्द्वता के स्थान पर सहज सहिष्णुता थी। यह अवश्य है कि शैवों को सम्भवतः अधिक प्रश्रय रहा था क्योंकि उनके उप सम्प्रदायों की मूर्तियों भी मिलती है। शैवों में भी पाशुपत सम्प्रदाय का अधिक प्रचलन था। इन विभिन्न सम्प्रदायों में भी आपसी सौहार्द था जैसा कि एक लिंए जिसमें मुख के स्थान पर पूरी मानवाक ति उकेर दी गई है, से पुष्ट होता है। यही नहीं शिव को अन्य धर्मावलंबियों ने भी अपनाते हुए अपने देवसमूह में स्थान दिया था। शक्ति के उपासकों ने शिव को अर्धनारीश्वर प्रकार से उकेरा तो वैष्णवों ने हरिहर, त्रिमूर्ति एवं चतुर्व्यूह रूप में प्रस्तुत किया था। यक्षों ने भी शिव की महानता को स्वीकारा था। एक अंकन में शिवलिंए के सम्मुख दो यक्ष हाथ जोड़े खड़े हैं। नाद राजस्थान से प्राप्त शिवलिंग, जिस पर बीस देवताओं की प्रतिमाएं जिनमें संकर्षण, वासुदेव, एकानंशा की मूर्तियां भी हैं, धार्मिक सहिष्णुता का सुन्दरतम अंकन है।

## (ख) बौद्ध धर्म स्वरूप एवं उपासना पद्धति

ब्राह्मण धर्मावलंबियों के कर्मकाण्ड एवं रीति व्यवहारों से त्रस्त जनमानस बौद्धधर्म के मध्यम मार्ग एवं सादगी से अप्रभावित न रह सके थे। मथुरा और गंधार से प्राप्त बौद्ध कलावशेषों से सिद्ध हो जाता है कि कुषाण राजाओं से लेकर सामान्य नागरिक की बौद्ध धर्म में रूचि रही थी।

ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में गौतम बुद्ध द्वारा धर्म का प्रतिपादन किया गया था। बुद्ध स्वयं ईश्वरवाद, मूर्तिपूजा तथा वेदों की सत्ता में अविश्वास करते थे। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके मुख्य शिष्य आनन्द की अध्यक्षता में प्रथम बौद्ध संगति का आयोजन हुआ जिसमें बौद्ध वांगम्य को एक रूप दिया गया था। बुद्ध के निर्वाण के तीन सौ वर्षो बाद देवत भिक्षु की अध्यक्षता में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई जिसमें बौद्ध धर्म दो पंथ हीनयान एवं महायान में बंट गया। हीनयानी बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के सिद्धान्तों में विश्वास तथा प्रतीक पूजन को मान्यता देते थे जिसे रूढ़िवादी बौद्ध धर्म, स्थविरवाद या थेरवाद के नाम से भी जाना गया। महायानी बुद्ध की मूर्तिपूजा करते थे, इन्हीं में सुधारवादी भिक्षुओं की एक शाखा महासांघिक के नाम से विकसित हुई। अशोक के समय में त तीय बौद्ध संगीति में थेरवाद प्रबल हो गया किन्तु कनिष्क के समय चौथी संगीति के अवसर पर सुधारवादी भिक्षुओं की दो शाखाएं- सर्वास्तिवाद तथा महासांघिक अधिक विकसित हुई। कुषाण कालीन मूर्तिफलकों पर उकेरे गए लेख इस युग के बौद्ध भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों तथा श्रावकों के उपयोग में आए सम्प्रदाय विशेष के चैत्यों एवं विहारों का संकेत करते हैं। अब तक बीस बौद्ध विहारों, दो चैत्य कुटियों तथा दो स्तूपों के उल्लेख मिले हैं जिनसे बौद्ध सम्प्रदायों का परिचय मिला है। ये मुख्यतः महायान से संबंधित सर्वास्तिवाद, महासांघिक तथा हीनयान से संबंधित धर्मगुप्तिक या धर्मगुलिकों के थे। यहां प्रत्येक सम्प्रदाय की विवेचना ही हमारा अभीष्ट होगा।

### सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के आचार्य संसार के सर्वद श्यों के अस्तित्व में विश्वास रखते थे और मनुष्य की महिमा सेवा तथा दुःख निवारण में आस्था रखते थे। वे स्वर्ग की कल्पना को मानते थे। शोहटूक बड़े आधार प्रस्तर जो मूलरूप में लाल रंग तथा आक तियों एवं पत्तियों पर सोने के पानी चढ़ाए हुए थे, से स्वर्ग की भावना प्रस्तुत की गई थी। इन्हीं की दूसरी देन थी बुद्ध के मानवी रूप में पूजन की, क्योंकि इनकी द ष्टि में मूर्तिपूजा की उपादेयता धार्मिक सिद्धान्तों में आस्था से किसी प्रकार भी कम नहीं थी।

सर्वास्तिवादी मथुरा से लेकर गंधार क्षेत्र तक फैले हुए थे। कुषाण काल में इस धारा का प्रचार सारनाथ तक हो गया था। मथुरा से प्राप्त बुद्धमूर्ति की चरण-चौकी एवं अन्योर बुद्ध सारनाथ में भिक्षु बल द्वारा स्थापित बोधिसत्व प्रतिमा, शाहजी की ढेरी से प्राप्त कनिष्क का धातु करण्डक सर्वासितवादी आचार्यो एवं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए ही स्थापित किए गए थे। बुद्ध मूर्तियों के साथ ही बोधिसत्वों की मूर्तियां भी इन्हीं के प्रभाव से संघारामों में स्थापित की गई। कनिष्क के चौदहवें राज्यवर्ष में संधील ने बुद्ध मूर्ति तथा नागदत्त ने बोधिसत्व की अभिलिखित प्रतिमा क्रोष्टुकीय विहार में स्थापित कराई थी। चौबारा टीले से प्राप्त बुद्ध मूर्ति, अन्मरवासिनी धनवती ने भिक्षुबल को दान दी थी। हुविष्क के समय में भी यह सम्प्रदाय प्रचलन में रहा था। स्वयं हुविष्क ने अपने विहार में बुद्ध प्रतिमा, बोधिसत्व, अमोघ सिद्धि एवं एक मूर्ति उल्वर की दीक्षा के समय स्थापित कराई थी। गंधार प्रदेश से मिले ध्यानी बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितश्वर, पद्मपाणि की मूर्तियां भी इसी सम्प्रदाय के प्रभाव में आकर बनी होंगी।

### महासांघिक सम्प्रदाय

महासांघिकों ने नागार्जुन द्वारा उद्घोषित दर्शन को अपनाया तथा कनिष्क के समय से लेकर वासुदेव के समय तक यह विकसित होती रही थी। हुविष्क ने मथुरा में इनके लिए मठ बनवाए, वहीं वासुदेव ने अपने 67वें एवं 91वें राज्यवर्ष के लेख में मठ बनवाने का उल्लेख किया है।

'महावस्तु' को महासांघिक लोकोत्तर वादियों का विनयपिटक माना जाता है। महासांघिक लोकोत्तरवादी बुद्ध को साधारण पुरूष न मानकर उनके लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। इनका उल्लेख मथुरा में नागदत्त के द्वारा स्थापित कराई मूर्ति तथा पालीखेड़ा ग्राम में वासुदेव द्वारा स्थापित बोधिसत्व मूर्ति और पालीखेड़ा तथा मातागली मथुरा से प्राप्त पत्थरीय महापात्रों (पत्थर के कठौते) पर उत्कीर्ण लेखों में मिला है। मथुरा इनका प्रमुख गढ़ था परन्तु पश्चिमोत्तर वर्धक से लेकर दक्षिण पश्चिम में कार्ले तक इस सम्प्रदाय के मानने वाले थे। गंधार कला की बुद्ध की विशाल मूर्तियों, जिनमें कतिपय एक सौ बीस से एक सौ पचहत्तर फीट तक की है, से यही प्रतिध्वनित होता है कि लोकोत्तरवादियों, जिनका बामियां मे एक केन्द्र था, को बुद्ध के विश्व रूप की कल्पना थी। इनमें एक स्तूप के नीचे के तोरणों में सात बुद्ध एवं मैत्रेय उकेरे गए हैं। तांख के गुम्मद पर सूर्यदेव का चित्रण है जो कि तथागत के विश्व को प्रकाशान्वित करने के प्रतीक हैं।

कुषाण काल में ही महासांघिकों ने भिक्षुओं एवं उपासकों दोनों को समान रूप से प्रतिष्ठा दी थी। अंगुत्तर निकाय में चौबीस ग हस्थों की सूची है जिन्होंने बिना संन्यास लिये धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया था। इनमें भल्लिक और त्रापुष मुख्य थे। शोटूरक से प्राप्त शिलापट्ट में उकेरी इनकी कथा इसी तथ्य की द्योतक है। ऐसा ही चित्रण यहीं से प्राप्त होता बुद्ध प्रतिमा की चरण-चौकी है जिसके मध्य में बुद्ध तथा उनके पार्श्वो में मैत्रेय तथा एक अन्य बोधिसत्व हैं। बाई ओर भिक्षु तथा दाई ओर कुषाणवेशी उपासक हैं, जो बुद्ध की पूजा अर्चना के साथ ही धार्मिक प्रतीकों की पूजा करते भी दर्शाए गए हैं। कई द श्यों में छत्र, भिक्षापात्र की पूजा करते अथवा हाथ में पूजन-सामग्री लिए चलते उपासक दिखलाए गए हैं। गंधार में ये अंकन अधिक प्रचलित थे। कुषाण कालीन मथुरा के मूर्ति अभिलेखों से पता चलता है कि महासांघिकों के निवास के लिए अलनक विहार, चूतक विहार (आम्रविहार) एवं क्रोष्टुकीय विहार थे। इस विहार की गंधकुटी में नागदत्त द्वारा प्रदत बोधिसत्व मूर्ति स्थापित की गई थी। इन विहारों का खर्च राज्य और व्यापारियों के धार्मिक दान तथा अनुदानों से चलता था।

### धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय

यह हीनयान सम्प्रदाय की एक शाखा थी। हुविष्क के उनतीसवें वर्ष की मूर्ति की चरण-चौकी पर उकेरे लेख में इनका उल्लेख है। मथुरा में इनका विहार था। धर्मगुप्तिक महिष-शाखा की उपशाखा थी जो कि सर्वासितवाद सम्प्रदाय से सीधे सम्बद्ध होते थे। इस शाखा का मध्यएशिया में प्रसार हुआ। ये बोधिसत्वों के पूजेक थे। मैत्रय की धर्मगुप्तिक विहार से मिली प्रतिमा इस तथ्य की पुष्टि करती है कि वे दोनों सम्प्रदायों में पूज्य थे तथा इनकी उपासना का यह संक्रमण काल था। मथुरा के गिरधरपुर टीले से प्राप्त बोधिसत्व मैत्रेय की चरण-चौकी पर इंगित लेख में लिखा है कि 'अराकी' के कुषाण 'करतित' ने यह प्रतिमा सभी सम्प्रदायों के हित-सुख के लिए प्रतिष्ठापित कराई थी। एक अन्य मूर्ति अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुषिक नागप्रिय नामक स्त्री उपासिका ने बोधिसत्वमूर्ति धर्मगुप्तिक आचार्यो के लिए अपने बनवाए चैत्य में स्थापित की थी। मूर्ति अभिलेखों में इस सम्प्रदाय के विहारों में देवपुत्रविहार, प्रवारक विहार तथा सुवर्णकार विहार प्रमुख थे। इनका खर्च भी उपासकों एवं व्यापारिक संघों के दान से चलता था।

बौद्धधर्मावलंबियों ने अपनी धार्मिक मान्यताओं को स्थिर करने हेतु जहां कर्मकाण्डों को छोड़ा वहीं ब्राह्मण देवसमूह, संस्कार एवं उपासनाओं को यथाअवसर अपने में आत्मसात करने का भी प्रयत्न किया। शोटूरक से प्राप्त प्रस्तर-खण्ड पर संन्यासी कश्यप के साथ कुषाण दान

कर्ता बुद्ध के दर्शन करते इसी क्रम में उकेरे गये हैं। ब्राह्मणों की स्वर्ग की कल्पना भी ऐसे ही प्रयोग थे।

मथुरा एवं गंधार दोनों ही स्थलों पर बौद्धों ने ब्राह्मण देवसमूह को बुद्ध के साथ स्थान देकर दूसरा समन्वय का प्रयास किया। यह अवश्य है कि इन्हें स्थान गौड़ ही मिला था। गंधार के शहरी बहलोल स्तूप से प्राप्त बुद्ध जन्म के फलक, मर्दान जिले, मथुरा के ध्रुव टीले तथा राजघाट से प्राप्त शिशु सिद्धार्थ के प्रथम स्नान के द श्य में इन्द्र एवं ब्रह्मा जल डालते उकेरे गए हैं। बुद्ध की अन्य ब्राह्मण देवताओं पर वरिष्ठता अंकित करते हुए तख्तेवाही स्तूप, पेशावर एवं मथुरा से प्राप्त कई फलकों पर कामदेव के निष्प्रभावी होने का अंकन है। स्वयं इन्द्र अपने पंचशिख गन्धर्व के साथ इन्द्र शैल गुफा में बैठे बुद्ध के दर्शनार्थ सीकरी स्तूप से मिले फलक, मथुरा शहर से मिली तोरणपट्टिका, हुविष्क विहार से मिले सिरदल पर इसी ध्येय से उकेरे गए लगते हैं।

समकालीन समाज में प्रचलित लोक-देवताओं की उपासना को भी बौद्धों ने आत्मसात कर लिया था। बौद्धों ने कुबेर एवं भद्रा को अपने धर्म में पंचिक एवं हारीति के रूप में स्थान दिया। महौली से प्राप्त पंचिक के हाथ में धन की थैली तथा हारीति के हाथ में पानपात्र या दोनों के सामने रखे पानपात्र उकेर कर कुबेर के ब्राह्मण देव स्वरूप की झलक दी गई लगती है। शहरी बहलोल से मिले फलक पर इनके साथ बहुत से बच्चे भी दिखलाए गए हैं।

ब्राह्मण देवसमूह की भांति ही बौद्धों ने नागों को भी अपने देवसमूह में गौण स्थान दिया था। गंधार के रानीघाट से प्राप्त फलक पर बुद्ध द्वारा राजग ह के काले सर्प पर नियन्त्रण, सीकरी स्तूप से मिले फलक पर नाग कलिक एवं उनकी पत्नी द्वारा बुद्ध को प्रणाम तथा रामग्राम में नागों द्वारा स्तूप का संरक्षण, मथुरा में नवजात बुद्ध के स्नान द श्य पर नन्द तथा उपनन्द नाग के अंकन इसी समन्वय के द्योतक हैं।

नागों के अतितिरक्त यक्षों को भी बौद्धों ने अपने समुदाय में सम्मिलि किया। ईसापुर तथा सीकरी स्तूप से प्राप्त फलक पर बुद्ध को लोकपालों द्वारा पात्रों की भेंट, जालौन, तक्षशिला से मिले फलक पर यक्षों द्वारा बुद्ध को नमस्कार, गंधार तथा गोविन्द नगर से प्राप्त महाभिनिष्क्रमण द श्य में यक्षों द्वारा सिद्धार्थ के अश्व के पैरों को हथेली पर टिकाते गंधार के चक्रवाही तथा मालावाही यक्षो के अंकन बौद्धों की समन्यवादी प्रव ति को प्रदर्शित करते हैं।

ब्राह्मण देवसमूह ही नहीं बल्कि बौद्धों ने ईरानी अग्नि की उपासना एवं मद्रु यवनों में प्रचलित वाकस देवता की उपासना भी अपनाई थी। बोधिसत्वों की चरण-चौकियों पर उकेरे अग्निकुण्ड, पानगोष्ठियों को प्रदर्शित करते द श्य फलक एवं कुबेर को मद्यपान में लिप्त प्रदर्शित कर बाकस देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'महाभारत' के द्रोणपर्व में मद्र लोगों में प्रचलित मद्यपान गोष्ठियों के उल्लेख एवं नरौली, महोली, पालीखेड़ा से मिले बोधिसत्वों की मूर्तियों के साथ ही आसवपान करते कुबरे की मूर्तियों यवनों की वाकस देव की उपासना को बौद्धों द्वारा आत्मसात करते लगते हैं।

## उपासना विधि एवं उपादान

अश्वघोष की मान्यता थी कि ग हस्थ जीवन में रहते हुए भी सत्कर्मो द्वारा सतमार्ग पर चलते हुए मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः जहां बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के लिए कठोर जीवन पद्धति का विधान था वहीं पर ग हस्थों के लिए सत्कर्म, सद्व्यवहार एवं सद्आचरण की व्यवस्था थी। वे सतमार्ग पर चलते हुए प्रतिमा एवं प्रतीक पूजन द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकते थे।

मथुरा और गंधार से प्राप्त बौद्ध मूर्तियों एवं फलकों से तत्कालीन बौद्धों की उपासना विधियों का ज्ञान होता है। प्रारम्भ में हीनयान सम्प्रदाय के अन्तर्गत बुद्ध की उपस्थिति केवल

प्रतीकों द्वारा दर्शाई जाती थी। यही कारण है कि फलकपट्टों, स्तम्भपट्टों तथा तोरणपट्टिकाओं पर प्रतीक पूजन के विविध द श्य उत्कीर्ण हैं। इन द श्यों पर पूजन हेतु जाते उपासक हाथ में फूल-माला, पुष्पकरन्ड तथा कपड़े की झन्डी लिए खड़े अंकित हैं। चैत्य गवाक्षों में दम्पति पुष्प लिए अर्पण को तत्पर खड़े हैं। भारतीय शक उपासक, कुषाण वेशी उपासक तथा विदेशी उपासिकाएं भी पुष्प लिए अर्चन हेतु प्रसतुत हैं। गंधार के भी कुछ फलकों पर ऐसा ही अंकन है। करांची, पेशावर तथा शहरी बहलोल से प्राप्त फलकों पर उपासक गुलदस्ते, कमलपुष्प तथा एक पुरूष पात्र सहित पूजा के लिए जाते अंकित हैं। एक सोपान पट्टिका पर बौद्ध भिक्षु के पीछे बांसुरी वादक, एक राजपुरूष जलघट तथा कमल लिए, दूसरा दीपक लिए, तीसरा भोगसामग्री से भरा पात्र तथा कमल लिए पूजा के लिए जा रहे दर्शाए गए हैं। पूजा में प्रयुक्त कुछ प्रतीक अब तक मूर्तियों पर उकेरे मिलते हैं। जैसे :-

### स्तूप पूजा

बुद्ध ने स्वयं महापरिनिर्वाण के पूर्व स्तूप को वंदनीय बतलाया है। स्वभावतः प्रतीक रूप में स्तूप को सर्वाधिक महत्व मिला। देवप्रतिमा के सामने ही स्तूप या स्तूप की लघु प्रतिक ति का निर्माण, पूजन, स्थापन आदि पुण्य प्राप्ति के विशिष्ट कार्य थे। स्तूप पर माल्यार्पण, धूप जलाकर आवाहन, नमस्कार, परिक्रमा या प्रदक्षिणा आदि कुद प्रक्रियाएं अपनाई गई थीं। व न्दावन से प्राप्त एक तोरणखण्ड पर एक स्तमप पर भारी माला लिए उड़ते दो गन्धर्व पूजा कर रहे हैं तो कहीं अप्सराएं भी हारयष्टि चढ़ा रहीं अंकित हैं। कुषाण मूर्तियों पर यक्षों द्वारा ले जाई जा रही भारी मालाएं स्तूप पर चढ़ाने के लिए होती थी। लाहौर, पेशावर तथा मथुरा से प्राप्त स्तूप पूजा के द श्यों में उपासक नमस्कार मुद्रा में खड़े हैं। गंधार के एक फलक पर स्तूप के निकट एक विदेशी धूपदानी हाथ में लिए खड़ा पूजा कर रहा दर्शाया गया है।

### व त्ताकार चैत्य की पूजा

अर्धव ताकार देवालय के गर्भग ह में छोटे ठोस चैत्य का निर्माण पूजा हेतु किया जाता था। मथुरा की एक तोरण पट्टिका पर नगर द्वार के निकट बने व त्ताकार बौद्ध चैत्य की पूजा हेतु जाते एक जुलुस का अंकन हैं जिसमें आगे माला लिए राजपुरूष तथा उसके पीछे वादक गण चल रहे अंकित हैं। यह द श्य कदाचित 'महामहिक' उत्सव का द्योतक है।

### गंधकुटी की पूजा

ज्ञानप्राप्ति के बाद बुद्ध के ठहरने वाले निवासों को 'गंधकुटी' कहा गया है। एक लघु स्तूप के आधार पर गुधकुटी में बैठे बुद्ध के समक्ष उपासक करबद्ध खड़े दर्शाए गए हैं। गोबिन्दनगर से प्राप्त स्तम्भ के प ष्ठभाग पर मूलगंधकुटी के समक्ष उपासक-उपासिकाएं नमस्कार भाव में तथा वोस्टन संग्रहालय में संग्रहीत मेहराबी तोरण के प ष्ठभाग पर इसकी पुष्पगुच्छ लिए उपासक, माला लिए उपासिका तथा माल्यचंगेरी लिए खड़ी सेविका पूजा कर रही अंकित हैं।

### बोधिव क्ष तथा बोधिघर की पूजा

बौद्धों की ऐसी अवधारणा है कि पीपल व क्ष के नीचे कठोर तपस्या करके सिद्धार्थ को सम्बोधि की प्राप्ति हुई थी। अतः इस घटना का प्रतीकात्मक चित्रण वेदिका से घिरे व क्ष के रूप में किया गया। ऐसे बोधिव क्षों की पूजा छत्र, ध्वज, माला, वस्त्र आदि चढ़ा कर की जाने लगी। एक अंकन में व क्ष की पूजा किन्नर पुरूष पुष्प-माला चढ़ाकर कर रहे अंकित हैं। कुषाण काल में ऐसे बोधिव क्षों को विशेष प्रकार के भवन से घेर कर बोधिघर की संज्ञा दी गई। एक तोरण धरन पर उपासक फूल माला लिए बोधिघर के समक्ष खड़े रूपायित हैं। बोधिघर की पूजा में वस्त्रों की अलंक त झन्डियां, छत्र और भारी माला का प्रयोग किया जाता था।

### भिक्षापात्र पूजन

बुद्ध द्वारा व्यवहृत भिक्षापात्र पवित्र प्रतीकों में रहा था। मथुरा में इसे वज्रासन के साथ उकेरा गया है। कुछ अन्य फलकों पर उपासक भिक्षापात्र के निकट नतमस्तक हो खड़े हैं। एक मेहराबी तोरण पर राजपुरूष भोग सामग्री लिए तथा दूसरे पर किन्नर पुरूष पात्र के निकट हाथ जोड़े खड़े रूपायित हैं। शोटूरक से प्राप्त फलक पर आसन पर अवष्ठित भिक्षापात्र के समक्ष विदेशी उपासक करबद्ध खड़े होकर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते अंकित हैं।

### उष्णीष पूजन

कुषाण काल में राजकुमार सिद्धार्थ की पगड़ी या उष्णीष की पूजा लोकप्रिय रही थी। भूतेश्वर तथा गोबिन्दनगर से प्राप्त स्तम्भों के ऊपरी पट्ट पर उष्णीष पूजा के अंकन में उपासक हाथ जोड़े खड़े हैं। एक मेहराबीतोरण पर राजपूरूष पुष्पार्चन से तथा गोबिन्दनगर से प्राप्त उष्णीष के ऊपर बने चैत्यगवाक्ष अभिप्राय में उकेरे उष्णीष (पगड़ी) के समक्ष भक्त पुष्प लिए अंजलि मुद्रा में अंकित हैं। गंधार के एक फलक पर ऊँची आसन्दी पर रखी उष्णीष को पार्श्वचर चवरी डुला रहे तथा इन्द्र एवं ब्रह्मा हाथ जोड़े खड़े दर्शाए गए हैं। गंधार की एक सोपान पट्टिका पर राजपुरूष पगड़ी पर माल्यार्पण कर रहा तथा उसके पीछे कई वादक व न्द एवं एक नर्तकी न त्य में लीन प्रदर्शित हैं। साहित्य में ऐसे उत्सवों को 'इन्द्र-चूड़ामहा-चेतिय' कहा गया है।

### प्रभामण्डल का पूजन

बुद्ध का प्रभामण्डल एक पवित्र प्रतीक था। गुड़गांव से प्राप्त वेदिका स्तम्भ पर बुद्ध के प्रभामण्डल का अंकन है। मथुरा के एक स्तम्भ के मेहराबी तोरण पर भिक्षापात्र के पीछे वज्रासन पर रखे प्रभामण्डल की पूजा उपासक कर रहे अंकित हैं।

### धर्म-चक्र पूजन

कुषाण काल में बड़े चक्र स्तम्भों की स्थापना व क्ष के नीचे या उद्यान में की जाती थी। मथुरा की एक तोरण धरन पर चार सिंहों की पीठ पर चक्र को टिकाया गया है। चक्र की पूजा उपासक पुष्प चढ़ाकर तथा हाथ जोड़कर करते थे। गंधार में स्त्री-पुरूष तीहरे चक्रवाले स्तम्भ की पूजा बैठकर कर रहे अंकित हैं। संघोल के एक कोणस्तम्भ पर चक्र-ध्वज का अंकन है।

### त्रिरत्न पूजन

कुषाण काल में बुद्ध धर्म और संघ के प्रतीक स्वरूप त्रिरत्न की पूजा की जाती थी। गंधार के एक फलक पर उद्यान में व क्ष के नीचे आसन पर रखे त्रिरत्न का पूजन उपासक तथा बौद्धभिक्षु कर रहे दर्शाए गए हैं।

### अस्थि कलश तथा शव पेटिका पूजन

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों का कई भागों में विभाजन हुआ। बुद्ध के समकालीन राजाओं ने अस्थिमंजूषाओं में बुद्ध की अस्थियों को ले जाकर अपने-अपने राज्य में रखा तथा बाद में उन पर स्तूप का निर्माण करवाया। पेशावर घाटी से प्राप्त फलक पर अस्थि कलश को दो उपासक हाथ जोड़कर श्रद्धांजलि दे रहे प्रदर्शित हैं। भूतेश्वर के एक वेदिका-स्तम्भ के प्रथम पट्ट में आसन पर बुद्ध की शव पेटिका का अंकन है। जिसके ऊपर देवत्व सूचक छत्र लगा है तथा भारी माला भी पड़ी है। नीचे के पट्ट पर दो उपासक हाथ जोड़े

खड़े हैं। संघोल से प्राप्त उष्णीष चिन्ह् पर उकेरे आले में भी ऐसा ही अंकन है जिस पर सपक्ष सिंह माला मुंह से पकड़े अर्पण हेतु आ रहे हैं।

## मूर्तिपूजा

कुषाण काल में थेरवादी सम्प्रदाय में जहां केवल धार्मिक प्रतीकों की पूजा को मान्यता दी है वहीं महायानी सम्प्रदाय ने आराधना के लिए ध्यानीबुद्ध, बोधिसत्व तथा बुद्ध की प्रतिमा को स्थान दिया, जिसके परिणाम स्वरूप हमें मथुरा एवं गंधार दोनों ही स्थानों से बौद्ध मूर्तियां बहुतायत से मिलती हैं।

## बोधिसत्वों की पूजा

प्रारम्भिक कुषाण काल में बोधिसत्वों की पूजा को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। कंकाली से प्राप्त एक फलक पर बोधिसत्व मूर्ति के पार्श्वो में राजपुरूष तथा पैरों के पास पांच उपासक नमस्कार भाव में खड़े अंकित हैं। कटरा से प्राप्त अभिलिखित बोधिसत्व प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में भद्र पुरूष चवरी लिए अंकित हैं तथा विद्याधर ऊपर से पुष्प चढ़ा रहे हैं। एक मेहराबी तोरण की मूर्ति पर उपासक पुष्पकरन्ड से फूल चढ़ाते उकेरे हैं। मथुरा की बोधिसत्वों की अधिकांश मूर्तियां अभय या ध्यान मुद्रा की हैं।

गंधार में पूजा के उद्देश्य से बोधिसत्वों में सिद्धार्थ, मैत्रेय तथा पद्मपाणि अवलोकितश्वर की मूर्तियां स्थापित की गई थीं। लाहौर से प्राप्त फलक पर एक राजपुरूष सेवक के हाथ में पकड़े पात्र से किसी मूल्यवान सामग्री का दान बोधिसत्व सिद्धार्थ के समक्ष कर रहा, अंकित है। चारसद्दा से प्राप्त फलक पर विदेशी उपासक सिद्धार्थ के समक्ष हाथ जोड़े खड़े हैं। पलाटूडेहरी से प्राप्त फलक पर मैत्रेय के समक्ष भिक्षु तथा उपासक हाथ जोड़े एवं रावलपिण्डी से प्राप्त फलक पर विदशी उपासक कुछ हाथ जोड़े तथा कुछ फूल चढ़ाते अंकित हैं। शहरीबहलोल से प्राप्त फलक पर राजघराने की विदेशी स्त्रियां मैत्रेय के समक्ष हाथ जोड़े तथा उनके पीछे सेविका भी हार और पुष्पकरन्ड लिए अर्पण को तत्पर खड़ी रूपायित हैं। मथुरा की अपेक्षा गंधार क्षेत्र में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, सिद्धार्थ और मत्रेय की पूजा अधिक लोकप्रिय थी।

## ध्यानी बुद्धों की पूजा

मथुरा से प्राप्त फलकों पर ध्यानी बुद्ध के समक्ष राजपुरूष पुष्पगुच्छ तथा माला लिए खड़े अंकित हैं। मथुरा में अमिताभ, अमोघसिद्ध तथा रत्नसंभव की मूर्तियों पूजित थीं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के कार्य सम्पादन के लिए मानुषी बुद्धों की कल्पना भी की गई थी। अतः ध्यानी बुद्धों के साथ-साथ मानुषी बुद्धों की भी पूजा की जाती थी। लाहौर से प्राप्त कई फलकों पर देशी और विदेशी उपासक तथा भिक्षु भी ध्यानी बुद्धों की पूजा हेतु हाथ जोड़े खड़े दर्शाए गए हैं। कुछ पर इन्द्र और ब्रह्मा भी नमस्कार मुद्रा में खड़े अंकित हैं। मथुरा में मानुषी बुद्धों में कश्यप बुद्ध की स्वतन्त्र रूप से पूजा होती थी।

## बुद्ध मूर्ति की पूजा

कुषाण काल में बुद्ध मूर्ति की पूजा भी प्रारम्भ हो गई थी। मथुरा से प्राप्त फलकों पर इन्द्र शैल गुफा में बैठे बुद्ध के दर्शनार्थ अपने पंचशिख गन्धर्व, ऐरावत हाथी तथा अप्सराओं के साथ आये दर्शाए गए हैं। गंधार में भी लाहौर से प्राप्त फलकों पर बुद्ध के दोनों ओर पुरूष उपासक हाथ जोड़े खड़े हैं। कुछ अन्य फलकों पर उपदेश देते बुद्ध के समक्ष उपासक हाथ जोड़े तथा माला लिए खड़े हैं। शहरी बहलोल से प्राप्त फलक पर पूजा द श्य में करबद्ध राजपुरूष

तथा राजमहिषी के साथ सेवक-सेविका भी भोग तथा हार लिए खड़े तथा अन्य सदस्य पुष्प चढ़ा रहे अंकित हैं। लाहौर से प्राप्त फलक पर बुद्ध मूर्ति के समक्ष उपासिकाएं फूल चढ़ाती तथा झुक कर दंडवत कर रही उत्कीर्ण हैं। मथुरा से प्राप्त कुछ फलकों पर बुद्ध मूर्ति की पूजा की जा रही अंकित है। कटरा से प्राप्त फलक पर राजपुरूष बुद्ध के पार्श्व में चंवर लिए तथा ऊपर की ओर विद्याधर पुष्पार्चन कर रहे दर्शाए गए हैं। गंधार में ऐसी मूर्ति के समक्ष भिक्षु, उपासक तथा राजपुरूष हाथ जोड़े अपनी श्रद्धा प्रदर्शित कर रहे अंकित हैं। धर्मराजिका स्तूप से प्राप्त फलक पर बुद्ध मूर्ति की पूजा में व द्ध स्त्रियां भोग सामग्री तथा पुष्प, नवयुवती हाथ जोड़े तथा पुष्प लिए और एक सधवा स्त्री गुलदस्ता लिए तथा बच्चे पुष्प लिए चढ़ाने को तत्पर खड़े रूपायित हैं।

बौद्धों की देवोपासना में बुद्ध को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ था किंतु कालान्तर में महासांघिकों के बढ़ते प्रभाव के कारण तथा ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्वों की लोकप्रियता के कारण उन्हें भी बुद्ध मूर्ति की चौकियों पर स्थान देकर एक साथ ही बुद्ध, ध्यानी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की सम्मिलित पूजा की जाने लगी जिनके नमूने हमें मथुरा और गंधार दोनों ही स्थानों से प्राप्त होते हैं।

मथुरा में शीतला घाटी, अन्योर तथा यमुना से प्राप्त बुद्ध मूर्ति की चरण-चौकियों पर ध्यानी बुद्ध के अंकन हैं जिनकी पूजा भारतीय तथा विदेशी उपासक हाथ जोड़कर कर रहे हैं। आरक्षित संग्रह की एक ऐसी चरण-चौकी पर ध्यानी बुद्ध के पार्श्वों में उपासक पुष्प माला लिए श्रद्धानत रूपायित हैं। गंधार में भी बुद्ध मूर्ति की चरण-चौकी पर ध्यानी बुद्ध का दो झुके उपसकों सहित अंकन है। तख्तेबाही से प्राप्त मूर्ति की चौकी पर ध्यानी बुद्ध, बोधिसत्व तथा उपासक खड़े हैं। धर्मराजिका स्तूप से प्राप्त मूर्ति चौकी पर तीन ध्यानी बुद्ध, दो बोधिसत्व तथा कई विदेशी उपासक हाथ जोड़े श्रद्धानत रूपायित हैं। पलाटुडेहरी से प्राप्त चौकी पर घट लिए मैत्रेय के पार्श्व में बौद्ध भिक्षु करबद्ध खड़े अंकित हैं। महाविद्या टीला, मथुरा से प्राप्त चौकी पर मैत्रेय का उपासक सहित अंकन यमुना से प्राप्त चौकी पर केवल 'महाराज' लिखकर ही तथागत बुद्ध की उपस्थिति प्रगट कर दी गई है।

बुद्ध और बोधिसत्व मूर्तियों की चरण-चौकियों पर प्रतिमा और प्रतीकपूजन का भी सुन्दर समन्वय है। कुछ पर केवल धार्मिक प्रतीक तो कुछ पर प्रतीकों की अर्चा करते उपासक भी प्रदर्शित हैं। यहां मूर्ति का सम्बन्ध महायान बौद्ध सम्प्रदाय तथा प्रतीकों का अंकन हीनयान सम्प्रदाय की भावना को प्रदर्शित करता है। इनमें बुद्ध के प्रतीक रूप में भिक्षा पात्र, विहार तथा गन्धकुटी, बोधिसत्व, मैत्रेय का घट या कमन्डलु, धर्म का प्रतीक त्रिरत्न तथा चक्र और विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप नये प्रतीक यथा- दीपक, धूपदान तथा प्रज्ज्वलित अग्निदान को उकेर कर प्रतिमा तथा प्रतीक पूजा के समन्वय का प्रयास किया गया है।

गंधार से प्राप्त बुद्ध मूर्ति की चौकियों पर आसनस्थ भिक्षापात्र की छत्र लगाकर उपासना की जा रही प्रदर्शित है। यहां हाथ जोड़कर उपासक झुके बैठे अंकित है। तख्तेबाही स्तूप से प्राप्त बोधिसत्व की चरण-चौकी पर गंधकुटी की अनुक ति बनी है जिसके पार्श्वों में विदेशी उपासक-उपासिकाएं हाथ जोड़े हैं। अलीगढ़ से प्राप्त मथुरा शैली की बुद्ध प्रतिमा की चरण-चौकी पर, डा० गौड़ के अनुसार, नालंदा के विहार की सुन्दर आक ति का अंकन है जिसकी उपासक अर्चा कर रहे हैं। शहरी बहलोल से प्राप्त चौकी पर मैत्रेय के घट या कमंडलु का अंकन है जिसके दोनों ओर करबद्ध उपासक खड़े हैं। मथुरा शहर से प्राप्त बोधिसत्व मूर्ति की चरण-चौकियों पर त्रिरत्न की पूजा विदेशी उपासक कर रहे अंकित हैं। सोंख ग्राम से प्राप्त चौकी पर चक्र सहित त्रिरत्न उत्कीर्ण है जिस पर उपासक पुष्पार्चन कर रहे हैं। मथुरा से प्राप्त

बोधिसत्व मूर्ति की चौकी पर चक्रस्तम्भ की पूजा दो भारतीय उपसक तथा बुद्ध मूर्ति की कई चौकियों पर कई विदेशी उपासक, उपासिकाएं पुष्पमाला चढ़ाने हेतु प्रस्तुत हैं। ऐसे ही एक दूसरे द श्य पर शक उपासक-उपासिकाएं माला लिए तथा बच्चे हाथ जोड़े चक्र-स्तम्भ की पूजा कर रहे दर्शाए गए हैं। मथुरा की एक खण्डित चौकी पर चक्रस्तम्भ पर चढ़ाने हेतु राजपुरूष वामनक के सिर पर रखी पुष्प-चंगेरी से भारी माला उठा रहा उत्कीर्ण है।

गंधार प्रदेश में रह रहे उपासकों द्वारा कुछ नये प्रतीक भी पूजा में सम्मिलित किये गये थे। तपस्यारत सिद्धार्थ की चौकी पर प्रज्ज्वलित दीपक के निकट उपासक खड़े दर्शाए गए हैं। करांची से प्राप्त बोधिसत्व मूर्ति की चौकी पर जलते धूपदान की उपासक हाथ जोड़कर पूजा कर रहे अंकित हैं। गंधार की कई बुद्ध एवं बोधिसत्व मूर्तियों की चौकी पर अग्निदान का अंकन है जिनके पार्श्व में उपासक करबद्ध खड़े प्रदर्शित हैं। एक पर दम्पत्ति झुक कर अग्निदान की पूजा कर रहे तथा दूसरे पर राजघराने की स्त्रियां एवं पुरूष हाथ जोड़े पूजा कर रहे अंकित हैं। एक अन्य अंकन पर स्तम्भाकार जलते अग्निदान की प्रदक्षिणा स्त्री-पुरूष हाथ जोड़ कर रहे रूपायित हैं।

अतः स्पष्ट है कि बौद्धों में भी प्रतीक एवं प्रतिमा पूजन दोनों ही प्रचलन में रहे थे। मूर्तियां इस तथ्य की पोषक हैं कि प्रतिमा के निर्माण से मूर्तिपूजा को पर्याप्त प्रचार मिला परन्तु प्रतीकों की अनदेखी न कर उन्हें भी आत्मसात करते हुए चरण-चौकियों पर प्रतिष्ठित किया गया था। प्रतिमा एवं प्रतिकों पर पुष्पार्चन, नमस्कार, प्रदक्षिणा, दंडवत करना आदि के विधान तो ब्राह्मण देवों की उपासना के प्रकार के ही अपनाए गए थे।

## (ग) जैन धर्म स्वरूप एवं उपासना पद्धति

बौद्धों की भांति श्रुति एवं स्म तियों को अस्वीकार करने के कारण जैन धर्म नास्तिकों का मत कहा गया है। इनके आचार्य जिन तथा अनुयाई जैन कहलाए। जैन धर्म में तीर्थकार ईश्वर के अवतार न होकर लोकोत्तर सामर्थ्य के पुरूष माने गए जो कठोर तप से इन्द्रिय निग्रह कर आत्म शुद्धि करते थे। इनका मूल तपस्या से कर्म का नाश तथा मोक्ष की प्राप्ति थी।

शुंग काल में ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान के कारण जैन भी बौद्धों की तरह प ष्ठभूमि में चला गया। कुषाणों के आगमन एवं राजनैमिक स्थिरता ने वणिकों को व्यापार की सुविधा दी और उनमें प्रचलित जैन धर्म का पुनरूतथान हुआ। कनिष्क के संवत $5^{1}$ से लेकर $95^{2}$ वर्ष की अभिलिखित प्रतिमाएं इस तथ्य की साक्षी हैं कि कुषाण काल जैन धर्मावलंबियों के लिये उतना ही स्वतन्त्र रहा जितने कि अन्य धर्मों के उपासकों के लिए था।

मूर्तियों पर उकेरे लेख समकालीन जैन संघ, उसकी शाखाओं आदि की प्रचुर जानकारी देते हैं। चरण-चौकियों पर उकेरे प्रतीक एवं उनकी अर्चना करते उपासक जैन समाज में प्रचलित पूजा विधान के साक्षी हैं। इन्हीं उपलब्ध संकेतों को जोड़कर जैन धर्म एवं उपासना पद्धति का निरूपण प्रस्तुत है।

### जैन संघ एवं गण

कंकाली टीले पर स्थित रहे वोदवा स्तूप के अवशेषों में मिली अभिलिखित एवं सादी मूर्तियों में कुषाणयुगीन जैन संघ एवं गणों के उल्लेख मिले हैं, जिनसे चार गण यथा- काट्टिय, वारण, उद्देशिक एवं वेशवाटिका का ज्ञान हुआ है। इनसे सम्बन्धित गच्छ, कुल एवं शाखाओं की जानकारी, जो साहित्यिक विवरणों में भी मिलती है। गणों के संगठन में 'गणिन', 'वाचक', 'शिष्य' एवं 'श्रमण' शब्द आये हैं। इनके साथ 'संभोगों' का भी उल्लेख है। गणों के प्रधान 'गणिक'

या 'व हत वाचक' एवं 'श्रमण' कहलाते थे। इनके चयन में जाति, गोत्र के स्थान पर धार्मिक प्रबुद्धता एवं ज्ञान का स्तर मूलाधार था। प्रत्येक सम्प्रदाय के उपासकों में भिक्षु-भिक्षुणी, ग हस्थ स्त्री एवं पुरूषों के सम्मिलित रूप को 'चुतुर्वाणि संघ' कहा गया। लेखों में आए 'व हद वाचक' एवं 'सदाचारी' शब्द समकालीन साहित्य में नहीं मिलते हैं। संभवतः ये कुषाण काल में जैन संघ में प्रचलन में रहे पर बाद में विलुप्त हो गए। संघ में स्त्रियों को प्रवेश कब मिला यह कहना कठिन होगा परन्तु 'शिक्षिणी', अंतवासिनी' एवं 'सदाचारी' जैसे मूर्ति लेखों में मिले शब्द इस युग में स्त्रियों के संघ में प्रवेश के पुष्ट प्रमाण हैं। संभव है बौद्धों के ही प्रकार जैनियों ने भी इन्हें अपने संघ में प्रवेश दिया गया हो। 'सदाचारी' को सामान्य स्त्री उपासिका माना गया है। साहित्य में इन्हें 'श्राविका' एवं 'श्रमण सविका' इंगित किया गया। इनकी अध्यक्षा 'आर्या' कही जाती थी। अभिलेख से पता चलता है कि दानकर्ता कुमार भट्ट की माता कुमार मित्रा 'आर्या' हो गई थी। प्रायः अधिक आयुवाली विधवा स्त्री 'आर्या' हो जाती थी। जैन धार्मिक गुरुओं में आर्यबल, दिन, आर्य देव, आर्य क्षेरक, महिल, नागदत्त के नाम आए हैं। गणों से सम्बन्धित ज्ञात विवरण इस प्रकार हैं -

### i. कोट्टिय गण

कोट्टिय गण की सर्वप्रथम चर्चा कनिष्क के संवत् पांच के लेख में है। इसके कुल थे 'ब्रह्मदासिक', 'थानीय', 'उचलिय', वछलिय', 'प्रवचट्टक' एवं 'सनातनिक'। कंकाली से प्राप्त वर्धमान मूर्ति के लेख में 'कोट्टीय गण' 'स्थानीयशाखा' एवं 'श्रीकीय सम्भोग' का उल्लेख है। यहीं से प्राप्त भिक्षु कन्ह के पट्ट एवं वर्धमान महावीर की चौकी पर उत्कीर्ण लेख से इस गण के 'थानीय कुल' तथा 'वैरशाखा' का ज्ञान होता है। मथुरा से प्राप्त सम्भवनाथ की मूर्ति पर 'कोट्टीयगण' के ब्रहमदासिक कुल' का वर्णन है। पहले तीनों की शाखाओं का भी विवरण ज्ञात है यथा- 'उचेनागरी', 'आर्यवेरी' या 'बैरी' एवं 'मझमा' आदि। इन शाखाओं के प्रधान आर्य पुशिल (वर्ष 13 में), व हतवाचक जयमित्र (वर्ष 20 में), आर्य-माधहस्ति (वर्ष 52-54) एवं आर्य खरन्न (वर्ष 60) थे। इनसे संबंधित संभोग यथा- 'श्रीग्रह', 'श्रीक्रय', 'सिरिक' आदि भी ज्ञात हैं। मथुरा की एक जिन प्रतिमा पर लेख में 'कोट्टीयगण' के 'प्रम्यंक कुल' तथा 'मझमा शाखा' का उल्लेख है। कंकाली से प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति पर 'वत्सली कुल' का उल्लेख है। यही के वोदवा स्तूप से प्राप्त अरहत 'नन्द्याव त' की चौकी पर आर्य व दहस्ति को 'कोट्टिय गण' में 'बैर शाखा' का वक्ता कहा गया है। कंकाली से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति की चौकी पर भी इस गण की 'वैर शाखा' तथा 'श्री ग ह संभोग' का उल्लेख है।

### ii. चारण-वारण गण

इनका उल्लेख कंकाली के स्तूप से प्राप्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमा तथा बैठी जिन मूर्ति पर आया है। इनका प्रारम्भिक उल्लेख वर्ष 29 के लेख में हुआ तथा आर्यदत्त को इसके 'गणिन' में बतलाया गया है। वर्ष 50 और 70 में दीनार इसके आचार्य थे। 'वारण गण' की नींव श्रीगुप्त, जो हरित गोत्र के थे, द्वारा डाली गई थी। इनके आर्यहट्टिकीय, कनिजशिक, पेट्टिकामिक, पुष्यमित्रीय एवं आर्यचेट्य कुल बतलाये गए हैं। शाखाओं में 'शभकशीय', 'वज्रनगरी', 'हरित-मालागी' एवं 'गन्धी' तथा 'संभोगों' में 'आर्यशारिक' एवं 'श्रीग ह' ज्ञात हैं।

### iii. आर्य श्रौदेहकीय गण

कंकाली से प्राप्त जिन मूर्ति की चौकी पर 'आर्यउद्देहिकीय गण' , 'नागभतिकीय-कुल' एवं 'आर्यधोस्तशाखा' का वर्णन हैं। इनका प्रारम्भिक उल्लेख वर्ष सात के लेख में है। 'बुद्ध श्री' एवं देवदत्त आदि इसके आचार्य थे। आचार्य रोहन ने इसकी स्थापना की थी। इसकी चार शाखाएं तथा छह कुल थे। लेखों में नागभूत एवं परिधासिक कुलों तथा पेटिपुत्रिका एवं आर्यगोप

शाखाओं की चर्चा है। वासुदेव के समय में स्थापित जैन मूर्ति पर इसका उल्लेख है।

### iv. वेशवदीय गण

इसके स्पष्ट एवं स्वन्त्र उल्लेख नहीं हैं परन्तु शाखाओं एवं कुलों के विवरण से इस गण की प्रतिष्ठा समझी जा सकती है। इसकी चार शाखाओं में केवल 'आर्य-घोषित शाखा' तथा कुलों में 'मेट्टकीय' कुल का आज हमें ज्ञान है।

### उपास्य देव समह

जैनियों में ग हस्थ कठोर तप एवं साधना के स्थान पर अन्य धर्मावलंबियों की तरह तीर्थकरों एवं अन्य देवों तथा देवियों की पूजा करते थे। कुछ प्रमुख देव निम्नवत थे-

### तीर्थकर

सर्वाधिक महत्त्व ग हस्थों एवं भिक्षुओं द्वारा जिनों की उपासना को दिया गया था। इनमें शांतिनाथ, संभवनाथ, ऋषभनाथ एवं मुनि सुव त या नन्द्यावर्त के अतिरिक्त सर्पफणें की संख्या के आधार पर पार्श्व एवं सुपार्श्व तथा क ष्ण बलराम के साथ उकेरे होने के कारण नेमिनाथ की पूजा की पुष्टि लेखों एवं मूर्तियों से हुई है। सर्वाधिक 11 मूर्तियां महावीर, तीन ऋषभनाथ, एक-एक पार्श्व, अरिष्टनेमि एवं शांतिनाथ के आधार पर जैनियों में इनकी आस्था की पैठ को समझा जा सकता है।

तीर्थकारों के दो रूप यथा कैवल्य प्राप्ति के लिए दंडवत कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े या पद्मासन में बैठे ही इस युग में प्रचलन में रहे। ये पूर्णतः नग्न होते थे तथा ज्ञानप्राप्ति के प्रतीक स्वरूप श्रीवत्स चिन्ह धारण किये उकेरे जाते थे। इन्हें पूजा हेतु स्तूप, प्रासाद, आयतन, देवकुल, माण्डविका एवं आयाग सभा में स्थापित किया जाता था। इनकी अर्चना स्वतन्त्र रूप में या संयुक्त रूप में होती थी। संयुक्त रूप में एक ही तीर्थकार या चार में प्रत्येक दिशा में एक उकेर सर्वतो भद्ररूप में इन्हें पूजा जाता था। इनकी पूजा चवरी डुलाकर, पुष्पार्चन कर, परिक्रमा कर, हाथ जोड़कर उपासक करते थे। उपासकों में भिक्षु, भिक्षुणी, राजपुरूष, गन्धर्व एवं यक्ष, स्त्रियाँ और बच्चे सभी मूर्तियों के पार्श्वों या चरण-चौकियों पर दिखलाई देते हैं। कंकाली के मेहरावी तोरण के मध्यपट्ट पर तीर्थकर पूजा अंकन है।

### नैगमेश

बकरे के मुख वाला यह देव जैनों में इन्द्र के पैदल सेना का प्रमुख बतलाया गया है। इन्होंने ब्राह्मणी देव नंदा के गर्भ से महावीर वर्धमान को क्षत्राणी त्रिशाला के गर्भ में संक्रमित किया था। ये बच्चों के देवता थे। इनकी मूर्तियों में बच्चे इनके साथ दिखलाए गए हैं। ये अजमुखी थे। कंकाली से प्राप्त फलक पर नेगमेश के सामने भोग सामग्री रखी उकेरी गई है। एक स्त्री चंवर पकड़े, दूसरी हाथ जोड़े तथा बच्चा खड़ा उकेरा है।

### रेवती

मथुरा से कुछ ऐसी देवी की मूर्तियां मिली हैं जिनका मुख बकरे का है तथा गोद में स्थित छोटे शिशु को रेवती माना गया है। ये नैगमेश की शक्ति के रूप में पूजित हुई है।

### सरस्वती

कंकाली टीले से प्राप्त बैठी स्त्री प्रतिमा जिसके हाथ में पुस्तक है को नर्तकों की आराध्य देवी के रूप में जैनियों में अर्चा हुई। लेख के अनुसार यह मूर्ति लोहिककारक गोव ने स्थापित कराई थी। जयमंगला टीका में सरस्वती मंदिर में गीत-न त्य आदि समाजों की चर्चा से

नर्तकों में पूजित रही होने की सरस्वती की संभावना बलवती होती है। कंकाली के एक शिलापट्ट पर देवी आर्यावती की पूजा स्त्रियाँ छत्र लगाकर, चंवरी डुलाकर तथा नमस्कार करके कर रही हैं। कंकाली के एक मेहरावी तोरण की तीसरी पट्टी पर मध्य में कोई अज्ञात जैन देवी इन्द्र तथा नैगमेश सहित पूजित अंकित है।

इन देवताओं के अतिरिक्त धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता को देखते हुए जैनियों ने अन्य धर्मो के देवताओं को अपने सम्प्रदाय में गौड़ रूप दिया था। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं।

### संकर्षण एवं वासुदेव

नेमिनाथ के साथ वैष्णवों के संकर्षण एवं बलराम को गौण स्थान दिया गया। बलराम के सिर के ऊपर नाग फण तथा हाथ में मदिरा की चषक है। वहीं वासुदेव चतुर्भुजी हैं।

### नाग

नाग उपासकों पर अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए तीर्थकर मस्तकों पर फणाटोप एवं कंकाली से प्राप्त शिलापट्ट पर भिक्षु कन्ह तथा तीर्थकर के समक्ष सात फणों वाला नाग देवता हाथ जोड़े उकेरा गया है।

### यक्ष

जैनियों ने यक्षों को भी अपने में आत्मसात किया था। कुछ अंकनों यक्षों के सिर धर्मचक्र टिका तथा अन्य में 'जिन' के समक्ष थैली लिए यक्ष वन्दना करते उकेर कर श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई।

### प्रतीक पूजन

मूर्तियों के साथ ही जैनियों में प्रतीक भी अर्चा के उपादान थे। चिह्नों में आयागपट्ट चैत्य, चैत्यव क्ष एवं चैत्य-स्तम्भ प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त मूर्तियों की चरण-चौकियों पर चक्र एवं चक्र-स्तम्भ की पूजा भी प्रदर्शित है।

### आयागपट्ट

आकार में आयागपट्ट 'औपपातिक सूत्र' के अनुसार अठपहलू होते थे। अंकनों में ये वर्गाकार है। इन पर उकेरे विशिष्ट चिन्ह विशिष्ट अवसरों पर इनके प्रयोग के द्योतक लगते हैं। आयागपट्ट चैत्य उद्यान में अशोक व क्ष के नीचे स्थापित किये जाते थे। एक अभिलिखित कंकाली टीले से प्राप्त आयागपट्ट को आयागसभा में स्थापित किए जाने का उल्लेख है। आयाग सभा कौन सा भवन रहा होगा कहना कठिन है, पर लगता यह है कि जैनों में ज्ञात पोषधशाला ही आयाग सभा थी जहां उपासक कई-कई दिनों का व्रत रखकर साधना करते थे।

इन शिलापट्टों की पूजा उपासक माला एवं पुष्प अर्पित कर करते थे। कंकाली से मिले तोरण-खण्ड पर उकेरे आयागपट्ट पर उपासक माला चढ़ाते प्रदर्शित हैं। साधारण जनों के साथ ही भिक्षु भी इनकी पूजा करते थे जैसा कि कन्ह श्रवण के पट्ट एवं मांगलिक चिन्हों युक्त पट्ट से पुष्ट होगा। शिलापट्टों को निर्माण कराकर दान करना भी श्रद्धा प्रदर्शन का एक प्रयोग था।

### चैत्य पूजा

चैत्य पूजा महोत्सव को 'महामहिक' कहा जाता था। इसमें उपासक पुष्प-माला, पुष्प स्रज, भारी माल्य चंगेरी, दुग्धपात्र से दूध अर्पण कर चैत्य की पूजा करते थे। एक अंकन में लोग जुलूस बनाकर पैदल एवं बैलगाड़ी पर सवार होकर जाते दिखते हैं। कंकाली से प्राप्त एक

धरन पर किन्नर पुरूष चैत्य पर माल्यार्पण करते तथा अन्य पीछे दुग्धपात्र लिये अपनी बारी की प्रतीक्षा में हैं। एक-दूसरे अंकन में गन्धर्व चैत्य छत्र पर माल्यार्पण कर रहे हैं। एक मेहरावी तोरण पर भिक्षु स्तूप का स्पर्श करते तथा उपासक माला उकेरे गये हैं। जैन साहित्य के अनुसार चैत्र मास की चौदस की रात्रि में स्तूप की पूजा करने अप्सरा, गन्धर्व, सुपर्ण एवं देवगण आते थे।

**चैत्यव क्ष पूजा**

चैत्य उद्यान में वेदिका से घिरे व क्षों की पूजा की परम्परा थी। इन पर पुष्प माला चढ़ाकर परिक्रमा का विधान था। एकाधिक आयागपट्टों पर भी चैत्य व क्ष के पूजन का अंकन है जिसमें उपासक पुष्पार्चन कर परिक्रमा करते उकेरे गये हैं।

**चैत्य-स्तम्भ की पूजा**

इनका निर्माण चैत्य पार्श्वों में किया जाता था। कुछ आयागपट्टों पर पूर्णकुंभ से निकलते चैत्य-स्तम्भ के अंकन हैं जिनके सिरे पर चक्र, सिंह या गज ध्वज को उकेरा गया है। कंकाली के एक कोण-स्तम्भ के प्रथम पट्ट पर दम्पत्ति सिंह-स्तम्भ की पूजा कर रहे प्रदर्शित हैं। ऐसे ही तीर्थकरम मूर्तियों की चरण-चौकियों में एक पर चक्र-स्तम्भ के दर्शनार्थ खड़े स्त्री, पुरूष एवं हाथ जोड़े बच्चों को उकेरा गया है। कंकाली से प्राप्त अरहत नन्द्यावर्त की चरण-चौकी पर दो शंखों पर अवेष्ठित त्रिरत्न के एक ओर अर्ध-फालक दूसरी ओर उपासिकाएं पूजा हेतु फूल माला के साथ खड़ी हैं। चक्र स्तम्भ की पूजा करते भिक्षु, साधारण नागरिक एवं विदेशी उपासक एक दूसरी चरण-चौकी पर दिखलाई देते हैं।

उपर्युक्त उल्लेख यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं कि जैन धर्मावलम्बी कुषाण काल में जिन की अर्चा के साथ ही प्रतीकों की उपासना में विश्वास करते थे। मूर्तियों को तैयार कराकर दान करना, शिलापट्ट स्थापित कराना, संघ को दान करना उनकी श्रद्धा निरूपण का अपना प्रयोग था। ये सब वे अपने लिए न कर सम्पूर्ण परिवार की सुख-सम द्धि के लिए करते थे।

**लोक धर्म**

इन मुख्य तीन धर्मो के अतिरिक्त इस काल में लोक देवता विभिन्न धर्मो में भी मान्य हो गए। सभी धर्मो के पूजा स्थलों में इन लोक देवताओं की मूर्तियां निर्मित कराई गई। कुषाण मूर्तियों पर अनके अंकन शुभ अशुभ मानकर किए गए। लोक देवों में नाग तथा यक्ष अधिक मान्य थे। इनके अतिरिक्त व क्ष पूजा एवम् स्थानीय लोकदेवों की पूजा के अतिरिक्त विदेशी देव समूह जैसे तक्षशिला से प्राप्त नदी एवं समुन्द्र देवता की मूर्तियां एवम् विदशी देवियों जैसे ननैया, ऐथेना या रोमा देवी की मूर्तियों की पूजा भी की जाती थी इस प्रकार स्थानीय धर्मो को अपनाने के साथ-साथ भारत में आकर बसे शक, यूनानी, ईरानी लोग अपने-अपने क्षेत्र के देवी-देवताओं की अर्चना पूजा भी करते थे।

**कला**

आर्थिक और कलात्मक उपलब्धियां के आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास में कुषाणों के काल को वी. एन. मुखर्जी, आर. शर्मा, रोमिला थापर आदि विद्वानों ने स्वर्ण युग माना है गुप्तकाल को नहीं।

अनेक नगरों का निर्माण कर कुषाण शासकों ने वास्तुकला को विकसित किया। कनिष्क ने कश्मीर में कनिष्कपुर, हुविष्क ने कश्मीर में हुविष्कपुर (आधुनिक हुस्कुपूर) बसाया। कुषाण कालीन स्तूप, बौद्ध विहार और राजप्रासाद के पुरातात्विक अवशेष तक्षशिला के निकट उपलब्ध हैं।

अफगानिस्तान, अमरावती से कुषाण कालीन स्तूप प्राप्त हुए हैं जो अपनी कलात्मक विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं। अमरावती से संगमरमर के स्तमप मिले हैं। इस स्तूप की परीधि 162 फुट है। कनिष्क ने बुद्ध के relics तथा बौद्ध धर्म की पुस्तकों एवम् टीकाओं को सुरक्षित रखने के लिए उसने अपनी राजधानी पुरूषपुर में एक 600 फुट ऊँचा कई मंजिला टावर बनाया। इन सब कार्यों के लिए उसने एक ग्रीक इंजिनियर अजसीलयस (Agesilaus) को सेवा में नियुक्त किया। इनके अतिरिक्त कुषाण काल से अनेकों मूर्तियां प्राप्त हुई जिनको कलात्मक द ष्टि दो वर्गों में बांटते हैं

(i) गांधार कला (ii) मथुरा कला

**गान्धार कला**

महायान के नये धार्मिक आन्दोलन ने कला में एक नई धारा बहा दी तथा नये युग को जन्म दिया। प्राचीन बौद्ध-कला में बुद्ध की जातक कथाओं का प्रदर्शन होता था, परन्तु स्वयं बुद्ध की प्रतिमा का उसमें अभाव था। बुद्ध की उपस्थिति कला में केवल लक्षणों और संकेतों से ही दर्शायी जाती थी। उष्णीष, चरणांक, बोधिव क्ष, रिक्तासन, छत्र, कमण्डलु, भिक्षापात्र, धर्मचक्र आदि बुद्ध के प्रतीक माने जाते थे, परन्तु अब स्वयं बुद्ध की प्रतिमा श्रद्धालुओं की पूजा और तक्षकों के कलात्मक प्रयास का केन्द्र बनी। चूंकि इनका निर्माण एक विशिष्ट शैली में हुआ और अधिकतर ये गान्धार प्रान्त में, जिसका केन्द्र पेशावर था, मिली हैं ये गान्धार शैली की कहलाती हैं। प्राचीन भारतीय बुद्ध की प्रतिमाएं गान्धार कला के नमूने हैं।

गान्धार कला से अभिप्राय ईसा की प्रथम शताब्दी की उस तक्षण कला से है जिसके विकास के प्रमुख केन्द्र जलालाबाद, हद और बया स्वातघाटी तथा पेशावर जिला थे। इस गान्धार कला को 'इण्डो-ग्रीक-कला' भी कहा जाता है, क्योंकि इसका विषय भारतीय होते हुए भी इसकी शैली पूर्णतया यूनानी थी। इन मूर्तियों का वस्त्र-विन्यास तथा बनावट यूनानी देवता अपोलो से पर्याप्त साम्य रखती हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि इन मूर्तियों में गौतम बुद्ध का केशविन्यास दिखाया गया है। यदि इस कला पर नानी प्रभाव न होता तो निश्चय ही बुद्ध को मुण्डित केश दिखलाया गया होता, उन्होंने सन्यास ग्रहण करते समय अपने केश मुंडवा दिये थे। इसी प्रकार बोधिसत्वों की प्रतिमाएं भी वस्त्राभरणों से अलंक त, यूनानी राजाओं जैसी लगती है। उनकी प्रतिमाओं में वीतरागता जैसी कोई बात द ष्टिगोचर नहीं होती। यह यूनानी प्रभाव के कारण ही है। गौतम को अनेक स्थान पर यूरोपीय वेशभूषा से अलंक त दिखाया गया है। अतः सिद्ध है कि इन प्रतिभाओं पर यूनानी प्रभाव है, क्योंकि इनकी मुद्राएं भारतीय होती हुई अधिकांश में यूनानी अथवा रोमन शैली की थी। इन प्रतिमाओं का निर्माण अभय मुद्रा, बरद मुद्रा, धर्मचक्र आदि विभिन्न रूपों में हुआ। पाश्चात्य कला समीक्षकों की चिरकाल तक यह धारणा बनी रही कि भारतीय कला का निर्देशन गान्धार कला के द्वारा हुआ। यह धारण गलत है क्योंकि भारतीय तथा यूरोपीय कला में इतना मौलिक अन्तर है कि वे एक हो ही नहीं सकती। भौतिकवादी द ष्टिकोण युक्त पाश्चात्य कला भारत की आध्यात्मिक भावना को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ ही रही। साथ ही, पाश्चात्य कलाकार से शिक्षित भारतीय कलाकार ने उसी समय मथुरा शैली में कला के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति प्रदान की, जबकि गान्धार कला प्रायः सभी स्थानों पर गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं को आध्यात्मिक तेजीदीप्त दिखाने की अपेक्षा स्वर्ण मुद्राओं में अधिक दिखा सकी। इससे स्पष्ट है कि भारतीय कला ने गम्भीर रूप से प्रभावित नहीं किया। इसका मुख्य कारण यह भी है कि जीवन की तरह कला के क्षेत्र में विदेशी प्रभावों को अनुकूल सांचे में ढाल कर उसे पचा लेने तथा आत्मसात् कर लेने की अद्भूत

क्षमता भारतीय जीवन में थी।

गान्धार कला की प्रतिमाओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों द्वारा बनाई गई हों।

कुषाण युग में गान्धार के अतिरिक्त और भी कलाकेन्द्र थे जहां पर कला की काफी उन्नति हो रही थी। ये कलाकेन्द्र सारनाथ, अमरावती और मथुरा में थे। इनमें से प्रत्येक की एक अलग शैली थी, एक दूसरे से अप्रभावित। सारनाथ और मथुरा से प्राप्त मूर्तियों की निर्माण-कला में कुछ समानता अवश्य पाई जाती है। अमरावती से प्राप्त पाषाणवेष्टनियों पर उत्कीर्ण चित्रों की अद्वितीय कारीगरी शिल्प का विलक्षण नमूना प्रस्तुत करती हैं। गान्धार और मथुरा कुषाण युग की कलात्मक प्रगति के केन्द्र थे।

**मथुरा कला**

इस समय बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण का केन्द्र मथुरा था। मथुरा कला पर गान्धार कला का प्रभाव एक विवादास्पद विषय है। कुछ यूरोपीय विद्वानों के विचार से मथुरा कला न केवल गान्धार कला से प्रभावित है, अपितु इसकी उत्पत्ति की मूल प्रेरक ही गान्धार कला है। किन्तु रालिन्सन इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि ''ठीक उसी समय देश में विशुद्ध स्वदेशी कला का विकास ''भरहुत'' और ''सांची'' में हुआ, जो भीटा, मथुरा तथा बेसनगर आदि केन्द्रों में प्रचलित था। पहले हिन्दू देवी-देवताओं तथा बुद्ध प्रतिमाओं के निर्माण का अविष्कार विदेशी प्रभावों के कारण हुआ किन्तु विद्वानों के मतानुसार बाद में निश्चय ही इसे मथुरा के देशी कलाकारों ने खोजा न कि गान्धार के कलाकारों ने।''

डा० निहार रंजन रे मथुरा की अतीव प्राचीन मूर्तियों को जो द्वितीय शताब्दी ई० पू० मध्य की हैं, भरहुत की कला से सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना है क उनके लिए गान्धार कला की बुद्ध प्रतिमाएं अनजान न थीं। कुछ के नमूने तथा अलंकरण शैली में गान्धार शैली की सहायता ली गई थी, किन्तु मथुरा की कला व अनुकरण की यह प्रव ति दूसरी शताब्दी ई० पू० से द ष्टिगोचर नहीं होती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा की कला को स्वदेशी मानते हैं, विदेशी नहीं।

डा० फोगेल का भी यही कथन है। वे मथुरा की कला में भाव कल्पना तथा अलंकार शैली को पूर्णतया भारतीय मानते हैं, किन्तु साथ ही वे गान्धार शैली का कुछ प्रभाव भी स्वीकार करते हैं। उनके विचार में मथुरा की कला में जहां एक और मथुरा और सांची कला का प्रभाव है, वहां दूसरी और गान्धार कला का भी कुछ प्रभाव है। फोगेल का मत ठीक प्रतीत होता हैं क्योंकि मथुरा कला की उत्पत्ति तथा विकास स्वदेशी स्रोतों सक ही हुआ, बाद में इस पर गान्धार कला का भी कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। मथुरा की सभी कलाक तियों में सीकार के लाल पत्थर का प्रयोग होने से वे सरलतापूर्वक पहचानी जा सकती हैं। ईसा सन् की प्रथम शताब्दी तक मथुरा की कला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। बाद में यहां की बनी मूर्तियाँ मध्य एशिया, तक्षशिला, श्रावस्ती तथा सारनाथ भेजी जाने लगी थीं। गान्धार तथा मथुरा की कला में बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया गया। कुषाण काललन मथुरा की कला बनावट की द ष्टि से भरे शरीर तथा विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनमें मस्तक को भूर्ध्य युक्त नहीं दिखाया गया। मथुरा की कला में गान्धार कला की तरह मूंछ नहीं हैं। बालों तथा मूंछ रहत मूर्तियों का निर्माण विशुद्ध रूप से भारतीय है। इस प्रकार गान्धार तथा मथुरा की बुद्ध तथा बोधिसत्वों की प्रतिमाएं एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न हैं। मथुरा की कुषाण कालीन प्रतिमाओं के दायें कन्धे पर वस्त्र नहीं होता। दायां हाथ प्रायः अभयु मुद्रा में दिखाया जाता रहा है।

गान्धार कला में बुद्ध को प्रायः पद्मासन में बैठा दिखाया गया है जबकि मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पाया जाता है। खड़ी मूर्तियों के पांचों के नीचे सिंह की आक ति पाई जाती है। तेजस्विता दोनों कलाओं में प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। यदि हम दोनों की कलाक तियों को थोड़ी सूक्ष्मता से देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों की उत्पत्ति तथा विकास अलग-अलग तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। मथुरा की शैली स्वदेशी थी, इसलिए गुप्त युग में ही अपनायी गयी तथा विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दी गई। प्रोफैसर आनन्द कुमार-स्वामी के अनुसार गुप्तयुग की मूर्ति कला का मूल स्रोत मथुरा की तक्षण कला ही है।

मथुरा की कला के साथ भरहुत तथा सांची की कला का निकट सम्पर्क है। रालिन्सन के मतानुसार, ''मथुरा कला का उदय ही भरहुत तथा सांची की कला से हुआ, फिर भी मथुरा कला में अपनी पूर्ववर्तिनी (भरहुत तथा सांची की) कलाओं में प्राप्त सूक्ष्म सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मकता का अभाव है।''

भरहुत तथा सांची की कलाक तियों में व क्ष-लतादि के मध्य स्थित या खड़ी हुई नारी के उन्नत उरोजों तथा विकसित नितम्बों को देखकर प्राक तिक उर्वरता की अनुभूति होती है। साथ ही, यह भी ज्ञात होता है कि उनके रचियता कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक द ष्टिकोण न था, अपितु प्रक ति तथा मानव के प्रति उसका अनुराग द ढ़ था। इतना होन पर उसमें इन्द्रियाशक्ति का अभाव मात्र भी नहीं है। उनकी ध्वनिपूरक अभिव्यक्ति शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक है, जो दर्शकों को इहलौकिक जीवन के चित्रण द्वारा पारलौकिक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति कराते हैं। परन्तु मथुरा की कला इस क्षेत्र में पीछे है। इसमें अन्तः तथा स्वतः प्रेरणा के अभाव के साथ क त्रिमता की अनुभूति होती है। मथुरा की यक्षिणी प्रतिमाएं मानव इन्द्रियों को अवश्य आन्दोलित करती हैं, पर ह्रदय पर उनका प्रभाव कम ही होता है। मथुरा की कला में अध्यात्म पक्ष की अपेक्षा इन्द्रिय परायणता तथा कामुकता अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कलाक तियों के निर्माताओं का उद्देश्य भी यही था। यदि ये यक्षिणीं प्रतिमाएं प्रथम शती के बाद की मानी जाएं तो इन पर गान्धार कला का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि गान्धार कला मानवाक ति को यथावत् चित्रित करने की परम्परा थी। यदि यह बात न मानी जाए तो भी इतना तो निश्चित है कि इस कला में कुछ दोष थे जिनका परिमार्जन गुप्त युग के कलाकारों ने किया।

## साहित्य

बौद्ध धर्म के साथ-साथ कनिष्क ने अपने दरबार में विद्वानों तथा दार्शनिकों को भी संरक्षण प्रदान किया। उसका दरबार ही ऐसा प्रथम भारतीय इतिहास का दरबार था जिसमें विभिन्न विषयों के विद्वान एकत्रित होते थे। यदि यह कहा जाए कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार के लिए कनिष्क एवम् वासुदेव के दरबार आदर्श (role model) दरबार रहे हैं तो अतिश्योक्ति न होगी। कुषाण काल में संस्क त में बहुत सी पुस्तकों की रचना की गई इन पुस्तकों की भाषा भले ही संस्क त थी परन्तु विषयवस्तु बौद्ध धर्म की रहा। इस काल में पालि के स्थान पर संस्क त को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया। इस काल का सबसे प्रसिद्ध विद्वान अश्वघोष था इसने बुद्धचरित, सौदरानन्द नामक महाकाव्यों की रचना की जिसमें बुद्ध एवम् उसके सौतले भाई नन्द की जीवनीयां हैं। उसके अनुसार सौदरानन्द लिखने के पीछे अपने ध्येय का वर्णन करते हुए लिखा है 'This ornate poem was a little honey mixed with the bitter medicine to make it platable for those whom he wanted to win over to the faith of Tathagata.' इसके अतिरिक्त उसने 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक नौ एक्ट नाटक लिखा।

कुछ लोग 'वज्रसूची' नामक नाटक, जिसमें जाति व्यवस्था की निंदा का है का लेखक भी अश्वघोष को ही मानते हैं। नागार्जुन इस युग का अन्य महान दार्शनिक विद्वान था। इसने दो प्राचीन ग्रंथों- मध्यम कारिका और मुस्ललेखा की रचना की। नागार्जुन ब्राह्मण ग्रंथों में पारंगत था उसने महायान धर्म की व्याख्या की।

वसुमित्र भी इस काल का महान दार्शनिक था उसने महाविभाशा शास्त्र की रचना की।

चरक संहिता के रचयिता चरक तो कनिष्क का राजवैद्य ही था। वैद्य सुश्रुत ने भी ऐसा माना जाता है, कि कुषाण शासन के अन्तिम चरण तक अपनी संहिता की रचना पूर्ण कर ली थी। इस काल की जो अन्य रचनाएं मानी जाती हैं वह है महावस्तु, ललित विस्तार, दिव्यवदान, सदारामपुन्डरिका तथा मिलिन्दपन्हों।

इनके अतिरिक्त अशोक के बाद कुषाण शासक कनिष्क ने काश्मीर के श्रीनगर में बुद्ध धर्म की कौन्सिल बुलाई जिसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने तथा उपाध्यक्षत अश्वघोष ने की।

अतः स्पष्ट है कि कुषाण शासकों ने भारतीय संस्क ति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और गुप्तों के वैभव पूर्ण शासन के लिए उपयुक्त जमीन तैयार कर दी।

# अध्याय - 20

# सातवाहन कालीन समाज एवं संस्कृति

# (Satvahnas)

सातवाहन राज्य का केन्द्र बिन्दु महाराष्ट्र में प्रतिष्ठान नामक स्थान रहा है इस राज्य को आध्रसातवाहन राज्य भी कहा जाता है। जिससे लगता है कि इनका उद्‌गम आध्रंप्रदेश में हुआ और वहां से गोदावरी नदी में साथ साथ पश्चिम की ओर बढ़े और मोर्यो के पतन का लाभ उठाते हुए स्वय को शक्तिशाली बना लिया। सातवाहन कालीन समाज एवम् सस्कृति की जानकारी के स्त्रोत का विशेष रूप से अभाव है। साहित्यक स्त्रोंतों की भाँति पुरातात्विक स्त्रोत जैसे अभिलेख, स्मारक एवम् सिक्के आदि भी इतने कम और बिखरे हुए है कि उनसे इस काल के जन जीवन के विभिन्न पक्षों के इतिहास का पुनर्निमार्ण असभवं सा कार्य हो जाता है। अतः मूर्त स्त्रोंतों से प्राप्त थोड़ी बहुत जानकारी तथा अमुर्त स्त्रोंतों अर्थात समकालीन अन्य वंशों जिनके ये सम्पर्क में आए जैसे दक्कन के शक यवन पल्लव वंशों उनके मिस्त्र एवम् रोम के साथ व्यपार आदि की साहयता से सातवाहनों में सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

दक्कन के इस काल का इतिहास उनके अर्योकरण का इतिहास है। इनके जीवन के प्रत्येक पक्ष पर चाहे उनका सामाजिक आर्थिक एवम् प्रशासानिक जीवन हो या फिर उनका धर्म, दर्शन, कला एवम् साहित्य हो, आर्यो की छाप स्पष्ट झलकती है। वैदिक ऋषियों, मौर्य अधिकारीयों और बौद्ध मिश्नरियों सभी ने अपने उपदेशों एवम् आचरण से इस परिवर्तन प्रक्रिया को ओर तेज किया और दक्कन में आर्य सस्थांओं की जड़ें जमाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस क्षेत्र में आर्य संस्कृति के प्रसार में सातवाहनों ने तो अग्रनीय भूमिका निभाई और अर्थशास्त्रों तथा स्म तियों विशेषकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनु के धर्मशास्त्र का पूर्ण अनुशीलन किया गया। नासिक के गुफालेख न० *2* में गौतमीपुत्र के बारे में कहा गया है कि उसने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति के लिए देश और काल को सुविभक्त कर लिया था और वह पौर-जनों के सुख-दुख का समान भागी था।

यह विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित 'राजा को चाहिए कि वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) जो परस्पर आश्रित है समान भाव से सेवन कर और प्रजा के सुख में राजा का सुख है और प्रजा के हित में राजा का हित है।' के सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी के पूर्ण रूप से अनुशीलन को इंगित करता है।

लगभग सभी सातवाहन शासकों ने अपनी प्रजा की सुख-सम द्धि में काफी रूचि ली। शातकर्णी द्वितीय ने अनेक यज्ञ किए एवं ब्राह्मणों को काफी धन-संपति दान में दी थी। नहपान के दामाद उषयदात ने भी ब्राह्मणों और श्रमणों को समान रूप से दान दिया और अपनी प्रजा के सुख के लिए घाटों, विश्राम ग हों और सार्वजनिक कक्षों का प्रबन्ध किया। गौतमी पुत्र अपनी प्रजा के

सुख-दुख में समान रूप से भागी बना। उसने धर्मोचित्त कर लगाए और ब्राह्मणों और अवरों के कुटुम्बों का विवर्चन किया था। उसने और उसके परिवार वालों ने बौद्ध भिक्षुओं के आराम का भी प्रबन्ध किया।

## जातिय व्यवस्था

**समाज :-** सातवाहन काल में अथवा उससे भी पहले से दकन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चार वर्णों में समाज के विभाजन की व्यवस्था से परिचित था। पुरोहितवर्ग ब्राह्मण कहलाता था, क्षत्रिय योद्धा थे, वैश्य कृषि और व्यापार के कामों में लगे थे और शूद्र इन वर्णों की सेवा करने वाले घरेलू नौकरों का काम करते थे। आर्य धर्म का पालन करने वाला प्रत्येक परिवार इन चारों में से किसी न किसी वर्ण का होता था। आर्यों के इस दायरे से परे स्थानिय कबीले थे जिनका रहन-सहन और विचारधारा इनसे भिन्न थी। ज्यादातर लोग अपने व्यवसाय से ही जाने जाते थे। खेतिहर को हलिक, व्यापारी को 'सेठी', दवाओं का काम करने वाले को 'गधिक', बढ़ई को 'बधकी', बुकर को 'कोलिक', तेली को 'तिलपिसक', लुहार को 'कमर' कहा जाता था। बौद्धों के आगमन और शक-पहलवों के हमलों ने समाज की जड़ हिला दी थी। आम जनता ने जिसमें पुरूष और स्त्री, कृषक ग हस्थ शामिल थे और शकों, यवनों और पहलवों ने भी, जो दक्कन में काफी पहले से आ गए थे, बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों को दान दिए। दक्कन और उत्तर-पश्चिम भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में इन विदेशी भी जातियों के लोग बसे हुए थे। कुछ यवनों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, शकों में कुछ बौद्ध हो गए थे और कुछ ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बन गए थे। इन्होंने अपने लेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग किया और अपने-अपने कुलों के भारतीय नाम भी रखे। जैसे नहपान की बेटी का नाम दक्षमित्रा था और उसके दामद का नाम उषभदात (ऋषभदत्त) था। उषभदात्त ने बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान दिए थे। इसी प्रकार यवनों ने भी बौद्ध भिक्षुओं को दान दिए थे। इससे यही जाहिर होता है कि ये विदेशी धीरे-धीरे अपने नए वतन के धर्मों और रीति-रिवाजों को अपना रहे थे और इस प्रकार वे यहाँ की जनता में घुल-मिल रहे थे ऐसा लगता था कि इन विदेशियों और स्थानीय द्विज वर्णो में अक्सर विवाहादि भी होते थे। महत्व की बात यह है कि गौतमीपुत्र ने इस प्रकार की 'वर्णसंकरता को रोकने की कोशिश की थी।' किंतु वर्ण-धर्म का उतनी कड़ाई से पालन नहीं होता था क्योंकि अनेक ब्राह्मण कुलों ने राजपद धारण किया। स्वंय सातवाहन भी पहले पुरोहित ही थे, तथापि उन्होने दक्कन के क्षत्रियों पर आधिपत्य किया। क्षत्रिय भी अक्सर वैश्य धर्म का अवंलबन कर व्यापार करने लगे थे।

### संयुक्त परिवार प्रथाः-

इस काल में संयुक्त परिवार की व्यवस्था एक आम बात थी। अमरावती में ऐसे बहुत से लेख मिले हैं जिनमें दाताओं ने अपनें पुण्य में अपने माता पिता, पत्नियों, भाईयों, बेटों, बेटियों, पोंतों, परपोंतों आदि को सहभागी बनाया है। परिवार के विभिन्न सदस्यों का उल्लेख परिवार में उनकी हैसियत के अनुसार हुआ है। पिता का नाम माता से पुर्व, बेटे का बेटी से पहले और भाई का बहन से पहले होता है। आर्यो का समाज पित सत्तात्मक समाज था। यह इसी कारण हुआ है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि समाज में नारियों का स्थान निम्न था। उस काल के अनेक लेखों में जो नासिक, कार्ले, कुडा, और अमरावती में मिले हैं, नारियों के द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख है। कभी-कभी तो ये दान बड़े बहुमूल्य होते थे। डा० के० गोपालचारी के अनुसार 'अमरावती के *145* लेखों में *72*, कुडा के *30* में, 13 नासिक के *29* में *16* लेखों में या तो नारियों के दानों का उल्लेख है या फिर वे इन दोनों में पुण्य की भागी बताई गई हैं।

**वस्त्राभूषण :-** समकालीन मूर्तियों को देखने से ऐसा लगता है कि इस काल में लोग शरीर पर कम वस्त्र धारण करते थे परन्तु आभूषणों के बहुत शौकिन थे। इन मूर्तियों का शरीर आभूषणों से लदा हुआ मिलता है। अमरावती की वेदिका और कार्ले की चैत्य गुफाओं में कटी प्रतिमाओं से इसकी पुष्टि हो जाती है। कुछ एक मोटे-छोटे अपवादों को छोड़ दे तो पूर्वी और पश्चिमी दक्कन दोनों जगहों में लोगों के वस्त्राभूषण आमतौर से एक समान थे। स्त्रियाँ कमर के नीचे चुन्नटदार वस्त्र पहनती थी जिसके दो या तीन सोपान होते थे और दांई ओर गाँठ बाँधती थी। वस्त्र के किनारे उसी गाँठ से लटकते रहते थे। और लगता है कि उस समय उत्तरीय वस्त्र पहनने का रिवाज आम चलन में नहीं था। पुरूष एक लुंगी पहनते थे जिसका एक हिस्सा कभी-कभी कन्धों पर रख लेते थे। वे एक पगड़ी (उष्णीव) भी बाँधते थे जिसका कपड़ा मरोड़दार होता था।

आभुषणों में कुंडल, कंकण, बाजूबंद और कंठहार पुरूष और स्त्री दोनों ही पहनते थे। कुछ स्त्रियाँ तो कोहनी तक चूड़ियाँ पहनती थी और उनके बाजूबंद हाथ को काफी ऊपरी भाग तक ढ़के रहते थे तथा प्रायः सभी स्त्रियाँ पैरों में पाजेब पहनती थी।

## धार्मिक आस्थाएँ

**वेदिक धर्म :-** पूर्व सातवाहन राजा वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी थे। नानाघाट के लेखों में सातकर्णि (द्वितीय) के द्वारा केए गए यज्ञों और ब्राह्मणों को 'दक्षिणास्वरूप' दिए गए गोदामों, हस्तिदानों और विभिन्न अन्य दानों से यही विदित होता है कि वैदिक अनुष्ठानों का उनके राजदरबार और अन्य परिकर पर कितना प्रभाव था। इसी लेख में इंद्र, संकर्षण, वासुदेव, चंद्र, सूर्य, यम, वरूण और कुबेर का देवताओं के रूप में आह्वान किया गया है। इससे विदित्त होता है कि दकन में यह युग वैदिक से पौराणिक देववर्ग के प्रचार का संक्रमण काल था। हाल की 'गाथा सत्तसई' में यह बात विशेषतया वहाँ देखी जा सकती है जहाँ पशुपति और गौरी, रूद्र और पार्वती, लक्ष्मी और नारायण के उल्लेख हैं। सरस्वती और गौरी का भी आह्वान है और कृष्ण लीला की कथाओं के भी संकेत हैं। कहा गया है कि 'गौतमीपुत्र सातकर्णि ने चारों वर्णों की संकरता को रोक दिया था।' यज्ञश्री नाम से भी वैदिक धर्म के पालन का संकेत है। दकन के कुछ भागों पर शक-क्षत्रपों ने भी राज्य किया था। उन्होंने शिव या विष्णु की पूजा स्वीकार की थी। वे ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति भी श्रद्धालु थे। किंतु इन्हें वैदिक यज्ञों का पूर्ण अधिकार न मिला था। इसके अधिकारी तो द्विज वर्ण ही थे। आर्य-धर्म में नए-नए दीक्षित इन विदेशियों और संकर जातियों के लिए 'पुराण' थे जिनमें स ष्टि और प्रलय, स्वर्ग और नरक और विष्णु के दस अवतारों, शिव के मनुष्य रूपों की कथाएँ है और धर्मशास्त्र के भी वे अंश है जिनका आम जनता से सम्बन्धा हैं। कतिपय 'पुराणों' में आध्रवंश के अंत तक के राजाओं की सूची है। ये भविष्य काल में वर्णित है ताकि जनता उनके प्रति भक्ति करें। जनता को पुण्य की प्राप्ति के लिए तीर्थ यात्रा करते देवताओं और ब्राह्मणों को दान देने, कूपों और तालाबों के निर्माण कराने तथा व क्ष लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उषभदात ने देवताओं और ब्राह्मणों को प्रभूत गोदान और ग्रामदान किये थे। उसने बारहों महीने हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया, कुएँ ओर तालाब खुदवाए, पांथशालाएं बनवाईं और प्रभास, पुष्कर (अजमेर) आदि 'तीर्थों' की यात्राएँ की थी। ये पौराणिक धर्म के खास द ष्टांत हैं। हम ऐसा मान सकते हैं कि आम जनता भी अपनी हैसियत के अनुसार पुण्य के ऐसे कार्य करती थी।

**जैन धर्म :-** जैनधर्म विंध्य के दक्षिणी प्रदेशों में ई० पु० चौथी शताब्दी में ही आ गया था। दक्कन के चारों ओर ऐसे प्रदेश थे जो उस काल में जैन धर्म के गढ बन गए थे जबकि वह अपनी जन्मभूमि में प्रमुख धर्म न रह गया था। उत्तर और उत्तरपूर्व में मालवा कलिंग और दक्षिण में तमिल देश

और मैसूर में जैनों की फलती-फूलती 'बस्तियाँ' थी। मगध का नंद राजा कलिंग से 'जिन' की एक मूर्ति उठा ले गया था जिसे खारवेल वापिस लाया। अनुश्रुति है कि 'चंद्रगुप्त मौर्य ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष जैन मुनियों के साथ बिताए थे।' खारवेल ने कलिंग में जैन धर्म की सेवा की थी। उदयगिरि और खंडगिरि में जैन मुनियों के वास के लिए बनाई गई अनेक गुफाएं हैं। सेवेल ने वर्तमान आंध्रप्रदेश के प्रायः हर जिले में जैन अवशेष देखें हैं।

**बौद्ध धर्म :-** वैदिक धर्म के बाद बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या सबसे अधिक थी। इतिहास में सातवाहनों के आने से पहले ही विंध्यपार के प्रदेशों में अपने पाँव जमा लिए थे। पश्चिम में पितलखोरा और कोल्हापुर में तथा पूरब में भट्टिप्रोलु और घंटशाल में जो पुरातात्विक खुदाईयाँ हुई हैं उनसे अतिप्राचीन काल के बौद्ध अवशेष प्रकाश में आए हैं। आंध्र इलाके में जग्गयपेट, अमरावती और भट्टिप्रोलु के स्तुपों पर मौर्य लिपि में छोटे-मोटे लेख खुदे हैं जो ई०पू० तीसरी शती के हैं। बौद्ध इतिहास-कथाओं के अनुसार अशोक के धर्मदूतों ने महिष-मंडल और महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों ने भी बौद्ध भिक्षुओं को प्रश्रय दिया। दक्कन में जितनी गुफाएँ सातवाहन काल की खुदी हैं उनमें से प्रायः सभी का संबंध बौद्ध धर्म से है। कण्ह (कृष्ण) राजा ने नासिक में बौद्ध भिक्षुओं की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए एक महामात्र की नियुक्ति की थी। हाल की 'सतसई' में बुद्ध के चरणों की पूजा का उल्लेख है। सभी स्थानों में बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ काफी संख्या में रहती थीं और लोग उनके उपदेशों से लाभान्वित होते थे और उनकी सहायता करते थे। इन श्रद्धालुओं में बौद्धों के अतिरिक्त अन्य लोग भी होते थे। इन 'उपासकों' ने उनके लिए 'लेणे' (गुफाएं) और 'चैत्यग ह' (पूजा-स्थान) बनवाए। बाद में उनके लिए ईटों और लकड़ी के विहार बनवाये। 'श्रमणों' के भोजनादि के लिए ये जमीनें और कभी-कभी गाँव भी दान में देते थे। इनके लिए नए 'चीवर' (वस्त्र) देने की प्रथा थी। इसका इंतजाम करने के लिए पास की किसी श्रेणी में प्रचूर धन अक्षय-निधि के रूप में जमा करा दिया जाता था। इस रकम के वार्षिक ब्याज से उनके लिए चीवरों का प्रबंध हो जाता था।

गौतमी बालश्री ने भदयानीय संप्रदाय के भिक्षुओं के वास के लिए एक 'लेण' बनवाई थी। उसके बेटे ने तेकिरासी पहाड़ी के भिक्षुओं के लिए *200* 'निवर्तन' भूमि दान में दी थी। तिरंड पहाड़ी के भिक्षुओं के लिए मां-बेटे ने मिलकर *100* 'निवर्तन' भूमि दान की थी। बलूरक (कार्ले) की 'लेण' के निवासी महासांघिक भिक्षुओं के लिए पुलुमावि (द्वितीय) ने एक गाँव का दान किया था। उषभदात ने गोवर्धन त्रिरशिम पहाड़ी में एक 'लेण' बनवाई थी और उसमें रहने वाले समस्त भिक्षुओं के भोजन के लिए *4000* 'काहापण' के मूल्य की भूमि दान में दी थी। इसके अतिरिक्त उसने *3000* 'काहापणों' का दान ' उस गुफा में रहने वाले *20* भिक्षुओं के 'चीवर' और 'कुसन' (बाहरी खर्च) के लिए किया था। यह रकम स्थानिय बुनकरों की दो श्रेणियों को दी गई थी। उस काल के अभिलेखों से विदित होता है कि सभी हैसियत और संप्रदायों के लोगों ने बौद्ध भिक्षुओं को इसी तरह के अनेक दान दिए थे। दाताओं में पुरूष भी थे और स्त्रियाँ भी। नासिक, कार्ले, काण्हेरी, जुन्नार, कुडा, महाड, कोल, भाजा, बेडसा, अजंता, अमरावती, नागार्जुनकोंड, जग्गयपेट, भट्टिप्रोलु आदि स्थानों के बौद्ध अवशेषों से सिद्ध होता है कि उस काल में बौद्ध भिक्षु काफी लोकप्रिय थे।

स्वयं भिक्षुओं के अनेक संप्रदाय थे। प्राचीन बौद्ध साहित्य में अंधक-भिक्षुओं का उल्लेख है। संभवतः यहाँ उनसे आंध्र के भिक्षुओं का तात्पर्य है। तत्कालीन अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ संप्रदाय आंध्र के खास-खास नगरों में थे। नासिक और कण्हेरी में भदयानी, कार्ले में महासांघिक, सोपारा और जुन्नार में धम्मतरिय, अमरावती में चेतकिय और नागार्जुनकोंड में

पूर्वशैल और अवरशैल संप्रदाय के भिक्षु रहते थे। सातवाहनों के विपरित उषभदात सभी संप्रदायों के भिक्षुओं को समान रूप से प्रश्रय देता था। वह बिना किसी संप्रदाय या मूल की चिंता किए सभी बौद्ध भिक्षुओं को दान देता था।

**स्थापत्य कला एवं कला के क्षेत्र में योगदान :-**

पुरापाषाण युग में मानवीय मस्तिष्क और परिश्रम के जो भी फल सामने आए, उनमें कला का प्रारंभ भी शामिल है। कुछ काम चलाऊ अनपढ़ औजारों के निर्माण से शुरू कर मानव जाति ने सभ्यता में निरन्तर प्रगति की। उसने बेहतर औजार, सुन्दर बर्तन, मामूली आभूषण, घरों और विशाल पाषाण-समाधियों का निर्माण किया। किंतु दक्कन में इस समय मौर्य-युग से पहले की कोई ईमारत नही बच रही है। कारण भी स्पष्ट है। उस समय मिट्टी या मिट्टी की ईंटों, बांसो और इसी तरह की लकड़ी की ईमारतें बनती थी। विंध्य के दक्षिण में जो भी प्राचीन स्मारक बनते हैं वे प्रायः सभी अशोक के समय के बाद के हैं और बौद्ध प्रेरणा के हैं। वे या तो पहाड़ों को काटकर बनाई गई 'लेणे' है या 'चैत्य' अथवा 'विहार' और 'स्तूप' की इमारतें हैं। ये सातवाहनों के राज्य के पूर्वी और पश्चिमी दोनों भागों में मिलते हैं। इसी पुस्तक के खंड *9* में इस काल के प्रमुख स्मारकों का विशद वर्णन मिलेगा। इनसे स्पष्ट हो जाएगा कि सातवाहन-काल के कारीगरों ने कला और तकनीक के क्षेत्र में कितनी दक्षता हासिल कर ली थी।

जहाँ तक लघु-कलाओं का प्रश्न है उनका आभास हैदराबाद राज्य में पैठन, मस्की और कोंडापुर तथा गुंटूर जिले में भट्टिप्रोलु और अमरावती की खुदाइयों में मिली वस्तुओं से मिल जाएगा। पैठन में पकी मिट्टी, लाजवर्द, गोमेद, स्फटिक और इंद्रगोप के मनके, मिट्टी के खिलौने और उनके सांचे, बर्तन, शंख और सीपों के गहने मिले हैं। कोंडापुर में पोटिन और सीसे के सातवाहन राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ मिट्टी के खिलौने, जवाहरात, सोने, तांबे, हाथी दाँत, शंख-सीपी के गहने मिले हैं। मिट्टी के खिलौनों में कुछ के सिर तो अति यथार्थ दिखते हैं और उनका रूपाकंन अर्निद्य है। केश-विन्यास की न जाने कितनी शैलियाँ थीं। इनमें से कुछ तो अजंता के चित्रों के उत्तम से उत्तम नमुनों से भी किसी प्रकार घटकर नही है। डा० याजदानी के शब्दों में, 'कुम्हार-कला को आज तो कोई उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही है किंतु दक्कन की प्राचीन कलाओं में उसे मूर्तिकला और चित्रकला के प्रायः बराबर का ही स्थान प्राप्त था।' भट्टिप्रोलु के स्तूप से वैदुर्य और स्फटिक की मंजूषाएं मिली हैं जिनमें जवाहरात, सोने के फूल, रत्न, मनके, त्रिशुल और चौबीस सिक्के रखे थे। अमरावती में एक सोने की मंजूषा मिली है जिसका आकार स्तूप का है और उसके ऊपर छत्र बना है। इससे उस काल के सुनारों और मणिकारों की कारीगरी का पता चलता है।

**शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में योगदान :-**

उस काल की सभ्यता का कोई विवेचन तत्कालीन शिक्षण-प्रणाली और साहित्यिक विकास के वर्णन के बिना अधूरा ही रहेगा। कहने की आवश्यकता नही कि आर्य-आचार्य और धर्मप्रचारक अपने साथ दक्कन में अपना साहित्य और अपनी शिक्षण-प्रणाली भी लाए थे। ई०पू० तीसरी शताब्दी तक दक्कन के निवासी ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा से इतने परिचित हो चुके थे कि जनता के काम के लिए अशोक ने अपने लेखों में इनका ही इस्तेमाल किया। सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के सभी दस्तावेज प्राकृत में हैं। सातकर्णि (द्वितीय) ने अनेक जटिल यज्ञ किये थे। इससे विदित होता है कि उस काल के दकनी पंडितों को वैदिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान था। बौद्ध भिक्षुओं पर राजाओं और आम प्रजा दोनों की समान श्रद्धा थी। ये भी बौद्ध धर्म के साहित्य में उतने ही निष्णात थे। अमरावती के स्तूपों और अजंता के चित्रों में जातकों और बोधिसत्व की

कथाओं के चित्रण इस बात के प्रमाण हैं कि उस काल के कारीगरों में बौद्ध अनुश्रुतियों का कितना प्रचार था। इनसे यही विदित होता है कि समाज के विभिन्न स्तरों में ज्ञान के प्रचार के लिए कोई अभिकरण अवश्य रहा होगा। किंचित बाद के एक प्रमाण से यही अनुमान होता है कि ब्राह्मणों के आश्रमों और बौद्ध और जैन विहारों में लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा मौखिक होती थी जिसे विद्यार्थी याद कर लेते थे। अध्यापकों को अपने भरण-पोषण के लिए राजाओं और धनिकों से दान मिलते थे। विद्यार्थी उनके घरेलू कामकाज कर देते थे। व्यवसाय प्रायः आनुवंशिक होते थे। अतः यह शिक्षा उन्हे प्रायः पिता या उसके निकट संबंधी से मिलती थी जो अपनी कला का पंडित होता था। कारीगरों और व्यपारियों ने प्रायः अपनी श्रेणियाँ बना ली थी। ये श्रेणियाँ अपने-अपने व्यवसाय में ईमानदारी और कारीगरी के मानदंड निर्धारित कर शिक्षा के क्षेत्र में योगदान करती रहती थीं।

सातवाहन काल में उच्च श्रेणी के कतिपय साहित्यिक ग्रन्थों की भी रचना हुई थी। सातवाहन राजा के मंत्री सर्ववर्मन ने अपने स्वामी को छह मास में संस्कृत व्याकरण का पूर्व ज्ञान कराने के लिए 'कातंत्र' व्याकरण की रचना की थी। इस व्याकरण की बड़ी प्रसिद्धि थी। इसने अपने पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों को पीछे छोड़ दिया था। पूर्व बंगाल और कशमीर में इसका आज भी प्रचार है। उसी सातवाहन राजा के एक अन्य मंत्री गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में 'ब हत्कथा' की रचना की। इसमें नरवाहन दत्त नामक नायक की 'कथा' में अनेक उप-कथाएं जोड़ी गई हैं। यह आश्चर्य कथाओं के सबसे प्राचीन ग्रन्थों में है। 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल के अनुसार 'संस्कृत की अन्य कथाएं इसी से निकली हैं और इसके सामने वे उधार के कपड़ों से बनी लगती हैं।' 'दशरूप' का रचयिता नाटकों की विषय वस्तुओं के लिए आकरग्रन्थ के रूप में रामायण के बाद इसी को स्थान देता है। गोवर्धन गुणाढ्य को वाल्मीकि और व्यास के साथ महाकाव्यों की ब हत्यत्री में स्थान देता है। यह ग्रन्थ अब लुप्त हो चुका है। इसके तीन संस्कृत संस्करणों से इसकी विषयवस्तु की कल्पना की जा सकती है, वे हैं सामदेव का 'कथा सरित्सागर', क्षेमेन्द्र की 'ब हत्कथा मंजरी' और बुध स्वामिन का 'ब हत्कथा-श्लोकसंग्रह'। प्रो० फेलिक्स लैकोटे की मान्यता है कि 'इन तीनों संस्करणों में जो भेद है उनसे हमें इस बात का अंदाज हो जाता है कि मूल ग्रन्थ क्या था। अतः ऐसा लगता है कि यह एक संग्रह मात्र न होकर स्वयं एक महाकाव्य रहा होगा।

निश्चयपूर्वक यह बताना संभव नही है कि वह सातवाहन राजा कौन था जिसके लिए सर्ववर्मन ने 'कातंत्र' व्याकरण की रचना की थी और जिसे गुणाढ्य ने अपनी 'ब हत्कथा' समर्पित की थी। हो सकता है कि वह वही राजा रहा हो जिसके लिए साहित्यिक ग्रन्थों में सातवाहन नाम आया है और उसे ही 'हाल' भी कहा गया है। उसने मात्र एक साल तक राज्य किया था। उसकी पहचान के विरूद्ध यही एक तथ्य है। किंतु 'मत्स्यपुराण' में उसका राज्यकाल पाँच वर्षों तक बतलाया गया है। हो सकता है कि इन पाँच वर्षों में उसका 'युवराज' काल भी शामिल हो। युवराज काल में ही उसने साहित्य में रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया हो।

हाल को 'गाथा सत्तसई' के संग्रह का श्रेय दिया जाता है। इसमें *700* 'गाथाएं' है। जिनकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और विषय श्रंगार तथा व्यंग्य है। बाण ने 'सातवाहन राजा की रचना का अमर सूक्ति रचना' के रूप में इसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का अपना महत्व तो है ही, साथ ही इससे यह भी विदित होता है कि उस काल में प्राकृत का प्रभूत साहित्य वर्तमान था। अब उसका अधिकांश लुप्त हो चुका है। इसकी टीकाओं से विदित होता है कि हाल ने इसमें बोदिस्स, चुल्लुह, अमरराज, कुमारेल, मकरंदसेन और श्रीराज जैसे कवियों की रचनाओं का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया था।

हाल के विवाह को विषयवस्तु बनाकर प्राकृत में 'लीलावती परिणय' नामक काव्य की भी रचना हुई थी।

पुलुमावी (द्वितीय) के उन्नीसवें संवत्सर का नासिक का लेख प्राकृत गद्य में हैं। इससे उस काल के गद्य का भी पता चलता है।

संस्कृत में भी कम रचनाएँ नही हुई थी। रूद्रदामन का गिरनार का लेख संस्कृत गद्य में है। इसमें 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' दोनों का प्राचुर्य है। सातवाहन काल के प्रायः अंत में नागार्जुन ने जितनी रचना की, वह संस्कृत में ही थी।

निःसंदेह धर्म और साहित्य के क्षेत्र में इस काल के विद्वानों में नागार्जुन का स्थान सबसे ऊँचा है। किंतु उनके जीवन और रचनाओं के बारे में हमें ठीक-ठाक जानकारी उपलब्ध नही है। उनके नाम के साथ इतनी दंतकथाएँ जुड़ गई हैं कि वे प्रायः एक 'मिथ' ही लगते हैं। चीनी और भारतीय साहित्य में उन्हें चिकित्सक, ज्योतिषी, ऐंद्रजालिक और बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय का जनक और इन सबसे ऊपर शून्यवाद का प्रवर्तक माना गया है। युवाङ् च्वाङ़ के अनुसार उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष शा-तो-पो-ह अर्थात सातवाहन राजा के संरक्षण में पो-लो-मो-लो-किलि में बिताये थे। बाण के 'हर्षचरित' से विदित होता है कि सातवी शताब्दी की जनश्रुतियों के अनुसार त्रिसमुद्रपति सातवाहन राजा उनका मित्र था। नागार्जुन ने अपने 'सुहल्लेख' में स्वयं एक सातवाहन राजा का उल्लेख किया है। किंतु इन सभी उल्लेखों को एक साथ देखने से सिर्फ यही पता चलता है कि कोई सातवाहन नागार्जुन का समकालीन था। नागार्जुन के नाम से विख्यात रचनाओं में कनिष्क, वसुमित्र, अश्वघोष आदि के नाम मिलते हैं। अतः यही संभावना अधिक है कि वह ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ होगा और उसका मित्र सातवाहन राजा यज्ञश्री सातकर्णि या उसका कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। पो-लो-मो-लो-किलि की पहचान श्रीपर्वत से की जा सकती है। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन यहीं रहते थे। नागार्जुनकोंड़ा (जिला गुंटूर) का ही अपर नाम श्रीपर्वत था। इसका प्रमाण वहीं का एक लेख है। नागार्जुन के ग्रन्थों में से प्रायः दो दर्जन ग्रन्थ चीनी अनुवादों के रूप में जीवित हैं। 'प्रज्ञापारमिता शास्त्र', 'मूलमाध्यमिक शास्त्र', 'द्वादशनिकाय शास्त्र', 'शून्य सप्तथि' और 'सुहृल्लेख' उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'योगाचार', 'रतिशास्त्र' और 'रस-रत्नाकर' के भी रचयिता वे ही कहे जाते हैं।

यद्यपि आध्रों का राज्य दक्कन से समाप्त हो गया, तथापि वह अपने पीछे कला और साहित्य का प्रभूत सम द्ध रिक्थ छोड़ गया। अजंता के भित्तिचित्र, अमरावती, बेडसा और कार्ले की प्रतिमाएँ और गुणाढ्य, हाल और नागार्जुन के ग्रन्थों का साहित्य में ऊँचा स्थान है। यद्यपि लगभग सभी सातवाहन शासकों ने वैदिक धर्म का अनुशीलन किया और वर्णधर्म तथा त्रिवर्ग की स्थापना अपना धर्म समझा परन्तु इस काल में चूकिं सातवाहन राजा स्वयं ब्राह्मण थे, अतः इस काल में क्षत्रियों की शक्ति का ह्रास हुआ और ब्राह्मणों का प्रभूत्व स्थापित हुआ।

# अध्याय - 21
# भारतीय समाज में सम्मिश्रित तत्व
# (Syncretic Elements in Indian Society)

## परिचय

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था एक लम्बे विकास प्रक्रिया की देन है इस संस्क ति के निर्माण में विभिन्न कबीलों तथा विभिन्न ethenic groups (स्थानीय तथा वो विदेशी जो इतिहास के विभिन्न कालों में भारत आए और यहीं के समाज और संस्क ति में विलिन हो गए) ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार हमारी सांस्क तिक संस्क ति एक मिश्रित संस्क ति है। यह उस पानी की भांति है जो पानी के अलग-अलग कणों से मिलकर बना है। यद्यपि ये कण अलग-अलग हैं परन्तु ये आपस में इस प्रकार मिले हैं कि जिससे सम्पूर्ण पानी एक नजर आता है और इनमें अलग-अलग कण छांटकर उनकी अलग-अलग पहचान करना असंभव हो जाता है। स्थानीय संस्क ति की अपनी एक विशिष्टता है यह प्रारम्भ में घुसपैठियाँ संस्क ति के प्रति आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया करती है लेकिन बाद में इस संस्क ति के कुछ तत्वों को अपने में समाविष्ट कर एक मिश्रित संस्क ति की संरचना करती है जिसमें स्थानीय संस्क ति अपनी पहचान खोए बिना अपने में समान्वित किए गए तत्वों के आधार पर पुनः निर्माण (Re-Shaping) करती है।

Interests का टकराव होने के कारण भारतीय संस्क ति तथा समाज में विदेशी तत्त्वों का समन्वय सम्मिश्रण सहज (Smooth) नहीं था यही कारण है कि विदेशियों को ब्राह्मणीकल साहित्यकारों ने इन्हें ब्राह्मणीकल चतुवर्ण (सामाजिक ढ़ाँचे) के हिस्से के रूप में स्वीकार नहीं किया और इन्हें 'मलेच्छ' का दर्जा दिया गया। परन्तु इन धार्मिक बंधनों प्रतिबन्धों के बावजूद समय-समय पर विदेशी भिन्न-भिन्न रूप में प्राचीन भारतीय सामाजिक ढाँचे में समाहित होते रहे हैं।

## भारतीय जनसंख्या में विदेशी तत्त्वों का सम्मिश्रण

यद्यपि विभिन्न विदेशी तत्व प्रागैएतिहासिक काल से ही भारतीय जनसंख्या में सम्मिश्रित होते रहे हैं परन्तु यहां हम अध्ययनाधीन काल में सम्मिश्रित होने वाले विदेशी तत्त्वों का ही विशलेषण करेगें। ये तत्त्व विभिन्न तरीकों से अर्थात रास्तों जैसे आक्रमणों द्वारा, स्थानातंरण द्वारा, व्यापारिक एवम् सांस्क तिक सम्बन्धों द्वारा भारतीय समाज एवम् संस्क ति में समाहित हुए। पारसी, मैकडोनियन, बैक्ट्रियन, ग्रीक, सिथियन, पार्थियन, कुषाण तथा हुण लोग प्राचीन भारतीय स्थानीय जनसंख्या में घुल मिल गए तथा भारतीय जनसंख्या का Cosmopolinan एवम् heterogeneon चरित्र प्रदान किया।

### मग (Magas)

ये मूलतः पूर्वी ईरान के रहने वाले थे और सूर्य के पुजारी थे। प्रथम बार भारत में 5वीं शताब्दी ई. पूर्व अकमनियन के आक्रमणों के दौरान आए, दूसरा समूह शककुषाणों (1-2 शताब्दी) के काल में और तीसरा समूह 5-6 शताब्दी में हूणों के आक्रमण के दौरान भारत आए। जैसा कि स्म तियों तथा पुराणों से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में इनको बड़ी हेय द ष्टि से देखा जाता था परन्तु बाद में इनके सामाजिक स्तरीकरण में सुधार हुआ और इन्हें शाही दरबार में भी स्थान मिलने लगा जैसे **तरक** हर्ष के दरबार में ज्योतिषी था और जाति से यह मघ ब्राह्मण था। प्राचीन हिंदू समाज में इनका सम्मिश्रण इनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करता था कालान्तर में इन्होंने भोजक तथा अन्य स्थानीय लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए।

### यवन

दूसरे महत्वपूर्ण लोगों का समूह जो भारतीय जनसंख्या में सम्मिश्रित हुए वह था यवनों का। इन्होंने प्रारम्भ में संभवतः अकमनियन साम्राज्य के प्रशासनिक अधिकारी तथा व्यापारी के रूप में भारत में प्रवेश किया और यही कारण है कि 400 B.C के आसपास इन्होंने उत्तर पूर्वी भारत में अपना नीसा (Nysa) नामक प्रथम ग्रीक नगर बसाया। अलक्जैण्डर का आक्रमण और भारत में उसकी colonies स्थापित करने की नीति के कारण बड़ी संख्या में ग्रीक भारत में आए। अलक्जैण्डर के पश्चात उसके वंशजों (बैक्ट्रियन ग्रीक) ने भारत पर आक्रमण किया तथा अपनी और बस्तियाँ यहाँ बसाई जैसे डमैट्रियस ने दमित्री नगर बसाया इसके अतिरिक्त साकल तथा सबसे महत्वपूर्ण शहर जिसका बैक्ट्रियन ग्रीक ने निर्माण किया वह था तक्षशिला। भारत में ग्रीक जनसंख्या तथा शक्ति की बढ़ोतरी ने इनकी भारतीय संस्क ति एवम् समाज में सम्मिश्रण की आवश्यकता महसूस हुई क्योंकि यही एक तरीका था भारतीय हिन्दू सामाजिक ढाँचे को बचाए रखने का इसीलिए गौतम धर्मसूत्र इनका भारतीय समाज में सम्मिश्रण का न्यायोचित ठहराते हुए कहा कि यवन शूद्र स्त्री एवम् क्षत्रिय पुरूष से उत्पन्न संतान हैं। रामायण में इनकी उत्पत्ति वशिष्ठ की गाय साबल से बताई गई है। मनुस्म ति के अनुसार यवन मूलतः क्षत्रिय थे परन्तु क्योंकि उन्होंने ब्राह्मणीकल धर्म के कर्मकांडों का उचित रूप में पालन नहीं किया अतः वह शूद्र बन गए।

इसी प्रकार रोमनस, ससानियनस, शकों, कुषाणों तथा हुण सभी विदेशी जातियाँ जो भारत में आई, सबको भारतीय समाज में धीरे-धीरे समाहित कर लिया गया। भारतीय स्थानीय जनसंख्या में विदेशी जनसंख्या के सम्मिश्रण से स्वाभाविक है कि परम्परागत सामाजिक संस्थाओं एवम् ढ़ाँचे में भी परिवर्तन आए।

### प्राचीन भारतीय सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन

विभिन्न विदेशी समूहों एवम् जातियों के भारतीय जनसंख्या में सम्मिश्रण से ब्राह्मण वर्ण सबसे अधिक असुरक्षित महसूस कर रहा था क्योंकि इस समय वैश्य व्यापार एवम् वाणिज्य के कारण अधिक शक्तिशाली होता जा रहा था। शूद्र भी जागरूक होते जा रहे थे तथा ब्राह्मणों के प्रति उनका रूख आक्रामक होता जा रहा था विदेशी जनसंख्या के एक बड़े भाग ने बुद्ध धर्म को अपना लिया जिस कारण अब्राह्मणीकल धर्म शक्तिशाली होते जा रहे थे जिसका परिणाम हुआ सामाजिक चिन्ता (Social tension)।

पुराणों में वर्णित कलियुग से परिवर्तित होते हुए भारतीय समाज का स्पष्ट चित्रण मिलता है। इस काल में परम्परागत चतुवर्ण धर्म बिखर रहा था, इसका मुख्य कारण था अब्राह्मणीकल धर्मों का उभार, ब्राह्मण धर्म में भी नए-नए सम्प्रदायों का उदय तथा विदेशी तत्त्वों का सम्मिश्रण।

## चतुवर्ण व्यवस्था का ढीला पड़ना

इस समय वर्ण अपने-अपने परम्परागत व्यवसायों के साथ ही जुड़े नहीं रहे क्योंकि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने-अपने व्यवसाय से चिपके रहने से नहीं हो पा रही थी अतः जैसे स्म तियों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ने अब्राह्मणों के व्यवसाय को भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया और जैसा कि अभिलेखों से भी स्पष्ट है कि अब वह क षक, व्यापारी तथा राजकीय नौकर भी बन गया। शूद्रों ने भी अब उन व्यवसायों को अपनाना शुरू कर दिया जिससे उनका आर्थिक एवम् सामाजिक उत्थान हो। याज्ञवालक्य उन्हें क षि और व्यापार करने की अनुमति दे देता है तथा उनको नामकरण संस्कार तथा श्राद्ध आदि को पूर्ण करने का अधिकार भी मिल जाता है।

## उपवर्णों की उत्पत्ति एवम् उदय

कुषाण कालीन रचना अंगविज्ज में चतुवर्ण के इस विश्वराव का वर्णन मिलता है जिसके परिणामस्वरूप बहुत से उपवर्णों उदय हुए। विभिन्न वर्णो के व्यवसायों के सम्मिश्रण से बहुत से उपवर्ण उदय हुए जैसे बम्भ खत, खत बम्भ, बम्भ-वैश्य, वैश्य-बम्भ, खत वैश्य, वैश्य खत, सुद्ध-वैश्य, वैश्य सुद्ध। इन मिश्रित वर्ण समूहों को परिवर्ति चतुवर्ण व्यवस्था में स्थान दिया गया। परन्तु ब्रह्म क्षत्रिय (Bambha-Khatta) तथा ब्रह्म वैश्य (Bambha-Vessa) बाद में पूर्व मध्यकाल तक चलते रहे।

यद्यपि जहां एक तरफ सम्मिश्रण हो रहा है वहां दूसरी तरफ साथ प्रतिक्रिया तथा विरोध (Resistence) भी चल रहा है जैसे गार्गी संहिता में इस सम्मिश्रण के भयावह परिणामों को उल्लेखित करते हुए कहा कि कलियुग के अन्त में सभी एक जैसे वस्त्र पहनेगें तथा एक ही प्रकार के नैतिक आचरणों का अनुसरण करेगें विष्णुपुराण में तो यहां तक कहा गया है कि कलियुग में सभी जातियाँ शूद्रों के समान हो जाएगीं। हाँलाकि संहिताओं में शक, यवन, कम्बोज तथा ब्राह्मीलक आदि जातियाँ के साथ खाना पीना एवम् विवाह सम्बन्ध स्थापित करना सख्ताई के साथ वर्जित किया परन्तु व्यवहारिक रूप से सफल नहीं हो सका।

विदेशी जातियों ने ब्राह्मणों की goodwill तथा Sympathies प्राप्त करने के लिए भारतीय नामों को अपनाना, भारत के मूल निवासियों के साथ विवाह सम्बन्ध, हिंदू देवी-देवताओं को अपनाना तथा ब्राह्मण धर्म के उत्थान कार्यो में बढ़ चढ़ कर दान देना आदि तरीके अपनाए। इन तरीकों ने विदेशियों को मुख्य धारा में समन्वित होने में काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कुछ आन्तरिक ताकतों ने भी सम्मिश्रण की क्रिया में सहयोग दिया। 200 B.C में विदेशी ताकतों ने भारतीय समाज में मुख्यतः दो व्यवस्था की पहचान की एक व्यवस्था कट्टर ब्राह्मणीकल थी और दूसरी उदारवादी बौद्ध। स्पष्टतः उदारवादी बौद्ध धर्म में ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा विदेशियों की भारी संख्या विलिन हो गई।

## वर्ण संकरता

आन्तरिक ताकतें विदेशी दबाव को रोक न सकी जिसका परिणाम हुआ बड़े पैमाने पर विभिन्न जातियों ethenic groups का सम्मिश्रण। विदेशियों के स्थानीय स्त्रियों से विवाह के कारण उत्पन्न संतान को भारतीय समाज में स्थान देने के प्रयोजन से वर्ण संकरता के अर्थ का विस्तार किया गया। गौतम धर्म सूत्र के अनुसार यवन क्षत्रिय स्त्री तथा शुद्र पुरूष अर्थात प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान हैं। सिथियनस को नारीसयन्त (narisyant) अर्थात मनु का पुत्र कहा गया है। अतः इस प्रकार से उत्पन्न संतान और विदेशियों को हिन्दू समाज में स्थान देने के लिए वर्णव्यवस्था सम्बन्धी नियमों में ढ़िलाई लाई गई तथा इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु **कलिधर्म** तथा

**आपदधर्म** की व्यवस्था की गई। विष्णु पुराण के अनुसार कलियुग में थोड़ी सी कोशिश अर्थात् प्रयत्न से सर्वोच्चत्तम धार्मिक उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है। पुराणों के विवरण के अनुसार कलियुग में ब्राह्मण शूद्रों के साथ भोजन करेगें तथा आवास करेगें। राजा निम्न जाति से होगा तथा ब्राह्मण शूद्रों की भांति व्यवहार करेगें। आपद धर्म में विपत्ति के समय अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपनाने को कानूनी जामा पहनाया। मनु जो कि सभी धर्मशास्त्रों में सबसे अधिक रूढ़िवादी था, ने भी इसकी आज्ञा प्रदान की। इन परिस्थितियों में विदेशी ताकतों का विलय और आसान हो गया वह बात दूसरी है कि कुछ ने अपने को तुरन्त स्थानीय निवासियों के साथ विलय कर लिया और कुछ ने लम्बा समय लगाया।

सिथियन, कुषाण एवम् हूणों ने ज्यादा तेजी से अपने को भारतीयता में ढाल लिया उन समूहों के लोगों ने बनिस्पत जो कि विकसित संस्क ति से सम्बन्ध रखते थे जैसे ईरानी एवम् ग्रीक। जाति व्यवस्था में प्रत्येक विदेशी जाति को एक स्थान निश्चित कर दिया गया उनकी सामाजिक-आर्थिक एवम् बल को देखते हुए।

वो लोग जो आक्रमणकारियों के साथ पूजा पाठ में लगे हुए थे उन्हें व्रात निम्नवर्गीय ब्राह्मण का स्थान दिया गया जैसे मग परन्तु कालान्तर में जैसे ब हतसंहिता से स्पष्ट होता है, इनके सामाजिक स्तर में सुधार हुआ और वे सम्माननीय ब्राह्मणों के वर्ग में आ गए। इसी प्रकार जोधपुर क्षेत्र के सेवक अर्थात भोजक, दिल्ली-आगरा क्षेत्र के पंडा सूर्य की पूजा करते हैं तथा अपने को शकों के वंशज मानते हैं। इसी प्रकार गुजरात के नागर सिथियन तथा श्रीमाली कुषाणों के वंशज माने जाते हैं ये सब ब्राह्मण हैं।

विदेशियों ने सबसे अधिक क्षत्रिय वर्ण को अपनाया क्योंकि उनके व्यवसाय की द ष्टि से क्षत्रिय वर्ण ही अधिक उपयुक्त था। मनुस्म ति, वायुपुराण, महाकाव्यों तथा विष्णुपुराण सभी से इस की पुष्टि होती है। विलय की इस प्रक्रिया की पुष्टि अजन्ता की चित्रकला से भी होती है इन पेंटिग्स में विदेशियों की दरबार और हरम दोनों में उपस्थिति साफ नजर आती है।

कुछ विदेशी जो व्यापार तथा छोटे मोटे कामों में लगे हुए थे वे क्रमशः वैश्य एवम् शूद्र जाति में विलिन हो गए। इस प्रकार विभिन्न विदेशी एवम् स्थानीय जातियों के सम्मिश्रण को देखते हुए भंडारकर ने चित्रण किया है कि भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी जिसमें कि विदेशियों का गुट न हो। बाहरी खून का मिश्रण न केवल योद्धा जाति में ही है वरन् उन ब्राह्मणों में भी है जो इस भ्रम में हैं कि उनके खून में विदेशी खून की मिलावट नहीं है।

### वस्त्र

भारतीयों की वस्त्र शैली पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट नजर आता है विदेशी आक्रमणकारियों ने पहनावे के नए ढंग एवम् डिजाईन स्थानीय जनसंख्या को पेश किए और इस प्रकार स्थानीय लोगों के कपड़ों के डिजाईनों, उनके पहनने के ढ़ंग एवम् स्टाईल पर विदेशी छाप साफ झलकती है जिसकी पुष्टि टराकोटा की तथा प्रस्तर की मूर्तियों तथा पेंटिग्स में मनुष्य आक तियों द्वारा पहने वस्त्रों से हो जाती है।

### सिले वस्त्र

स्थानीय वस्त्र तथा पहनावे के ढंग पर इन्डोग्रीक, पार्थियन, सिथियन, कुषाणों और हूणों सभी के वस्त्र एवम् पहनने के ढंग का प्रभाव साफ नजर आता है। प्राचीन काल में भारतीय बिना सिले कपड़े पहनते थे। ग्रीक स्त्रोत (400 B.C) जो कि बहुत ही विस्तार से भारतीय लोगों के वस्त्र एवम् पहनावे का विवरण देते हैं कहीं भी सिले वस्त्रों का वर्णन नहीं करते भारहुत एवम्

सांची की मूर्तिकला से भी इसी बात की संपुष्टि होती है। सिले वस्त्र प्रथम बार भारत में ईसा की प्रथम शताब्दी में विदेशियों के आगमन पर ही प्रारम्भ हुए। सिथियन एवम् कुषाण शासकों के अतिरिक्त भारतीय शासक अर्थात् गुप्त शासक भी अकसर सिक्कों पर छोटी बाजू वाला कोट तथा लम्बा पायजामा पहने हुए चित्रित किए गए हैं। अजन्ता की पेन्टिग्स में अमीर लोगों को भी इसी प्रकार के वस्त्र पहने दर्शाया गया है। ट्यूनिक के नुकीले कोने (Pointed Sides) पार्थियन प्रभाव को दर्शाता है। धावेलकर के अनुसार अजन्ता की गुफाओं में राजा को शिकार पर जाते हुए टयूनिक तथा पायजामा पहने हुए दर्शाया है। जैसा कि सिक्कों पर चित्रित शासकों के चित्रों से स्पष्ट हो जाता है कि कुषाण शासकों की भांति गुप्तकालीन शासक भी ट्यूनिक भीड़ा पायजामा, ओवरकोट तथा ऊँचे बूट पहनते थे।

पुरूष और स्त्री दोनों के वस्त्रों में विदेशी आक्रमणकारियों के आगमन से महत्वपूर्ण परिवर्तन आया।

## पुरूषों के वस्त्र

### ऊपरी वस्त्र

पहले प्राचीन भारतीय शरीर के ऊपरी भाग को चादर से ढाँप कर रखते थे जिसे उतरीय कहा जाता था इस समय इसका स्थान कोटनुमा वस्त्र ने ले लिया। आकार प्रकार की द ष्टि से ये कोटनुमा वस्त्र विभिन्न नामों से जाने जाते थे जैसे चीन चोलका (ओवर कोट, चीनी प्रभाव); वरबन (घुटनों तक लम्बा कोट, ईरानी प्रभाव); कनचुक (बाजुवाला लम्बा कोट तथा आगे से बंद कॉलर, सिथियन स्टाईल); अच्छादन (अैपरन जो कन्धों के ऊपर चारों तरफ से पहनकर आगे गांठ बांध ली जाती थी, मूलतः ईरानी स्टाईल); करपस (छोटा कोट अर्थात जैकेट, हूण स्टाईल) आदि।

### अधोवास (निवि वस्त्र)

निवि वस्त्रों पर भी विदेशी प्रभाव स्पष्ट नजर आता है पायजामा की शुरूआत मध्य एशिया में हुई और भारत में इसकी शुरूआत सिथियनों ने की। पायजामें की शुरूआत भारत में पहले गांधार क्षेत्र में हुई और वहां से मथुरा में प्रचलित हुआ गुप्तकाल में यह स्थानीय लोग विशेष रूप से समाज के उच्च वर्ग में बहुत प्रचलित हुआ और सातवीं शताब्दी तक पायजामें के **कम से कम तीन** किस्में फैशन में आ गई। **स्वसथान** (पूरी लम्बाई परन्तु फिटिंग वाला) सर्वप्रथम सिथियन कुषाण और ईरानियों का पहनावा, फिर बाद में गुप्तों ने अपनाया पींगी (बीच की लम्बाई वाला पायजामा) अग्रवाल के अनुसार यह मध्य एशिया से भारत आया। रावीलंसन (Rowlinson) के अनुसार प्रशिया से इसके भारत में आने के ज्यादा चान्स हैं क्योंकि यह काफी पहले से प्रचलन में था। गुप्तकाल में इसका काफी बड़े पैमाने पर प्रचलन हुआ और यह सातवीं शताब्दी तक फैशन में बना रहा स्तूला (Satula)- यह लम्बाई में और भी छोटा अर्थात् घुटनों तक का पायजामा होता था जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रचलन में आया गुप्तकाल में काफी फैशन में रहा।

### अन्तरवास (धोती)

यह मूलतः भारतीय पहनावा है परन्तु विदेशियों के समार्क से पहनने के ढंग में परिवर्तन आया यह कुछ इस प्रकार बांधी जाती थी ताकि चलने फिरने में कोई दिक्कत ना हो।

### पदरतन (जूते)

पाणिनी तथा ग्रीक इतिहासकार एरियन के अनुसार भारतीय जूते पहनने की कला से

प्रारम्भ से ही परिचित थे, परन्तु जूतों की कुछ किस्मों को विदेशियों ने ही लोगों में प्रसिद्ध किया जैसे लम्बे जूते (long boots) मध्य एशिया से भारत में आए और इन जूतों और बूट में ऐड़ी (heals) लगाने का रिवाज भी मध्य एशिया से ही शुरू हुआ। मथुरा कला में सिथियन कुषाणों के वंशजों का इन्हीं बूटों को दिखाया गया है। अल्तेकर के अनुसार गुप्त कालीन सिक्कों पर गुप्त शासक बटनों से सजे हुए बूट पहने दिखाया गया है।

**दाढ़ी, मूछ**

मथुरा तथा गांधार क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियों (Sceed platres) में ऐसा लगता है कि पुरूष दाढ़ी और मूंछ रखने के शौकिन थे। विदेशी ज्यादातर गिरी (dropping) मूंछे रखते थे। बहुत सी मूर्तियों में स्थानीय लोगों की सिथियन या ग्रीक स्टाईल में दाढ़ी रखे हुए दिखाया गया है।

**महिलाओं के वस्त्र एवम् पहनावे पर बाहरी प्रभाव**

ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास विदेशी प्रभाव के कारण स्त्रियों के वस्त्र एवम् पहनावे में भी ग्रीक एवम् सिथियन के प्रभाव से परिवर्तन आया। प्राचीन भारत में महिलाओं ने ब्लाऊज, जैकट तथा फ्रॉक जैसा वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया।

**उत्तरावास (Upper garments)**

भारतीय महिलाएं साधारणतः ऊपर कोई वस्त्र धारण नहीं करती थी जैसा कि प्रारम्भिक कला से स्पष्ट है। महाभारत में भी महिलाओं का एक वस्त्र पाथ चित्रण किया गया है। संभवतः विदेशियों के प्रभाव के पश्चात ही इन्होंने सिले हुए कपड़े पहनने प्रारम्भ किए।

**करपसक (Kurpasaka)**

यह छोटी लम्बाई का पूरा फिट ब्लाऊज जैसा वस्त्र था। अग्रवाल के अनुसार यह मध य एशिया में प्रचलित तथा वहां से यहां आया। अजन्ता की पेन्टिगस में महिलाओं को इस प्रकार का वस्त्र पहने दिखाया गया है। गांधार तथा मथुरा से प्राप्त स्त्री मूर्तियां भी इसी प्रकार का ऊपरी वस्त्र पहने दिखाया गया है। जैसे **हरीति** भी इसी ब्लाऊजनुमा वस्त्र को पहने हुए है और जिनकी आगे गले और बाजुओं पर मोती एवम् सोने के तारों से कढ़ाई की हुई है। तक्षशिला में ईसा की प्रथम शताब्दियों में यह वस्त्र प्रचलन में आ गया था। धीरे-धीरे देश के अन्य भागों में फैल गया तथा गुप्तकाल के आते आते महिलाओं की ड्रैस का हिस्सा बन गया।

**कनचक (Kanchuka)**

यह एक कोट अर्थात चोगे जैसा कुर्ता अथवा फ्रॉक होता था यह उत्तर पूर्वी भारत में पहले प्रचलित हुआ और वहां से देश के अन्य भागों में आया। गांधार एवम् मथुरा के प्रस्तर एवम् टैराकोटा मूर्तियों को यह वस्त्र पहने देखा जा सकता है। मत्स्य पुराण में लक्ष्मी का विवरण कनचक पहने किया गया है। यह वस्त्र कई प्रकार की लम्बाई में मिलता है। सेवक महिलाओं में लम्बा प्रचलन में था। दूसरा मध्यम लम्बाई का अर्थात घुटनों तक का होता था और तीसरा किस्म का छोटी लम्बाई का अर्थात् कमर तक अर्थात साड़ी के ऊपर रहता था जैसे सिरसा से प्राप्त महिषासुरदामिनी की मूर्ति इसी प्रकार का वस्त्र पहने हुए है।

**अधोवास (Lower garment)**

आमतौर से आज भी साड़ी जैसा वस्त्र भारतीय स्त्री का अधोवास होता था लेकिन विदेशी आक्रमणकारियों ने कुछ नए किस्म के पौशाक पेश किए और कुछ ने पहनने के ढंग में परिवर्तन किए। कुछ किस्म की पौशाकों पर तो प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

### सादिका (Sadika)

साड़ी (लहंगानुमा) भारत में पहले से ही पहनी जाती थी परन्तु विदेशी प्रभाव के कारण अब इसको पहनने का ढंग में परिवर्तन आ गया। अब इसके पीछे की प्लेट (चुन्नटें) (लहंगा) खत्म हो गई दूसरे अब साड़ी की लम्बाई भी घुटनों तक हो गई। घुर्ये के अनुसार संभवतः इन परिवर्तनों के पीछे विदेशी प्रभाव कार्य कर रहा था।

### वसनअंत (स्कर्ट)

यह भारत में कुषाण काल में प्रचलन में आई। देवगढ़, अहिच्छत्रा, मथुरा से इसके उदाहरण उपलब्ध हैं। श्रीवास्तव इस प्रकार का वस्त्र पहने बहुत से मथुरा से प्राप्त मूर्तियों का विवरण देता है।

### पायजामा

पायजामा जैसे स्टाईल का वस्त्र भी महिलाएं धारण करती थी। इस प्रकार का वस्त्र मध्य एशिया में काफी प्रचलन में था। यह भारत में संभवतः इस क्षेत्र से भारत में आगमन करने वाले विदेशी समूहों के साथ ही आया। यह पंजाब में आज पहने जाने वाली सलवार का ही संभवतः प्रारूप है।

### अंग्रथान (घुंघट)

घुंघट प्रथा भी भारत का विदेशी देन है। वेदों में यहां तक कि प्रारम्भिक काल की जैसे भारहुत सांची तथा मथुरा आदि कलाक तियों में हमें घुंघट के कोई चिन्ह नजर नहीं आते। Hallade के अनुसार यह हैलेनिस्टिक कला की देन है। ग्रीक सिक्कों पर अक्लीज की माँ को घुंघट धारण किए हुए दिखाया गया है। मार्शल के अनुसार यह प्रथा पहले उत्तर पूर्वी भारत में आई और धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में फैल गई और पर्दा आम प्रचलन में आ गया।

### वस्त्रों की सजावट

वस्त्रों को मोतियों तथा विभिन्न प्रकार के धातुओं के तारों से सजाने की कला, ऐसा लगता है कि भारत में कुषाण काल से आई। ये सजावट का काम आमतौर से किनारों पर होता था परन्तु इस प्रकार डिजाईन सम्पूर्ण वस्त्र पर भी कभी-कभी किया जाता था। कुषाण राजा कनिष्क का कनचक एवम् चीनचोलका के किनारों पर मोतियों तथा धागे का काम किया गया है। इसी प्रकार सूर्य देवता का कोट पूरा का पूरा पर्ल के जड़ाऊ काम से सजाया गया है।

### केश विन्यास एवम् हैडड्रैस

प्रस्तर एवम् टैराकोटा की मूर्तियों से स्पष्ट नजर आता है कि इस काल में बालों को विभिन्न प्रकार से बनाया जाता था तथा सजाया जाता था। ऐसा लगता है कि कुछ प्रकार के केश विन्यास विदेशी प्रभाव का परिणाम है क्योंकि कुछ प्रकार के बाल बनाने के तरीके पहले प्राप्त नहीं होते। विष्णु पुराण में एक वर्णन आता है जिसमें वर्णित है कि समाज के कुछ रूढ़िवादी वर्ग इस प्रकार के बाल संवारने के तरीकों को अच्छा नहीं समझती थी और उन्हें कलियुग का प्रतीक मानती थी। बालों को विभिन्न प्रकार के जूड़ों में (सिर के ऊपर, पीछे, साइड में, लम्बे, गोल, अर्धगोलाकार, पौनी टेल आदि) बनाया जाता था और कुछ प्रकार के बाल बनाने के तरीके टैलनिस्टिक प्रभाव (ग्रीको-रोमन) की स्पष्ट झलक देते हैं। इसी प्रकार पुरूषों के बाल बनाने के कुछ तरीके अर्थात स्टाईल भी हमें ग्रीको-रोमन पुरूषों के बाल बनाने के ढंग (स्टाईल) की याद दिलाते हैं। गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में घुंघराले बालों का फैशन पुरूष महिलाओं दोनों वर्गो में काफी प्रचलन में था।

## Head dress

इसी प्रकार विदेशियों के भारत आगमन के साथ ही भारत में विभिन्न प्रकार की Headdresses भी प्रचलन में आई जैसे विभिन्न प्रकार की टोपियाँ, विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थर एवम् मोती जड़ित मुकुट, विभिन्न प्रकार के पट्टिकम् (रिबन) तथा माथे पर बांधी जाने वाली पट्टिका।

### टोपी

इस काल में विभिन्न स्टाईल की टोपियाँ देखने को मिलती हैं जैसे चौकोर टोपी, तिकोना टोपी अर्थात चोटी वाली टोपी। मोतीचन्द्र के अनुसार भारत में विदेशियों ने जैसे सिथियन ने टोपी की कुछ प्रकारों से भी परिचय करवाया। शकों की एक शाखा तो अपनी टोपी की विशेषता से ही जानी जाती थी जैसे तिगरखुद (Tigrakhauda) जिसका अर्थ है चौटी वाली टोपी वाले शक। टोपी का यह फैशन सिथियन के माध्यम से पहले उत्तर पूर्वी क्षेत्र में आया रोजनफील्ड के अनुसार सांची और मथुरा से प्राप्त चोटी वाली टोपी (Peaked Cap) नीमूद दध (Nimud Dagh) से प्राप्त चोटी वाली टोपियों से काफी मिलती जुलती हैं। इस प्रकार की टोपी पहनने का फैशन भारत में शकों के लम्बेकाल तक शासन बना रहने के कारण हुआ। इस प्रकार की टोपी का फैशन प्राचीन भारत में पूर्व मध्यकाल तक बना रहा।

### पट्टिका (Pattika)

सिर के चारों तरफ पट्टी (Fillet) पहनने का रिवाज पूर्णतः बाहरी (विदेशी) था। संभवतः यह हलैनिस्टिक प्रभाव था क्योंकि सिलुसिड तथा इंडोग्रीक शासक अपने बालों को सही आकार में बनाए रखने के लिए यह माथे के चारों तरफ एक पट्टी (Fillet) सी बांधते थे। रावलसन के अनुसार प्रशियन राजा तथा आम आदमी सभी इस प्रकार स्टाईल को पंसद करते थे। जिसे बाद ससानियन शासकों ने विशेष रूप से काफी पसंद किया। गुप्त काल में विशेष रूप से योद्धाओं ने आमतौर पर इस पट्टिका का प्रयोग किया।

### मुकुट (Crowns)

कुषाण कालीन सिक्कों पर शासकों को विभिन्न प्रकार के मुकुट पहने देखा जा सकता है। गांधार और मथुरा से प्राप्त गुप्त, गुप्तोत्तर तथा पूर्वमध्यकाल की मूर्तियां इसी प्रकार के मुकुट पहने नजर आती हैं। बाण भी विभिन्न प्रकार के मुकुटों जैसे कीर्त मुकुट, करंद मुकुट, हीरे जवाहरात से जड़ाऊ मुकुट का वर्णन करता है। बनर्जी के अनुसार कीर्त मुकुट हीरे जवाहरात से जड़ा हुआ कोनीकल मुकुट होता है जो कि विभिन्न देवी-देवताओं जैसे सूर्य, कुबेर, नारायण एवम् बौद्धिसत्वा द्वारा पहना जाता है। यह मुकुट कुषाणकाली सिर की ड्रैस (Head dress) या फिर इन्डोसिथियन के हैलमैट से विकसित हुआ, जो कि मथुरा एवम् गांधार से प्राप्त बहुत सी मूर्तियों के पुरूष सिरों पर देखा जा सकता है।

### श्रं गार प्रसाधन

श्रं गार प्राचीन भारत में महिलाओं का विशेष शौक रहा है इसीलिए श्रंगार प्रसाधनों पर बहुत बल दिया गया है। इसीलिए एक पतिव्रता स्त्री, जो कि अपने पति की लम्बी आयु की कामना करती थी, उनके लिए हल्दी सैफरन, लाल मोती, पान का पत्ता, गहने, चूड़ियाँ, बाली और बालों को संवारना आवश्यक होता था।

शक कुषाण काल में उनके श्रं गारदान में और बहुत सी चीजें जुड़ गई जैसा कि तक्षशिला

की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट होता है सिरकप से शक-पार्थियन सतह से प्राप्त कांस्य का शीशी स्पष्टतः पश्चिमी छाप लिए हुए है। इसी प्रकार ब्रह्मपुरी से सातवाहन सतह से प्राप्त तांबे का शीशी ग्रीको-रोमन प्रभाव का उदाहरण है। हड्डी, हाथी दांत, तांबा तथा कांस्य की बनी पिन तथा सिलाई (Pin and rods), कान साफ करने वाली सलाई, तांबे की बनी सिर की सुईयां आदि सभी ग्रीक की प्रेरणा के सबूत हैं। छोटी बड़ी कंघियां शायद बालों को सजाने के लिए होती थी। प्राचीन काल में स्त्रियां साज सज्जा, श्रं गार प्रसाधनों की बहुत शौकिन थी कि पुष्टि हमें बहुत सी पेंटिंग दीवारों पर चित्रित द श्यों तथा समकालीन लेखकों के विवरण से इसकी पुष्टि हो जाती है। कालीदास के अनुसार गुप्तकाल में समाज के उच्च एवम् सम्पन्न वर्ग की स्त्रियां ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करती थी तथा अपने सौंदर्य प्रसाधन के लिए ईत्र, क्रीम, पाऊडर तथा फूलों आदि का प्रयोग करती थी।

अजन्ता की गुफाओं में बाथरूम में हण्य महिलाओं का सौंदर्य प्रसाधन की वस्तुओं के प्रति चाव को इंगित करते हैं। उच्च वर्ग की ना केवल स्त्रियां अपितु पुरूष भी सौंदर्य प्रसाधनों के शौकिन थे। गरीब महिलाएं भी श्रं गार की शौकिन थी ये अपने चेहरे को सिन्दूर से डिजाईन करती थी तथा केसर की खुशबू अपने शरीर पर लगाती थी।

महिलाएं विभिन्न प्रकार के लेप बनाकर अपने शरीर पर मलती थी ताकि उनके शरीर से भिन्न प्रकार की महक आए जैसे राज्यश्री ने विभिन्न वस्तुओं जैसे केसर आदि को मिलाकर अपने शरीर पर लगाने के लिए एक लेप तैयार करवाया।

**आभूषण**

आभूषणों का शौक प्राचीन भारत में स्त्री पुरूषों को प्रारम्भ से ही रहा है। हड़प्पा काल में ही स्त्रियां विभिन्न प्रकार के आभूषण हाथ, पैर, गर्दन और करघनी में पहनती थी।

विदेशी आक्रमणकारियों के भारत आगमन तथा यहां की संस्क ति में घुल मिल जाने से दोनों संस्क तियों का एक दूसरे पर प्रभाव स्वाभाविक है। इस काल में वस्त्रों की भांति आभूषणों पर भी विदेशी प्रभाव स्पष्अ झलकता है। इंडो-ग्रीक, शक-कुषाण काल में यद्यपि प्रारम्भिक काल के आभूषणों के डिजाईन प्रचलन में रहे परन्तु उनके आकार प्रकार एवम् डिजाईन में कुछ परिवर्तनों के साथ। गांगुली के अनुसार अब जेवरात अधिक कलात्मक एवम् वजन में हल्के हो गए। मार्शल के अनुसार भीरमांऊड तथा सिरकप से प्राप्त आभूषण स्पष्टतः ग्रीक एवम् ग्रीकोरोमन आभूषणों की झलक देते हैं। कान के आभूषण, गले के आभूषण, हाथ तथा पैर के आभूषण सभी पर विदेशी प्रभाव देखने को मिलता है जैसे कान के आभूषणों में अम्फोर टाईप, तश्तरीनुमा, दिल के आकार के अंगूठी के आकार। इसी प्रकार गले के आभूषणों में जैसे मार्शल कहता है कि बहुत सी किस्म के हार (Necklace) जो तक्षशिला से प्राप्त हुए हैं और जिन पर बहुत अधिक कलाकारी की हुई है। उन पर ग्रीक एवम् ग्रीको-रोमन प्रभाव स्पष्टतः नजर आता है। इस तरह के हार पहने मथुरा पूर्व मध्यकालीन देवता विष्णु, लक्ष्मी, नारायण तथा विष्णु की मूर्तियां नजर आती हैं।

टोरक (Torque) जो कि सिथिक-सैल्टिक आभूषण है, प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में नजर आता है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण तक्षशिला में उपलब्ध हुआ।

इसी प्रकार हाथ की कलाई पर तथा बाजू पर पहने जाने वाले आभूषणों पर भी बाहरी प्रभाव साफ झलकता है। मार्शल के अनुसार तक्षशिला से प्राप्त चूड़ियों, बाजूबन्द एवम् कड़ों पर

भी ग्रीक एवम् ग्रीकोरोमन प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। इसी प्रकार कमर पर पहनी जाने वाली विभिन्न प्रकार की करघनियों, ताबीज एवम् पैनडन्टस, अंगूठी आदि जेवरात भी स्थानीय एवम् विदेशी जेवर बनाने की कला के सुन्दर समन्वय के प्रतीक हैं।

### धर्म एवम् धार्मिक विश्वास

खानपान, रहन-सहन के अतिरिक्त विदेशियों के भारत आगमन पर प्राचीन भारतीय ध र्म एवम् धार्मिक विश्वासों में भी कुछ नए तत्त्व एवम् कुछ परिवर्तन आए। यह देखने में आया है कि विदेशियों ने साधारणतः सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों और उनसे जुड़े कर्मकांडों का सम्मान किया। इन्डोग्रीक ने बुद्ध धर्म के उपदेश, कुषाणों ने शिव स्कन्द और बुद्ध, सिथियन ने आमतौर पर ब्राह्मण धर्म और हूण ने शैव धर्म को अपनाया। देबल मित्रा के अनुसार सिथे-पार्थियन एवम् कुषाणों की समन्वय नीति के कारण धर्म के क्षेत्र में यह तत्त्व सबसे प्रबल रहा है।

ईसा के प्रथम शताब्दी के आसपास भारतीय विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में बहुत से नवीन तत्त्व उभर कर आए जिनका स्पष्ट कारण विदेशी आक्रमणकर्त्ता का भारतीय संस्क ति में विलिन होना रहा है।

### मूर्तिपूजा

मूर्ति पूजा का वैदिक धर्म में कोई स्थान नहीं था। बुद्ध एवम् सूर्य की पूजा चिन्ह (Symbolic) रूप में होती थी। विदेशियों के भारत आगमन पर बुद्ध तथा सूर्य की मूर्तियां बनाई जाने लगी। गांधार तथा मथुरा से बुद्ध और सूर्य की मूर्तियों का मिलना इस बात का साक्ष्य है कि अब मूर्ति पूजा प्रारम्भ हो गई अतः विदेशी आक्रमणकारियों विशेष रूप से ग्रीकस ने भारत में मूर्ति पूजा की परम्परा डाली। यहा कहा जाता है कि ग्रीक देवता हराकल (Herakle) की मूर्ति पोरस की सेना के सामने लाई गई। पुराणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि भारत में मूर्तिपूजा काफी देर से प्रारम्भ हुई। मथुरा से प्राप्त पूर्व मध्य कालीन सूर्य देवता की मूर्ति का पहनावा, नैन नक्श स्टाईल सभी में विदेशी स्टाईल स्पष्ट नजर आता है। भारतीय देवताओं की क तियों पर विदेशी कला का प्रभाव पूर्व मध्यकाल तक चलता रहा।

### शक्ति सम्प्रदाय

यद्यपि शक्ति का विचार भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है परन्तु जैसा कि भट्टाचार्य कहते हैं कि शक्ति पूजा का ढंग इतना अभारतीय था कि हम इसे विदेशी प्रभाव मानने को मजबूर हो जाते हैं। कुषाण शक्ति पूजा का (Cult) सम्प्रदाय भारत में लाए। उनके सिक्कों पर अकसर नाना (Nana) देवी की तस्वीर मिलती है और कुछ पर उसे 'उमा' के नाम से प्रस्तुत किया गया है। हाजरा के अनुसार 'उमा' भी मूलतः विदेशी देवी रही होगी जो कि बाद में भारतीय शक्ति सम्प्रदाय का हिस्सा बना ली गई। कुषाण देवियां अकसर सिक्कों पर शेर पर सवार दिखाई गई हैं। गुप्तकाल में सिक्कों पर इसी परम्परा में दुर्गा को शेर पर सवार दिखाया गया है।

### देवपुत्र (Devputra Cult)

राजा को देवता समकक्ष मानने का विचार प्रथम शताब्दी के आसपास आया तथा कुषाण शासक प्रथम ऐसे शासक थे जिन्होंने देवपुत्र Cult को प्रोत्साहित किया यहां तक कि कुछ कुषाण शासक स्वयं को ईश्वर और सर्वलोगेश्वर कहने लगे तथा यह विचार गुप्त तथा गुप्तोतर काल में भी प्रचलित रहा। इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख में हमें 'देवपुत्र साही सहनसाही' सम्बोधन मिलता

है। देवपुत्र सम्प्रदाय से ही देवकुल नामक संस्था की उत्पत्ति हुई। यह एक प्रकार का मन्दिर होता था जिसमें जीवित राजा की मूर्ति पूजा के लिए लगा दी जाती थी। मथुरा क्षेत्र से ऐसे दो देवकुलों के उदाहरण मिलते हैं।

कुषाणों की इस शाही परम्परा को धीरे-धीरे सरकारी उच्चपदाधिकारियों (Nobles) ने भी अपना लिया। एक अभिलेख जनरल उलना (Ulana) की इस प्रकार की मूर्ति स्थापित करने का विवरण मिलता है। देवकुल की यह परम्परा सातवाहनों और गुप्तों में भी देखने को मिलती है ऐसा लगता है कि इस प्रकार के मन्दिर परिवार क जीवित सदस्यों द्वारा पूजे जाते थे। आज भी यह परम्परा देखने को मिलती है किसी पूर्वज की म त्यु के पश्चात् उसके परिवार के सदस्य उसकी मूर्ति स्थापित कर उसकी पूजा प्रारम्भ कर देते हैं।

### अग्नि पूजा

यद्यपि अग्नि देवता के रूप में वैदिककाल से ही महत्त्वपूर्ण रही हैं परन्तु अग्नि की ईरानियन ढंग से अर्थात अग्नि वेदी के रूप में पूजा ईसा की प्रथम शताब्दी से ही प्रारम्भ हुई जिसे कुषाण काल में और प्रोत्साहित किया गया तथा गुप्तकाल में अग्नि की इस रूप में पूजा प्रचलित रही जैसा कि बसाढ, सुनेत और भीटा से प्राप्त सीलों पर ईरानियन अग्नि वेदियां (Pranian firealter) मिलती है। ऐलोरा से हमें अग्नि देवता की दाढ़ी वाली आक ति मिलती है जो कि प्रशियन एवम् हलैनिस्टिक विशेषता है। इस प्रकार वेदी और मूर्त रूप में अग्नि देवता का विकास विदेशीय है।

इसी प्रकार अन्य बहुत से सम्प्रदायों पर विदेशी प्रभाव **स्कन्द कार्तिकेय** साफ झलकता है जैसे लक्ष्मी Cult तथा स्कन्द कार्तिकेय Cult यद्यपि इनकी उत्पत्ति स्थानीय अर्थात भारतीय है परन्तु इनकी कुछ विशेषताएं (traits) विदेशियता से प्रभावित है जैसे स्कन्द द्वारा पहना कंचुक टाईप वस्त्र सिथो-कुषाण ड्रैस है। इसी प्रकार सूर्य एवम् शैव Cult भी विदेशी प्रभाव से अछूते न थे।

### भोजन एवम् पेय पदार्थ

विदेशियों का भारत में आगमन तथा यहां की संस्क ति में समन्वय के कारण भारतीयों अर्थात स्थानीय लोगों के रहन-सहन की भांति भोजन (Food habbits) करने के ढंग पर भी प्रभाव पड़ना स्वभाविक था।

### मांसाहारी भोजन

यद्यपि भारतीय हड़प्पा तथा वैदिक काल से ही मांसाहारी भोजन करते थे परन्तु विदेशियों के स्थानीय लोगों से मेल जोल के कारण कुछ नए किस्म के मीट जैसे सुअर, मुर्गे, गधे एवम् ऊंट का मांस भी उनके भोजन का हिस्सा बन गए। आपस्तम्भ धर्मसूत्र, मनुस्म ति तथा गौतम धर्मसूत्र के अनुसार घोड़े, ऊंट, गधे का मांस वर्जित किया गया था क्योंकि इनका मांस विदेशी जो भारत में आकर बसे उनका प्रिय भोजन था। पुराणों में भी जिन पशुओं का मांस भारतीय कर सकते थे उनकी सूची दी गई है उनमें भी इन पशुओं का नाम नहीं मिलता।

### पेय पदार्थ

विदेशियों के भारत में आकर बसने से पहले भी नशीले पेय प्रयोग में लाए जाते थे जैसे मदिरा एवम् सोमरस पान। अब कुछ और भी किस्म के पेय उनके पेय पदार्थो में जुड़ गए थे। अग्रवाल के अनुसार पंजाब में अकमेनियन आक्रमण के साथ कुछ नई किस्म की शराब जैसे कपिसयानी, मेरेय पेय की जानकारी स्थानीय लोगों को हुई और दूसरी नशीली पेय जो विदेशियों

के विलय से भारत में आई वह थी सिधु तथा हरहुरक।

महिलाओं में शराब पीने का शौक विदेशियों के साथ आया। प्राचीन काल में स्त्रियों का शराब पीने को अच्छा नहीं समझा जाता था। महिलाओं में एक वर्णन आता है जिसमें पंजाब की स्त्रियों को उनके नशे की आदत के कारण castigate किया गया। यूनानी लोग शराब के बहुत शौकिन थे संभवतः उन्होंने ही शराब को भारत में प्रसिद्ध किया।

### फल, अन्न एवम् सब्जियाँ

भारतीय फलों के अतिरिक्त कुछ अन्य फलों को जैसे अनार, पिस्ता, अंजीर, नारंगी आदि को खाने की आदत विदेशियों से ही स्थानीय लोगों को पड़ी। इसी प्रकार अनाज में गोधुम (गेहूँ), चना, अरहर, लोभिया, मसूर आदि स्थानीय लोगों के भोजन का हिस्सा विदेशियों के सम्पर्क मे आने के बाद ही बने। सब्जियों में पलंदू (प्याज) तथा लहसुन का सेवन भी विदेशियों के सम्पर्क के पश्चात ही शुरू हुआ। यही कारण है कि आज प्याज एवम् लहसून तमस भोजन माना जाता है।

### मनोरंजन के साधन

विदेशियों के भारतीय समाज में विलय के कारण मनोरंजन के साधनों में भी व द्धि हुई। गायन कला, वाद्य कला, डांस तथा थियेटर सभी पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। जैसे

### गायन विद्या

विदेशियों के सम्पर्क से कुछ नए नोटस, लय, राग विकसित हुए जैसे भारतीय राग विधि में सीथियन ने तीन राग- शक राग, शक तिलक तथा शक मिरित तथा अमीरों ने अमीर राग नए जोड़े। इस प्रकार भारतीय गायन कला के विकास में मध्य एशिया ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अजन्ता एवम् बाघ गुफाओं में चित्रित गायकों को सीथो-कुषाण पोशाक पहने हुए दिखाया गया है यह भारतीय गायान विद्या के विकास में विदेशियों के योगदान की ओर पुष्टि करता है।

### वाद्य यन्त्र

प्रचलित वाद्ययन्त्रों की सूची को भी विदेशी सम्पर्क ने और लम्बा कर दिया जैसे ड्रम, शंख, बैगपाईप, बांसुरी, वीणा विदेशी सम्पर्क का ही परिणाम थे। हॉपकिन्स के अनुसार महाभाष्य में वर्णित सात तारों वाली वीणा ग्रीक सम्पर्क का परिणाम थी।

### न त्य कला

विदेशी सम्पर्क के कारण प्रचलित न त्य कला में कुछ नई भाव भंगिमाएं एवम् मुद्राएं विकसित हुई जैसे हलिसा (एक पुरूष बहुत सी स्त्रियां) न त्य पद्धति विदेशी सम्पर्क का परिणाम थी। बाण इसे हलैनिक लोगों का mystry न त्य कहता है जो वे भारत में लाए।

### थियेटर (ड्रामा)

थियेटर की भारत में शुरूआत को लेकर विद्वानों में मतभेद है। ग्रीक और सिथियन के इस कला के विकास में योगदान पर कोई संदेह नहीं है।

ड्रामा ग्रीस में पैरिक्लिन के काल से प्रारम्भ हो गया था। भारत में बसे ग्रीक वासियों ने मनोरंजन का इस परम्परा को भारत में भी जिंदा रखा होगा। अतः यह संभव है कि बैक्ट्रिया

पंजाब एवम् गुजरात के राज्य में हलैनिस्टिक राजाओं के दरबार में ये ड्रामा किए जाते रह होगें। स्टेज पर प्रयोग होने वाले पर्दे के लिए उपयोग होने वाला शब्द 'यवनिका' ग्रीक प्रभाव की संपुष्टि करता है। भारत में महाभाष्य पहली रचना है जिसमें ड्रामा शब्द प्रयोग हुआ है। इससे पहले के साहित्य में कहीं इसका वर्णन नहीं मिलता।

भारतीय थियेटर के विकास में सिथियनस ने भी थोड़ा योगदान दिया। यह माना जाता है कि संस्क त ड्रामे की शब्दावली उसकी तकनीक तथा इससे सम्बन्धित सभी पहलुओं की उत्पत्ति एवम् विकास सर्वप्रथम क्षत्रप शासकों के काल में हुआ।

इस प्रकार भारतीय समाज में विदेशी जातियों के विलय से थियेटर, न त्य एवम् गायन कला का बहुत विकास हुआ।

**सती प्रथा**

मध्य एशियाई कबीले, जो भारत में आकर बसे उनमें सती प्रथा प्रचलित थी। जैसा कि थापलयाल कहते हैं वैदिक साहित्य ग हसूत्र, अर्थशास्त्र और धर्मसूत्र- में सतीप्रथा के भारत में प्रचलित होने के कोई साक्ष्य नहीं मिलते। सती प्रथा का सर्वप्रथम वर्णन महाभारत में आता है जब तक सती प्रथा भारत में प्रचलित हुई तब तक प्राचीन विश्व इस प्रथा से अनभिज्ञ नहीं था। भारत में सती प्रथा संभवतः सीथियन ने प्रारम्भ की। उपाध्याय के अनुसार यह प्रथा भारत में शकों द्वारा स्थापित की। राहुल सांस्क त्यायन के अनुसार यह प्रथा भारत में बहुत पहले से प्रचलित थी परन्तु इस को प्रोत्साहन शक, जिसके यहां म त पति के साथ पत्नी को जलाना आम बात थी, शासको ने दिया। यद्यपि यह कहना बहुत ही कठिन है कि सतीप्रथा की भारत में उत्पत्ति स्थानीय थी या इन विदेशियों के आगमन से हुई परन्तु इतना निश्चित है कि इस काल में अर्थात् विदेशी आक्रमणकारियों के भारतीय समाज में विलय के पश्चात् यह प्रथा तेजी से विकसित हुई। गुप्तकाल के आते-आते इस प्रथा को धर्मानुरूप भी करार दे दिया गया। तत्पश्चात् साहित्य सती होने की घटनाओं से भरा पड़ा है।

अतः साहित्यक एवम् पुरातात्विक स्त्रोतों से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में मध्य एवम् पश्चिमी एशिया से बड़ी संख्या में विदेशी झुंडों के रूप में भारत में आए और भारतीय समाज में विलिन हो गए परिणामतः भारतीय जनसंख्या में बहुरंगता (Heterogeneous Population) आई तथा भारतीय परम्परागत सामाजिक ढाँचा भी चरमरा गया। उच्चजातिय ब्राह्मण अपने को असुरक्षित समझने लगे, बहुत सी नई-नई उपजातियां बनी। इसी प्रकार लोगों के रहन-सहन, खानपान, मनोरंजन के साधन, धार्मिक विश्वास एवम् धर्म आदि में स्थानीय एवम् विदेशी संस्क तियों के समन्वय से परिवर्तन आया और इस प्रकार भारतीय संस्क ति एक सांझी संस्क ति के रूप में उभरी जिसमें उन सब विदेशियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा जो अब भारतीय समाज का हिस्सा बन गए।

# अध्याय - 22
# संगम काल : समाज एवम् संस्क ति
# (Sangam Age : Society and Culture)

संगम साहित्य से सुदूर दक्षिण भारत की सामाजिक तथा सांस्क तिक जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। संगम साहित्य से स्पष्ट है कि चेर, चोल, पांडेय एवं दक्षिण के अन्य छोटे राज्यों के सामाजिक ढांचे में जहां एक तरफ ब्राह्मण संस्क ति की नैतिकता एवम् उच्च आदर्श स्थापित थे वहीं दूसरी तरफ उसी में जनजातीय रीति रिवाजों और जीवन मूल्यों का सम्मिश्रण भी था अर्थात् उत्तरी और दक्षिण भारत के सांस्क तिक तत्वों का समन्वय इस काल की विशेषता रही हैं।

## ब्राह्मण वर्ण

सामाजिक सम्बन्धों में वर्ण चेतना ने विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण तथा पुरोहितों को तमिल समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था जैसा कि संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि इस काल में सुदूर दक्षिण के राज्यों में वैदिक यज्ञ का प्रचलन हो चुका था बड़े वैदिक यज्ञों में अत्यधि ाक खर्च होने के कारण इनको भले ही राजा महाराजा सम्पन्न करते हों परन्तु वैदिक संस्क ति के प्रभाव के कारण राजदरबारों में ब्राह्मणों और पुरोहितों की ही सर्वोच्चता स्थापित थी। उनका राजा और ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले माध्यम के रूप में महत्व बढ़ने लगा। ब्राह्मणों को अब अधिक दान देना, उन्हें प्रसन्न रखना दक्षिण भारतीय राजाओं को मुख्य उद्देश्य हो गया। वे बहुधा कर से मुक्त होते थे अनेक के पास अपनी भूमि होती थी और इसके अतिरिक्त उन्हें राजकीय सहायता प्राप्त थी। ये कवि एवम् लेखक के रूप में कार्य करते थे। उत्तर भारतीय ब्राह्मण भूस्वामियों के विपरीत, जैसा कि रोमिला थापर कहता है, दक्षिणी ब्राह्मण अधिक साहसी होते थे तथा वे अपनी बची हुई आय व्यापार में लगाते थे। कुछ ने तो दक्षिण पूर्व एशिया की यात्रा भी की और समुंद्री यात्रा के प्रतिबन्ध के बावजूद वे वहां जाकर बस गए। ये ब्राह्मण जैसा कि संगम साहित्य में उल्लखित है, मांस खाते थे और ताड़ी पीते थे। फिर भी समाज में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त था।

## वेलालर

ब्राह्मणों के अलावा संगम साहित्य में हमें और भी दूसरे वर्गों का उल्लेख मिलता है। उत्तर भारत की तरह यही समाज चार वर्णों में नही बंटा हुआ था। राजा के बाद संगम साहित्य में हमें सैनिकों का विवरण मिलता है। वेलालर जाति का वर्णन जो सैनिक कार्य करते थे तथा सम्पन्न क षक थे। ये लोग दूसरे सरकारी कार्यों पर भी पदासीन थे। ये चोल राज्य में इनकी उपाधि वेल और अरशु होता था तथा पाण्डेय शासन काल में कविदी कहलाते थे।

संगम साहित्य अध्ययन से ऐसा लगता है कि संभवतः आमतौर से क षक को ही वेलालर कहा जाता था। क षकों का प्रधान वेलिर कहलाता था। वेलालर लोगों ने ही सर्वप्रथम कांस्य या लाल रंग के मिट्टी के बर्तन बनाए। कुछ विद्वानों के अनुसार कर्नाटक के क्षेत्र में सर्वप्रथम लोहे की

जानकारी भी इन्होंने ही प्राप्त की तथा सिंचाई के नए तरीके एवम् जोके के क षि औजार जैसे कुदाल, फाल आदि का प्रयोग कर दक्षिण भारत में क षि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए। पुरातात्विक अवशेषों और संगम साहित्य से स्पष्ट होता है कि क षि के विकास ने ही सामाजिक जीवन को स्थायित्व प्रदान किया। क षि के विस्तार के कारण बहुत से क षक बड़ी बड़ी भूमि के भाग के स्वामी बन बैठे और क षकों में अपना मुख्य स्थान बनाने का प्रयत्न करने लगे और अपने को वेलिर (क षकों का प्रधान) कहने लगे। इस प्रकार वेलालर दो भागों में विभाजित हो गए - एक जमींदार और दूसरा भूमीहीन खेतिहर मजदूर। धनी वेलालर की नियुक्ति राज्य के उच्च पदों पर भी होते थे। ये शिकार एवम् युद्ध के समय राजा के साथ चलते थे राजपरिवारों से ये वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करते थे। ये शासक वर्ग की एक जाति के रूप में विद्यमान थे। धनी वेलालर मजदूरों से खेती कराते थे जबकि छोटे वेलालर अपने व अपने परिवार के श्रम से खेती करते थे।

## कबिले एवम् परम्परागत व्यवसायिक वर्ग

इनके अतिरिक्त बहुत से व्यवसायिक वर्ग तथा कबीले थे जो धीरे-२ जाति में बदल गए। जैसे पुलैयन (रस्सी की चारपाई बनाने वाले), चरवाहा वर्ग न केवल पशुपालन करता था बल्कि घी और दही तैयार कर उसकी बिक्री भी करता था। तमिल के उत्तर में मलवर लोग रहते थे ये डाका और चोरी का काम करते थे। एनियर - ये धनुष और ढाल से लैस रहते थे तथा शिकार करते थे। चारण (पवर) इनका काम राजा की प्रशंसा या फिर किस्से कहानियों के गीत गाते हुए इधर उधर घूमते थे। विभिन्न प्रकार की व्यवसायिक जातियों के अतिरिक्त कुरवर जो कि पहाड़ी कबीला था का वर्णन भी मिलता है। इनका कार्य पहाड़ों के उत्पादन एकत्रित करना था।

## मरवा कबिला

पुरूनूस में संकलिए एक कविता में मरवा नामक जनजाति में प्रचलित वेत्थी अर्थात् गोहरण प्रथा के अर्न्तगत पशुओं की चोरी या लूट की चर्चा मिलती है। बारहवीं शताब्दी के अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की घटनाएं इस काल तक दक्षिण भारत में होती रही। पशुओं की लूट कभी कभी भोजन एवम् मनोरंजन के लिए भी की जाती थी। पशुहरण में दक्ष मरवा योद्धा राजा के साथ युद्ध में भी भाग लेते थे अपने स्वामी और गाँववालों के लिए युद्ध करना कबीले के नेता अपना कुलधर्म मानते थे। इनको सम्पूर्ण गाँव का समर्थन प्राप्त था। युद्ध में मरने पर ये अपने नेता के सम्मान में उस स्थल पर पत्थर लगाते थे। इनकी पशुपालन एवम् क षि में रूचि नहीं थी और ना ही ब्राह्मण धर्म के आदर्शो के प्रति कोई लगाव। पुरूनूस के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मैदानी भाग में रह रहे लोग कभी कभी पहाड़ी की ढलानों पर रह रहे मरवा लोगों को मारकर अपनी गायों को ले आते थे। अनेक अन्य प्राचीन जंगली जातियाँ थी जो बड़ी निर्धनता की स्थिति में जा रही थी। जैसा कि रोमिला थापर कहती हैं ऐसा लगता है कि समाज में वर्णों की व्यवस्था में मुख्य जोर ब्राह्मण एवम् अ-ब्राह्मणों के विभाजन पर दिया गया है। अब्राह्मणों में उत्तर भारत की तुलना में क्षत्रियों एवम् वैश्यों का वर्णन नहीं मिलता परन्तु शूद्रों की चर्चा मुख्य रूप से की गई है। शूद्रों का विभाजन शुद्ध शूद्र (जिनके स्पर्श से मनुष्य अपवित्र नहीं होता था) एवम् मलिन शूद्र (अस्प श्य) के रूप में किया गया है। अतः अससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के पास ही महत्त्वपूर्ण पद थे तथा अब्राह्मण इनके लिए काम करते थे ब्राह्मणों तथा शूद्रों के अतिरिक्त अन्य वर्ण/जातियों को मध्यवर्ती वर्णों में रखा जा सकता है। मध्यवर्ती वर्णों में, रोमिला थापर के अनुसार इतने संभवतः इतने कड़े भेद नहीं थे। आर्थिक स्थिति से वर्ण की स्थिति में भी कभी कभी सुधार हो जाता था जैसे दरबार में काम करने वालों को कभी कभी विशेष सुविधाएं दे दी जाती थी। राजा राजेन्द्र के आदेशों को ताँबें के पत्र पर अंकित करने वाले तथा राजपरिवार के लिए कपड़ा बुनने वाले कांचीपुरम के बुनकर या राजकीय मंदिर या राजमहल में चिनाई करने वाले

मिस्त्री आदि कुछ लोग करों से मुक्त थे यद्यपि इनमें से कुछ नीची जाति के भी थे जैसे बुनकर परन्तु इनको फिर भी अपनी जाति के लोगों से अधिक सम्मान प्राप्त था।

इस काल मे अनेक नए नए पेशेवर वर्गों तथा मिश्रित जातियों का वर्णन भी मिलता है। क षि, उद्योग एवम् व्यापार की उन्नति के होते हुए भी समाज में आर्थिक विषमता का स्पष्ट वर्णन मिलता है। अमीर लोग ईंट एवम् गारे के पक्के मकानों में रहते थे। शहरों में धनी वर्ग ऊपरी मंजिल में रहते थे और नीचे के भाग को व्यापार के प्रयोग में लाते थे। निर्धन लोगों के घर कच्चे होते थे जंगली जातियां झोपड़ियों में गुजर बसर कर रही थी। ये आर्थिक विषमता बाद के काल में कर्मकाण्ड तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण और पुष्ट एवम् गहरी होती चली गई।

संगम साहित्य के अनुसार यद्यपि वही मनुष्य उच्च एवम् सम्मानीय है। जो चरित्रवान तथा विश्वसनीय है भले ही वह समाज के किसी भी तपके से हो चरित्रहीन भले ही कितनी ही उच्च जाति का है वह हीन है परन्तु व्यवहारिकता में जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था ही महत्वपूर्ण बनी रही।

इस प्रकार संगम वर्णन से स्पष्ट हे कि संगम काल मे जहाँ सामाजिक ढाँचे में ब्राह्मण संस्क ति की नैतिकता और उच्च आदर्श स्थापित थे उसी में जनजातीय रीति रिवाज और जीवन मूल्य जैसे नायकों की परिकल्पना प्रचलित युद्ध में तरीके, म त नायकों के सम्मान में प्रतिमाओं की स्थापना गोमांसाहार की परम्परा भी तत्कालीन समाज में प्रतिष्ठित थी।

## दास प्रथा

दक्षिण भारतीय समाज में इस काल में दास प्रथा भी प्रचलित थी। पुरूष एवम् स्त्रियाँ या तो गरीबीवश स्वयं को बेच देते थे या कोई दूसरा व्यक्ति उन्हें बेच देता था। निर्धनता तथा अकाल की दशा में ऐसे अनेक व्यक्ति मंदिर को बेचे जाने के उदाहरण उपलब्ध हैं। परन्तु दासों की संख्या सीमित होती थी क्योंकि वे अधिकतर घरेलु दास होते थे। बड़े पैमाने पर क षि उत्पादन में दासों का उपयोग नहीं किया जाता था।

## स्त्रियों की दशा

संगम समाज में स्त्री की स्थिति ना ही तो सैद्धान्तिक तौर पर और ना ही व्यवहारिक रूप में पुरूषों के समान थी। संगम साहित्य में विभिन्न प्रकार की महिलाओं का उल्लेख मिलता है। एक वर्ग उन विवाहित स्त्रियों का था जो कि एक कर्त्तव्यपरायण ग हणी की भाँति अपने घर तथा बच्चों की देखभाल कर रही थी। ये स्त्रियां विधवा होने पर या तो पति के साथ सती हो जाती थी या फिर विधवा के रूप में पश्चातापपूर्ण जलालत से भरा हुआ जीवन जी रही थी। कुछ स्त्रियाँ बुद्ध या जैन धर्म अपनाकर साधुत्व को अपना लेती थीं। जैसे हमारे समक्ष कोंडी आदिगल एवम् मनीमेकले नामक भिक्षुणियों के उदाहरण हैं। कुछ दरबारी महिलाओं के विवरण भी मिलते हैं। परन्तु महिलाओं को सिपाही, मिनिस्टर, राजदूत या राजा के सलाहकार के रूप में नियुक्ति नहीं की जाती थी। उनको सम्पत्ति का अधिकार भी प्राप्त नहीं था।

## वेश्याएँ एवम् देवदासियाँ

संगम साहित्य में वेश्याओं एवम् देवदासियों का भी वर्णन मिलता है। वेश्याएँ अनेकों शहरों या गाँव में एक निश्चित गली में रहती थी। अनेकों धनी व्यापारियों के इन वेश्याओं के जाल में फस जाने का वर्णन संगम साहित्य में मिलता है। कोवलन नामक व्यापारी का वेश्या के जाल में फँसकर बर्बाद होने का विस्त त वर्णन इस साहित्य में मिलता है। इसी प्रकार नणीनाई नामक ग्रन्थ में एक पत्नी की दुखद गाथा का वर्णन है कि कैसे लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपने पति को वेश्या के जाल में फँसने से एवम् बर्बाद होने से रोक नहीं पाई।

चोलों के समय में अधिकांश मन्दिरों में देवदासियाँ होती थी। प्रारम्भ में वह सेविकाओं का एक विशेष एवम् सम्मानित समूह होता था जिनमें से कुछ रोम की **'वेस्टल वरजिन्स'** की भाँति, रोमिला थापर के अनुसार, जन्म होते ही या बहुत ही छोटी उम्र में मंदिर को समर्पित कर दी जाती थी। इनमें से जो अधिक प्रतिभासम्पन्न होती थी, उन्हें 'भरतनाट्यम' नर्तकी के प्रशिक्षण के लिए चुन लिया जाता था। परन्तु बाद में इस पद्धति का दुरूपयोग प्रारम्भ हो गया। अब मंदिरों की देवदासियों का पुजारीवर्ग एवम् राजा आदि शारीरिक शोषण करने लगे और इस प्रकार देवताओं के नाम पर उन्हे अब एक प्रकार की वेश्या ही बना दिया गया तथा मंदिर के अधिकारियों ने अब उन्हें अपनी आय का साधन भी बना लिया। इसके विपरीत नगर की वेश्याए जो अक्सर उच्चकला सम्पन्न होती थी, सम्मान की द ष्टि से देखी जाती थी। वेश्याओं और उच्चवर्ग की स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। क्योंकि वे अधिकांश स्त्रियों की अपेक्षा सामाजिक परम्पराओं को बहुत कुछ उपेक्षा कर सकती थी।

## विवाह

संगमकालीन तामिल व्याकरण के ग्रंथ तोल्काप्पियम् के अनुसार तमिल देश में विवाहों को एक संस्कार के रूप में आर्यो द्वारा स्थापित किया गया। धर्मशास्त्र में वर्णित आठ प्रकार के विवाह - ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व राक्षस एवं पैशाच का उल्लेख इस ग्रंथ में भी किया गया है। तमिल प्रदेश में स्त्री तथा पुरूष के सहज प्रषय तथा उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों को पाँच तिणै कहा गया है। मूलतः तमिल परम्परा में विवाह का सरल तथा सहज ढंग था। एकपक्षीय को 'कैक्किडै' तथा औचित्यहीन विवाह को पेसन्विगै कहा जाता था। ध र्मशास्त्रों में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों को तमिल पंरम्परा में समन्वित करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। संगम साहित्य में प्रेम विवाह के कई अन्य प्रकारों का वर्णन मिलता है। विवाह सम्बन्धी विस्त त वर्णन शिलप्पदिकारम और मणिमेरवलै में उपलब्ध है।

## खान पान

जैसा कि संगम साहित्य से स्पष्ट है इस काल में दक्षिण भारत में लोग शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन करते थे। मांसाहारी भोजन में मटन, कबाब, कछुआ, मछली तथा खरगोश का माँस खाते थे। नशीली वस्तुओं का प्रयोग भी करते थे। हमें अफीम का उल्लेख मिलता है। ग्रामीणों का भोजन दूध, दही, मधु एवम् चावल आदि था।

संगम साहित्य में पीले रंग के चावल का उल्लेख मिलता है जो कि उजले चावल की तुलना में निम्न होता था। थौर नामक चावल का भी उल्लेख संगम साहित्य में मिलता है। चावल पीस कर कई प्रकार के समान बनाए जाते थे। पेरूणाउत्तुपहै नामक संगम साहित्य आम के अचार की चर्चा करता है। खजूर, मधु और चावल से शराब बनाए जाते थे। गाँव में ताड़ी की दूकान की चर्चा पत्तपट्ट नामक संगम साहित्य करता है। शायद संगम काल में ही चूने और सुपारी के साथ पान खाने का आदत शुरू हुई।

धनी औरतें काफी अच्छे कपड़े पहनती थी। इस समय बढिया सूती साड़ी तैयार करने की कला विकसित हो चुकी थी। इससे अनेकों रंग के कोर होते थे कपड़े इतने पतले बनाए जाते थे कि धुँआ के समान लगते थे अर्थात् पारदर्शी होते थे। लोग प्रायः सूती वस्त्रों की ही इस्तेमाल करते थे। बाद में ऊनी वस्त्रों को भी बनाया जाने लगा। चूँकि इस काल में ऊनी तथा रेशमी कपड़े की माँग उतनी नही थी अतः इसे बनाने की कला भी उतनी विकसित नहीं थी जितनी कि सूती वस्त्र की रत्नजड़ित आभूषणों का प्रचलन स्त्री और पुरूष दोनों में था। मम्मे नामक मोतियों से जड़ित एक टोपीनुमा आभूषण औरतों को काफी प्रिय था जिसे पीछे बाँध दिया जाता था। इसके अतिरिक्त संगम साहित्य में बावजूद, हार पायजेब आदि जेवरों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के

मोतियों के आभूषणों का भी जिक्र मिलता है। चेहरे पर क्रीम पाऊडर से आकर्षित बनाने और बालों में फूलों का गजरा लगाने की प्रथा थी। तामिल स्त्री फूलों को बहुत पसंद करती थी।

## मनोरंजन

उस काल में मनोरंजन के विभिन्न साधन थे। उच्च वर्ग के लिए मनोरंजन के साधन संगीत, न त्य आदि थे कविता पुरूष और स्त्री दोनों करते थे। कहते है कि करिकल ने पट्टिप्पालाई के लेखक को 1,60000 स्वर्ण मुद्राएँ दी। दरबार में गायकों के घुमक्कड़ दल भी आते थे। गायकों के गान के साथ न तकीयाँ नाचती थी। इन्हें 'पापर' और विडैलियर कहा जाता था। अन्य खेलकूद और मनोरंजन में कुत्तों और खरगोशों के शिकार और योद्धाओं के बीच कुश्ती और घूसेबाजी का उल्लेख मिलता है। बूढ़े लोग पासे का खेल खेलते थे, जुए का काफी प्रचलन था। गाँव के लोग मुर्गे एवम् बकरियों को लड़ाते थे।

संगम साहित्य से जैसा कि जानकारी मिलती है। कि यहाँ के लोगों के अपने विश्वास और शुभ अशुभ होते थे वे भूत प्रेत में यकीन रखते थे। वे ज्योतिष, भविष्य, भाग्य वक्ताओं में भी पूरा विश्वास रखते थे। बालकों को ताबीज पहनाकर अपशकुन से उसे बचाते थे। बरगद के पेड़ में देवताओं का निवास समझते थे। ऐसा विश्वास करते थे कि ग्रहण का कारण साँप द्वारा सूर्य और चन्द्रमा को खा जाना है।

इस काल में गुड़िया-त्योहार ऋतु त्योहार और इन्द्र त्योहार का वर्णन मिलता है।

## शिक्षा

संगम काल का तामिल समाज काफी विकसित एवम् सभ्य था। शिक्षा एक विकसित सामाजिक क्रिया थी। शिक्षा का तात्पर्य मात्र पुस्तक का पढ़ना एवम् उसे समझना ही नही अपितु ज्ञानी-ध्यानी लोगों को सुनना भी था क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि ज्ञानी तथा तजुर्बेदार व्यक्ति की सलाह फिसलन वाली जमीन पर अर्थात् चिकनी जमीन पर सहारे के समान होती है। इस प्रकार अधिक लोकप्रिय स्तर पर महाविद्यालयों की शिक्षा से अधिक सरल शिक्षा तमिल संतों द्वारा दी जाती थी जैसे शैव एवम् वैष्णाव पदों के माध्यम से तामिल संत अशिक्षित श्रोताओं को मौखिक रूप से शिक्षा प्रदान करते थे। ये पद श्रोताओं के सामने गाए जाते थे उन्हें सिखाए जाते थे और समझाए जाते थे।

मंदिर संस्क त की औपचारिक शिक्षा के केन्द्र थे। ये परिपाटी पहले से ही प्रचलित थी। छोटे गाँव में छात्रों को मंदिर के पुजारी पदात थे, या और फिर बड़े मंदिर से सम्बन्ध महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने वाले ब्राह्मण या तो मंदिर के पुजारी के रूप में नियुक्त कर लिए जाते थे अथवा क्षेत्र के प्रशासन में कर्मचारी के रूप में रख लिए जाते थे। जैन और बौद्ध मठों में भी शिक्षा की व्यवस्था थी, परन्तु चूँकि इनकी संख्या कम थी, इसलिए इनका प्रभाव भी कम था। महाविद्यालयों में इन्नाईरम, त्रिभुवनी, तिरूवदुतुरई तथा तिरूवारियुर के महाविद्यालय अधिक प्रसिद्ध थे। महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम योजनाबद्ध होता था जिसमें पाठ्यक्रम के अलावा नियमित उपस्थिति पर बल दिया जाता था। ब्राह्मण परम्परागत वैदिक साहित्य तथा नक्षत्र विद्या का अध्ययन करते थे और राजा घुड़सवारी तीर चलाना तथा कुश्ती आदि। कला का अध्ययन कलाकारों द्वारा किया जाता था। कनकयर एक अध्यापक था जिसने विद्यार्थियों का एक ग्रुप बनाया और उसको साहित्य एवम् व्याकरण की शिक्षा दी। इस प्रकार कुलपतिस नामक शिक्षक ने बहुत सारे विद्यार्थियों को एकत्रित कर विस्त त पैमाने पर शिक्षा प्रदान की। शिक्षक को विद्यार्थी द्वारा वेतन या दक्षिणा अर्थात् फीस जो भी कहे, जिन्स या नकदी के रूप में दी जाती थी। जरूरत पड़ने पर शिक्षक की जो सहायता करे, जिस पर शिक्षक निर्भर कर सके वही आदर्श विद्यार्थी होता था। शिक्षक शिष्य हो शारीरिक दंड भी

दे सकता था। कुछ विद्यार्थी सार्वजनिक विश्राम ग्रहों में रह रहे थे तथा वहाँ रहकर संध्या ६ यान लगाते थे।

चूँकि शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषा तमिल न होकर संस्क त था इसलिए इन महाविद्यालयों में अध्ययन करने वाले अधिकांश विद्यार्थियों का दैनिक जीवन से सम्बन्ध टूट सा जाता था। श्रेणियों के प्रशिक्षार्थियों और कारीगरों के समूह को दिए जाने वाले प्रशिक्षण के माध्यम से व्यवसायिक शिक्षा भी चलती रही।

## तमिल भाषा और साहित्य का विकास

इस काल में क षि के फैलाव से नई नई बस्तियों का विकास हुआ तथा व्यापार की भी उन्नति हुई। व्यापार के कारण प्रदेश के अन्दर स्थानिय एवम् बाहरी लोगों के बीच पारस्परिक सांस्क तिक सम्बन्धों का सिलसिला भी प्रारम्भ हुआ। इन पारस्परिक सांस्क तिक सम्बन्धों ने इस क्षेत्र की भाषा एवम् साहित्य के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

तीसरी सदी ई. पू. के आस पास तमिल भाषा पूर्णतः साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी अर्थात् ऐसी भाषा के रूप में जिसकी अपनी स्वयं लिखने की एक प्रणाली थी। तमिल साहित्यिक परम्परा अर्थात् तमिल भाषा में लेखन की परम्परा के संदर्भ में सबसे प्रारंभिक प्रमाण मदुरई की पहाड़ियों में बनी जैन एवं बौद्ध गुफाओं से प्राप्त तमिल ब्राह्मी के शिलालेख हैं। ये शिलालेख उन लोगों और संस्थानों की पट्टिकाओं के रूप में है जिन्होंने इन कन्दराओं को दान में दिया। इन शिलालेखों में मुख्य स्थान अरिट्टाप्पत्ति (मौगलम, मदुरई), कारूंगलावकूति(मैलूर, मदुरई), कौंगरपुलियाम्कूलम (मदुरई), अजकरमलई (मदुरई) है। इन लेखों में तमिल के ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनको स्थानीय स्तर पर संस्क त, प्राक त या पालि भाषाओं से ग्रहण किया गया है। निगमत्तूर (निगम का सदस्य) और वणिमन (वह पुरूष जो वणिभम या व्यापार में संलग्न है) शब्दों को उदाहरण के रूप में बताया जा सकता है कि इनको तमिल भाषा में संस्क त से ग्रहण किया गया है। इसको भी भली-भाँति लेना चाहिए की इन लेखों में जिस तमिल भाषा का प्रयोग किया है वह तमिल साहित्य की भाषा से काफी अलग प्रकार की है। यह अन्तर इसलिए आया कि उत्तर की ओर से देशान्तर करने वाले जैन एवं बौद्ध धर्मो के अनुयाइयों ने काफी बड़ी संख्या में संस्क त और प्राक त या पालि की उक्तियों का प्रयोग किया। इन उक्तियों को तमिल भाषा की भाष्य प्रणाली के अनुरूप ही ग्रहण किया गया। इन लेखों में जिस ढंग से व्यक्तियों, व्यवसायिकों एवं स्थानों के नामों का प्रयोग हुआ है उस से तमिल का साहित्यिक भाषा के रूप में सूत्राधार मिलता है। इन लेखों का लेखन काल सामान्यतः 200 ई. पू. से 300 ई. के मध्य का है। तमिल भाषा के वीर काव्यों की लोकप्रियता संगम साहित्य के नाम से है और वह साहित्य की तमिल साहित्य की प्राचीनतम परम्परा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

## संघ काव्य (प्रेम और वीरता का काव्य)

तमिल के संघ को संगम साहित्य इसलिए कहा गया है। क्योंकि इनको संगम के द्वारा एकत्रित किया गया है। संगम विद्वानों की एक संस्था थी। इन कविताओं की रचना स्वयं संगम के द्वारा नहीं की गई थी। वास्तव में ये कवितायें संगम से अधिक पुरानी हैं। संगम का इतिहास किवदंतियों से भरा पड़ा है। परम्परा के अनुसार प्रारंभ में तीन संगम अस्तित्व में थे परन्तु अन्ततः उनमें से एक ही संगम के द्वारा किए गये कार्य जीवित रह सके। पहले ऐसा विश्वास किया जाता था कि ये संगम दरबारी कवियों की संस्थायें थीं। परन्तु अब यह स्वीक त तथ्य है कि वे साहित्यिक विद्वानों के द्वारा गठित की गई थीं। संगम और संघ काव्यों की रचना के मध्य समय की जो दूरी है उसके कारण संगम साहित्य मिथ्या जैसा हो गया है। कुल मिलाकर तमिल वीर काव्य लोक कथाओं की उत्पत्ति था। ये भाट कवियों की परम्परा के महत्त्व को अभिव्यक्त करती

हैं। ये भाट कवि अपने आश्रयदाता सरदारों की प्रशंसा में गाते हुए घूमते रहते थे। फिर भी सभी काव्यात्मक रचनायें घूमक्कड़ भाट कवियों की रचना नहीं थीं। उनमें से कुछ की रचना विद्वान कवियों ने की थी जिन्होंने भाट कवियों की परंपरा का अनुकरण किया। कापिलर, पारानर, अव्वायर और गौतमनार इस काल के जाने-पहचाने कवि थे। ये विद्वान भाट कवि थे और इनको साधारण भाट कवियों से अलग पुलावर के नाम से जाना जाता है। साधारण भाट कवियों को पनार कहा गया है। यह साहित्य किसी विशेष सामाजिक समूह या गुट से संबंधित नहीं है बल्कि साधारण जीवनयापन का एक भाग ही है। ये कवितायें कई शताब्दियों में फली फूली जिससे ऐसा लगता है कि तमिल भाषा एवं साहित्य का क्रमिक विकास हुआ। वे न केवल अपनी वास्तविक पहचान को कायम रखने में सफल हुई बल्कि वे वर्गीक त काव्य-संग्रह या चुनिन्दा संग्रह का अभिन्न अंग बन गई।

## वर्गीकरण

हम वर्गीकरण काव्य संग्रहों से कुछ विशेष काव्यात्मक शीर्षकों एवं परिपाटियों कविताएं प्राप्त हैं। एट्टूतोगै या कविताओं के आठ संग्रह और पत्तुप्पाट्टू या दस काव्य संग्रह की ऐसे काव्य संग्रहों की दो श्रेणियां जिनमें वीर गाथा काव्य का वर्णन है। एट्टूतोगै के अर्न्तगत नट्रिणै, कुरून्तौगे, निटुन्तु आदि काव्य संग्रहों के समूह हैं। उदाहरणार्थ मूल्ल्प्पाट्टू आदि काव्य संग्रह पत्तुपत्तु के अर्न्तगत हैं। काव्य संग्रहों को अकम में विभाजित किया गया है इसके अर्न्तगत व्यक्तिनिष्ठ प्यार या प्रेम जैसे विषयों का वर्णन है और पुरम के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठ जैसे लूट और सर्वनाश विषयों का वर्णन हुआ है। काव्य संग्रहों की इन श्रेणियों में अकम और पुरम जैसे शीर्षकों पर कवितायें हैं। काव्य ग्रंथ में अकम शीर्षक पर लिखी गई चार सौ कवितायें हैं और पुरानानुरू काव्य संग्रह में पुरम शीर्षक पर आधारित कवितायें हैं और ये दोनों एट्टतोगै श्रेणी में ही आते हैं। इसी भाँति दोनों अकम और पुरम काव्य संग्रह पत्तूपत्तू श्रेणी में आते हैं। वीर काव्य ग्रंथों के अलावा संगम साहित्य के वर्गीक त ग्रंथों के अर्न्तगत तमिल व्याकरण का ग्रंथ तोल्कप्पियम और अट्ठारह धर्मोपदेशों के वर्णन से परिपूर्ण ग्रंथ पतिनेन्कीश्कणक्क भी आता है। तिरूक्कुरल द्वारा रचित सुप्रसिद्ध तिरूक्कूरल इन अट्ठारह धर्मोपदशों में से एक है। तोक्काप्पियम और पतिनेन्कीश्कणक्क् दोनों की रचना एट्टूतौमै और पत्तू काव्यों के संकलन के बाद हुई। वीर काव्य संग्रहों के संकलन की तकनीकी एवं शैली बाद में की जाने वाली रचनाओं से विशिष्ट प्रकार का अन्तर रखती है।

## काव्य संगठन

संघ काव्य का संकलन मौखिक भाट साहित्य के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया। मौखिक संकलन की विशेषतायें सारे विश्व में लगभग एक जैसी है। भरपुर मुहावरों तथा अभिव्यक्तियों का प्रयोग मुख्य विशेषता है। इनमें उन्हीं मुहावरों एवं अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया है जो उन दिनों सामान्य जनों के मध्य प्रचलित थे। कवि लोग इनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति को जानते थे और वे यह भी जानते थे कि इनका कहां एवं कैसे अपनी कविता में उपयोग किया जाए। कविताओं के संकलन में मूल भावों एवं स्वाभाविक अभिव्यक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है। कि उनको मौखिक रूप से प्रसारित किया जा सके और उनमें सामान्य रूप से भाट कवियों के साथ-साथ समाज की भागीरथी भ स्पष्ट हो सके। कविताओं में घटित होने वाले विभिन्न संदर्भो की अभिव्यक्तियों को व्यक्त करने के लिये काव्यात्मक बनाने की आवश्यकता होती थी। उदाहरण के लिये, यदि किसी सरदार की प्रशंसा करनी होती थी तो उसकी प्रशंसा के लिए ''मालाधारी विजेताओं का योद्धा'', ''गौरवशाली रथों का स्वामी'', ''तेज दौड़ने वाले अश्वों का सरदार'', ''आंखों को रसिक लगने वाला योद्धा'' जैसे काव्यात्मक शब्दों का प्रयोग बिना किसी रूकावट के किया जाता था फिर चाहे कोई भी कवि या सरदार रहा हो।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाट कवि क त्रिम अभिव्यक्तियों एवं उनके संदर्भो के प्रयोग में दक्ष थे। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम उनकी काव्यात्मक प्रतिभा को कम करके देखना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कवियों की व्यक्तिगत का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मौखिक कविता में छंद रचनाओं की तकनीकी साधारण शैली एवं अभिव्यक्यिों पर निर्भर करती थी। यह संकलन की एक ऐसी तकनीकी थी जिसमें ऐसे मुहावरों का प्रयोग होता था जिन पर न केवल कवियों की बल्कि समाज की भी सामान्य तौर पर पकड़ होती थी। इसलिए बार-बार ऐसी पंक्तियों एवं शीर्षकों का वर्णन आया है जिनका उदार परिवर्तन के साथ अनेक कवियों ने विभिन्न काव्यों में प्रयोग किया। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को किवदंतियां सुनाने की प्रक्रिया द्वारा वीर कवितायें पुरानी यादगारों से भरी हुई थीं। जिसके कारण इन कविताओं की रचना समय का निर्धारण करने में कठिनाई होती है।

## ब्राह्मण धर्म का आरम्भ तथा विकास

ऋग्वेद में उल्लिखित उत्तरी भारत में आर्य-दस्यु संघर्ष के समान दक्षिणी और उत्तरी भारत के सांस्क तिक संपर्क में संघर्ष के तत्त्व नहीं मिलते। संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि तमिल देश में वैदिक संस्क ति का स्वागम किया गया।

दक्षिणी और उत्तरी भारत के सांस्क तिक संपर्क के संदर्भ में अगस्त्य ऋषि की अनुश्रूति महत्त्वपूर्ण है। अगस्त्य आश्रम हिमालय से दक्षिण की ओर विस्त त हुआ। पश्चिमी घाट के दक्षिणी छोर पर अगस्त्य आश्रम स्थित हैं। यहाँ से हिंदचीन तक इस ऋषि के आश्रम के पहुँचने की परंपरा है। दक्षिण में आज भी अगस्त्य की विशेष रूप से उपासना होती है। अनेक मंदिर अगस्त्येश्वर के नाम से प्रसिद्ध है जिनमें शिव की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनको अगस्त्य ऋषि द्वारा स्थापित माना जाता है। अगस्त्य का ऐतिहासिक रूप महाभारत तथा रामायण में वर्णित हैं। ऋग्वेद में वे मंत्रद ष्टा ऋषि हैं। उनकी पत्नी लोपामुद्रा तथा उनकी बहन का भी वर्णन उसमें मिलता है।

अगस्त्य द्वारा दक्षिण में ब्राह्मण धर्म तथा वैदिक संस्क ति पहुँचाने के संदर्भ में तीन आख्यान परंपरित रूप से प्रसिद्ध है, जिनमें पहला है विंध्य पर्वत हो नतमस्तक स्थिति में छोड़कर दक्षिण से कभी वापस न आना। दूसरे, अगस्त्य द्वारा इल्वल तथा वातापि नामक राक्षसों का विनाश करना। इंद्र के समान पुत्र प्राप्त होने का वरदान न देने के कारण इल्वल अगस्त्य से नाराज होकर ब्राह्मणों का विनाश कर रहा था तीसरे अगस्त्य द्वारा समुद्र पी जाने की कथा है, जिससे देवताओं को उन असुरो का विनाश करने में सफलता मिली जो समुद्र में छिप गए थे।

अगस्त्य के ही समान कौण्डिन्य ऋषि का भी दक्षिण भारत से पर्याप्त संबंध प्रतीत होता है। वैदिक धर्म के प्रसार के संदर्भ में इस गोत्र के ब्राह्मणों का पर्याप्त योगदान है। दक्षिण भारतीय भाषाओं में उत्कीर्ण अनेक शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में इस गोत्र के ब्राह्मणों को भूमिदान देने का उल्लेख है। तंजौर जिले के पूजारूर गाँव में स्थित दूसरी या तीसरी ईसवी में एक कौण्डिय परिवार का विस्त त विवरण आबूर मूलम् किलार के एक गीत से प्राप्त होता है। जिसमें इस परिवार द्वारा नित्य धार्मिक क त्य तथा यज्ञ करने का उल्लेख है। संगम काल में ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। एक परंपरा के अनुसार पांड्य राजवंशों के पुरोहित अगस्त्य गोत्र के ब्राह्मण होते थे। ऐसी ही एक परंपरागत अनुश्रूति है कि तमिल भाषा तथा व्याकरण की उत्पत्ति अगस्त्य ने की है। पुरनानुरू तथा तोल्काप्पियं के लेखकों तथा इन संगम क तियों के टीकाकार नच्चिरक्किर्नियर (14वीं शताब्दी ईसवी) ने उत्तरी ऋषि (अगस्त्य) का संबंध ा द्वारका ने स्थापित किया है। साथ ही 'वेलिर' द्वारकाधीश क ष्ण के वंशज माने गए हैं। अगस्त्य ने द्वारका से अठारह राजाओं के समूह वेलिर के अठारह कुलों एवं अरूवालरों का नेत त्व किया।

इन्होंने मार्ग में आने वाले दलों का नाश किया तथा उन्हें क षि-योग्य बनाया। महाभारत तथा पुराणों में वर्णित आख्यानों में भी दक्षिण के भागों में बन जलाने तथा क षि के विस्तार से अगस्त्य का संबंध स्पष्ट रूप से स्थापित है। इससे दक्षिण में अगस्त्य द्वारा क षि विस्तार की परंपरा की पुष्टि होती है।

दक्षिण भारत पर वैदिक धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ यज्ञी तथा कर्मकांडी का वैदिक रूप ज्यों-का-त्यों बना रहा किंतु इस काल के अनेक धार्मिक क त्य विश्वास तथा उपासना पद्धति में दक्षिण की प्राचीन परंपरा का समन्वय भी हुआ। ब्राह्मण धर्म को राजाओं द्वारा पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। वे अपने अध्ययन में लगे रहते थे। वैदिक मत को मानने वाले ब्राह्मणों को प्रायः विरोधी संप्रदाय के लोगों में वाद-विवाद होता था। संभवतः यह विरोधी संप्रदाय बौद्ध धर्म वालों का था। संगम साहित्य के अनुसार वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म का सर्वाधिक प्रचलन था।

दक्षिण भारत में मुरूगन या मुरूकन की उपासना सबसे प्राचीन है। बाद में मुरूगन का ना सुब्रह्मण्य भी मिलता है और स्कंद कार्तिकेय में इस देवता का एकीकरण होता है। उत्तरी भारत में स्कंद कार्तिकेय को शिव तथा पार्वती की पुख के रूप में माना गया है। स्कंद-कार्तिकेय के उत्पन्न होने के बारे में रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य ग्रंथों में अनेक कथाएं दी गई है। कही कार्तिकेय को अग्नि का कही क त्तिका का, कही गंगा तथा कही शिव का पुत्र बनाया गया है। महाकाव्यों तथा पुराणों में दी गई स्कंद-कार्तिकेय के जन्म की कथाएं तमिल परंपरा के मुरूगन के संबंध में स्वीकार कर हो गई है। यह और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि तमिल में 'मुरूगु' का अर्थ भी कुमार' है। तो वेद तथा वैदिक परंपरा में स्कंद का एक नामक है। मुरूगन का दूसरा नाम वेलन है। वेलन का संबंध वेल से है जिसका अर्थ बर्च्छा है। यह इस देवता का प्रमुख अस्त्र है। महाभारत तथा पुराणों मे स्कंद के अस्त्र को 'शक्ति' कहा गया है तथा स्कंद की प्रतिमाओं में यह शस्त्र प्रदर्शित भी होता है। यहाँ 'वेल' तथा 'शक्ति' में समानता प्रतीत होती है। दक्षिण की परंपरा में भी मुरूगन का प्रतीक मुर्गा (कुक्कुट) है और इन्हें पर्वत-शिखर पर क्रीड़ा करना बहुत प्रिय है। मुरूगन की पत्नियों में एक कुरवस्त्र नामक पर्वतीय जनजाति की स्त्री भी है। आदिल्वनल्लूर में प्राप्त शव-कलश के साथ मिलने वाले काँसे के कुक्कुट, लोहे के बर्छे तथा स्वर्शपव के मुखखंड यह संकेत करते हैं कि मुरूगन की उपासना प्रागैतिहासिक काल से भी किसी-न-किसी रूप से प्रचलित रही है। किसी व्रत के पूर्ण होने पर आज भी लोग इस प्रकार से उपासना करते हैं। मुरूगन की उपासना मे वेलनाडल नामक उल्लासमय न त्य वह पुजारी आत्मविभोर होकर करता था, जिसके सर पर वेलन (मुरूगन) आकर बैठ जाता था। यह न त्य मुरूगन की उपासना के अत्यंत प्राचीन रूप का अंग रहा होगा। धार्मिक क त्यों तथा अनुष्ठानों में गायन और न त्य का प्रचलन था। पुहार के वार्षिक उत्सव में इंद्र की भी विशेष प्रकार की पूजा होती थी। बहेलिए जाति के लोग कोर्रलै की और पशुचारण जाति के लोग क ष्ण की न त्य तथा गायन के साथ उपासना करते थे।

उत्तर भारत की ही भाँति दक्षिण में भी अनेक ग्रामदेवताओं की पूजा प्रचलित थी। इन देवताओं के लिए मुर्गे, भेड़ तथा भैंस की बलि दी जाती थी। बिशप ह्वादटहैंड के मतानुसार आदिम जीववाद (एनिमिज्म) के बाद पशुचारण जीवन-पद्धति की प्रधानजा होने पर, टोटेम (गणचिन्ह) पर विश्वास का काल प्रारंभ हुआ। इसी काल में बलि-प्रथा भा प्रचलन में आई। बलि-प्रथा के आविर्भाव के बारे में पर्याप्त मतमतांतर हैं। किन्तु संगम काल में ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण जो धार्मिक समन्वय प्रारंभ हुआ उस प्रक्रिया में अनेक प्रकार की टोटेम-पूजा धीरे-धीरे ब्राह्मण धर्म में समाहित हो गई। फिर भी बलि-परंपरा बाद तक चलती रही।

महाकाव्यों तथा पुराणों की कथाओं को दक्षिण के विशिष्ट सामाजिक परिवेश के अनुरूप प्रस्तुत किया गया। उदाहरण के लिए परशुराम ने पिता के कहने पर माता रेणुका का

सर काट दिया और उसके सर के साथ एक परिया स्त्री का सर भी कट गया क्योंकि मरियम्मा (दक्षिण में परशुराम की माता का नाम मरियम्मा है) ने दुखी परिया स्त्री का आलिंगन कर लिया था। बाद में जब पिता ने परशुराम की माता को पुनर्जीवन देने की स्वीक ति दी तो परशुराम की भूल से सर अदल-बदल हो गया। मरियम्मा (परिया शरीर पर ब्राह्मण स्त्री का सर) बलिदान में भैंस की अपेक्षा बकरे तथा मुर्गे को अधिक पसंद करती थीं और येलम्मा को भैंस की बलि पसंद थी। मरियम्मा शीतला (चेचक से संबंधित देवी) थीं जबकि येलम्मा का अर्थ होता है 'सीमा की महिला'। ह्वाइटहैड के अनुसार यह कथा संभवतः आर्यो के दक्षिण आने पर ही आर्य तथा द्रविड़ धार्मिक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिचायक है। आगे इस विद्वान का कथन है कि परिया शरीर पर ब्राह्मण सर शैव उपासना का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है, जबकि परिया सर वाला ब्राह्मण शरीर कोई प्राचीन द्रविड़ उपासना की परंपरा का संकेत करता है जिस पर ब्राह्मण ध र्म के विश्वास तथा सिद्धांतों का प्रभाव भी पड़ा होगा। भैंस की बलि जो परिया को प्रिय थी, प्राचीन द्रविड़ परंपरा की द्योतक है।

इसके अतिरिक्त शिव, अर्धनारीश्वर, अनंतशायी, विष्णु, क ष्ण, बलराम आदि की भी उपासना बाद में पर्याप्त लोकप्रिय हुई। पदिट्रप्पतु से ज्ञात होता है कि विष्णु की पूजा में तुलसी तथा घंटे का उपयोग किया जाता था। ईश्वर के प्रसाद को प्राप्त करने के लिए लोग मंदिर में उपासना करते थे। अनेक लोग संन्यासी का जीवन व्यतीत करते थे। मणिमेहलै के कापालिक शैव संन्यासियों की चर्चा है। लोगों की कर्म, पुनर्जन्म, भाग्यवाद पर विश्वास था।

## बौद्ध धर्म का प्रसार

बौद्ध धर्म के प्रसार के संबंध मे अशोक के अभिलेख से हमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। अशोक ने तमिल प्रदेश में भी धर्म-प्रचारक भेजे थे। वहाँ पाड्य, चोल केरलपुत्र, सतियपुत्र, आदि पड़ोसी राज्यों में उसने मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय बनवाने का प्रबंध किया। दक्षिण में बौद्ध धर्म का प्रसार तथा विकास का प्रमाण हमें पश्चिमी घाट के पर्वतों पर पत्थर काटकर बनाए गए चैत्यों तथा विहारों के भव्य अवशेषों से प्राप्त होता है। ऐसे निर्माण दक्षिण से लेकर पूना के निकट तक विद्यमान हैं। आंध्र में क ष्णा नदी के निचले क्षेत्रों में भी समुद्र तट पर बौद्ध अवशेष मिलते हैं। दक्कन में भी ई. पू. तीसरी शती में बौद्ध धर्म का प्रसार होने लगा। सातवाहन नरेशों के काल में भी यह पल्लवित होता रहा। ईसा की प्रथम दो शताब्दियों में दक्कन क्षेत्र में बौद्ध धर्म अत्यंत शक्तिशाली था। अमरावती के स्तूपों को इसी काल में अलंक त किया गया। इस काल के अभिलेखों में अनेक बौद्ध सन्यासियों के नाम उल्लिखित हैं, जो धर्म-प्रसार में लगे थे। स्तूप, बौद्ध व क्ष, बुद्ध का चरणचिन्ह, त्रिशूल (जो त्रिरत्न का प्रतीक है), धर्मचक्र आदि बौद्ध धर्म से संबंधित अनेक तत्त्व इन स्थलों से प्राप्त होते हैं। इस काल में मूर्तिकला का यथेष्ट विकास हुआ। आराध्य देवता के सम्मुख स्त्री-पुरूष घुटने के बल बैठकर अथवा साष्टांग रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इन मूर्तियों में भक्तिभाव में डूबी हुई आनंदमय मुख-मुद्रा की सफल अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है।

नागार्जुनकोंड, गोली घंटाशाला (आंध्र प्रदेश) आदि तथा कांचीपुरम् में बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केंद्र बने। बाद में इन स्थानों में महायान संप्रदाय का विकास हुआ। दक्षिण में महायान बौद्ध संप्रदाय के अनेक सुप्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। लगभग दूसरी शती ई. के मध्य में नागार्जुन ने माध्यमिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करके शून्यवाद दर्शन को विकसित हुआ। इसका शिष्य आर्यदेव नालंदा के बौद्ध केंद्र का प्रधानाचार्य नियुक्त हुआ। जीवन के अंतिम दिनों में वह कांची में रहने लगा और दूसरी शती में उसका देहावसान हुआ। इसने चतुःशतक नामक ग्रंथ की रचनी की। दक्षिण के ही बुद्धपालित नामक एक अन्य महायान आचार्य ने नागार्जून के मूलमाहयिक सूत्र पर भाग्य लिखा। भावविवेक आचार्य ने तर्कज्वाला शीर्षक ग्रंथ की रचना की। चंद्रकीर्ति नांलदा का

मठाध्यक्ष था और उसने दक्षिण में आकर विद्वानों को धार्मिक वाद-विवाद में परास्त किया। इसने दक्षिण में अनेक विहारों की स्थापना की थी। पाँचवीं शती के अंत अथवा इसके कुछ बाद के समय का सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग, मूलतः कांचीपुरम का ब्राह्मण था। इसने प्रमाण समुच्चय, न्यायप्रवेश तथा प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ नामक ग्रंथ की रचना की। धर्मपाल भी कांची का ही बौद्ध आचार्य था और दिङ्नाग का शिष्य था। ये बौद्ध विद्वान संगम काल के बाद के है किंतु इन आचार्यो के उदय से ज्ञात होता है कि दक्षिण में बौद्ध धर्म के केंद्र पहले से ही विकासशील रहे होंगे जिसके फलस्वरूप यहाँ बौद्ध साहित्य का पल्लवन संभव हुआ। शिलप्पादकारं तथा मणिमेहलं महाकाव्यों तथा कावेरीप्पट्टिण (थंजावूर) भी बौद्ध तथा जैन संस्थाओं तथा जैन संस्थाओं के उल्लेख मिलते हैं।

## जैन धर्म का प्रसार

जैन परम्परा में स्वयं महावीर द्वारा दक्षिण में धर्म-प्रसार का उल्लेख है किंतु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। मैसूर में श्रवण वेलुंगोला नामक स्थाना से प्राप्त छठी शती के एक अभिलेख में भद्रबाहु का विहार से दक्षिण जाने का उल्लेख है। इतिहासकारों में यह मान्य है कि मौर्य काल में ही जैन संप्रदाय भी सुदूर दक्षिण पहुँचा। एक जैन परंपरा में मौर्य वंश के प थक शासक द्वारा अपने शासन के अंतिम समय जैन धर्म ग्रहण करने का वर्णन प्राप्त होता है। चंद्रगुप्त मौर्य ने शासन त्यागकर कर्नाटक में श्रवण वेल्गोला नामक स्थान पर संन्यासी का जीवन व्यतीत किया तथा उपवास करके प्राण त्याग दिया। एक अन्य परम्परा के अनुसार महावीर की म त्यु के दो सौ वर्ष बाद मगध में भयंकर अकाल पड़ा जो बारह वर्षो तक चलता रहा। जैन संप्रदाय के काफी लोग उस समय के सुप्रसिद्ध आचाग्र भद्रबाहु के साथ दक्षिणी भारत चले गए। दक्षिण में इन प्रवासियों ने जैन धर्म का प्रसार किया। अकाल के बाद प्रवासी जैन दक्षिण से वापस आए, किंतु उत्तर और दक्षिण के जैनियों में मतभेद के कारण इनमें विभाजन हो गया। दक्षिण के जैन दिगंबर तथा उत्तर के श्वेताबंर संप्रदास विभक्त हो गए। भद्रबाहु तथा चंद्रगुप्त मौर्य के दक्षिण जाने का उल्लेख बाद में अनेक अभिलेखों के अतिरिक्त हरिषेण (839 ई.) के ब हद्कथाकोष में भी है। श्रवण वेल्गोला में एक चंद्रगिरि पर्वत तथा भद्रबाहु गुफा है। चंद्रगुप्त बस्ती के अग्रद्वार पर भद्रबाहु तथा चंद्रगुप्त के जीवन से संबंधित नब्बे चित्र उत्कीर्ण है। चंद्रगुप्त के बाद के काल में जैन धर्म की प्रगति के संबंध में जानकारी का कोई स्त्रोत नहीं प्राप्त होता। अशोक के 'कलसी शिला अभिलेख 13' के अनुसार यवन प्रदेश को छोड़कर उनके राज्य में सभी स्थानों में ब्राह्मण तथा श्रमण विद्यमान थे। श्रमण शब्द बौद्ध तथा जैन दोनों संप्रदायों के मुनियों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इसे माना जाए तो अशोक के समय में जैन धर्म के दक्षिण में प्रचलित होने का परोक्ष संकेत मिलता है। अशोक का पोता (सम्प्रति) श्वेतांबर जैन संप्रदाय को मानता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रचारकों को भेजा था। यह श्वेताबरों का दक्षिण भारत पहुँचने का सबसे पहला उल्लेख है। सम्प्रति को श्वेतांबर मत में दीक्षा देने वाला आचार्य सुहस्तिन था। सुहस्तिन के बाद ई. पू. प्रथम शती के लगभग कालाचार्य का दक्कन मे पेन्थ नामक स्थान के राजा के यहाँ जाने का उल्लेख है। संभवत् यह हाल नामक सातवाहन शासक के काल की घटना है।

भद्रबाहु के बाद जैन गुरुओं की केवल सूची मात्र प्राप्त होती है। ई. पू. प्रथम शती में अथवा ईसवी संवत की प्रथम सती में कुन्दकुन्द नामक जैन गुरू के महत्त्वपूर्ण कार्य का विवरण प्राप्त होता है। किंतु कर्नाटक में भी जैन धर्म के प्रसार तथा प्रचार के बारे में तीसरी शती ईसवी से पहले कोई पक्का प्रमाण नहीं मिला। बाद में कदंब तथा गंब राजाओं के काल में जैन धर्म को राजाओं से यथेष्ट संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिला। जैन मताबलंबियों को दान में भूमि भी मिली। कर्नाटक तथा तमिल प्रदेश में परवर्ती सदियों में स्थापत्य, कला, साहित्य आदि की प्रगति में जैनियों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है।

# अध्याय - 23
# प्राचीन काल में संचार व्यवस्था एवं सामाजिक संबद्धता
# (Communication & Social Cohesion)

### मौखिक संचार व्यवस्था

प्राचीन भारत में सचांर के माध्यम बहुत ही सीमित तथा अपने ही प्रकार के थे। प्रारम्भ में सचांर का माध्यम मौखिक था। वैदिक काल में सचांर एक महत्वपूर्ण वाद-विवाद रहा है और वाद-विवाद का माध्यम रहा है। बहुत सी वैदिक कबिलाई असेम्बलियाँ । ये असेम्बलियाँ (सभा) विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण स्थान रही है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन असेम्बली विद्थ कहलाती थी। जिसमें लोग बड़ी बातें करने की ख्वाहीश रखते थे और म त्यु से इसलिए बचने की प्रार्थना करता था। ताकि वह जीवन भर विद्थ में बोल सके। इसमें बुजुर्गो के विचारों को महत्त्व दिया जाता था।

दो अन्य वैदिक असेम्बलियाँ अर्थात सभा एवम् समितियों में भी वाद-विवाद को पूर्ण महत्त्व दिया जाता था लेकिन अन्य इंण्डो-यूरोपियन समकालिन सभाओं में इस प्रकार की बात देखने को नहीं मिलती। इन जन जातियों सभाओं में कार्य कलापों का विभाजन नहीं होता था। इनमें विभिन्न विषयों पर वाद विवाद के आधार पर विचार करते थे। वैदिक राजा इन सभाओं की सलाह को बहुत महत्व देते थे और इनके सदस्यों के सहयोग की सदा उपेक्षा करते रहते थे। अथर्ववेद में कहा गया है कि सभा विचारों के आदान प्रदान का स्थान था। चूकि उस समय पशुचारण कबिलाई समाज था। अतः इन सभाओं में पशुधन से सम्बधित मसलों की विवेचना की जाती थी। पशुधन की व द्धि में प्रार्थनाएं की जाती थी।

इनमें धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवम् सैनिक कार्य पूर्ण किये जाते थे। समीति के राजनैतिक कार्य प्रमुख होते थे और सभंवत यह समीति राजा का चुनाव भी करती थी। समीति में सहमति हो, समन्वय हो, इस बात पर ऋग्वेद एवम् अथर्ववेद दोनों बल देते है। कवि कहता है कि मन्त्र एक हो समीति भी एक हो, उनका मन भी एक हो तथा चिन्त भी एकसां हो ताकि समीति एक परिणाम पर पहुचें। सभी प्रार्थनाऐं कर्मकाण्ड, उत्सव, व्याख्यान सभी वाद विवाद में दुश्मनों पर विजय  पाने के उद्देश्य से प्रेरित हो। समीति बड़ी विचारशील संस्था थी।

### परिषद एवम् गण

वैदिकोत्तर काल में परिषद् एवम् गण नामक सस्थाएं भी विचार की सस्थाएं बन गई जिनमें विभिन्न मुद्दों, समस्याओं पर विचार विमर्श होता था। वैदिकोत्तर परिषद में मुख्यतः ब्राह्मण होते थे जो कि धर्मशास्त्रों के विभिन्न काश्नों की व्याख्या करते थे। गण सभाएं गण राज्यों की विषेशताऐं थी तथा क्षत्रिय इसके सदस्य होते थे। जो कि सार्वजनिक हित के मुद्दों पर विचार विमर्श करते थे।

### धार्मिक सभाऐं

इसके अतिरिक्त एक ही सम्प्रदाय के अनुयायियों के बीच सिद्धान्त सम्बधी मतभेदों के लिए अनेक धार्मिक सभाऐं होती रहती थी। बौद्ध धर्म में इस प्रकार की कोसिल (सभाऐं) समय समय पर होती रहती थी जैसे वैशाली, पाटलीपुत्र, राजग ह, और पुरूषपुर में हुई बौद्ध संगतियाँ (सभाऐं) उदाहरण के रूप में ली जा सकती है। इन सगतियों में बौद्ध धर्म के मूल उपदेशों को विचार विमर्श के माध यम से संपुष्ट करने का प्रयत्न किया जैसा कि विनयपिटक से जानकारी मिलती है। कि सभा में प्रस्ताव पारित किया जाता था और उसपर सदस्यों की सम्मति लेने का प्रजातान्त्रिक तरीका अपनाया जाता था। प्रस्ताव का कोई असहमति न होने पर ही पारित समझा जाता था। सदस्यों का मत वोट के द्वारा लिया जाता था और बहुमत से ही किसी मुद्दें का निर्णय लिया जाता था। धार्मिक सभाऐं अर्थात संगोष्ठियाँ संचार के माध्यम के रुप में एक प्रभावशाली माध्यम के रुप में संम्पूर्ण प्राचीन काल में प्रयोग की जाती रही है। 7वीं शताब्दी में हर्ष प्रयाग तथा कन्नौज में दो महत्वपूर्ण संकोष्ठियाँ की ये संकोष्ठियाँ बुद्ध धर्म की अच्छाईयों के प्रचार प्रसार के लिए बुलाई गई और इन सभाओं में चीनी यात्री ह्यूनत्सांग ने लोगो को धार्मिक प्रवचन दिये।

### तर्क शास्त्र का विकास

चूँकि प्राचीन काल में लोग इस बात को जानते थे कि किसी को अपने विचार से सहमत कराने के लिए वाद विवाद में तर्क और गुणवत्ता का होना जरूरी है इसलिए प्राचीन काल में तर्क शास्त्र की विभिन्न शाखाओं अर्थात तर्क न्याय और मीमांसा का विकास हुआ।

यह भी स्पष्ट नही है कि परिषदों विभिन्न समस्याओं और न्यायालयों के फैसले आम लोगों तक किस प्रकार पहुँचते थे। स्पष्टतः माध्यम प्रारम्भ में मौखिक ही रहा होगा। धार्मिक संकोष्ठियों के फसलें, लेखन कला को जानकारी के पश्चात् लेखबद्ध हो जाते थे।

### शास्त्रार्थ परीक्षा

परन्तु इनको उस धर्म के पारगंत ही जाते थे प्रतिद्वन्द्वी धर्म के अनुयायीयों के बीच खुले आम लोगों के बीच सार्वजनिक स्थल पर शास्त्रार्थ होता था और दोनों ही धर्मावलम्बी अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न करते थे। और इस प्रकार ये धर्म के प्रचार का माध्यम था।

### प्रवेश परीक्षा

नालदां विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए मौखिक परीक्षा देनी पड़ती थी। इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों का द्वार पण्डित मौखिक इन्टरव्यु लेते थे और उनके प्रश्नों का संतुष्टि पूर्ण उत्तर देने पर ही विश्वविद्यालय में दाखिला मिलता था।

### लिखित संचारण

यद्यपि भारतीयों को लेखन कला का ज्ञान 2500 ई० पु० के आस पास ही हो गया था परन्तु उनके जिन आलेखों का अध्ययन अभी तक हो पाया है वह अभी तीसरी शताब्दी ई० पू० से आगे नहीं जाते। हड़प्पा काल के अन्त से और अशोक के अभिलेखों के बीच के काल के लिखित अभिलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाए हैं। अतः भारत में बड़े पैमाने पर लिखित सचांरण ई० पू० तीसरी शताब्दी में अशोक के चट्टानों और स्तम्भों पर लिखित अध्यादेश सुदूर दक्षिण को छोड़कर पूरे देश में यहां तक कि अफगानिस्तान में भी मिलने प्रारम्भ हुए के साथ शुरू हुआ। प्रारम्भ में शिक्षा मुख्यतः मौखिक होने के कारण भारतीय परम्परा में यादाश्त को बहुत महत्त्व दिया गया। यद्यपि विषय वस्तु एवम् रुप विधान के आधार पर वैदिक साहित्य 1500 ई० पु० का माना जाता है। परन्तु इनकी प्रारम्भिक पांडुलिपि। दसवीं शताब्दी पूर्व की नहीं लगती। मौखिक रूप अर्थात श्रुति रूप से ही एक पीढी तक पहुँचने के कारण ही वैदिक साहित्य श्रुतियाँ कहलाता हैं। वैदिक मन्त्र विभिन्न हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों तथा रीति रिवाजों में काम आते हैं।

### पद्य में वैदिक साहित्य की रचना करना

वैदिक मंत्र का संकलन विभिन्न चारणों (स्कूलों) के द्वारा हुआ। शिष्यों की विभिन्न पीढ़ियों ने उनका संरक्षण किया और ईमानदारी के साथ बिना परिवर्तन के उनका पाठ चलाते रहे। साक्षर लोगों में स्मरण शक्ति को ज्ञान और सूचना के प्रसार में महत्त्व दिया जाता था इसलिए प्राचीन भारत के अधिकतम साहित्य की रचना पद्य में हुई। गद्य में रचित विषय को याद करने में कठिनाई होने के कारण अधिकांश प्राचीन भारतीय साहित्य, विशेषकर वैदिककालीन साहित्य, पद्य में लिखे गए। तुकबंदी के कारण पद्य आसानी से रटे जा सकते थे।

### ब्राह्मण एवं उपनिषद

यद्यपि अधिकांश परवर्ती वैदिक साहित्य, जिनमें ब्राह्मण और उपनिषद् हैं, गद्य में संकलित हुए फिर भी ई०पू० पाँचवी शताब्दी के आसपास ही गद्य की सूत्र शैली विकसित हुई। इसमें गागर में सागर भरने की चेष्टा की गई। सूत्रों के द्वारा कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करने का प्रयास हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण की पुस्तक है। यह सागर्भित तथा संक्षिप्त रचना का नमूना है। ई०पू० पाँचवी शताब्दी के बाद से अनेक रचनाएँ गद्य की सूत्र शैली में तैयार की गई। उदाहरणार्थ धर्मसूत्र, ग ह्यसूत्र और श्रौतसूत्र। धर्मसूत्र में राज्य और समाज को नियमित रखने के लिए नियम की चर्चा की गई, ग ह्यसूत्र में ग हस्थों द्वारा किये जाने वाले संस्कारों का उल्लेख किया गया और श्रौतसूत्र में वैदिक अनुष्ठानों को विस्तार से बतलाया गया।

### टीकाएँ

आधुनिक संस्कृत टीकांओं के बिना हम इनमें से अनेक सूत्रों को नही समझा पाते हैं। प्राचीन काल के साक्षर और शिक्षित समुदाय के याथ भी यह बात रही होगी। इसलिए तो अनेक टीकाएँ इन सूत्रों को स्पष्ट करने के निमित लिखाी गई। टीकाओं से दूसरे उद्देश्य की पूर्ति भी हुई, परवर्ती शताब्दियों में बदलती हुई परिस्थितियों के आलोक में इन्होंने सूत्रों की व्याख्या की। इस प्रकार टीकाकारों ने शास्त्रीय नियमों और परम्पराओं को बनाये रखा पर साथ ही साथ उनके कारण इसमें कुछ परिवर्तन और कुछ जोड़ा गया। टीका लिखने की प्रथा व्याकरण, दर्शन संस्कृत साहित्य की सभी प्रशाखाओं में चल पड़ी। भाष्य, व्याख्या, टीका, टिप्पणी, कौमुदी इत्यादि के रूप में टीकाएँ लिखी गई हैं। अनेक टीकाएँ बारहवीं शताब्दी में निकली और पाणिनि के व्याकरण पर एक टीका अठारहवीं शताब्दी में लिखी गई।

इसी प्रकार पालि भाषा में टीकाएँ प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखी गईं, जिन्हें अट्ठकथाएँ कहते हैं। चूर्णियों, नियुक्तियों इत्यादि में प्राकृत मूल-पाठों के सविस्तार प्रतिपादन और स्पष्टीकरण हुए। अन टीकाओं से कम से कम एक उद्देश्य की पूर्ति हुई, प्राचीन प्रणाली के मूल तत्व बरकरार रहे और साथ ही बदलती परिस्थितियों के आलोक में उनकी व्याख्या होती रही। अतएव टीकाओं में सामाजिक मान्यताओं और व्यवस्थाओं में निरन्तरता और अन्तराल दोनों का आभास है।

ई०पू० पाँचवी शताब्दी के बाद से सूत्र शैली के प्रचलन के बावजूद पद्य का प्रयोग प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों और पुराणों में चलता रहा। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में संकलित परवर्ती धर्मशास्त्रों को स्म तियों की संज्ञा दी गई। ''स्म ति'' का शब्दार्थ होता है ''जो बात याद की गई हो।'' यह ''श्रुति'' के अर्थ का ठीक उल्टा है, ''श्रुति'' क शब्दार्थ होता है ''सुनी हुई या प्रकटित बात''। आसानी से याद करने के निमित सभी स्म तियाँ श्लोकों अर्थात् पद्यों के रूप में लिखी गई। उसी प्रकार **रामायण, महाभारत** और पुराणों की भी रचना हुई। इन सभी मूल-पाठों में सर्वाधिक लोकप्रिय छंद अनुष्टुप का व्यवहार हुआ क्योंकि यह कंठस्थ करने में सबसे आसान होता है।

### 3. क्षेपक तथा विषय-वस्तु विस्तार

स्मरण-शक्ति और वैदिक तथा अन्य धार्मिक मूल-पाठों के शुद्ध पाठ का अधिक महत्त्व होता है। इसके बावजूद परवर्ती लेखक भाष्यों के द्वारा इनकी विषयवस्तु का विस्तार करते रहे। चूंकि ग्रन्थ के बीच में विषय-वस्तु को जोड़ना कठिन है इसलिए अधिक सामग्री ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत में जोड़ी गई। ऋग्वेद हिंद-युरोपीय साहित्य का प्राचीनतम नमूना माना जाता है। पहला और दसवां मण्डल मूल ग्रन्थ में बाद में जोड़े गये। आठवाँ और नवाँ मण्डल भी बाद में जोड़े गए मालूम होते हैं, चौथे मण्डल में कुछ प्रक्षेपों का पता चला है। **महाभारत** हिंदू भावनाओं और मान्यताओं के प्रसार का बड़ा उपकरण रहा है पर वह ग्रन्थ भी इसी प्रकार संकलित किया गया है। मूलतः इसमें 8800 श्लोक थे और इसका नाम जय था। इसके बाद इसमें श्लोकों की संख्या 24000 हो गई और मूल पाठ का नाम **भारत** पड़ा। अंत में गुप्त काल तक इसमें 100000 श्लोक हो जाने पर मूल-पाठ **महाभारत** कहलाया। इसका विवेचित संस्करण प्रायः पचास वर्षों में अनेक विद्वानों के परिश्रम के द्वारा संकलित हुआ है और उसमें 78675 श्लोक हैं। इसका **आदि पर्व** बाद का जोड़ा हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है ''आरम्भ का अध्याय''। यही बात **अनुशासन पर्व** तथा **शांति पर्व** पर लागू होता है। इनमें राजा के कर्तव्य (राजधर्म) की चर्चा है। **रामायण** पित सत्तात्मक परिवार पर अवलंबित ठेठ हिंदू मान्याताओं को लोकप्रिय बनाया है। यह मूलतः 6000 श्लोकों का महाकाव्य था। बाद में इसकी संख्या 12000 और अंत में पाँचवी शताब्दी तक 24000 हो गई। कौटिल्य का **अर्थशास्त्र** भी परिमाण विस्तार से प्रभावित हुआ। यह प्राचीन काल में राजकुमार को राजनीति की शिक्षा देने के लिए तैयार किया गया था। पंद्रह अधिकरण वाले इस मूल-पाठ के सिर्फ दूसरे और तीसरे अधिकरणों की रचना प्राचीनतर काल में हुई, शेष सभी अधिकरण बाद में, संभवतः ईसवी सन् के प्रारम्भ और प्रारम्भिक मध्य युग तक भी जोड़े गए हैं।

प्राचीन मूल-पाठों की विषय-वस्तु का विस्तार रचनाकारों की आत्म महिमा दर्शाने के लिए नही हुआ क्योंकि प्रत्येक मामले में वे गुमनाम रहना ही पंसद करते थे। प्राचीनतम मान्यताओं को जारी रखने, नवीन मान्यताओं और रिवाजों को वैध करने और इस पद्धति से सामाजिक अंसतोष को अंतर्विष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने विषय-वस्तु का विस्तार किया। महाकाव्यों में क्षेपक मुख्यतः मिथकों के रूप में लिखे गए। ऐसे मिथकों में मनुष्य और प्रकृति के साथ मानव के व्यवहारिक अनुभव का अंश मिलता है पर उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अलौकिक बना दिया है। उपदेश देने के उद्देश्य से भी क्षेपक जोड़े गए। उनके द्वारा प्रचलित मान्यताओं और रिवाजों को आदर्श रूप देने का प्रयास किया गया। प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ भी इसी उद्देश्य से लिखी गई ताकि प्राचीन पोथियों का सामजस्य परवर्ती धारणाओं , संस्थाओं, रिवाजों इत्यादि के साथ कराया जाए। ईसवी सन् के पहले के धर्मशास्त्रों की विषय-वस्तुओं को ईसा की प्रथम पाँच शताब्दीयों में हुए विकास के अनुकूल पद्यबद्ध कर बढ़ाया गया। विस्तार की प्रक्रिया में महाकाव्यों, स्म तियों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में आंतरिक अंसगतियों एवं परस्पर विरोधी बातें भर गई। लेकिन सामान्य जनता को समझाने में पंडितों ने इन विरोधाभाषों की परवाह नही की। प्राचीन ग्रन्थों के सिर्फ उन्ही अंशों पर जोर दिया गया जिनसे समय, स्थान और परिस्थितियों की जरूरत पूरी होती थी तथा समाज के सबल वर्ग के हित बरकरार रहते थे।

### 4. राजपद के देवत्व के बारे में प्रचार

प्राचीन भारत में राजनीतिक सत्ता को कायम रखने में प्रचार की प्रमुख भूमिका थी। राजकीय शक्ति को बढ़ाने और उसे जनसाधारण द्वारा स्वीकृत कराने के लिए राजत्व को दैवी तत्व से जोड़ा गया। यह प्रक्रिया वैदिक युग में ही प्रारम्भ हुई जिस समय राजपद जनजाति अथवा जनजातियों की सरदारी से बेहतर नही था। उत्तर वैदिक काल के राज्यभिषेक सूत्रों में

राजा को देवताओं के गुण प्रदान करने हेतु प्रार्थनाएँ निर्धारित की गई। निस्संदेह इनमें राजा के मानव माता-पिता का उल्लेख है लेकिन साथ ही साथ इनसे यह भी संकेत मिलता है कि राजा में कुछ दैवी गुण होते हैं। कम से कम **शतपथ ब्राह्मण** नामक उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थ में राजा को स ष्टि-देव प्रजापति के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। **अथर्ववेद** के उतरांश में राजा को ईश्वर माना गया है। वह मरणशील प्राणियों से ऊपर होता है। राजा को ईश्वर के रूप में समझाने की भावना वैदिक युग में व्यापक रूप से जमी नही थी। मौर्य सम्राट अशोक ने अपने अभिलेखों में दैवी समर्थन का प्रदर्शन किया। बौद्ध शासक होते हुए भी अशोक ने अपने को देवानांप्रिय अर्थात देवताओं का प्रिय कहा। इस उपाधि को उसके पौत्र दशरथ ने भी जारी रखा।

राजा को ईश्वर के रूप में समझाने की धारणा को मौर्योत्तर काल में बड़े पैमाने पर फैलाया गया। कुषाण विदेशी होते हुए भी पहली और दूसरी सदियों में उत्तर भारत के अधिकतर भाग में अंतिम रूप से बस गए थे। उन्होंने व्यापक रूप से इस धारणा का प्रचार किया। कुषाण राजाओं ने अपने को देवपुत्र अर्थात देवता का पुत्र कहा। इस उपाधि को कुषाण राजाओं ने उतना ही लोकप्रिय बनाया जितना अशोक ने देवानांप्रिय की उपाधि को। देवपुत्र की उपाधि का प्रयोग को **सुवर्णभासोत्तम सूत्र** नामक महायान संप्रदाय के बौद्ध ग्रंथ ने तर्कसंगत बतलाया। इस ग्रंथ में यह प्रश्न उठाया गया है कि राजा को मनुष्य के रूप में जन्म लेने पर भी ईश्वर (देवता) और देवपुत्र क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर यह दिया गया है। कि मनुष्य के रूप में जन्म लेने के पहने वह देवताओं के बीच रहता था। तैंतीस देवों में से प्रत्येक ने उसके तत्त्व के निर्माण में योगदान किया इसलिए वह देवपुत्र कहलाया। राजा की दैवी उत्पत्ति के बारे में दूसरी शताब्दी में संकलित तथा हिन्दुओं में व्यापक रूप में अनुमोदित एवं प्राधिक त मनु स्म ति नामक रचना में ऐसी ही सफाई दी गई है। मनु राजा के लिए देवपुत्र शब्द का प्रयोग नहीं करता लेकिन वह स्पष्टतः बतलाता है कि राजा में आठ देवताओं के गुण हैं। वह बलपूर्वक कहता है कि बालक होने पर भी राजा का अनादर नहीं होना चाहिए क्योंकि वह मनुष्य के रूप में महान् देवता के सद श कार्य करता है। देवता के रूप में राजा का सबल चित्रण **शांति पर्व** में भी है। **शांति पर्व** के अनेक श्लोक मनु स्म ति के श्लोकों के सद श हैं।

शांति पर्व में वयोव द्ध राजनेता भीष्म से पूछा जाता है कि राजा के पास भी साधारण मनुष्य की तरह दो हाथ, दो पैर और अन्य अंग हैं, फिर वह सभी अन्य मनुष्यों पर शासन क्यों करता है। भीष्म इस तथ्य के लिए लंबा औचित्य देते हैं। वे बतलाते हैं कि प्राचीन काल में अराजकता उग्र रूप में फैली हुई थी और इसलिए लोगों ने आपस में समझौता किया। उन्होंने ऐसे आदमी से अलग रहने की प्रतिज्ञा की जो बहुत बोलता हो, जो दूसरे की संपत्ति का हरण करता हो और जो स्त्रियों का सतीत्व भंग करता हो। इस सामाजिक समझौते में बँधकर इन लोगों ने ब्रह्मा से अधिपति माँगा जिसकी वे मिलकर पूजा करें और बदले में वह उन्हें संरक्षण दे। ब्रह्मा ने इन लोगों पर शासन करने की जिम्मेदारी मनु को दी पर मनु ने इसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि बदमाश और झूठे लोगों की नियंत्रित करना कठिन काम था। अंततः लोगों ने मनु के कोशागार की व द्धि के निमित्त 1/50 सोना और 1/10 अनाज देने की प्रतिज्ञा कर उसको राजी कर लिया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उनमें से जो अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण होंगे वे मनु का अनुसरण उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार अन्य देवता इंद्र का अनुसरण करते हैं। इसके बदले उन लोगों ने राजा से संरक्षण की माँग की। राजा को आश्वासन दिया गया कि उसके द्वारा संरक्षित प्रजाओं के आध्यात्मिक पुण्य का उसे का उसे चतुर्थांश प्राप्त होगा। शांति पर्व के अन्यत्र उल्लिखित है कि विष्णु ने प्रशासन की जिम्मेदारी सँभालने के लिए मानस पुत्र का स जन किया। इस प्रकार **शांति पर्व** में दो जगह राजपद की उत्पत्ति का श्रेय और ब्रह्मा सद श देवी शक्तियों को दिया गया है। **महाभारत** के पाठ और अध्ययन सभी जगह होते थे। इसलिए इसके संकलकों ने राजकीय शक्ति को सबल बनाने के लिए राजा के देवत्व पर बल दिया।

**मनु स्म ति** और **शांति पर्व** का अधिकांश संकलन कुषाणों के समय में हुआ, इसलिए इनसे कुषाणों और उनके समकालीन अधिपतियों की राजकीय शक्ति मजबूत बनी होगी। कुषाणों ने अपने देवत्व पर बल देने के लिए प्रचार के कुछ अन्य तरीके भी अपनाए। इन्होंने देवकुलों अथवा देवालयों का निर्माण किया और उनमें दिवंगत शासकों की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित किया। इन इमारतों का उपयोग मंदिरों की तरह हुआ। ऐसा लगता है कि कुषाणों ने यह रिवाज रोमनों से अपनाया और रोमनों ने इसे मिस्त्र से ग्रहण किया था। उल्लेखनीय है कि कि मिस्त्र के फराउनों (राजाओं) के सम्मान में उनकी कब्रों पर मंदिर बनाए जाते थे। कुषाण राजाओं के सिक्कों पर अंकित उनकी आवक्ष मूर्तियों के चारों ओर दिव्य आभा दिखाकर उनके दैवी तत्वों पर बल दिया गया। स्वर्ण मुद्राओं के ऊपर कुषाण राजाओं के कंधे अग्नि की लपटों की चमकीली किरणों से घिरे हैं। इनकी कुछ स्वर्ण मुद्राओं पर, विशेषतः हुविष्क की स्वर्ण मुद्राओं पर, प्रभामण्डल पाया जाता है। प्रभामण्डल के अतिरिक्त हुविष्क की स्वर्ण मुद्राएँ अग्नि की लपटों और बादलों से अलंक त हैं। प्रभामण्डल कुषाण सिक्कों पर निरूपित देवताओं विशिष्ट लक्षण था। स्पष्टतः अपनी दैवी उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए कुषाण राजाओं ने सिक्कों पर अपने को प्रभामण्डल दैवी वातावरण, बादलों और अग्नि की लपटों के साथ चित्रित कराया। इस तरह उन्होंने प्रचार के महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में कला का सहारा लिया।

जिस प्रकार अपने देवत्व के प्रचार के लिए कुषाणों ने कला और लेखन को अपनाया उसी प्रकार कुछ और राजवंशों ने किया। ईसा की दूसरी सदी के सातवाहन राजा गौतमी पुत्र शातकर्णि की तुलना यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर इत्यादि विभिन्न देवताओं से की जाती है। गुप्त सम्राटों ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया। लोगों को संरक्षित और सुरक्षित रखने के कारण गुप्त राजाओं की तुलना विष्णु से की गई है। विष्णु की पत्नी तथा संपत्ति की देवी लक्ष्मी का अंकन अनेक गुप्त सिक्कों पर मिलता है। इस तरह गुप्त सम्राटों के वैष्णव होने के कारण कुछ राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हुई होगी। गुप्त राजाओं के संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये देव कहलाते हैं जिससे इनका देवताओं के रूप में स्पष्टतः प्रतिनिधित्व होता है, यद्यपि कुषाण राजाओं के विपरीत से देवपुत्र नहीं कहलाते।

छठी सातवीं सदियों के बाद से राजाओं का संबंध सूर्यवंश और चंद्रवंश से जोड़ा जाने लगा। उस समय तक सूर्य और चंद्र देवताओं के रूप में माने जा चुके थे। **रामायण** में विष्णु के अवतार कहलाने वाले राम सूर्यवंशी थे और **महाभारत** के प्रसिद्ध पाण्डव अथवा पंचवीर चंद्रवंश के थे। यद्यपि अशोक ने समाज, धर्म और प्रशासन को सुव्सवस्थित करने के लिए बहुत से अभिलेख जारी किए तो भी उसने अपने वंशव क्ष का संबंध देवताओं के साथ कभी नहीं जोड़ा। यह पहले-पहल छठी अथवा सातवीं सदी के बाद से जनजातीय सरदारों के साथ हुआ। वे राजा बनकर उदारतापूर्वक ब्राह्मणों को दान देते थे और क तज्ञ ब्राह्मण उन्हें उच्च और प्राचीन वंशावली से संबंध करते थे।

कभी-कभी ज्योंतिषियों के द्वारा परवर्ती राजाओं की जन्मकुंडली प्राचीन राजाओं जैसी बतलाई जाती थी। माता के गर्भ में आने के समय प थ्वीराज चौहान की जन्मकुंडली रामायण में अंकित राम की जन्मकुंडली के सद श बतलाई गई। लेकिन वास्तव में दोनों मामलों में ग्रहीय अवस्थितियाँ अलग-अलग थीं। हम आसानी से कह सकते हैं कि प थ्वीराज की जन्मकुंडली काल्पनिक थी और ऐसे काव्यों में तो जन्मकुंडली काल्पनिक होती ही थी। ज्योतिष राजाओं के जन्म अवसरों को अत्यंत शुभ दिखाने की कोशिश करते थे। हर्ष और चालुक्य नरेश षष्ठम विक्रमादित्य के जन्म का वर्णन बहुत बड़ी शुभ घटना के रूप में किया गया, जिसके आधार पर ज्योतिषयों ने शानदार भविष्यवाणी की। यह सब कुछ उनके बड़े शासक बनने की अवश्यंभाविता पर बल देने के लिए किया गया। राजकीय परिवारों को प्राचीन देवताओं और वीरों के साथ

संबंध करने का रिवाज पूरे देश में फैल गया। 600 से 1200 ई. के बीच के काल में जैन साहित्य के अनुसार विद्याधर महत्त्वपूर्ण देवता माने जाते थे। पश्चिमी भारत में सबल प्रभाव रहने के कारण गोआ, कोल्हापुर और ठाणे में शासन करने वाले शिलाहारों के राजकीय परिवार अपने को विद्याधरों के वंशज बतलाते थे।

पुरोहित और चारण लोगों के बीच राजा के अच्छे कार्यों और उपलब्धियों का बखान करते थे। राजा के कार्यों के गुणगान का रिवाज वैदिक युग में प्रारंभ हुआ। दान-स्तुति में इसका प्राचीनतम उदाहरण मिलता है, जिसमें पुरोहित राजा द्वारा दिए गए दानों की बड़ी प्रशंसा करते हैं और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले पुण्यफलों की ओर संकेत करते हैं। उपहार के रूप में एकत्रित धन के वितरण के लिए बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन होता था। ऐसे अवसर पर राजा लोगों (प्रजा) को शानदार भोज भी देते थे। लेकिन राजकीय दान अधिकांशतः एकपक्षीय होते थे और वे मंत्रोच्चारण करने वाले और यज्ञ के गुणगान करने वाले पुरोहितों के पास चले जाते थे। राजा के द्वारा एकत्रित दानों, करों और उपहारों की केंद्रीय धनराशि में पुरोहितों का कुछ भी अंशदान नहीं होता था, उनके अंशदान के रूप में केवल शब्द और आशीर्वचन होते थे। राजा की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ाने के लिए उनके गुणगान के रिवाज को भाटों और चारणों ने बरकरार रखा और यह हाल तक जारी रहा। गुणगान उत्सव का रिवाज दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। वैदिकोत्तर काल में राजाओं के जो थोड़े वर्णन मिलते हैं उनमें उनकी सफलता और उपलब्धियों की चर्चा है। स्पष्टतः यह प्रचार के निमित्त था। इसलिए भारत पर सिकंदर की चढ़ाई यद्यपि प्राचीन विश्व के इतिहास में बड़ी घटना थी, फिर भी उसकी विजयों का उल्लेख किसी भारतीय लेख में नहीं मिलता।

राजा की उपलब्धियों की प्रशंसा करने की प्रथा प्राचीन काल में सदा जारी रही। प्राचीनतम उदाहरण अशोक के अभिलेखों में मिलता है। इनमें तत्कालीन लोकप्रिय भाषा प्राक त में लिखे अनेक राजकीय आदेशों की चर्चा है जिनमें अशोक के सद्‌गुण के आदर्श तथा प्रजा के हितैषी पिता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अशोक ने कलिंग के युद्ध में एक लाख व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिए जाने और उसके अलावा भी बहुत से लोगों के मरने की घटना से द्रवित होकर युद्ध तथा हिंसा का परित्याग कर दिया। इतने अधिक मनुष्यों को मारने की बात स्पष्टतः आत्माश्लाघा जैसी प्रतीत होती है। एक लाख लोग संभवतः नहीं मरे होंगे क्योंकि अशोक के अभिलेख में शतसहस्त्र का प्रयोग पिष्टोक्ति के रूप में कई बार हुआ है। देश के सभी भागों में धर्म को प्रतिष्ठापित करने का अशोक का दावा भी आत्मश्लाघी है। जो भी हो, अशोक की म त्यु के बाद उसकी उपलब्धियाँ बरकरार नहीं रह पाई।

गुप्त और गुप्तोत्तर काल में राजा के पक्ष में आत्मलाघी प्रचार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कवि हरिषेण द्वारा रचित इलाहबाद का अभिलेख विलक्षण उदाहरण है। इसमे समुद्रगुप्त की बहुमुखी उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है। इसमें अंकित वर्णन के अनुसार समुद्रगुप्त ने बहुत सी जातियों और राज्यों को पराजित किया और सुदूर देशों के शासकों से भी उपहार प्राप्त किया। इसी प्रकार का दावा चंद्र नामक राजा का है जिसकी शिनाख्त द्वितीय चंद्रगुप्त से की जाती है। अभिलेख के अनुसार उसने अपना विजयी अभियान बैक्ट्रिया तक किया था। इसी प्रकार ईसा की छठी सदी में मालवा के यशोधर्मन् नामक राजा को उसके प्रशंसकों ने हूणों पर विजय तथा गुप्तों से भी अधिक प्रशस्त विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया है। राजा और उसके सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए रची गई से सारी प्रशस्तियाँ अक्षरशः सही नहीं हो सकती हैं।

सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट द्वारा रचित **हर्षचरित** ब ह्त प्रशस्ति का सबसे अच्छा उदाहरण है। बाण अपने संपोषक हर्षवर्धन की उपलब्धियों की प्रशंसा मुक्त कंठ से करते हैं। इसके बाद से राजाओं की जीवनीवत् कथाओं और चरितों की रचना प्रारंभ हुई। इसमें लेखकों ने अपने संपोषकों की विशेषताओं और उपलब्धियों का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया।

प्रारंभिक मध्ययुगीन दरबारी इतिहासकारों ने प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं की विजयों की तरह अपने राजाओं की विजयों की सूची बनाई और कवि ने अपने नायक को पारंपरिक सर्वविजयी राजा की महिमा प्रदान की। विजयों के संस्मरण हेतु लंबे-लंबे अभिलेखों की रचना की गई। आठवीं शताब्दी में बिहार और बंगाल के पाल शासक धर्मपाल ने एक अभिलेख में दावा किया है कि उसने संपूर्ण देश को जीत लिया था जिसमें भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग भी शामिल था। लेकिन उतनी दूर तक उसके सैनिक अभियान को प्रमाणित करने के लिए कुछ भी साक्ष्य नहीं मिलता। साहित्य में उल्लिखित रूपकों और संकेतों को केवल राजा और उसके छोटे दायरे के विशिष्ट वर्ग के लोग ही समझ सकते थे। लेकिन फिर भी ईसा की प्रांरभिक शताब्दियों के बाद से राजाओं ने ऐस चाटुकार कवियों को प्रश्रय दिया जिनकी नजर अपने संरक्षकों की विजय और विशेषताओं पर ही पड़ती थी, उन्हें संपोषकों की दुर्बलताएँ और असफलताएँ नहीं सूझती थीं। इसलिए प्राचीन भारत में बहुत बड़े प्रशस्ति साहित्य का स जन इस तरह किया गया कि प्रजा राजाओं की कालजयी अजेय शक्ति की कायल बने।

## शक्ति और पैसे के लिए अंधविश्वासों का प्रचार

कौटिल्य से ज्ञात होता है कि राज्य अपने आंतरिक और बाह्य दोनों हितों की रक्षा के लिए लोगों के सहज और भोलेपन से विश्वास कर लेने की आदत का लाभ उठाता था। अर्थशास्त्र में राजकीय कोष की व द्धि के लिए जनता के अंधविश्वास से लाभ उठाने वाले अनेक तरीकों का उल्लेख है। राजा किसी देवता को स्थापित करे अथवा मंदिर बनाए अथवा किसी अपशकुन का संकेत करे। लोगों को इसकी जानकारी दे देने पर वे उस पर चढ़ावा देंगे। इसके बाद देवपूजन अथवा संकट निवारण के नाम पर एकत्रित राशि को राजा हथिया ले। राजा किसी मंदिर के बगीचे में देवता के आगमन की घोषणा करे। राक्षस के वेश में कोई जासूस मनुष्यों की भेंट की माँग करते हुए वहाँ के किसी पेड़ पर चढ़ जाए और लोगों के बीच आतंक फैलाए कि कोई प्रेत आ गया है। तद्नुसार राजधानी और देहाती इलाके के लोगों को प्रेत के निवारण हेतु चंदा देने के लिए कहा जाए। इन सारे तरीकों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इनमें से कम से कम कुछ का प्रयोग अवश्य होता था। पतंजलि, जिसने ई. पू. 150 के लगभग पाणिनी के व्याकरण पर टीका लिखी, से पता चलता है कि मौर्य शासक प्रतिष्ठित मूर्तियों की बिक्री से आमदनी करते थे और उनके ऊपर चढ़ावों से जीविका चलती थी।

लोगों का आतंक जमाने के लिए अनेक सिर वाले साँप को प्रदर्शित करने और दर्शकों से नकद (हिरण्य) शुल्क वसूल करने का सुझाव है। फणीनाग को आहार देकर अचेत कर देने और आशु विश्वासी दर्शकों को शुल्क देकर उसे देखने को कहा गया है। जहरीला पेय अथवा जल से संदेहवादियों को अचेत कर देने और फिर जासूसों से उनकी चेतना के नाश के लिए ईश्वर के श्राप को उत्तरदायी ठहराने को कहा गया है। इसी प्रकार जासूसों से ईश्वर-निंदकों को फणीनाग से कटवाने और इस बात को ईश्वर के श्राप का प्रतिफल बतलाने को कहा गया है। इस अनिष्ट सूचक घटना से लोगों को बचने की सलाह दी गई है, और तदनुसार खजाने को भरने के लिए वसूलियों का प्रबंध करने को कहा गया है। इस प्रकार विवेकी और अविवेकी सभी लोगों की अफवाहों और प्रचारों के द्वारा अंधविश्वासी प्रथाओं में विश्वास जगाने और सरकार को पैसे चुकाने का उपाय बतलाया गया है। उपर्युक्त सभी उपायों का उल्लेख अर्थशास्त्र में कोशभिसंहरणम् शीर्षक के अंतर्गत है। कौटिल्य के अनुसार कोष सप्तांग राज्य का महत्त्वपूर्ण अवयव है।

कौटिल्य का मत स्पष्ट है कि धनार्जन में धार्मिक औपचारिकताओं को मानना व्यर्थ है। उसके अनुसार परलोक की अभिलाषा (परलोकापेक्षा), धार्मिक जीवन से संसक्ति (धार्मिकत्वम्) तथा दिनों और सितारों की मांगलिकता में विश्वास (मंगलतिथि नक्षत्रेष्टित्वम्) से लाभ में बाधा पहुँचती है। दूसरे शब्दों में, धन चाहने वाले व्यक्ति को इन धार्मिक विचारों के बारे में परेशान नहीं

होना चाहिए। कौटिल्य का कथन है कि बचपना दिखाने वाले मनुष्य के पास से धन समाप्त हो जाएगा जो सितारे की अनुकूलता में ही सबसे अधिक विश्वास रखता है। उसकी उक्ति इस प्रकार है : ''धन-धन के लिए सितारा है तो सितारे क्या करेंगे ?'' इसलिए कौटिल्य राजा के रास्ते में रुकावट डालने वाले धार्मिक प्रथाओं को हटाने के लिए तत्पर दिखता है। वह संभवतः अपने शासक से कहना चाहता है कि धार्मिक प्रथाएँ में अंधविश्वास के रूप हैं जिनका प्रयोग केवल राजकीय हितों में ही होना चाहिए।

राज्य के आंतरिक शत्रुओं के साथ बर्ताव के लिए इस प्रकार की नीति अनुशंसित है। यह प्रावधान है कि जब कोई राजद्रोही जंगल में यज्ञ करता हो तो उसे उग्र जासूस जान से मार दे और उसके शव को बहिष्क त व्यक्ति के शव की तरह ले जाए। इसके अतिरिक्त, राजद्रोही व्यक्ति को भगवान के निमित्त मूल्यवान चढ़ावों की खरीदगी का प्रलोभन दिया जाए। जब वह नवार्जित धन उक्त उद्देश्य से बाहर लाए, जो बिक्री-अधिनियम के अंतर्गत ही उसे रंगे हाथ पकड़ लिया जाए और उसकी सारी संपत्ति जब्त कर ली जाए। इसीलिए कौटिल्य राज्य के विरोधियों द्वारा जिन्हें वह निंदनीय और अधार्मिक समझता है, यज्ञ करने में विश्वास नहीं करता। इसके विपरीत राजद्रोही व्यक्ति की धार्मिक संलग्ताओं से लाभ उठाकर उसे दंडित करने का उपाय करता है।

कौटिल्य कहता है कि शत्रु को राजा के जासूसों द्वारा कुछ यज्ञों के निष्पादन हेतु फँसाया जाए और जब वह यज्ञ करने लगे जो उसे जान से मार डाला जाए। जासूस प्रचार करें कि राजा ने यह नहीं किया है। स्वयं राजा काल्पनिक संकट को रोकने के लिए प्रायश्चित करे। उसके शत्रु को मुकदमा करने को कहा जाए। शत्रु के विनाश के लिए इस सभी धार्मिक उपायों को चतुराई से अपनाना और उनका प्रचार करना आवश्यक है।

आक्रमण की सफलता के लिए आवश्यक है कि आक्रांता को आक्रामक की सर्वज्ञता और देवत्व में विश्वास दिलाया जाए। आक्रामक को अपनी सर्वज्ञता और देवताओं के साथ घनिष्ठता का प्रचार करना चाहिए और इस तरह अपनी प्रजा को प्रोत्साहित और शत्रुओं को आतंकित करना चाहिए। जासूसों को अनेक युक्तियाँ बतलाई गई हैं। प्रधान अधिकारियों और राजद्रोहियों की गतिविधियों के बारे में जासूसों द्वारा दी गई सूचना के आधार पर राजा को घोषित करना चाहिए कि वह अपनी अलौकिक मामलों की जानकारी का दावा करना चाहिए, यद्यपि वास्तव में वह पालतू कबूतरों के द्वारा सूचना प्राप्त करता है।

राजा के दैवी संबंध प्रदर्शित करने के और तरीके हैं। एकाएक जासूस अग्निदेवताओं के रूप में गुप्त सुरंग से आग के बीच निकलें और राजा उनसे बातचीत करे। वह ऐसे जासूसों की पूजा करे जब वे पानी में से नागों के रूप में ऊपर निकलें। वह पानी में ऐसे बेड़े पर बैठे, जो गुप्त रूप से लेकिन निरापद रस्से के द्वारा किसी चट्टान से बँधा हो। अंत में वह लोगों के सामने अपनी अलौकिक शक्तियों को प्रदर्शित करने के लिए पानी में कुछ जादू टोना करे।

कौटिल्य द्वारा अनुशंसित इन सभी तरीकों के लिए प्रचार आवश्यक है। राजा के देवत्व में विश्वास कराने के लिए कौटिल्य ने भाँति-भाँति के प्रचारकों का प्रावधान किया है। इस कार्य के लिए कई तरह के लोगों को राजसेवा में लगाने की व्यवस्था है। ये हैं ज्योतिषी, सगुनिया, पौराणिक (कहानीकार), ईक्षणिक (ज्योतिषयों का एक प्रकार), जासूस और साचिव्यकर (मंत्रियों के सहचर)। कौटिल्य के मतानुसार प्रथम चार पुरोहित हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि जनमत बनाने में इनका बड़ा हाथ रहा होगा। पूरे राज्य में राजा की अलौकिक शक्तियों के प्रचार के लिए पुरोहितों को लगाने को कहा गया है। विदेशों में उन्हें यह समाचार फैलाना है कि राजा के सामने देवतागण आते हैं और राजा को दंड और कोश की शक्तियाँ स्वर्ग से मिली है। शत्रु की प्रजा को बतलाना है कि आक्रामक राजा स्वप्नफल जानता है और वह पशु-पक्षियों की भाषा

समझता है, इसलिए उसकी विजय सुनिश्चित है। शत्रु की प्रजा को अपने राजा की सन्निकट पराजय के बारे में आकाश से लुआठी गिराकर और ढोलों की आवाज के जरिए विश्वास दिलाने को कहा गया है। देवताओं की मूर्तियों को क्षति पहुँचा कर प्रचुर मात्रा में रक्त बहाने की सलाह दी गई है। यह बतलाया गया है कि जासूस इसे शत्रु की सन्निकट पराजय के संकेत के रूप में वर्णन करें।

लड़ाकू राजा की अलौकिक शक्तियों के प्रचार के ये तरीके **अर्थशास्त्र** के तेरहवें अधिकरण में चर्चित हैं। जहाँ कि राजधानी को कब्जे में लाने के उपायों (दुर्गलम्भोपाय) का उल्लेख है। इनमें जादू वाली अनेक युक्तियाँ हैं, जिनमें निष्कर्ष निकलता है कि कौटिल्य को राजकीय देवत्व और सर्वज्ञता की विशुद्धता में विश्वास नहीं हैं और न वह चाहता है कि शासक वैसी मूर्खता करें। फिर भी वह प्रचारकों और गुप्तचरों के द्वारा विजेता को जनता के सामने सर्वज्ञ और दैवी शक्ति से संपन्न सिद्ध करना चाहता है ताकि वे पूरे मन से आक्रामक राजा का समर्थन करें और शत्रुओं की प्रजा अपने राजा की भक्ति छोड़कर उसकी भक्ति करे। ये ऐंद्रजालिक छलबल, रिवाज और प्रचार के तरीके अर्थशास्त्र के लिए, जो मौर्यकालीन परिस्थिति का परिचायक माना जाता है बाहर की चीज समझे जाते हैं। ये तरीके ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों अथवा उसके बाद भी शामिल किए गए होंगे, लेकिन वे निस्सदेंह उस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सभी प्रकार के अंधविश्वासों को राज्य के हित में फैलाती थी।

## राजा और उसकी प्रजा के बीच संचारण

प्राचीन भारतीय राजा अपनी प्रजा के साथ किस प्रकार संपर्क करते थ इसके बारे में कुछ अंदाजा है। प्राचीनतम उदाहरण अशोक के अभिलेख हैं जिनमें राज्यादेश प्रजा तक पहुँचाए जाने का उल्लेख है। प्रजा को न्यायिक और प्रशासनिक पदाधिकारियों के कर्त्तव्यों के बारे में बतलाया गया है। अशोक द्वारा निर्गत राज्यादेशों में केवल प्रशासनिक कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं है बल्कि समाज और धर्म की भी चर्चा है। राज्यादेशों के माध्यम से अशोक अपनी प्रजा को माता-पिता, ब्राह्मणों, श्रमणों (बौद्ध भिक्षुओं) इत्यादि का आद करने के लिए आदेश देता है और दासों एवं कर्मकारों के प्रति दया दिखाने की सलाह देता है। स्पष्टतः ये अनुदेश पारिवारिक कलहों और वर्गीय हितों के झगड़ों से उत्पन्न सामाजिक तनाव को हटाने के लिए दिए गए थे।

प्रायः ईसवी सन् के प्रारंभ के बाद से भूमिदान से संबंधित राज्यादेश मुख्यतः ताम्रपत्रों पर और कभी-कभी पत्थर पर उत्कीर्ण सनद के माध्यम से प्रजा को सूचित किए जाते थे। इन सनदों को शासन अथवा राजशासन कहा जाता था, जिनमें भूखंड और ग्राम अपने सभी करों के साथ पुरोहितों एवं अन्य लाभलोभियों को हस्तांतरित किए जाते थे। चूँकि हस्तांतरण का प्रभाव अनेक लोगों पर पड़ता था, इसलिए सनद से सभी पक्षों को, जिनका भूमि और ग्राम से कोई संबंध रहता था, संबोधित किया जाता था। मंत्रियों से लेकर राजकीय परिचरों तक सभी पदाधिकारियों के पूरे श्रेणीबद्ध संगठन को अनुदान की सूचना दी जाती थी। सभी ग्रामीण वयोवृद्ध और साथ ही ब्राह्मणों से लेकर चांडाल तक के सभी वर्गों को इन भूमि-अनुदान संबंधी मामलों की जानकारी दी जाती थी। संबोधितों की सूची का ''आदि'' शब्द से अंत होता था जिसमें वे भी शामिल हो जाते थे जिनका अलग से उल्लेख नहीं था। स्पष्टतया यह लोगों के भूमि पर नए मालिकाना हकों को घोषित करने और भविष्य में जमीनों और गाँवों से संबंधित कलहों एवं मुकदमों से बचने के लिए किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत में लिखी रहने के कारण सनदें अधिकांश ग्रामीणों की समझ में नहीं आ सकती थी। प्रारंभिक मध्ययुगीन सनदों का व्यावहारिक अंश क्षेत्रीय भाषा में और परंपरागत आरंभिक अंश संस्कृत में लिखे जाते थे। वस्तुतः ताम्रपत्र पर लिखी सनदें गाँवों के राजस्व अथवा भूखंड पर अधिकार के सबूतों के रूप में दानभोगियों को दी जाती थी और उनकी प्रतियाँ राजकीय अभिलेखागारों में रख दी जाती थीं।

लेकिन पत्थर पर खासकर मंदिर की दीवारों पर अंकित सनदों को अपेक्षाक त अधिक शिक्षित लोग पढ सकते थे, जो राजाओं और ऐसे ही अन्य लोगों की उदारता के बारे में जानकारी प्राप्त करते थे और धार्मिक दान करने के सदाचार को भी अपनाते थे।

प्रजा राजा से किस प्रकार संपर्क करती थी और अपनी शिकायतें वहाँ तक कैसे पहुँचाती थी, इसकी जानकारी हम लोगों को ठीक से नहीं है। राजाओं की तरह साधारण लोगों के पास पत्थर और ताम्रपत्रों पर अपने बयानों को अंकित कराने के साधन नहीं होते थे। अनेक मन्नत वाले अभिलेखों में धार्मिक उद्देश्य के लिए व्यापारियों और कारीगरों द्वारा किए गए बड़े और छोटे दानों का जिक्र है, पर इससे राजा के साथ उनके संबंध का पता नहीं चलता है। शहरों और गाँवों में रहने वाले लोगों की माँगें और शिकायतें श्रेणीबद्ध पदाधिकारियों के माध्यम से राजा के ध्यान में लाई जाती होंगी। यदि प्रशासनिक दबाव असह्य हो जाता था जो लोग विद्रोह कर अभ्यावेदन दे सकते थे और राजा का ध्यान आकर्षित कर सकते थे, जैसा तक्षशिला में हुआ। वहाँ स्थानीय लोगों के अभ्यावेदन पर मौर्य सम्राट् ने प्रांतीय शासक को वापस बुला लिया। लेकिन ऐसे मामलों बिरले हुए होंगे। हर्षचरित में उल्लिखित है कि हर्ष के सैनिक प्रयाण के क्रम में ग्रामीणों ने भोगपतियों के अत्याचार के विरुद्ध शिकायतें कीं। भोगपति राजा द्वारा अनुदान अथवा प्रभार में दिए गए गाँवों के राजस्व का उपभोग करने वाले शक्तिशाली अधिपति होते थे। इस मामले में इन शिकायतों को गलत मानकर बर्खास्त कर दिया गया है। इससे आम जनता के विरूद्ध पदाधिकारियों की चालबाजी का संकेत मिलता है पर संभव है कि प्रजा राजकीय प्रयाणों में खुले आम राजा के सामने अपनी शिकायतें व्यक्त करती हो।

## सामाजिक संरचना की सुरक्षा

बहुत दिनों तक भारतीय व्यवस्था उस पद्धति पर आश्रित थी जिसमें ब्राह्मणों का काम था पूजा पाठ करना, क्षत्रियों का युद्ध करना, वैश्यों का उत्पादन करना और शूद्रों का ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना। ऐसी व्यवस्था का मिथकीय औचित्य सर्वप्रथम ऋग्वेद के क्षेपकांश में मिलता है।, जिसके अनुसार ब्राह्मण भगवान के मस्तक से, क्षत्रिय उनके कंधों से, वैश्य उनकी जाँघों से और शूद्र उनके पैरों से उत्पन्न हुए। यह मिथक सभी महत्त्वपूर्ण परवर्ती ग्रंथों में जिनमें चारों वर्णों के कार्यकलापों का वर्णन मिलता है, दोहराया गया हैं। यह हिंदू मन-मस्तिष्क में इतनी गहराई से घुस गया है कि अभी भी गरीब और निरक्षर रहते हुए भी कुछ ब्राह्मण बल देकर कहते हैं कि समाज के शूद्रों का स्थान सबसे नीचे हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति भगवान के पैरों से हुई है।

सभी प्राचीन धर्मशास्त्रों में उल्लिखित है कि चतुवर्ण प्रणाली संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला है। और बल देकर कहा गया कि इसका अनुरक्षण राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। **शांति पर्व** बतलाता है कि लोग अपने वर्णों तथा सामाजिक अनुक्रमों के अनुरूप कर्त्तव्यों का संपादन तभी कर सकते हैं जब राज्य की शक्ति का सहारा मिले। स्म तिकार मनु के मतानुसार राज्य की उन्नति तभी तक होती है जब तक वर्ण की शुद्धता बनी रहती है। यदि वर्णसंकर राज्य को दूषित करे तो यह अपने निवासियों के साथ विनष्ट हो जाएगा। मनु के अनुसार वर्णव्यवस्था के बिना राज्य का अस्तित्व असंभव है। हॉपकिन्स के अनुसार राजा संबंधी ऐसे प्रसंग बहुत कम हैं जिनमें उसे वर्णों से अलग प्रस्तुत किया गया हो। ब्राह्मण धर्मावलंबी अधिकारियों के अनुसार यदि कोई अपने वर्णधर्म से अलग होता है तो यह विपत्ति का स जन करेगा। पाँचवीं-छठी सदियों के स्म तिकार नारद के अनुसार यदि राजा पथभ्रष्ट वर्ण को दंड नहीं देता है तो संसार के स जित प्राणी विनष्ट हो जाएँगें।

राज्य के लिए आवश्यक था कि वह सामाजिक व्यवस्था को कायम रखे। इसकी पुष्टि अभिलेखीय साक्ष्यों से होती है। ईसा की दूसरी सदी के मध्य में एक सातवाहन ब्राह्मण शासक

को क्षत्रिय-विरोधी लेकिन चतुवर्ण व्यवस्था-संरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार क विवरण गुप्तकालीन अभिलेखों में भी मिलते हैं। मध्य भारत के अनेक शासकों को वर्णाश्रम ध र्म की स्थापना में संलग्न बतलाया गया है। अभिलेखों में अनेक गुप्त राजाओं को वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था को ठीक करने तथा सभी वर्णों को क्रमशः अपने-अपने कर्त्तव्यों में लगाने में व्यस्त बतलाया है। हर्ष के पिता को वर्णाश्रम को नियमित करने वाला कहा गया है। इस प्रकार साहित्यिक क तियों और अभिलेखों दोनों में ही वर्ण-विभाजित समाज के संरक्षण को राजा का मुख्य कर्त्तव्य बारंबार बतलाया गया है।

**गीता** में वर्णधर्म का प्रचार व्यापक रूप से किया गया है। जब अर्जुन अपने संबंधियों के विरूद्ध शस्त्र उठाने में हिचकता है तब ईश्वर का अवतार माने जाने वाले क ष्ण अर्जुन को क्षत्रिय-कर्त्तव्यपालन अर्थात युद्ध करने की सलाह देते हैं। इस ग्रंथ की विशिष्टता है कि यह सभी चारों वर्णों के सदस्यों को इस लोक के बिना प्रतिफल की आशा किए अपने कर्त्तव्यों के पालन की सलाह देता है। दूसरे शब्दों में यह लोगों को वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सामने नतमस्तक होने को कहता है। समाज के कमजोर वर्गों यथा वैश्यों शूद्रों और स्त्रियों को कहा जाता है कि वे क ष्ण में विश्वास करें जिससे वे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति कर सकें। स्पष्टतया तीसरी-चौथी सदियों में वर्णव्यवस्था पर गंभीर संकट आया। ऐसा कलियुग के वर्णन से संकेत मिलता है। व्यवस्था को सँभालने के लिए वर्णधर्म के जोरदार प्रचार की आवश्यकता थी।

चूँकि वर्णव्यवस्था के महत्त्व पर बल देने वाला साहित्य ब्राह्मणों ने तैयार किया इसलिए उस साहित्य में ब्राह्मणों का सबसे ऊँचा दरजा है। विशेषतः मनु और नारद की स्म तियों में ब्राह्मणों को दी जाने वाली अनेक सुविधाओं का उल्लेख है। ब्राह्मणों के अपराधों पर ध्यान नहीं देना था, लेकिन निचले वर्ण के ब्राह्मणविरोधी अपराधों के लिए कड़ा दंड निर्धारित था। ब्राह्मण तीर्थस्थानों के महात्म्य की प्रशंसा करते थे, क्योंकि तीर्थयात्रियों के चढ़ावों से उनकी बहुत आमदनी होती थी। पुनश्च ब्राह्मणों ने दान करने सक, खासकर भूमि-अनुदान करने से प्राप्त होने वाले आध यात्मिक पुण्यों को प्रमुखता दी। अधिकांश भूमि-अनुदान, जो ताम्र पत्र पर अंकित है, ब्राह्मणों को दिए जाते थे। यही कारण है कि अनेक ग्रंथों में ''भूमिदान-प्रशंसा'' अथवा ''भूमिदान की महिमा'' शीर्षक अध्याय पाए जाते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण महाकाव्यों और पुराणों के नित्य श्रवण से होने वाले धार्मिक पुण्यों पर बल देते थे, इनके पाठ के अंत में उन्हें बहुमूल्य दान (दक्षिणा) मिलते थे। ब्राह्मणों ने गंगा - स्नान और अनेक दैनिक धार्मिक अनुष्ठानों का भी प्रचार किया। इन सभी अनुष्ठानों में पुरोहितों को दान दिए जाते थे। सामान्य जनता को दो प्रकार का भुगतान करना पड़ता था - राज्य को कर और ब्राह्मणों को दान कर। कर नहीं देने वालों के विरूद्ध राज्य बल का प्रयोग कर सकता था। लेकिन दानपुण्य के सशक्त प्रचार के कारण ही दानप्रथा को समाज का समर्थन मिला हुआ था जिससे पुरोहितों की जीविका चलती रहती थी।

सिद्धांततः चार वर्णों की व्यवस्था जारी रही है, लेकिन वर्णसंकर जातियाँ संख्या में बहुत बढ़ गईं। **मनु स्म ति** में इनकी संख्या एकसठ है, गुप्तोत्तर काल में ये एक सौ के लगभग हो गईं और 1901 की जनगणना में केवल ब्राह्मणों की ही दो हजार उपजातियों की संख्या बतलाई गई है। स्थिर सामाजिक अर्थव्यवस्था, गतिशीलता के अभाव और बहुसंख्यक कबीले लोगों तथा विदेशी आक्रामकों को हिंदू समाज में मिलाने के प्रक्रम से जातियों की इतनी संख्या बढ़ी। लेकिन **ऋग्वेद** में प्रक्षिप्त पुराने सिद्धांत के अनुसार केवल चार ही मूल वर्ण थे। परवर्ती काल में बहुसंख्यक जनजातियों के विलयन के औचित्य के लिए ब्राह्मणों ने चालाकी से वर्णसंकर का सिद्धांत चलाया। यह बतलाया गया है कि चारों वर्णों के परस्पर मिश्रित होने के फलस्वरूप बहुसंख्यक मिश्रित (वर्णसंकर) जातियों की उत्पत्ति हुई। एक ही जाति की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न धर्मशास्त्रों ने नहीं की है। निस्सदेंह तथाकथित वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति के लिए दिए गए

स्पष्टीकरण की कल्पना प्रचार और वर्णवैधता के निमित्त की गई थी। मौर्योत्तर काल में शकों, पह्लवों, यूनानियों (आयोनीयन) अथवा यवनों और अन्य जातियों के आगमन का स्पष्टीकरण **रामायण** में अंकित अनुश्रूति से हो जाता है। और इसके अनुसार चूँकि विश्वामित्र को वसिष्ठ की गाय का लोभ था, इसलिए इन जातियों की उत्पत्ति विश्वामित्र और उसके सैनिकों को विनष्ट करने कि लिए उस चमत्कारिक गाय से हुई। इस प्रकार वर्णों के व्यवस्थापन का क्रम, जो उत्तर वैदिक काल में प्रारंभ हुआ, मध्य युग के धर्मशास्त्रों, पुराणों, अभिलेखों और ऐतिहासिक गाथाओं में अंकित अनेक अनुश्रुतियों में पाया जाता है।

बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्मावलंबी अनेक संप्रदायों में परिवार और संपत्ति को महत्त्व दिया गया। अनेक संस्क त श्लोकों में नारी और संपत्ति को एक ही कोटि में रखा गया है और किसी भी मूल्य पर इनका संरक्षण करने को कहा गया है। इनमें संपत्ति के परिरक्षण पर जोर दिया गया है। बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मावलंबी स्त्रोत इसे राजा का प्रधान कर्त्तव्य मानते हैं। राजा को चोर और परस्त्रीगामियों को दंडित करने के लिए कहा गया है। उसे प्रजा को चुराए गए ध न को हर कीमत पर वापस कराने की हिदायत दी गई है। लोकप्रिय धारणा के अनुसार राजा के कर्त्तव्यों में धन का संरक्षण और वितरण का बड़ा स्थान था। राजा के ऊपर यह जिम्मेवारी कबीले के सरदार के कर्त्तव्यों के अवशेष के रूप में आई थी। कबीला सरदार अपने भाई-बंदों और दूसरे-दूसरे लोगों से प्राप्त दान, उपहार और लूट का माल बाँट दिया करता था। यह निष्कर्ष **पंचतंत्र** के एक अवतरण से निकाला जा सकता है। **पंचतंत्र** की कथाएँ प्राचीन भारत में व्यापक रूप से पढ़ी जाती थीं और बाद में संसार की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओ में इस पुस्तक का अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त, राजा को धनी प्रजा का सदा सम्मान करने को कहा गया हैं, क्योंकि प्रत्येक राज्य में धनी के पास ही भू-संपत्ति होती है। मनु ने अठारह प्रकार के अपराध ों की परिगणना की है, जिनमें से दस का संबंध संपत्ति से और दो का परिवार से है। इसी प्रकार कात्यायन की सूची में राजा का ध्यान आकर्षित करने वाले दस प्रकार के कार्य मिलते हैं, जिनमें से पाँच का संबंध संपत्ति से है और दो का परिवार से। अनेक ग्रंथ बतलाते हैं कि गरीबी सभी बुराइयों की जड़ है और गरीब लोग दुर्गुणों से भरे होते हैं। कामंदक के अनुसार पुरूष स्वभावतः कामवासना के वशीभूत होते हैं और उनमें एक-दूसरे की संपत्ति और पत्नी का लोभ होता है। प्राचीन भारत में राजा का प्रमुख आदर्श, धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करने का था। अर्थ का तात्पर्य होता है सम्पत्ति का उपभोग। काम से तात्पर्य होता है पारिवारिक जीवन का उपभोग और धर्म का संबंध सामाजिक व्यवस्था के रख-रखाव से है। अतः त्रिवर्ग आदर्श में संपत्ति परिवार और वर्ण की धारण प्रधान थी। चाणक्य नीति और अन्य अनेक सुभाषितों में बहुत सी सूक्तियाँ और शिक्षाएँ थीं जिनसे सामाजिक स्थिरता को बढ़ावा मिलता था। इसलिए शिक्षित पुरोहित वर्ग लिखित शब्द का प्रचार और परिचालन केवल समाज में अपनी कर्मकांडी प्रधानता कायम रखने के लिए ही नहीं करते थे बल्कि वर्णाधारित समाज और पित सत्तात्मक परिवार तथा संपत्ति की सुरक्षा के लिए भी करते थे।

मौखिक रूप से पुश्त-दर-पुश्त गुजरती हुई चालू लोककथाओं, पौराणिक कहानियों और पंरपराओं से ज्ञान और मनोरंजन बढ़ता था और सामाजिक गठन द ढ़ होता था। इनसे एक प्रकार का सामुदायिक साहित्य बना जो धीरे-धीरे लिखा गया और भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखा गया। इस प्रकार का साहित्य बुद्ध की जन्मकथाओं, जिन्हें जातक कहते हैं, तथा **पंचतंत्र** और **गुणाढ्य** की ब हतकथा में पाया जाता है। अनेक कथाओं के अंत में नीतिवचन पाए जाते हैं। इनमें सत्यवादिता, मातापिता की आज्ञाकारिता तथा वर्णधर्म और ब्राह्मणवादी समाज को बनाए रखने के अनुरूप इसी प्रकार के अन्य सदाचारों के अनुपालन पर बल दिया गया है। अन्य कथाओं में नीतिवचन अस्पष्ट हैं और उन्हें बुद्धिमान पाठक और श्रोता ही समझ सकते हैं।

सीमित साक्षरता वाले समाज में पाठकों की संख्या बहुत कम होगी और श्रोताओं की संख्या अत्यधिक। जनसमूह के मन बहलाने तथा उसे सामाजिक महत्त्व की शिक्षा देने के लिए कथा प्रणाली में लोककथा की परंपरा विकसित हुई। कुछ पुराणों का, विशेषकर वैष्णव धर्मावलंबी **भागवत पुराण** का, जिसके पाठ के आयोजकों को बहुत धार्मिक पुण्य मिलने की बात कही गई है, नियमित रूप से पाठ होता था। मध्यकालीन उड़ीसा में लोगों को सामाजिक और धार्मिक महत्त्व की शिक्षा देने में भागवत-घरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यह इतनी सबल परंपरा रही है कि भारत में पुरोहितों द्वारा **भागवत पुराण** का पाठ आज तक जारी है। खासकर भक्त स्त्रियाँ इसे श्रद्धापूर्वक सुनती हैं और कथा-वाचकों को उदारतापूर्वक दान-दक्षिणा देती हैं। हाल तक गाँव के बड़े-बड़े घरों में वाचक रखे जाते थे जो व्यास कहलाते थे।

## सामाजिक वर्गों के बीच संचारण

विभिन्न सामाजिक वर्गों के सदस्य किस प्रकार एक दूसरे से संपर्क रखते थे, इसके कुछ संकेत मिलते हैं। प्रारंभिक पालि ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि बुद्ध ने किस प्रकार अपना संदेश लोगों के विभिन्न वर्गों तक पहुँचाया। इनमें उल्लिखित विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों द्वारा व्यवहार में लाए गए संबोधन और अभिवादन के तरीकों से संकेत मिलता है कि बुद्ध के साथ ब्राह्मणों की सामाजिक बराबरी कायम थी। अनुष्ठान की द ष्टि से ब्राह्मण क्षत्रियों से श्रेष्ठ माने जाते थे, यद्यपि राजनीतिक द ष्टि से ये क्षत्रिय शासकों के अधीन होते थे। यहाँ धार्मिक अनुष्ठान और राजनीतिक से संबंधित अवस्थाओं के बीच मेल नहीं खाता है। संबोधन और अभिवादन के तरीकों से पता चलता है कि कम से कम प्रारंभिक चरण में बुद्ध और बौद्ध भिक्षु घनिष्ठ सामाजिक संपर्क बनाने में, खासकर ब्राह्मणों के साथ, लगे रहे। लेकिन बुद्ध के साथ संपर्क रखने वाले उपासकों (सामान्य अनुयायियों) में ज्यादातर कारीगर और व्यापारी थे। बौद्ध संघ के राजसी संरक्षक धनी और प्रभावशाली होते थे, लेकिन कारीगरों और व्यापारियों का जनसमर्थन संघ को मिलता था।

प्रारंभिक ब्राह्मणवादी ग्रंथों में शूद्रों का संबोधन उनकी निम्न अवस्था के कारण बराबरी के स्तर पर नहीं किया जाता है। प्राचीन नाटकों में व्यवह त भाषा के संचारण के प्रकार का संकेत मिलता है। उच्चवर्गीय लोग संस्क त बोलते थे, लेकिन स्त्रियाँ और निम्नवर्गीय लोग प्राक त बोलते थे। इससे संकेत मिलता है कि समाज के कमजोर वर्गों और सबल वर्णों के बीच संपर्क का अभाव था।

संवाद का स्वरूप पहले-पहल वैदिक ग्रंथों में मिलता है, बाद में महाकाव्यों, पुराणों और **गीता** में इसे अपनाया गया। लेकिन अफलातून (प्लेटो) की क तियों जैसी प्रश्नोत्तरी नहीं मिलती है। प्रश्न बहुत छोटे होते थे और इनका क्रम तर्क के पूरे दौर तक नहीं चलता था। उत्तर लंबे विवरण के रूप में होता था, जैसे **महाभारत** में कई जगह पाते हैं। एक बार उत्तर देने पर प्रश्नकर्त्ता संतुष्ट हो जाता था।

महाकाव्यों और पुराणों में प्रचलित परंपराओं का बड़ा भंडार है। इनका पाठ चारण, मागध, सूत, बंदी, भाट इत्यादि करते थे। वार्तालाप में सूतों और उनके जैसे लोगों का महत्त्वपूर्ण स्थाना होता था और प्रश्न तथा उत्तर दोनों जबानी दोहराए जाते थे। कालक्रम में ये छंदोबद्ध कर दिए गए, और पुश्त-दर-पुश्त लगातार परिवर्धन और क्षेपकों के साथ संचारित होते रहे। पार्जिटर के मतानुसार पुराणों में संकलित परंपराओं में क्षत्रियों द्वारा बतलाई गई घटनाओं की प्रधानता है, जबकि वैदिक साहित्य और धर्मशास्त्रों में पुरोहित के बयान का निरूपण है। लेकिन यह बात सर्वथा सच नहीं प्रतीत होती है। मूल पौराणिक परंपराओं का स्वरूप जो भी रहा हो, कालांतर में उनका निश्चित रूप से ब्राह्मणीकरण हो गया, और पुरोहितों ने अपने संपोषक क्षत्रियों की स्थिति को पुरस्कारों के बदले उठाने और वैध करने के लिए उनका व्यवहार किया।

समाज के सुचारु संचालन में पुराणों और महाकाव्यों की बड़ी देन है। स्त्रियों और शूद्रों को इन्हें सुनने का अधिकार था, लेकिन वेदों के सुनने का न था। जिस छंद में महाकाव्यों और पुराणों की रचना हुई वह बहुत लोकप्रिय था और उसकी शैली आसान थी। इन पुस्तकों की रचना प्रायः शैव और वैष्णव प्रभाव के अंतर्गत हुई। शैव धर्मावलंबी पुराणों में शिव की पूजा से प्राप्त होने वाले धार्मिक पुण्यों की महिमा गाई गई है और वैष्णव धर्मावलंबी पुराणों में विष्णु की पूजा की महिमा। परस्परविरोधी प्रथाओं और विवरणों से भरे हुए महाकाव्यों और पुराणों से वास्तव में पित सत्तात्मक पारिवारिक जीवन की खूबियाँ एवं चारों सामाजिक वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों की जानकारी मिलती है। **रामायण** में ऐसे आदर्श पारिवारिक जीवन के उल्लेख हैं जिसमें पुत्र पिता की, छोटा भाई बड़े भाई की और पत्नी-पति की आज्ञा का पालन करती है। महाकाव्यों और पुराणों में सती संबंधी अनेक कथाएँ हैं जिनमें सभी परिस्थितियों में पत्नी द्वारा निष्ठापूर्वक पति का अनुसरण करने की खूबियों का विवरण है।

पुरोहितों और सामान्य लोगों के बीच संचारण के क्षेत्र में ज्योतिष और शकुन-विचार की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। भविष्यवाणी करने की अपनी शक्ति के प्रति लोगों को विश्वास दिलाने के लिए पुरोहितों ने घटनाओं का वर्णन भविष्य काल में किया। मूल पुराणों का समय गुप्त युग के परे नहीं है, लेकिन उसकी परंपरा हाल के समय तक जीवित रखी गई है। **भविष्यत्पुराण** के क्षेपकांश में अंकित है कि भविष्य में रानी विक्टोरिया राज करेगी।

अनेक पुराणों में ''ज्योतिष'' पर अलग अध्याय हैं। महाकाव्यों और पुराणों ने सामान्य जनता को छूने वाली ज्योतिष संबंधी प्रथाओं और भावनाओं को लोकप्रिय बनाया। महाभारत के अनुसार ब्राह्मणों से घ णा और विरोध करना, उनका धन छीनना, उनको जान से मारने अथवा नुकसान पहुँचाने की सोचना, उनकी निंदा करने में खुश होना, उनकी प्रशंसा को नापंसद करना, धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी अपेक्षा करना, उन पर क्रोधित होना और अन्य गलतियाँ करना - मनुष्य की सन्निकट अवनति के ये आठ संकेत होते हैं। ब्राह्मणों की अवज्ञा का दुस्साहस करने वालों के लिए अनिष्ट की भविष्यवाणी कर ऐसे ज्योतिष के द्वारा पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को सुरक्षित रखने की कोशिश की जाती थी।

वैदिक युग के बाद से ही ज्योतिष-संबंधी अनेक प्रथाएँ आदिम जातियों से अपनाई गईं। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के हित में इनको विस्त त और परिष्क त किया गया। राजा से लेकर किसान तक और ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक समाज क सभी वर्गों को इन अंधविश्वासों में आस्था थी जिससे वे सब एक वैचारिक सूत्र से बँधे थे। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने भाग्य के अनुसार पुरस्कार मिलने का उपदेश दिया जाता था, इसलिए किसी को कुड़बुड़ाने को कोई कारण नहीं बनता था। ज्योतिष वर्ग-संघर्षों और सामाजिक तनावों को घटाने का बहुत बड़ा उपाय था। आनुवांशिकता की सफलता और उद्योग की विफलता से लोग नहीं घबराते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि ये सभी ईश्वर द्वारा पहले से ही निश्चित होते हैं। इस तरह ज्योतिष का प्रचार पूरे समाज को एक साथ रखने के लिए एक कारगर उपाय था।

राजसत्ता को ज्योतिषियों का ठोस समर्थन मिलता था। वे युद्धों में राजा के देवत्व की घोषणा करते थे और उनके सैनिकों को सुनिश्चित विजय की संभावनाएँ बतलाते थे। हर्ष के ज्योतिषयों ने उसके विजय अभियानों के लिए ऐसे शुभ दिन और लग्न निर्धारित किए जिनसे चारों दिशाओं में विजय सुनिश्चित हो। वे राजनीतिक उथल-पुथल और जनांदोलन के बुरे परिणामों की भविष्यवाणी कर उसके सर्मथकों को रोक सकते थे। वे अपराधियों का पता लगाने की अपनी तांत्रिक क्षमता का प्रचार करके चोरियों को भी रोकते थे। अतः ज्योतिषी अपने उपदेश और भविष्यकथन के कारण पुलिस और सैनिको की तरह ही कारगर और उपयोगी साबित हो सकते थे।

पुनर्जन्म की भावना और स्वर्ग एवं नरक की धारणा में विश्वास का प्रसार ब्राह्मणवादी लेखकों के किया। बौद्धों के अनुसार उनके धर्म स्वीकार कर कोई व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता था यानी जन्म और मरण के बंधन से मुक्त हो सकता था। लेकिन ब्राह्मणवादी ग्रंथ बतलाते हैं कि अनेक प्रकार के धर्म यथा राजधर्म, वर्ण-धर्म, जाति-धर्म, पित -धर्म, पुत्र-धर्म, स्त्री-धर्म, पति-धर्म, दास-धर्म, तथा इसी प्रकार के अन्य धर्मों पर निष्ठापूर्वक चलने से व्यक्ति का जन्म उच्च वर्ण और सम द्ध परिवार में होता है। महाकाव्यो, पुराणों, धर्मशास्त्रों और अन्श ग्रंथों में इस विषय का बारंबार उल्लेख है, तथा लगातार मौखिक एवं लिखित प्रचार के माध्यम से इस सफलता-पूर्वक लोगों के मन में बिठा दिया गया। अभी भी ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने पूर्व जीवन के कर्मों के ऊपर अपने (इस जन्म के) दुखों को आरोपित करते हैं।

नरक और स्वर्ग में आस्था का प्रचार भी कम प्रभावकारी नहीं रहा है। पुरोहितों और मंदिरों को दिए गए भूमि-अनुदानों के अंत में राजा के उत्तराधिकारियों, पदाधिकारियों और अन्य लोगों को चेतावनी दी गई है कि यदि वे इन अनुदानों का अतिक्रमण करेंगे, इनको जब्त करेंगे अथवा इनमें बाधा डालेंगे तो उन्हें निश्चित रूप से नरक में भंयकर पापों और दुखों का आक्रांत होना पड़ेगा। साहित्यिक ग्रंथों और अभिलेखों में जो नरक का चित्रण किया गया है वह संसार में पाए गए दुखों का उदाहरण विस्तार है।

# रेखा चित्र

## प्राचीन काल (लगभग 200 ईसवीं पूर्व से लगभग 700 ईसवीं तक) में स्त्री तथा पुरुषों के विभिन्न परिधान, केशविन्यास, आभुषण तथा वाद्ययन्त्रों की एक झलक

## परिधान

## परिधान

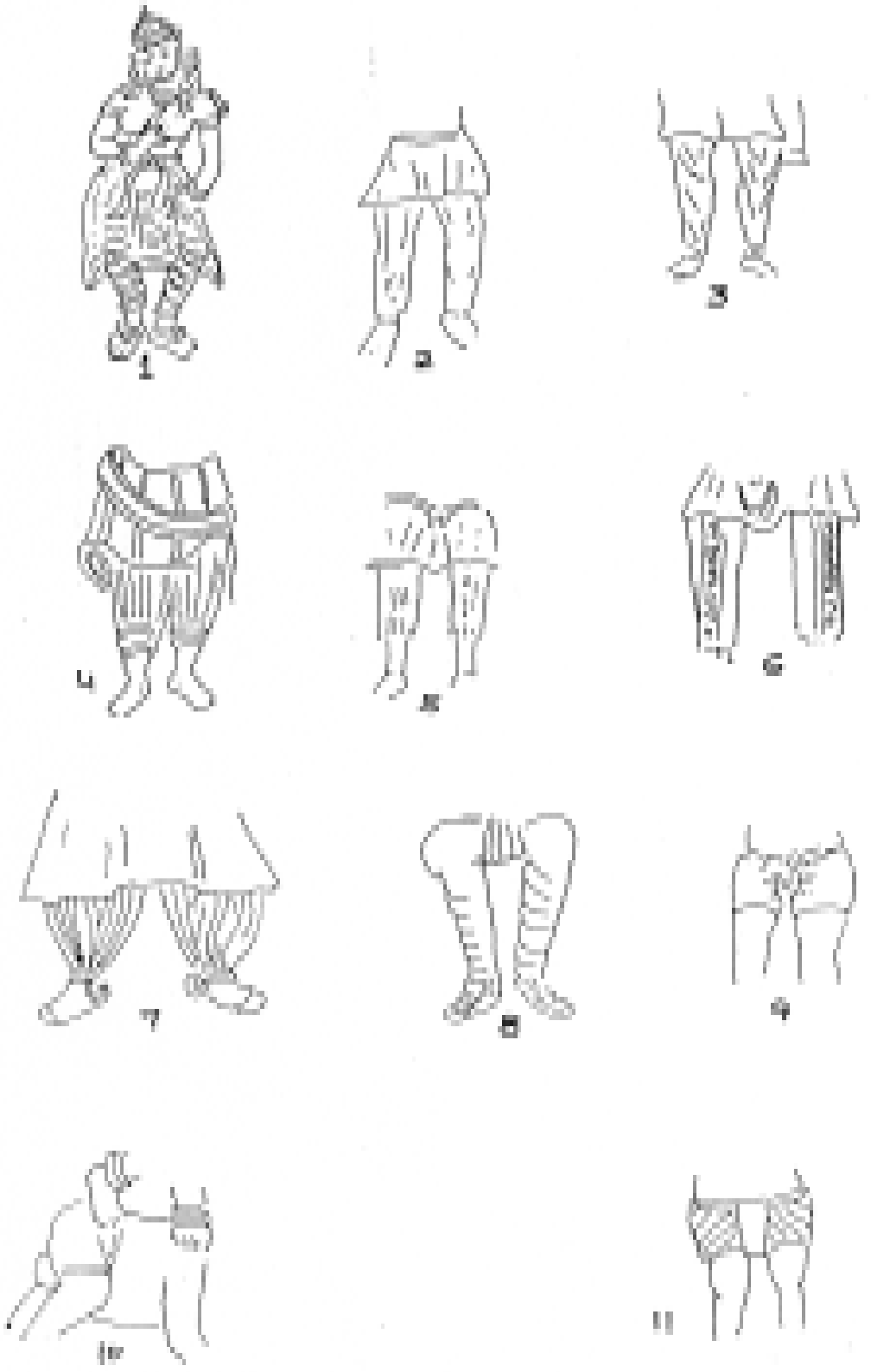

## परिधान, जुराब एवम् चप्पल (Foot wears)

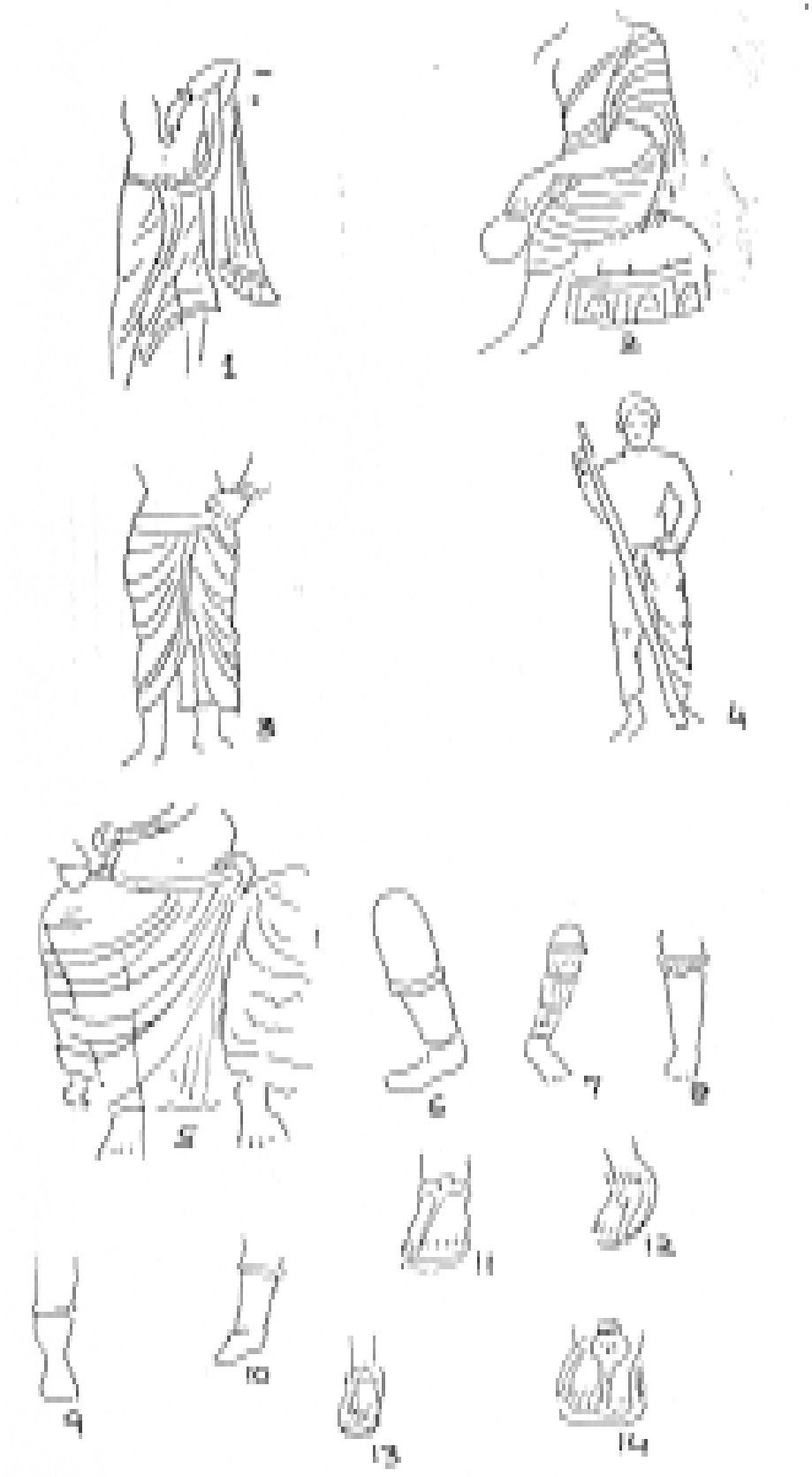

## परिधान

## परिधान

## परिधान

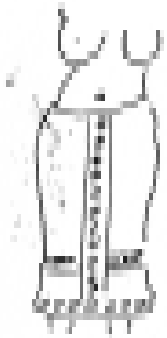

1

2

3

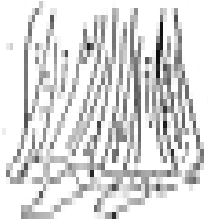

4

5

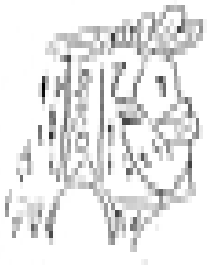

6

## परिधान

## परिधान (सिपाही, राजपुरूष एवम् बच्चे)

## परिधान (सन्यासी, भिक्षु एवम् सिपाही)

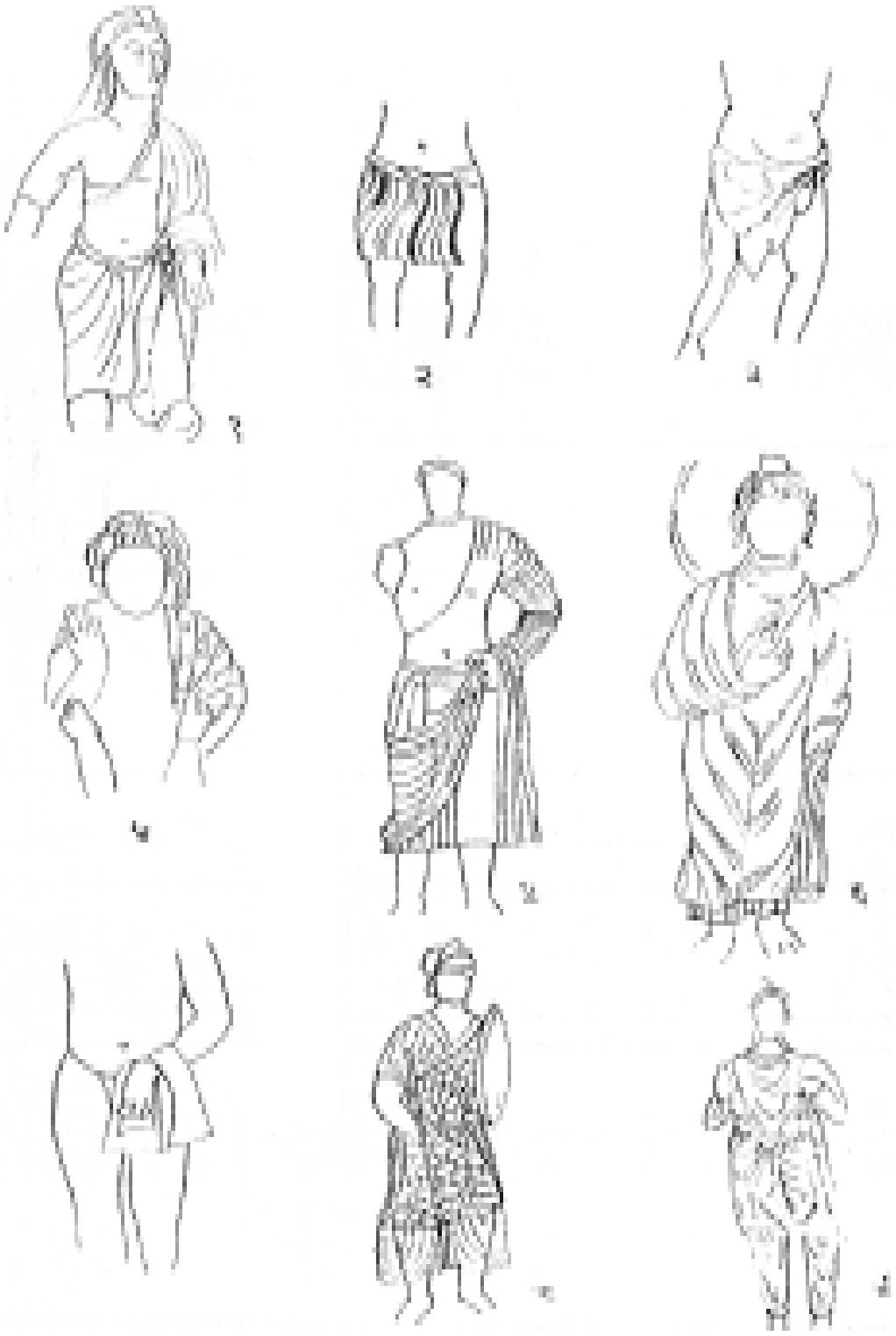

## केश-विन्यास

## केश-विन्यास

## टोपी एवम् पगड़ी

## आभुषण (हार, माला)

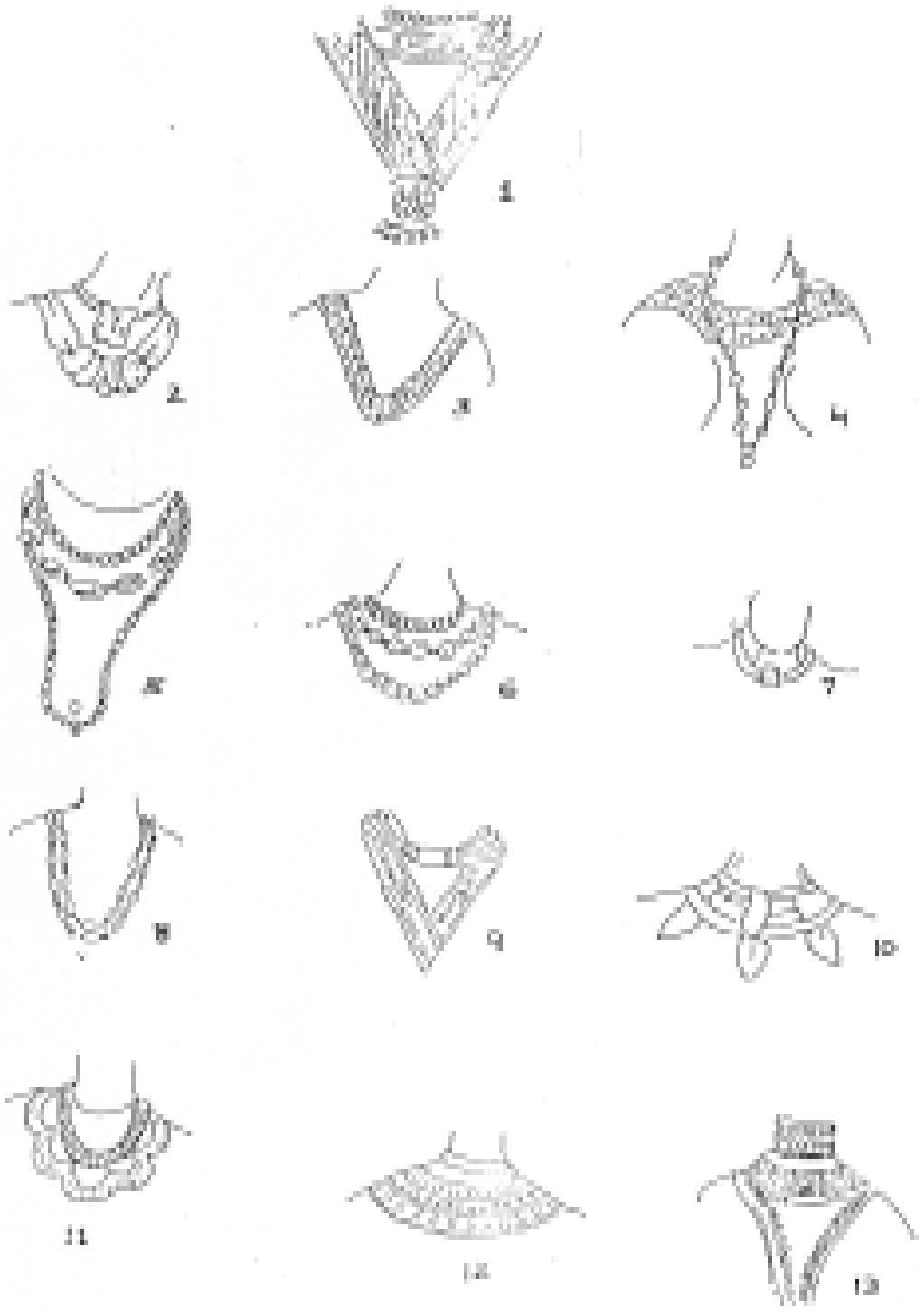

## आभुषण (कंगन, चुड़िया)

## आभुषण (बाजूबन्द)

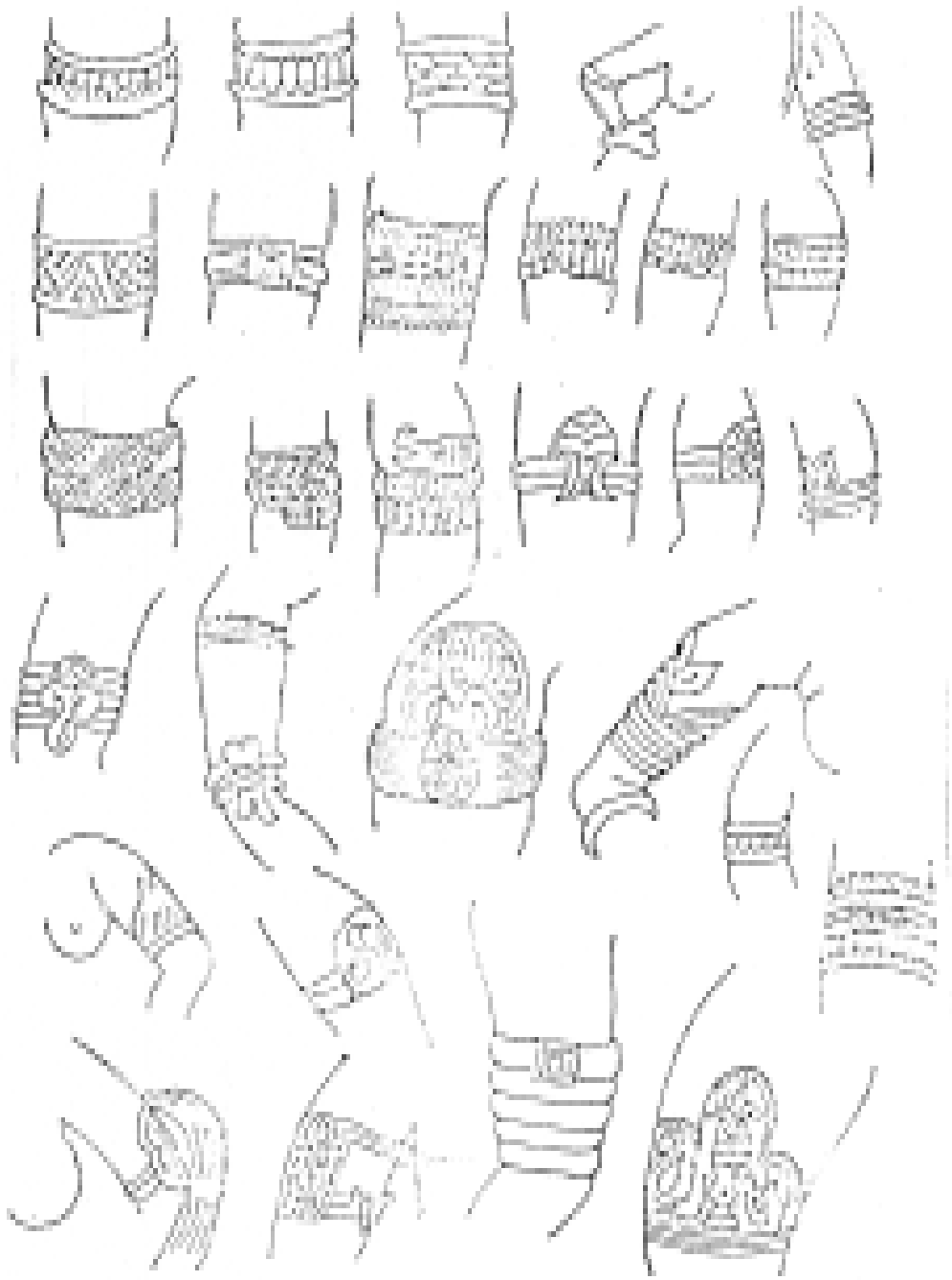

## आभुषण (मेखलायें अर्थात कमर पट्टी)

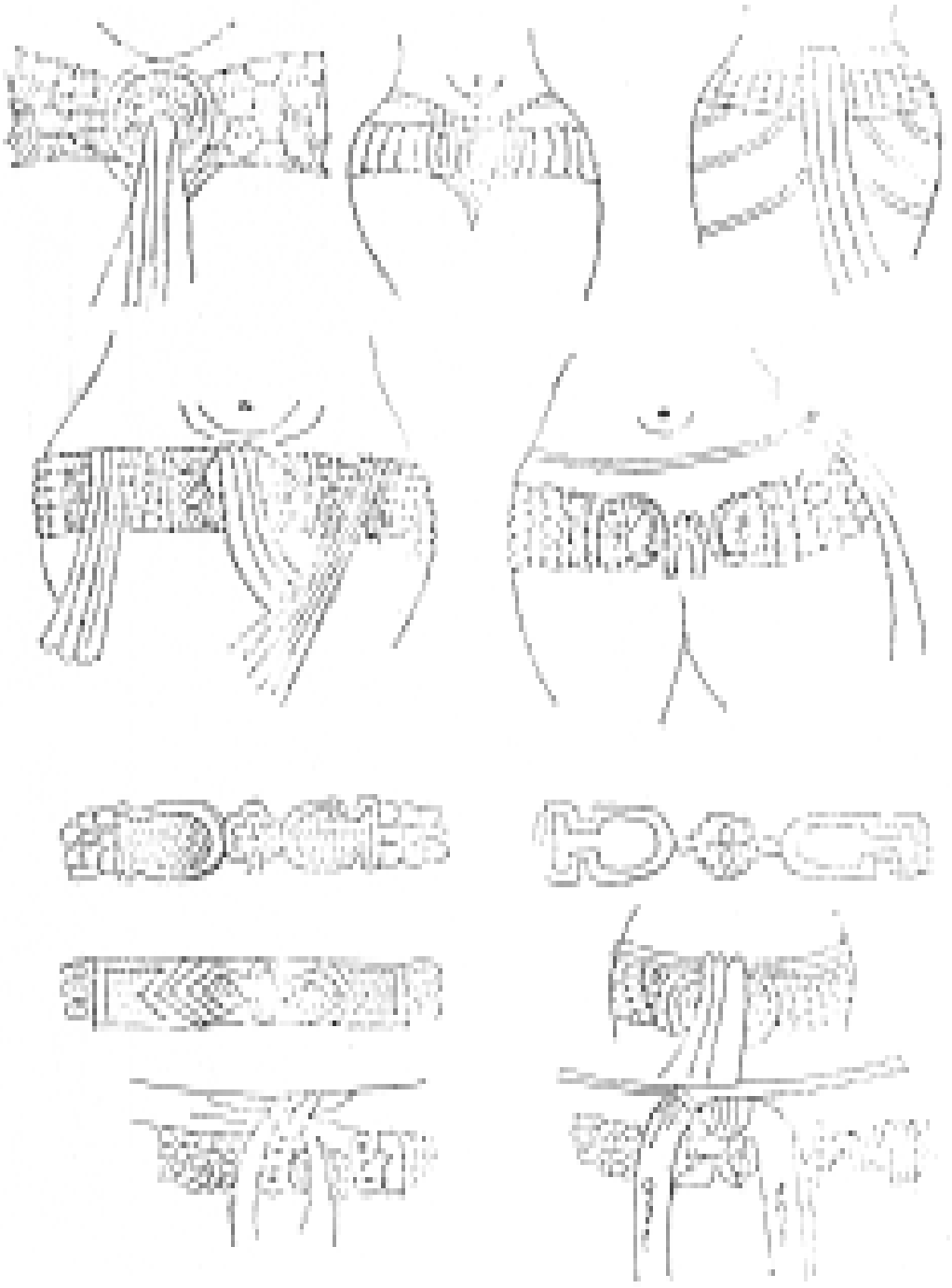

आभुषण (कर्णफूल, झुमके, लटकन)

## आभुषण (पैरो के)

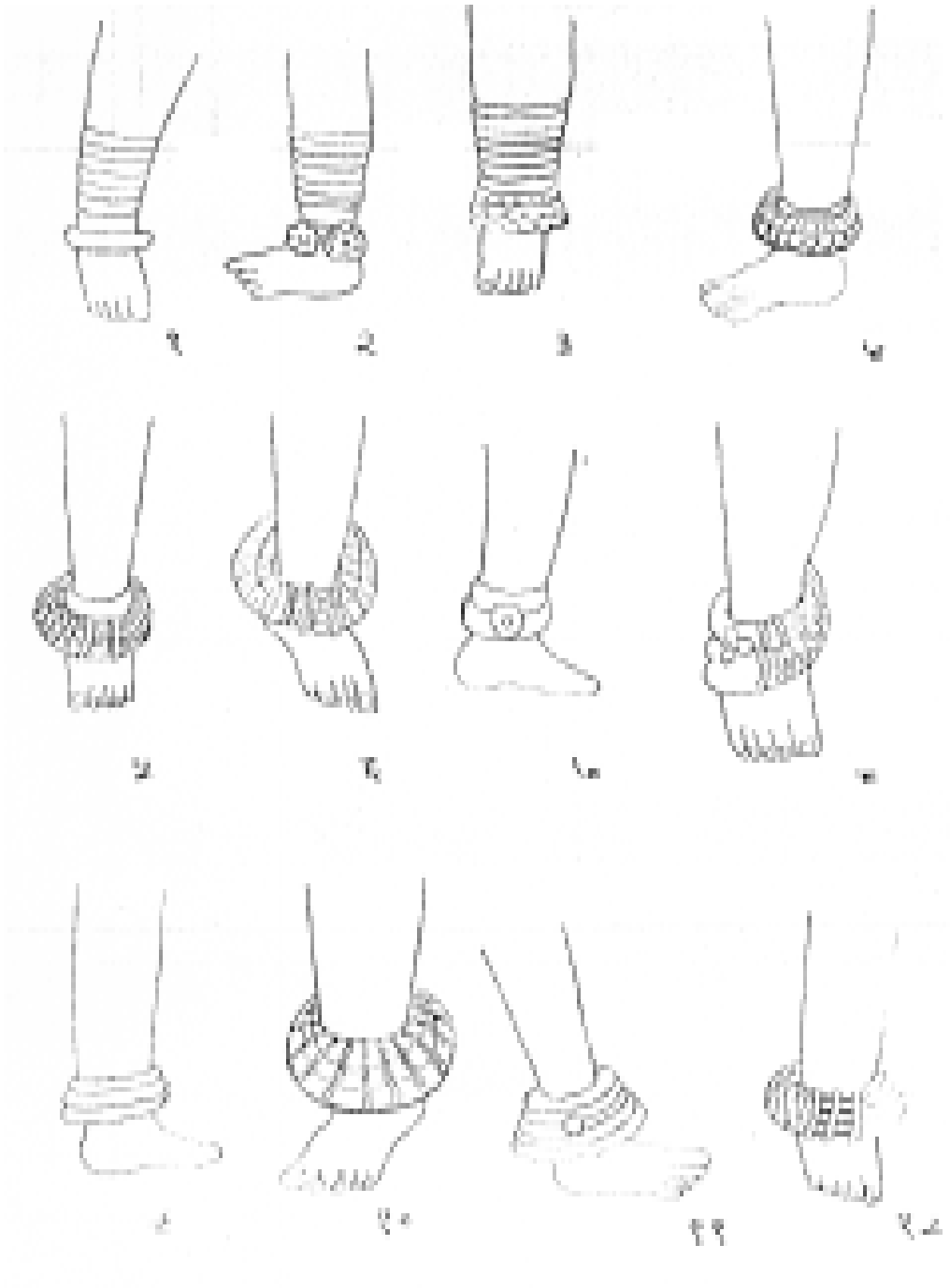

## वाद्य संगीत यंत्र (वीणा तथा वेणु)

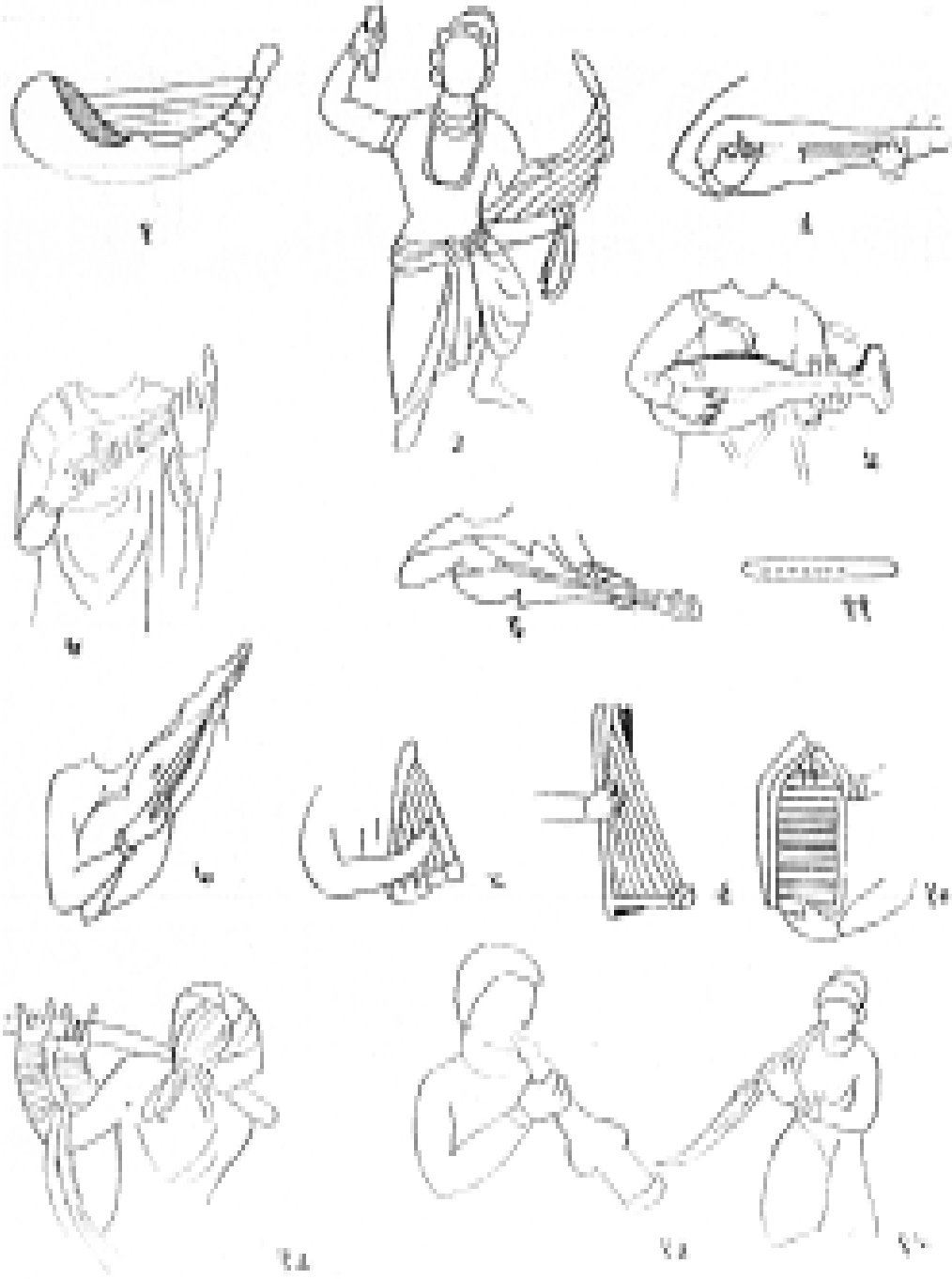

वाद्य संगीत यन्त्र (भोपू, शंख, म दंग, मंजीरा)